ISSN 2349-137X
UGC CARE-Listed, Peer Reviewed Journal

प्रतिध्वनि कला एवं संस्कृति की

आकृति लोक रंगमंच

वर्ष-9, 2023 (जुलाई-दिसम्बर)

ISSN 2349-137X
UGC CARE-Listed Peer Reviewed

अनहद लोक

(प्रतिध्वनि कला एवं संस्कृति की)

रंगमंच

वर्ष-9, रंगमंच विशेषांक-2023
(जुलाई - दिसम्बर)
(अर्धवार्षिक शोध पत्रिका)

सम्पादक
डॉ॰ मधु रानी शुक्ला

सम्पादक मण्डल
डॉ॰ राजश्री रामकृष्ण, डॉ॰ मनीष कुमार मिश्रा,
डॉ॰ धनंजय चोपड़ा, डॉ॰ ज्योति सिन्हा

सह-सम्पादक
सुश्री शाम्भवी शुक्ला

व्यंजना

आर्ट एण्ड कल्चर सोसाइटी
109 डी/4, अबुबकरपुर, प्रीतम नगर, सुलेम सरांय
प्रयागराज - 211011

अनहद लोक

(प्रतिध्वनि कला एवं संस्कृति की)

सम्पादक : डॉ॰ मधु रानी शुक्ला
सम्पादक मण्डल : डॉ॰ राजश्री रामकृष्ण, डॉ॰ मनीष कुमार मिश्रा, डॉ॰ धनंजय चोपड़ा, डॉ॰ ज्योति सिन्हा
सहायक सम्पादक : सुश्री शाम्भवी शुक्ला
मल्टीमीडिया सम्पादक : श्रेयस शुक्ला

प्रकाशक एवं वितरक :
व्यंजना (आर्ट एण्ड कल्चर सोसाइटी)
109 डी/4, अबुबकरपुर, प्रीतम नगर
सुलेम सरांय, प्रयागराज - 211 001
मो॰ : 9838963188, 8419085095
ई-मेल : anhadlok.vyanjana@gmail.com
वेबसाइट : vyanjanasociety.com/anhad_lok

मूल्य : 300/- प्रति अंक, पोस्टल चार्जेज अलग से
सदस्यता शुल्क
वार्षिक : 700/-
तीन वर्ष : 2,100/-
आजीवन : 15,000/-

संगीत नाटक अकादेमी के सहयोग से प्रकाशित

© सर्वाधिकार सुरक्षित
- रचनाकारों के विचार मौलिक हैं
- समस्त न्यायिक विवाद क्षेत्र इलाहाबाद न्यायालय होगा।

मुद्रक :
गोयल प्रिन्टर्स
73 A, गाड़ीवान टोला, प्रयागराज
फोन - 0532-2655513

मार्गदर्शन बोर्ड :

डॉ॰ सोनल मानसिंह, पं॰ विश्वमोहन भट्ट, प्रो॰ ऋत्विक् सान्याल, प्रो॰ चित्तरंजन ज्योतिषि, पं॰ रोनू मजुमदार, पं॰ विजय शंकर मिश्र, प्रो॰ दीप्ति ओमचारी भल्ला, प्रो॰ के॰ शशि कुमार, प्रो॰ (डॉ॰) गुरप्रीत कौर, डॉ॰ राजेश मिश्रा

सहयोगी मण्डल :

प्रो॰ संगीता पंडित, प्रो॰ लावण्य कीर्ति सिंह 'काब्या', प्रो॰ निशा झा, प्रो॰ प्रभा भारद्वाज, प्रो॰ अर्चना अंभोरे, डॉ॰ राम शंकर, डॉ॰ इंदु शर्मा, डॉ॰ सुरेन्द्र कुमार, प्रो॰ भावना ग्रोवर, डॉ॰ स्नेहाशीष दास, डॉ॰ शान्ति महेश, डॉ॰ कल्पना दुबे, डॉ॰ बिन्दु के॰, डॉ॰ अभिसारिका प्रजापति, डॉ॰ पारुल पुरोहित वत्स, डॉ॰ मिठाई लाल

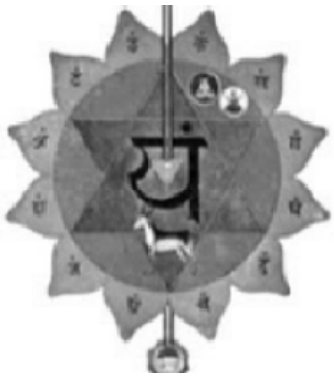

सम्पादकीय

'अनहद लोक' रंगमंच विशेषांक आप सभी के शुभ हाथों में सौंपते हुए अपार हर्ष एवं संतुष्टि का अनुभव हो रहा है। आप सभी की सकारात्मक प्रतिक्रियाओं से हमें निश्चित रूप से बल मिला है तथा निष्ठा व लगनपूर्वक कार्य करने की प्रेरणा मिलती है। मैं समस्त लेखकों के प्रति आभारी हूँ, जिन्होंने सारगर्भित लेख प्रदान किए, जो आने वाली पीढ़ी के लिए संग्रहणीय होगा।

संगीत, नाटक का प्राण तत्व है, जैसे आत्मा के बिना शरीर पार्थिव है उसी प्रकार संगीत के बिना नाटक की परिकल्पना निष्प्राण प्रतीत होती है। भाव संप्रेषण को संगीत ही समृद्ध स्वरूप प्रदान करता है। आंगिक, वाचिक अभिनय के साथ आहार्य की परिपूर्णता के पश्चात् भावाभिव्यक्ति को पुष्टता प्रदान करने वाला तत्व संगीत ही है। व्यक्ति से अभिनेता तथा अभिनेता से चरित्र तक की यात्रा को सहज प्रतीति कराने में संगीत का सर्वप्रमुख स्थान है।

रंगमंचीय संगीत में कथा क्रम परिप्रेक्ष्य में ध्वनि एवं निःशब्दता, कर्कश व मधुर ध्वनियाँ, शोरगुल सभी का अपना स्थान है। रंगमंच में मानवीय अनुभूतियों को व्याख्यायित करने में संगीत की महती भूमिका होती है, किसी दृश्य में काल, स्थान, कार्य, व्यापार को संगीत सजीव बना सकता है, वह दृश्यों की सगंत करता है और विशिष्टता तो यह भी है कि संगीत पारंपरिक रूप में तथा प्रयोग परिवर्तन नाट्य में ही अधिक पाया जाता है। दृश्य के अनुरूप पारम्परिक संगीत में मौलिक प्रयोग भी न केवल मान्य हैं अपितु सृजनशीलता का पर्याय भी माना जाता है। लय, ताल वाद्ययन्त्रों का प्रयोग, गायन की विभिन्न शैलियाँ, आदीवासी संगीत लोक संगीत, व्यवसायिक संगीत, आख्यानिक व कथावाचक शैलियाँ, लोरियाँ, शुद्ध संगीत, आनुष्ठानिक उत्सव संगीत शैलियाँ वह संपदा है जिसके प्रयोग से रंगमंचीय संगीत समृद्ध होता है।

नाट्य में संगीत की जड़ें आदिवासी जीवन में दिखाई देती हैं, नाट या जात्रा गीतों में नाट्यों के मध्य तुमुल ध्वनि व विशिष्ट चीखें नृत्यमंडली की जानवरों से रक्षा के साथ ही दुष्ट आत्माओं से रक्षा का भी प्रयोजन होता था। यही प्रयोग कालान्तर में सुसस्कृत समाज में पूर्वरंग के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। कला जगत में कुड़ीआट्टम, यक्षगान, ज़ात्रा, भवई, बिदेसिया, तमासा ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जहाँ नाट्य शैलियों का विशिष्ट संगीत ही उसकी पहचान है। नाट्य परंपरा में विहंगावलोकन करें तो भरत निर्दिष्ट नाट्य परंपरा बीज रूप में दिखाई देती है, जहाँ उन्होने गीत को नाट्य की शैय्या कहा उनके अनुसार गीत, वाद्य संगीत के समुचित प्रयोग से नाट्य पर विपत्ति नहीं आती साथ ही नाट्य को मनोरंजन का स्वरूप प्रदान करता है।

जब मैंने हिन्दी रंगमंच तथा लोकनाट्य रामलीला, रासलीला, नौटंकी, रविन्द्र नाट्य, यक्षगान, हबीब तनवीर, बी. वी. कारन्थ के नाटकों को देखा तो सम्मोहित हुई, हमेशा से ही नाटकों का संगीत पक्ष मुझे

आकर्षित करता रहा, वो कुड़िआट्टम का तालवाद्यों के साथ अभिनय हो या नौटंकी में दोहा, चैबोला, बहरेतबील की मनमोहक प्रस्तुति, रामलीला में ''ऐहाँ'' के साथ दोहा चौपाई गाने की शैली मन को हर लेती, तो रासलीला में लोक से लेकर शास्त्रीय संगीत के सुन्दर पक्षों का अद्भुत समन्वय देखने को मिला, लोक नाट्य बिदेसिया तो अपने अद्भुत गायन शैली के कारण तादात्मय स्थापित कर लेता ही है। आधुनिक रंगमंच में बी. वी. कारान्थ जी के नाटकों में संगीत की विविधता ने मुझे मोहा, अब जब मैने इस विषय पर देखना शुरू किया तो यत्र-तत्र टुकड़ो-टुकड़ो में जानकारी है, समग्र रूप से सांगीतिक तत्वों पर विश्लेषणात्मक चर्चा का अभाव मिलता है, विषय वस्तु बहुत व्यापक एवं बिखरी हुई है, इस पर एकाग्र रूप से सामग्री का संकलन, अध्ययन, चिंतन, मनन, विश्लेषण की आवश्यकता है।

प्रस्तुत अंक रंगमंच के संगीत पक्ष को जानने के उत्सुक अध्येताओं के लिए संग्रहणीय होगा, इसी शुभेक्षाओं के साथ...

डॉ॰ मधु रानी शुक्ला

अनुक्रम

1.	आचार्य भरतमुनिकृत नाट्यशास्त्र के नाट्य प्रकरण का फिल्म संगीत में समावेश	*डॉ॰ इन्दु शर्मा*	1
2.	महाराष्ट्र की लोकनाट्य परंपरा - तमाशा	*प्रो. डॉ. रवींद्र रामभाऊ इंगळे*	7
3.	हिन्दी रंगमंच और अंधेर नगरी	*डॉ॰ मीनू अवस्थी*	10
4.	A Study on Modernization in Indian English Theatre	*Dr. C. Chamundeshwari*	15
5.	बदलते परिदृश्य में रामलीला की मंचीय परम्परा का सांगीतिक अनुशीलन	*डॉ. भगत सिंह*	20
6.	लोकभाषाओं में सृजित रामकथाओं में विविध लोक-पर्वोत्सवों का निरूपण	*डॉ. गजेन्द्र भारद्वाज*	26
7.	From Streets to Beats : Dalit Feminist Activism via Rap, Gaana and Theater	*Dr. Vijaya Supriya CH*	32
8.	श्री 'रम्माण' लोकनाट्य में संगीत परंपरा	*डॉ. कनिका जोशी*	38
9.	"Music Tradition of Raamleela"	*Dr. Ashutosh Sharma*	41
10.	New Experimentation in Modern Theatre	*Dr. Gaveesh*	44
11.	*Nautch* Girls of Kashmir during the Dogra Period (1846-1947)	*Dr. Javid Ahmad Moochi*	48
12.	चित्रकूट की रामलीला	*डॉ. ज्योति विश्वकर्मा*	52
13.	तमाशा लोकनाट्य की संगीत परंपरा एवं प्रयोग	*डॉ. माया सगरे–लक्का*	56
14.	हिंदी नाटकों की संगीत परम्परा	*डॉ. नंदिनी चौबे*	61
15.	नाट्य और संगीत का अन्तर्सम्बन्ध	*डॉ॰ प्रियंका अरोड़ा*	68
16.	Resonating Voices and Empowered Stages : A Feminist Exploration of Women's Roles in Indian Theatre and Music	*Dr. Rajaneesh Kumar HV*	72

17.	लोकनाट्य जात्रा : समग्र अध्ययन	*डॉ- रंजना उपाध्याय*	78
18.	"Inherent Musical Characteristics in Goan Folk Theatre Form - *Gawda Jagor"*	*Dr. Saish Deshpande*	86
19.	प्राचीन भारतीय नाट्य परंपरा एवं हिंदी रंगमंच : एक अवलोकन	*डॉ. संगीता कुमारी*	92
20.	संस्कृत नाटकों की संगीत परम्परा एक चिंतन	*प्रो. डॉ. सारिका विवेक श्रावणे*	98
21.	आधुनिक रंगमंच की संगीत परम्परा	*डॉ. शालिनी ठाकुर*	101
22.	The Musical Setting of Kutrala Kuravanji - A Folk Dance Drama of Kalakshetra	*Dr. H. G. Amrutha Varshini*	109
23.	असम की नाट्य की संगति परम्परा और अंकिया नाट्य	*डॉ. नूरजाहान रहमातुल्लाह*	115
24.	भारतीय रंगमंच की संगीत परंपरा एवं प्रयोग के अन्तर्गत रंगमंच पर मराठी नाट्य संगीत	*श्रीमती श्वेता पुराणिक जोशी*	119
25.	उत्तराखंड की हिलजात्रा की संगीत परम्परा एवं प्रयोग	*श्रीमती दीपा नन्दा*	122
26.	तेलुगु भाषा में चित्रित लोक साहित्य के विविध आयाम	*डॉ. एम. अब्दुल रज़ाक*	126
27.	बंजारा लोक साहित्य का एक रूप 'वाज़ा'	*डॉ. कृष्णा डी. लमाणि*	133
28.	कन्नड़ लोक साहित्य में महादेश्वर और नारी परिकल्पना	*डॉ. महमद नयाज पाशा*	139
29.	लोकसाहित्य और मन्नेरवारलू आदिवासी समुदाय	*डॉ. गणशेटवार साईनाथ नागनाथ*	144
30.	कन्नड़ 'लावणी' जनपद लोकगीतों का एक विश्लेषण	*डॉ॰ श्रीधर पी॰ डी॰*	150
31.	A Figurative Explication of Psychosomatic Predicament in Arun Joshi's *The Foreigner*	*Dr. S. Poornima* *Dr. T. Alagarasan*	155
32.	वाल्मीकि रामायण में वर्णित संगीत का अनुशीलन	*अतुल खजूरिया*	163
33.	नौटंकी की संगीत परम्परा एवं प्रयोग	*आलोक कुमार* *प्रो॰ (डॉ॰) रूचिमिता पाण्डे*	167
34.	लोकनाट्य सांगीत परम्परा : नौटंकी	*डॉ0 निष्ठा शर्मा*	171
35.	लोक नाट्य रामलीला में संगीत का प्रभाव	*प्रो॰ सुनीता द्विवेदी*	177
36.	Shakespearean Spirit in Malayalam Cinema : Adaptations and Transformation	*Anagha Sreenivas* *Dr. Khushboo Gokani*	182

37. 'The Interplay of Music, Dance and Drama in Modern Indian Theatre — *Ashitha. K.* — 189

38. पारसी थिएटर और रंगमंचीय संगीत — *अविनाश तिवारी*, *प्रो. लावण्य कीर्ति सिंह 'काव्या'* — 194

39. कोशी क्षेत्रीय लोकनाट्य एवं उनमें प्रयुक्त लोकगीत — *चन्द्र किरण रीणा* — 198

40. महाराष्ट्र के नाटकों में संगीत की परंपरा एवं प्रयोग — *चंद्रशेखर हि मेंडोले* — 202

41. 'चरणदास चोर' नाटक की प्रस्तुति और महाराष्ट्र के मराठवाड़ा क्षेत्र का संगीत — *देवरे रामेश्वर गिरधर*, *डॉ. संदीप अ. बनसोडे* — 207

42. 21 वीं सदी के हिन्दी उपन्यासों में महिला किसान का संघर्ष (विशेष संदर्भ-जमीन, कंदील, काली चाट और फांस) — *मधु बाला* — 213

43. Role of Daruvu in Kûcipudi — *P. Soundarya Lahari*, *Dr. M. Subhasree* — 217

44. हिन्दी चित्रपट संगीत में पार्श्व गायन परम्परा — *प्रतिभा कुमारी* — 222

45. पंजाब प्रांत के प्रमुख लोक वाद्य : एक अध्ययन — *रामा* — 228

46. बिहार का प्रचलित लोकनाट्य जट जटिन मिथिलांचल के विशेष संदर्भ में — *रश्मि शिखा*, *डॉ॰ सर्वजीत कौर* — 232

47. *Bol Padhant* and *Shabda Ughatat :* Interlinked traditions of Kathak and Braj Ras Leela — *Renu Sharma*, *Dr. Vibha Dadheech* — 236

48. नाट्य कला में संगीत योजना : गीत के विशेष सन्दर्भ में — *शोभा शर्मा*, *डॉ॰ अमरदीप सिंह मक्कर* — 245

49. लोकनाट्य बिदेसिया : अंतर्वस्तु, संगीत पक्ष एवं प्रयोग — *श्वेता कमल*, *डॉ. विजय कुमार प्रधान* — 249

50. Importance of Marathi stage in the music of Maharashtra — *Dr. Kasturi Paigude* — 254

51. लोक जीवन में चित्रित लोक साहित्य के गुणों की आलोचनात्मक संदर्भ — *विनोद बाबुराव मेघशाम* — 259

52. ब्रज की रासलीला का संगीत पक्ष एवं प्रयोग — *वृषाली द्विवेदी*, *डॉ॰ रूचिमिता पाण्डे* — 265

53. महाराष्ट्र कीर्तन और कथक मंदिर परंपरा के संगीत साथ-संगत का तुलनात्मक अध्ययन — *वृषाली दाबके*, *डॉ॰ मंजिरी देव* — 268

54.	The Hindustani Music Tradition of Modern Theatre	*Prof. Anandraja Gyanappa Gonavara*	272
55.	A Study of the Role of Music in Girish Karnad's 'Hayavadana' by Renaissance Theatre Group	*Tamasa Ghosh*	276
56.	ब्रज की रासलीला का संगीत पक्ष एवं प्रयोग	*अपर्णा पाण्डेय* *डॉ. सुनीता द्विवेदी*	281
57.	भारतीय रंगमंच और संगीत	*डॉ॰ सुमन लता*	285
58.	Harmonizing Tradition and Modernity : The Role of Traditional Music and Traditional Theatre in shaping Modern Indian Theatre	*Gaurav*	295
59.	21वीं शताब्दी के प्रचलित पंजाबी गीतो का संगीतात्मक एवं विषय पक्ष का अध्ययन (पंजाबी रंगमंच के विशेष संदर्भ में)	*राहुल* *डॉ॰ राजेश शर्मा*	301
60.	श्यामा-चकेवा लोकनाट्य की संगीत परम्परा एवं प्रयोग	*इन्दू ठाकुर* *डॉ॰ नेहा जोशी*	306
61.	रेडियो नाटक में संगीत की भूमिका	*डॉ॰ लावण्य कीर्ति सिंह 'काव्या'* *सुष्मिता कुमारी*	311
62.	'नाचा' छत्तीसगढ़ का लोकनृत्य	*कविता तिवारी*	315
63.	लोकनाट्य में हिंदुस्तानी संगीत के तत्व	*मनीषा*	319
64.	सांग में संगीत परंपरा एवं प्रयोग	मनजीत कौर	322
65.	संस्कृत साहित्य में नाट्य परम्परा	*डॉ॰ उपमेश उपाध्याय*	326
66.	ब्रज की रास लीला का संगीत पक्ष एवं प्रयोग	*रेनूबाला* *डॉ॰ निष्ठा शर्मा*	330
67.	लोकनाट्य रंगभूमी और पोवाडा गायन शैली	*प्रा॰ डॉ॰ जगन्नाथ के॰ इंगोले*	333
68.	रामलीला लोकनाट्य की संगीत परंपरा में शब्द-शक्ति का प्रयोग व प्रश्न	*प्रो॰ प्रेम कुमार मल्लिक* *प्रगति मिश्रा*	335
69.	रामलीला लोकनाट्य का सांगीतिक एवं साहित्यिक पक्ष	*राधा यादव* *डॉ॰ निष्ठा शर्मा*	338
70.	भारतीय लघुचित्रों में श्रीकृष्ण लीला का अंकन एवं उसका सौन्दर्य	*राज कुमार सिंह*	342
71.	ब्रज की रासलीला का संगीत पक्ष एवं प्रयोग	*डॉ॰ श्रेया श्रीवास्तव*	347
72.	राजा रवि वर्मा के कृतियों में रंगमंच की दुनिया	*विनीता देवी*	350

73.	लोक नाट्य में संगीत की भूमिका : 'करियाला' के विशेष सन्दर्भ में	*यशवन्त*	356
74.	भारतीय नाट्य (नौटंकी) का उदय और उत्कर्ष	*प्रज्ञा सिंह* *डॉ॰ शोभित कुमार नाहर*	359
75.	रामलीला की संगीत परम्परा तथा प्रयोग	*आलोक कुमार*	364
76.	"Harmonizing Tradition and Innovation : Loknatya Kathputli's Musical Journey Through Time"	*Akshay Kumar*	366
77.	कलाओं का परिचयात्मक विवरण	*अमिता नाईक*	369
78.	रामलीला की संगीत परंपरा तथा प्रयोग	*ओशिन धारे*	372
79.	लोकनाट्य कठपुतली की संगीत परम्परा एवं प्रयोग	*संगीता* *डॉ॰ निष्ठा शर्मा*	375
80.	ब्रज की रासलीला का संगीत पक्ष एवं प्रयोग	*प्रेरणा अग्रवाल* *डॉ॰ नन्दकिशोर कपोटे*	379

आचार्य भरतमुनिकृत नाट्यशास्त्र के नाट्य प्रकरण का फिल्म संगीत में समावेश

डॉ॰ इन्दु शर्मा
एसोसिएट प्रोफेसर
विभागाध्यक्ष, संगीत एवं प्रदर्शन कला, इलाहाबाद डिग्री कॉलेज
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

भारत में नाटकों की परंपरा प्राचीन काल से विकसित होती आ रही है जिसमें भरतमुनि का नाट्यशास्त्र संसार में अपने विषय का अद्वितीय ग्रंथ है। भारतीय जीवन में नाटक और रंग कार्य का महत्व अलग ही रहा है। इसी का प्रमाण है कि नाट्यशास्त्र को पांचवें वेद का दर्जा दिया गया है। नाटक और रंगमंच से संबंधित ऐसा कोई भी विषय नहीं है जिस पर इसमें विस्तार और गंभीरतापूर्वक सूक्ष्म अध्ययन ना किया गया हो। भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार भरतमुनिकृत नाट्यशास्त्र को नाट्यवेद के नाम से सम्मानित किया गया है। भरत का नाट्यशास्त्र भारतीय साहित्य तथा संगीत का वृहद कोश है तथा दोनों के संबंध में प्राचीन नाट्यकला पर प्रकाश डालने वाला एकमात्र ग्रंथ है।

जिस सूक्ष्मता और पूर्णता के साथ नाट्य कला के अंग-प्रत्यंग का विवेचन इस ग्रंथ में हुआ है वह इस बात का साक्षी है कि नाट्य कला ईसा से काफी पहले विकसित हो चुकी थी बल्कि उसका शास्त्र भी परंपरा प्राप्त कर चुका था।[1] अतः स्पष्ट है कि नाट्यशास्त्र के युग से पहले ही नाट्य का जन्म हो चुका था। नाट्य अत्यंत विकसित कला है। जब संगीत, काव्यादि कलाएं शताब्दियों तक घिस-घिस कर परिष्कृत स्थिति तक पहुंच जाती हैं तब कहीं नाटक जन्म लेता है।किसी भी राष्ट्र के इतिहास के सांस्कृतिक युग में ही नाटक की उत्पत्ति होती है।[2]

सभी प्राचीन संस्कृतियों में ऐसा ही हुआ है रसानुभूति कराने वाली सामग्री का उपयोग नाटक की पहली शर्त है, अन्य कलाओं को तो फिर भी पाठक दर्शक या श्रोता से बचाकर एकांत साधना का अंग बनाया जा सकता है किंतु नाटक दर्शक से नहीं बच सकता, दर्शक की उपस्थिति की अनिवार्यता उसे रसानुभावक सामग्री की अनिवार्यता से जोड़ देती है। काकु, श्रृंगार प्रसाधन, वेशभूषा, दृश्य को साकार करने वाली कला आदि चीजों का उपयोग, नाटक के साधन के रूप में होना अनिवार्य है। यह सभी गुण मनुष्य ने सांस्कृतिक युग में पहुंचकर ही पाए हैं।

नाट्यशास्त्र में नाट्य के उद्गम और विकास का इतिहास बड़े रोचक ढंग से दिया है। शास्त्र में लिखा है कि जब त्रेता युग प्रारंभ हुआ और मनुष्य में क्रोध, दुःख, ईर्ष्या द्वेष आदि ग्राम्य धर्म में प्रवृत्त होने के कारण उत्पन्न होने लगे, फलतः मानव समाज पीड़ित रहने लगा, तब देवराज इंद्र ने ब्रह्माजी के समक्ष पहुंच याचना की कि मनोरंजन से युक्त कोई क्रीड़ायुक्त ऐसा साधन बताइए जिसमें दृश्य और श्रव्य गुण सन्निहित हों इसके साथ देवराज इंद्र ने यह भी प्रार्थना की कि वह साधन समाज के समस्त वर्गों के हित के लिए उपयुक्त होना चाहिए।[3] इसको केंद्रित करते हुए ब्रह्मा जी ने चारों वेदों का स्मरण किया और ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गान, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस का चयन कर, पंचम वेद के रूप में

नाट्य शास्त्र की सृष्टि की। भरतमुनि के अनुसार गायन, वादन, नर्तन, रस और भाव आदि से मिलकर अभिनय की निर्मिति होती है। इन विभिन्न अंग, उपांगों के संयोग से प्रस्तुत होने वाले मंच सापेक्ष प्रदर्शन को वह अभिनय की संज्ञा देते हैं। उनकी कल्पना में अभिनय के चार प्रमुख तत्व हैं जिनके अंतर्गत उन्होंने नृत्त, नृत्य, नाट्य तथा रस आदि के समस्त प्रयोग अंतर्निहित कर दिए हैं। नाट्यशास्त्र में नाटक के सहायक तत्वों के रूप में अलंकार, छन्दः शास्त्र तथा संगीत का भी विस्तृत विवेचन मिलता है।

उक्त कथानुसार नाट्यवेद के स्रष्टा स्वयं ब्रह्मा ने कहा है इसमें संपूर्ण त्रैलोक्य के भावों का अनुकरण है। इस नाट्यवेद के अंतर्गत कहीं धर्म है, कहीं क्रीड़ा, कहीं अर्थ, कहीं शांति अथवा श्रम, कहीं हंसी, कहीं युद्ध, कहीं काम और कहीं वध का अनुकरण है। भरतमुनि के अनुसार न कोई ऐसा ज्ञान है, न शिल्प है, न विद्या है, न कोई ऐसी कला है, न योग है और न ही कोई कार्य ही है, जो इस नाट्य में ना प्रदर्शित किया जाता हो।

ऋग्वेद के युग में नाट्य कला का संकेत नहीं मिलता। परवर्ती ग्रंथ यजुर्वेद के तीसवें अध्याय में अभिनेता की चर्चा की गई है कहा गया है, नृत्ताय शैलूषम अर्थात नृत्य के लिए अभिनेता का बलिदान करना चाहिए। अथर्ववेद में नृत्य के साथ संगीत का उल्लेख है, ऋग्वेद में संलाप सूत्र मिलते हैं इनमें नाट्य साहित्य का आदि रूप प्रकट होता है, ऋग्वेद के इन संवादों में जो नाटकीयता है उसने बाद के युग में क्लासिक श्रेणी के संस्कृत नाटकों को जन्म दिया। एक सूक्त में उर्वशी और पुरूरवा का संलाप है, यही कथा परिवर्तित परिवर्धित रूप में शतपथ ब्राह्मण, बौधायन, श्रौत सूत्र, वृहद देवता, हरिवंश पुराण, वायु पुराण आदि परवर्ती धर्म ग्रंथों से होती हुई बाद में कालिदास के विक्रमोर्वशीयम नामक प्रसिद्ध नाटक में पल्लवित और प्रस्फुटित हुई।[4]

भारत की प्राचीन परंपरा में नाटक का अर्थ आज की भाँति नाटक नहीं था। ईसा पूर्व और उसके चार सौ पाँच सौ वर्ष पश्चात तक नाट्य शब्द का अर्थ नर्तन था, नृत्य के द्वारा अभिव्यक्त की जाने वाली क्रिया को नाट्यम कहा जाता था।

पूर्ववर्ती परंपरा में नाट्य प्रस्तुत नहीं हुआ करता था अपितु मंच सापेक्ष समग्र प्रदर्शन को अभिनय कहा जाता था। भारत की प्राचीन परंपरा में अभिनेता के लिए नट शब्द का प्रयोग हुआ करता था। यह इसी प्रकार का प्रयोग है जैसे नाट्य शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए नट को उसकी मूल धातु बताया जाता है। इस बात के अनेक पुष्ट प्रमाण प्राप्त हैं कि तत्कालीन नट शारीरिक करतब दिखाया करते थे। देश के कुछ भागों में यह परंपरा प्रारंभ हुई कि मूल प्रदर्शन से पूर्व थोड़ी देर नट-नटी मंच पर अपने करतब दिखाकर दर्शकों का मनोविनोद किया करते थे इनके सूक्ष्म कला कौशल के बाद मूल नाटक का प्रदर्शन प्रारंभ हुआ करता था।

शब्दकल्पद्रुम में नट शब्द का अर्थ नर्तक देखने को मिलता है साथ ही नाट्यम का अर्थ स्पष्ट करते हुए इस प्रकार लिखा गया है - नटानाम कार्यम गीत नृत्य वाद्यम तत्पर्याय तौर्यत्रिकम।[5]

जब नाट्य शब्द की रचना हुई तो उसका अभिप्राय था कि नर्तन युक्त घूमना फिरना फलतः भारतीय परंपरा के मंच का कलाकार अभिनेता ना होकर नर्तक के रूप में प्रतिष्ठापित हुआ था।

नाट्यकला मुख्यतः दृश्य-श्रव्य तत्वों के मूर्तिकरण की कला है। इसका प्राणतत्व है अभिनय और इसका साध्य है- सौंदर्य की निष्पत्ति। नाट्य में मनुष्य स्वभावतः सुख-दुःख के समस्त अनुभवों को जो अपने प्रकृत रूपों में प्रायः अमूर्त, अगोचर, मनोमय तथा बुद्धिगम्य मात्र होते हैं - वाचिक, आंगिक तथा सात्विक अभिनयों में रूपांतरित किया जाता है, परिणामतः नाटकों में मानव की अपरिमेयता तथा अनंत संवेदनाएं अमूर्त से मूर्तता की ओर, सूक्ष्म से स्थूलता की ओर तथा अपरोक्ष से प्रत्यक्ष की ओर अग्रसर होती हुई सुंदर दृश्य कलात्मकता का स्वरूप धारण कर लेती हैं।[6]

भरत की शाश्वत साधना का परिनिष्ठित परिणाम नाट्यशास्त्र है। बिना नाट्यशास्त्र के भारतीय नाट्यकला की कल्पना भी नहीं की जा सकती। नाट्यशास्त्र न

केवल नाट्य कला ही अपितु काव्य, संगीत एवं नृत्य आदि विभिन्न ललित कलाओं का भी विश्वकोश है। वास्तविक कला संवोदनाओं से जन्म लेती है, जहाँ सारे विरोध और संघर्ष एकरंग और एकरूप हो जाते हैं। यही कारण है कि भरत ने समस्त मानव की एकता के मांगलिक अनुष्ठान का महान समारंभ सर्वलोकानुरंजनकारी नाट्यकला के माध्यम से किया था। देवों और दानवों ने संघर्ष को भूलकर एक ही रंग मंडप पर महेंद्रविजयोत्सव का रंगमंचन हर्षोत्फुल्ल हो देखा था क्योंकि वह देवो की विजय व दानवों की पराजय की कथा का नाटक नहीं वह तो नानाभावोसंपन्न, नाना व्यवस्थान्तरात्मक, शुभाशुभ विकल्प, तीनों लोकों का भावानुकीर्तन रूप था। भरतमुनि ने आज से सदियों पूर्व भारत की सामाजिक, सांस्कृतिक और जातीय एकता की मंगलमयी कल्पना को नाट्यकला के माध्यम से प्रकृत रूप दिया।

भरतमुनि ने गायकों की तुलना में गायिकाओं के महत्व का वर्णन किया था। नाटकों में संगीत का महत्वपूर्ण स्थान था, तत्कालीन नाटकों का आरंभ ही वाद्य-वादन से होता था।[7]

आज का फिल्म संगीत नाट्य परंपरा के लगभग डेढ़-दो हजार वर्ष पुराने सिद्धांतों से कितना निकट संबंधित है इसके लिए भरतकृत नाट्यशास्त्र के कुछ उल्लेखों पर दृष्टिपात करना होगा। भरत के अनुसार नाट्य में आरंभ से अंत तक संगीत का प्रयोग आवश्यकतानुसार बराबर होता रहा है।

नाटक के आरंभ में पूर्वरंग का विधान धार्मिक और सांगीतिक क्रियाओं का मिश्रित रूप है इससे जहाँ एक और ईश्वर को प्रसन्न करके भौतिक व्यवधानों से बचे रहने का मनोवैज्ञानिक तोष मिलता है[8] वहीं दूसरी और श्रोताओं को नाटक के अभिनय इत्यादि की ओर आकृष्ट कर लेने का अवसर मिल जाता है। हमारी मनोवैज्ञानिक धारणा बनी हुई है कि किसी कार्य को शुभ बनाने हेतु कार्य के प्रारंभ में ईश्वर को स्मरण किया जाता है। आज भी फिल्मों के प्रारंभ होते समय हम इसे देख सकते हैं। उदाहरणतः राजश्री प्रोडक्शन यानी राजकपूर द्वारा निर्देशित संबंधित फिल्में शिवलिंग की स्तुति व अर्चना के दृश्य से प्रारंभ हुई हैं। नाटक की प्रस्तावना के दृश्य में जो संगीत होता है वह दर्शक को सामान्य व्यवहारिक लोक से हटाकर कला के लोक में पहुंचा देता है। प्रस्तावना संगीत दर्शक केअस्थिर ध्यान को रंगमंच की ओर आकृष्ट करते हुए उसको एकाग्र बनाए रखता है।[9]

नाटक के आरंभ में संगीत या वाद्य-वादन की यह परंपरा शास्त्रीय नाटकों में ही नहीं मिलती, नाट्य के उन रूपों में भी मिलती है जो आम जनता के बीच लोकनाट्य के रूप में दिखाई देते हैं। रासलीला, स्वांग, नौटंकी, जात्रा, तमाशा आदि ढेरों ऐसे नाट्यरूप हैं जिन्हें संगीत से आरंभ करने की पुरानी परंपरा है।

नाटक के आरंभ में पूर्वरंग के अंतर्गत संगीत योजना का बहुत सूक्ष्म विवरण नाट्यशास्त्र में मिलता है। यहाँ तक कि मंच पर विभिन्न वाद्यों के वादक कहाँ-कहाँ पर और किस क्रम में बैठेंगे, इसका संकेत भी भरत ने किया है।

पूर्वरंग के पश्चात नाट्य आरंभ होता था। नाट्य के अंतर्गत ध्रुवाओं का प्रयोग हुआ करता था, नाट्यवस्तु की परिस्थिति को तीव्र बनाने अथवा पात्रों के चरित्र को उभारने के लिए जिन छन्दोबद्ध गीतों का प्रयोग नाट्य के भीतर किया जाता था वे ध्रुवा कहलाते थे।[10] आज फिल्मों में कथानुसार जो गीत फिल्माए जाते हैं, नाटक में वही स्थान ध्रुवागीति का था। ध्रुवाओं की स्वरगत विधि का बड़ा हिस्सा फिल्मी गीतों की सांगीतिक धारणा से मिलता-जुलता था। ध्रुवाओं में फिल्मी गीतों की तरह पदों अर्थात शब्दों का बहुत महत्व था। स्वर और ताल पदों के उपरंजक या पूरक थे क्योंकि पदों से निकलने वाले अर्थ में स्वर और ताल सहायक होते हैं। एक विशेषता यह भी है कि तत्कालीन नाटकों में जो ध्रुवागीत गीत होते थे वे प्राकृत आदि देशी भाषाओं में होते थे। आज के हिंदी फिल्मी गीतों में भी बोलचाल में प्रयुक्त खड़ी बोली का प्रयोग होता है और अधिकतर शब्द लोक भाषाओं, क्षेत्रीय भाषाओं के ही प्रयुक्त होते हैं। आचार्य भरत के युग में नाटकों में गीतों का प्रयोग कुछ विशिष्ट अवसरों पर किया जाता था इनमें पांच का

वर्णन आचार्य भरत ने किया है। प्रवेशगान, निष्क्रामगान, आक्षेपगान, प्रासादिकगान, आन्तरगान आदि इनमें प्रवेश और निष्क्राम को छोड़कर शेष तीनों प्रकार के गान आज की फिल्मों में मिलते हैं। यदा-कदा प्रवेश गान खोजे जा सकते हैं। प्रासादिक और आक्षेपगान की तो हमारी फिल्मों में भरमार रहती है। आंतरगान की भी कमी नहीं दिखाई देती परंतु फिल्मों में इनका उपयोग करने का तरीका तकनीकी दृष्टि से काफी सम्पन्न हो गया है। मुख्यतः पार्श्वगायन और पृष्ठभूमि संगीत की रिकॉर्डिंग सुविधा ने इनके चौतरफा प्रयोग को सफल बना दिया है।

नाट्यशास्त्र में गान उसे कहा गया है जिसमें सभी स्वर समाविष्ट रहें, वर्णों को वाद्यों की संगति या सहकार से सुंदर बनाया गया हो, तीनों स्थानों में संबद्ध हो ,तीन यति और तीन मार्गों से युक्त हो, आनंद या रंजन प्रदान करता हो, जो सम और ललित गुणशाली हो, अलंकारों से युक्त हो, सुखपूर्वक जिसका प्रयोग किया जा सकता हो और जो मीठापन लिए हो।[11] हमारे फिल्मी गीतों में ये सभी गुण मिलते हैं।

गायक-गायिका के बारे में भरतमुनि ने जिन गुणों का वर्णन किया है वे हमारे हिंदी फिल्मों के प्रारंभिक दौर के उन गायक-गायिकाओं पर ठीक लागू होते हैं, जो गायक और अभिनेता दोनों होते थे। गायक की अवस्था युवा होनी चाहिए, उसकी प्रवृत्ति स्नेहमयी और कंठ मधुर स्वर पूर्ण होना चाहिए, उसे लय, ताल, कला एवं उसके प्रमाण तथा योजना का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। गायिका सम्यक शरीर सौष्ठव वाली तथा रूपवती होनी चाहिए, जिसका कंठ स्वर कोमल, मधुर स्नेहपूर्ण, गूँजने वाला समता और रंजनात्मकता से पूर्ण एवं मंगलकारी हो जो उचित रूप में गमकों का ध्यान रखें। गीत, ताल और लय के ज्ञान में कुशलता रखती हो, जो वाद्य-वादन के अनुसार शरीर के करणों को व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत कर सकती हो और जिसकी अवस्था युवा या षोडश वर्षीया (श्यामा) हो, तो ऐसी स्त्री (उपयुक्त) गायिका होती है। फिल्म संगीत क्षेत्र में इसका उदाहरण है-सुरैया।

इस प्रकार भारतीय फिल्मी गीतों की वर्तमान परंपरा भरतमुनि की ध्रुवा-संबंधी परंपरा से निकट संबंध रखती है। फिर भी आज के फिल्मी गीतों में युगानुकूल कुछ नवीनताएँ भी शामिल हो गई हैं। संस्कृत नाटकों में ध्रुवाओं का अधिकतर गान स्त्री पात्रों द्वारा होता था। इसके दो कारण थे। पहला यह कि भरतमुनि की मान्यता थी कि गायन विद्या पुरुषों की तुलना में स्त्रियों को ज्यादा फबती है क्योंकि पुरुषों के कंठ में माधुर्य का होना, भरतमुनि के अनुसार उनके स्वभाव का गुण नहीं है, अतिरिक्त गुण है। दूसरे गेयता का तत्व प्राकृत जैसी बोल-चाल की भाषाओं में सर्वाधिक उभरता है।[12] भरतयुग की स्त्रियाँ प्राकृत भाषा में ही बोल सकती थी, उन्हें संस्कृत बोलने का अधिकार नहीं था। ऐसी स्थिति में ध्रुवाओं की गायिका अधिकतर स्त्रियाँ ही होती थीं। लेकिन आज के लोकतंत्रीय युग में भाषा के आधार पर स्त्री पुरुषों में ऐसे भेद की समाप्ति हो जाने के कारण हम देखते हैं कि हिंदी फिल्म संगीत क्षेत्र में पुरुष गायकों की कोई कमी नहीं है। के. सी. डे, पंकज मलिक, कुंदन लाल सहगल, पहाड़ी सान्याल, मन्ना डे, मुकेश, मोहम्मद रफी व किशोर कुमार से लेकर आज के सुरेश वाडेकर तक अनेक पुरुष गायक न केवल फिल्मों के लिए गाते रहे हैं बल्कि अपने गाए गीतों से करोड़ों लोगों के हृदय में राज कर रहे हैं।

फिल्मी पार्श्वगायन की परंपरा बीसवीं सदी की देन है। संस्कृत नाटकों में ऐसा नहीं मिलता है। आज के फिल्मी गीतों का रूप विधान भी संस्कृत ध्रुवाओं से कुछ भिन्न है। ध्रुवा गीतों में पहले आलाप गान होता था फिर वाद्य-वादन होता था और उसके बाद छन्दगान किया जाता था। हमारे अधिकांश फिल्मी गीतों में पहले आर्केस्ट्रा, फिर अस्थाई, फिर ऑर्केस्ट्रा, फिर अंतरा और उसके बाद पुनः स्थाई या टेक गाये जाने का रिवाज है।

भरत ने नाट्य दृश्यों में पार्श्व संगीत का भी विधान किया था। भिन्न-भिन्न दृश्यों में कौन से वाद्यों का और कैसे वादन किया जाना चाहिए, इसका

उन्होंने वर्णन किया है।[13] इस प्रकार भरतमुनि ने वाद्य-वादन, पार्श्व संगीत तथा गीतों की उपादेयता पर नाट्यशास्त्र में जो गंभीर विवेचन किया है, वह युगानुकूल कुछ आवश्यक जोड़ गाँठ के साथ दो हजार साल पहले की विकसित परंपरा से हमारे संगीत को जोड़ता है।

नाट्यशास्त्र के नाट्य प्रकरण का आज के चलचित्र से अंतर्संबंध :

भरतमुनिकृत नाट्यशास्त्र के नाट्यप्रकरण से यह विदित होता है कि फिल्म तथा फिल्म संगीत में भरत के नाट्य प्रकरण का अंतर्संबंध कहीं ना कहीं दृष्टिगोचर होता है। व्यवस्थित भारतीय नाट्य विद्या के मूल प्रवर्तक आचार्य भरत विख्यात और प्रस्तोता थे। उन्होंने नाट्य रचना, नाटयमंडप, अभिनय और नाट्य प्रस्तुति आदि के विभिन्न पक्षों पर विशदता से अध्ययन किया है। जिसका समावेश आज के चलचित्र में हम आसानी से पा सकते हैं।

नाट्यकार की कल्पना, रंग शिल्पी के कुशल अभिनय और प्रेक्षक की संवेदना में परस्पर एकाकारता उसकी प्रथम शर्त है। चलचित्र को इतना सजीव व प्रभावित करने में नाटकों का ही योग रहा है। यदि नाट्य प्रकरण ही ना होता, तो उसका अत्याधुनिक रूप यांत्रिक नाट्य प्रस्तुति यानी सिनेमा भी जन्म ना ले पाता। जिस प्रकार भारत की प्राचीन रंग परंपरा में अभिनेता नर्तक होता था, नाटक की प्रस्तुति नृत्यात्मक होती थी, उसकी क्रिया नटनम कहलाती थी, उसका प्रदर्शन नाट्यम कहलाता था, जिसका अर्थ होता था गायन, वादन व नर्तन। उसी प्रकार जब हमारे देश में फिल्मों का निर्माण प्रारंभ ही हुआ था उस समय मूक अर्थात निर्वाक फिल्में ही बन रही थीं, जो भरत के नाट्य शास्त्र में वर्णित नाट्य प्रकरण से संबंधित ही प्रतीत होती हैं। यदि भारतीय फिल्म संगीत पर दृष्टिपात किया जाए तो हम कह सकते हैं कि फिल्मों की शैशवावस्था में तो पूरी फिल्म ही ऐसे अभिनेता पर निर्भर करती थी जो दर्शकों को अपने अभिनय व दृश्य से बांधे रखें। अब तक की फिल्मों में बहुत सी नृत्य प्रधान फिल्में भी बनी है जैसे राजनर्तकी, चित्रलेखा, कल्पना, झनक-झनक पायल बाजे, चंद्रलेखा, नवरंग, मुग़ल-ए-आज़म व नाचे मयूरी आदि। अतः स्पष्ट है कि भरत कालीन संगीत नृत्य परंपरा का अनुकरण व परिवर्तित रूप ही आज की फिल्मों में विद्यमान है।

जिस प्रकार से भरतमुनि के काल में मंच पर कार्य करने वाले व्यक्तियों को गायन, वादन व नर्तन तीनों की शिक्षा लेनी होती थी, उसी प्रकार से जब सवाक फिल्मों का प्रारंभिक दौर चल रहा था, उस समय आवाज रिकॉर्डिंग की तकनीक अलग से फिल्मों में नहीं थी, जिसके कारण सभी पात्रों को स्वयं ही गाना पड़ता था तथा ऐसे पात्रों को फिल्मों में काम करने के लिए पहले अवसर दिया जाता था जो संगीत की पूरी जानकारी रखते थे। प्रारंभिक दौर की फिल्मों में कुछ फिल्में गेय रूप में अर्थात पूरी फिल्म ही पात्रों द्वारा गाकर प्रदर्शित की गई थी जैसे फिल्म इंद्रसभा में 71 गाने थे, फिल्म अबुल हसन में 22 गाने थे, सत्यवादी राजा हरिश्चंद्र में 27 गाने थे।

किसी भी फिल्म की सफलता के लिए उसमें संगीत का होना अत्यंत आवश्यक है। प्रारंभ से आज तक फिल्मों में संगीत का विविध रूपों में प्रयोग होता चला आ रहा है क्योंकि किसी भी नाटक या फिल्म में जब संगीत का प्रयोग होता है तो उससे विभिन्न प्रकार के रसों की सृष्टि होती है तथा रस से ही आनंद की अनुभूति होती है जिसे हम नाटक से, फिल्मों से तथा अन्यानेक मनोरंजन माध्यमों से प्राप्त करते हैं।

नाट्य शास्त्र में दो नाटकों के प्रदर्शन की चर्चा हुई है, भरत ने गंधर्वों,अप्सराओं द्वारा सर्वप्रथम त्रिपुरदाह और अमृतमंथन नामक दो प्रयोग प्रस्तुत किए। नाटकों से संबंधित जो कुछ पद्धतियां नाट्यशास्त्र में बताई गईं हैं उनका रूप पहली बार कवि कुलभास के लिखे हुए नाटकों में देखने को मिलता है वे सभी क्रियाएँ जो नाट्यशास्त्र की रंगमंच परंपरा की ओर संकेत करती हैं वे भास के बाद शूद्रक और उनके पश्चात कालिदास के नाटकों में भी मिलती हैं। उनके लिखे तीन नाटक आज प्राप्त हो चुके हैं- अभिज्ञान शाकुंतलम्, विक्रमोर्वशीयम और मालविकाग्निमित्रम् आदि। भरतमुनि

के अनुकरणकर्ता भास व कालिदास की सर्वाधिक लोकप्रिय रचना अभिज्ञानशाकुंतलम् को पहली बार सन 1920 में रजतपट पर प्रस्तुत किया गया। भारतीय सिनेमा के जनक दादा साहब फाल्के ने भी महाकवि कालिदास के प्रसिद्ध नाटक मालविकाग्निमित्रम् पर इसी नाम से 1929 में एक मूक फिल्म का निर्माण किया।[14] शकुंतला नामक कई फिल्में भी बनी है। इस प्रकार पूर्णरूपेण यह परिलक्षित होता है कि नाट्य के विकसित स्वरूप का अनुकरण सिनेमा में किया गया है।

भरतमुनि के नाट्य शास्त्र में बताया गया है कि जब अभिनय का आरंभ होता है तो इसका मूल प्रारंभ उत्थापन क्रिया (जो कि पूर्व की 22 क्रियाओं में से एक है) से होता है ।इसमें सर्वप्रथम भांडवाद्य जैसे- पणव, नगाड़ा, मृदंग, ढोल आदि बजाने चाहिए। चमढ़े से मढ़े हुए कई वाद्यों के घोर गर्जन से वह दर्शकों का ध्यान और उनकी मानसिक चेतना को मंच पर केंद्रित करके मंच के कार्य व्यापार में एक रूप कर देना चाहते हैं। इसके पश्चात वे कहते हैं आसारित- विधि का प्रयोग करना चाहिए जिसमें कि पणव की ध्वनि समाप्त भी ना हो पाए कि वींणा, रूद्र, शंख,दर्दुर विपंची तथा चित्रा आदि वाद्यों द्वारा स्वरलहरी अर्थात वृंद-वादन प्रारंभ कर देना चाहिए।

जिस प्रकार वाद्यों के प्रयोग की क्रिया को भरतमुनि ने बताया है उसी प्रकार जब केवल मूक फिल्में प्रदर्शित होती थीं तो दर्शकों को एकाग्र करने के लिए भी उस प्रेक्षागृह में अलग से संगीत का प्रयोग आरकेस्ट्रा के रूप में किया जाता था। इसके बाद सवाक फिल्मों के युग में विभिन्न प्रकार के वाद्यों का प्रयोग फिल्मों में भी किया गया। आजकल की फिल्मों में विभिन्न प्रकार के वाद्यों का प्रयोग व स्वतंत्र रूप से भी ऑर्केस्ट्रा का प्रयोग होता चला आ रहा है।

भारतीय रंगमंच हो या भारतीय चित्रपट, इस परंपरा की यह विशेषता रही है कि इसका प्रयोग बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय रूप में ग्रहण किया गया है। इसका लक्ष्य समस्त लोक को रसानुभूति कराना रहा है। भरतमुनि नाटक को लोकोपदेशजननं, हितोपदेशजननं तथा सर्वोपदेशजननं मानते हैं ।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1. 1 नाट्यशास्त्रम, प्रस्तावना, प्रथम भाग, (1984), प्रो॰ बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, पृष्ठ-51
2. 2 स्वतंत्र कलाशास्त्र, (प्रथम भाग), 1967, डॉ॰ कांति चंद्र पांडे, पृष्ठ-35
3. 3 कत्थक दर्पण, पंडित तीर्थ राम आजाद, पृष्ठ-54
4. 54 स्वतंत्र कला शास्त्र, डॉ॰ कांति चंद्र पांडे
5. 75 कत्थक दर्पण, पंडित तीर्थ राम आजाद, पृष्ठ-10
6. 86 भारतीय नाट्य सौंदर्य, डॉ॰ मनोहर काले, पृष्ठ-51
7. 247 महाभारत-खिलभाग हरिवंश, (श्री हरिवंश पुराणम) अध्याय 93, छन्द 26, पृष्ठ-591
8. 298 नाट्यशास्त्रम भरत- प्रो॰ बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, 1985, अध्याय 36, पृष्ठ-510-11
9. 309 स्वतंत्रकला शास्त्र (प्रथम भाग) 1967, डॉ॰ कांति चंद्र पांडे, पृष्ठ-191-193
10. 3210 भारतीय संगीत में ताल और रूप विधान, डॉ॰ सुभद्रा चौधरी, 1984, पृष्ठ-395
11. 3911 नाट्यशास्त्रम चतुर्थ भाग, प्रो॰ बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, अध्याय 32, छन्द 492, पृष्ठ-337-38
12. 4112 वही
13. 4213 वही
14. 5114 दैनिक भास्कर, नवरंग, 26 फरवरी, 2000

महाराष्ट्र की लोकनाट्य परंपरा - तमाशा

प्रो. डॉ. रवींद्र रामभाऊ इंगळे
संगीत विभागाध्यक्ष,
कै. सौ. कमलताई जामकर महिला महाविद्यालय,
जिंतुर रोड, परभणी - 431401 (महाराष्ट्र)

तमाशा भारत के लोक नाटक का श्रृंगारिक रूप है, जो पश्चिम भारत के महाराष्ट्र राज्य में 16वीं शताब्दी में शुरू हुआ था। अन्य सभी भारतीय लोक नाटकों में प्रमुख भूमिका में प्रायः पुरुष होते हैं, लेकिन तमाशा में मुख्य भूमिका महिलाएँ निभाती हैं। तमाशा नाटक का ही एक रूप है। इसकी शुरुआत महाराष्ट्र में 16वीं सदी में हुई थी। यह लोक कला यहाँ की अन्य कलाओं से थोड़ी अलग है। 'तमाशा' शब्द का अर्थ है- 'मनोरंजन'। कुछ शोधकर्ताओं का मानना है कि संस्कृत के नाटक रूपों-प्रहसन और भान से इसकी उत्पत्ति हुई है। इस लोक कला के माध्यम से महाभारत और रामायण जैसी पौराणिक कथाओं को सुनाया जाता है। इसमें ढोलकी, ड्रम, तुनतुनी, मंजीरा, डफ, हलगी, कड़े, हारमोनियम और घुँघरुओं का प्रयोग किया जाता है।

20वीं सदी में तमाशा व्यावसायिक रूप से बहुत सफल हुआ। तमाशा महाराष्ट्र में प्रचलित नृत्यों, लोक कलाओं इत्यादि को नया आयाम देता है। यह अपने आप में एक विशिष्ट कला है। महाराष्ट्र में इस कला के स्थापित होने से पहले, जागरण, वाघ्यामुरली, दशावतार, बहुरूपी, वासुदेव के गीत, पोतराज आदि गीतप्रकार मौजुद थे। तमाशा यह लोककला बहूरूप से प्रचलित थी। ये सभी नाटकीय लोक कला रूप और तमाशा तकनीकी और संगीत पहलुओं के संदर्भ में कुछ हद तक समानता साझा करते हैं।

तमाशा पाँच भागों अर्थात् गण, गौलन, लावनी, बतावनी और वग से समृद्ध है। यह शब्द अरबी मूल से बना है, तमाशा का अर्थ है तमाशा, नाटक या नाट्य प्रदर्शन। तमाशा की शुरुआत गण, गवलन से होती है और तमाशा वगनाट्य के प्रदर्शन के साथ समाप्त होता है। तमाशा नाटक में पांच प्रकार के नाटक शामिल होते हैं, जैसे- गण-गौलन, बतावनी, स्वांग, रंगबाजी और वग। तमाशा खेल शब्द का अर्थ है नाट्य प्रयोग।

गण का अर्थ है भगवान गणेश का आवाहन या आरती। तमाशा की शुरुआत इस आरती से की जाती है। तमाशा प्रमुख यानी मालिक ने तमाशा खेल को सुचारू रूप से चलाने की अपील की। सभी साथी ऊँचे स्वर में ध्रुपद बजाते हैं और सुरत्या ध्रुपद की अंतिम धुन को ऊपर उठाती हैं। गान के अंत में कुछ देर तक ढोलकी और कड़े बजाए जाते हैं। इसके बाद तमाशा में महिलाओं का नृत्य होता है और फिर गौलने शुरू होती है। कृष्ण की गोकुल में लीला तो मामूली बात है। नर्तकियाँ गोपियाँ बन जाती हैं और उनमें एक बुजुर्ग चाची भी शामिल होती हैं। ये गोपियाँ दूध, दही, मक्खन आदि लेकर मथुरा जा रही हैं और रास्ते में उन्हें श्री कृष्ण और उनके साथियों ने रोक लिया है। इस समय इन दोनों पार्टियों के बीच हास्य संवाद सुनकर दर्शक जोर-जोर से हंसते हैं। ये साज-सामान हंसी और श्रृंगार रस से

भरपूर हैं। नाटक में मुख्य कहानी लेखक होता है। उन्हें वग सम्राट के नाम से भी जाना जाता है।

तमाशा के कलाकार एक नये नाट्य प्रयोग को प्रहसन के रूप में प्रस्तुत करते हैं। प्रहसन का विषय यह है कि इसमें गाँव के लोगों को एक साथ एकत्रित होते हुए दिखाया गया है। ये इकट्ठे हुए लोग बहुत दिनों के बाद मिले हैं। फिर वे विभिन्न विषयों को लेकर दर्शकों को हंसाते हैं।

तमाशा में कई कलाकार काम कर रहे हैं। यह इस प्रकार है।

1. गायक - गाना गाना।
2. वडका - वाद्ययंत्र बजाना।
3. नर्तकी - एक महिला जो तमाशे में नृत्य करती है।
4. मावशी - बुजुर्ग महिला जो प्रेमालाप के दौरान गोपिका के साथ जाती है।
5. सोंगाड्या - प्रतियोगिता में बहुरूपिया।
6. नायक का एक चरित्र होता है।
7. खलनायक का एक चरित्र होता है।
8. ऋणदाता एक पात्र है।

यदि तमाशा मंच पर एक ही समय में दर्शकों के दो मंच हों। उनके बीच सरसनिरा तय करते समय आपस में सवाल-जवाब होते रहते हैं। ये सवाल और जवाब अक्सर पौराणिक कथाओं पर आधारित पहेलियाँ होती हैं। यह कविताओं के माध्यम से एक-दूसरे से ये पेचीदा सवाल पूछने और उनके जवाब पहचानने का कार्यक्रम है।

किसी उत्सव के मंच पर सजावटी आभूषणों की प्रस्तुति रंगबाजी है। मंच पर एक से अधिक दर्शक होते हैं। उस नाटक को संगीतबारी कहा जाता है। इसके साथ ही गायक विभिन्न प्रकार के लोकगीत प्रस्तुत करते हैं। तमाशा के शुरू होते ही सबसे पहले भगवान गणेश की वंदना की जाती है। इसके बाद गवलन या गौलनियाँ गाए जाते हैं। मराठी धर्म-साहित्य में ये कृष्णलीला के रूप हैं, जिसमें भगवान कृष्ण के जन्म की विभिन्न घटनाओं को दर्शाया जाता है। नृत्य श्रृंखलाओं के अलावा तमाशा में नटुकनी, सौंगाड्या और अन्य चरित्रों द्वारा अनेक प्रकार के शाब्दिक कटाक्षों और कूट प्रश्नों द्वारा वाद-प्रतिवाद भी किया जाता है। नटुकनी का चरित्र महिलाएँ निभाती हैं। इस लोक कला में यमन, भैरवी और पिलु यह हिन्दुस्तानी राग मुख्य रूप से प्रयोग किए जाते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य लोक गीतों का भी प्रयोग किया जाता है। इसके अंत में सदैव बुराई पर अच्छाई और असत्य पर सत्य की विजय का संदेश दिया जाता है।

वग एक नाटकीय रूप में प्रस्तुत की गई कहानी है। कहानी इस पर निर्भर करती है कि वह पौराणिक है, ऐतिहासिक है या लोककथा है। इन कहानियों में संवाद नहीं लिखे गए हैं। नाटक के पात्रों को इसे अपनी बुद्धि से कहना है। वगनाट्य करने के बाद तमाशा खेल समाप्त हो जाता है। निम्नलिखित नाटक महाराष्ट्र में विशेष रूप से लोकप्रिय हुए।

1. उमाजी नाईक
2. तंट्या भिल्ल
3. मिठाराणी
4. मोहना-छेलबटाऊ
5. शेठजीचे इलेक्शन
6. देशभक्त घोटाळे
7. खापऱ्या चोर
8. पुढारी सापडला

महाराष्ट्र के उल्लेखनीय तमासगीरों और उनकी प्रवृत्तियों की सूची :

मुख्य रूप से तमाशा महाराष्ट्र के 'कोल्हाटी' समुदाय द्वारा किया जाता है। इस कला को प्रस्तुत करने के लिए किसी मंच इत्यादि की आवश्यकता नहीं होती है। इसे किसी भी खुले स्थान पर किया जा

सकता है। महाराष्टमें निम्नलिखीत नाम तमाशा कलाप्रकारसे जुडे हुवे है ।

1. तुकाराम खेडकर सह पांडुरंग मुळे मांजरवाडीकर लोकनाट्य तमाशा मंडळ
2. काळू-बाळू
3. पठ्ठे बापूराव
4. रावराम जोशी
5. विठाबाई भाऊ मांग नारायणगावकर
6. विठ्ठल उमप
7. होनाजी बाळा
8. गुलाबबाई संगमनेरकर
9. दत्ता महाडीक सह गुलाबराव बोरगावकर
10. लता - सुरेखा पुणेकर
11. तुकाराम खेडकर सह कांताबाई सातारकर
12. हरिभाऊ बडे नगरकर

प्रसिद्ध तमाशा गायिका विठाबाई भाऊ नारायण-गांवकर के कारण पुणे जिले का नारायणगांव महाराष्ट्र में तमाशा का केंद्र बन गया है।

संक्षेप में देखे तो, तमाशा महाराष्ट्र की लोक नाट्य परंपरा की प्रमुख कलाओं में से एक है और मनोरंजन के नये साधनों की उपलब्धता के कारण दिन-ब-दिन लुप्त होती जा रही है। इसलिए इसका अध्ययन करना जरूरी है।

संदर्भ सूची :

1. ''तमाशा'' (PDF). ir.unishivaji.ac.in (Marathi भाषेत). 21 October 2022. Archived (PDF) from the original on 21 October 2022.
2. ''तमाशा'' vishwakosh.marathi.gov.in (Marathi भाषेत). 21 October 2022. Archived from the original on 21 October 2022.
3. 'बशीर मोमीन (कवठेकर)', दै महाराष्ट्र टाइम्स, 2-March-2019
4. 'लोककलेतील गणेशाचे रूप' pudhari.news (Marathi भाषेत) 9 September 2021. Archived from the original on 22 October 2022.
5. 'प्रकरण क्र. 1: मराठीतील लोकनाट्य परंपरा - विकास' (PDF). ir.unishivaji.ac.in (Marathi भाषेत). 22 October 2022. Archived (PDF) from the original on 22 October 2022.
6. 'तमाशातील दुर्मीळ माहितीचा 'फार्सा'' loksatta.com (Marathi भाषेत). 5 June 2016. Archived from the original on 22 October 2022.
7. "Bhartiya Loknatya" (Hindi भाषेत) 23 October 2022.
8. खंडूराज गायकवाड, लेखणीतून ग्रामीण लोककला संपन्न करणारे- बशीर मोमीन कवठेकर!, ''दै नवाकाळ'', 20 Jan 2011
9. 'महाराष्ट्र शासनाच्या योजना' (PDF). cultural.maharashtra.gov.in (Marathi भाषेत) 10 November 2022. Archived from the original (PDF) on 10 November 2022.

हिन्दी रंगमंच और अंधेर नगरी

डॉ॰ मीनू अवस्थी
आचार्य, हिन्दी विभाग,
वसंत महिला महाविद्यालय

रंगमंचीय नाटक की उत्कट व्यवस्था सफलता की कसौटी है उसकी सम्पूर्णता। इस अवस्था में रंगशाला में न तो कोई शब्द सुनाई देता है और न क्षोभ व्यक्त होता है न किसी प्रकार का 'उत्पात' दिखायी देता है। क्योंकि 'रंग' का अन्तर्वाह्य स्वरूप सम्पूर्णता को प्राप्त किए रहता है-

न शब्दों नैव च क्षोभो न चोत्पान दर्शनम्।
सम्पूर्णता च रंगस्य सिद्धिर्दैविकी स्मृता॥

डॉ॰ मनोहर काले ने भारतीय नाट्य सौन्दर्य में लिखा है ''नाट्य एक प्रयोग-विज्ञान है। इसके दो अविभाज्य अंग होते हैं एक सैद्धान्तिक चिन्तन का और दूसरा रंगमंचीय व्यावहारिक प्रयोग या प्रत्यक्ष अभिनय का।''

यदि हिन्दी रंगमंच की विकास यात्रा पर एक दृष्टि डालें तो भारतेन्दु के पश्चात् नाट्य आन्दोलन में निरन्तरता आई। धर्मवीर भारती के अंधा युग, मोहन राकेश का 'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस', 'आधे-अधूरे' लक्ष्मीनारायण लाल का 'मादा कैक्टस' मुद्राराक्षस का 'मरजीवा', 'तिलचट्टा', हमीदुल्ला का 'उलझी आकृतियाँ', 'दरिन्दे', 'एक और युद्ध, बलराम पंडित का 'पाँचवाँ सवार', ज्ञानदेव का 'शुतुर्मुर्ग', सुरेन्द्र वर्मा का 'छोटे सैयद बड़े-सैयद', 'कैद-ए-हयात'। गिरिराज किशोर का 'प्रजा ही रहने दो', 'चेहरे-चेहरे कितने चेहरे'। भीष्म साहनी का 'हानूश', 'माधवी' कवि सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का 'बकरी', मणिमधुकर का रंसगंधर्व, 'दुलारी बाई', सुशील कुमार सिंह का 'सिंहासन खाली है'।

कुसुम कुमार की 'रावणलीला', स्वदेश दीपक का 'कोर्टमार्शल', दूधनाथ सिंह का 'यमगाथा' ये कुछ महत्वपूर्ण नाटक हैं जो भारतेन्दु के पचास वर्ष बाद लिखे गये हैं नाटक और रंगमंच को लेकर भी खूब लिखा गया। आधुनिक हिन्दी रंगमंच अपनी प्रयोगात्मकता में विकसित हुआ है समृद्ध हुआ है। लेकिन इसके साथ कुछ विरोधाभास भी हैं। हिन्दी रंगमंच के इतिहास में 'अंधेर नगरी' का मंचन महत्वपूर्ण घटना है। ये नाटक सर्वाधिक खेले गये नाटकों में से एक है।

अंधेर नगरी की कथा वस्तु छः दृश्यों में विभाजित है इसके पहले दृश्य में महंत के साथ उनके दो चेले गोबरधन दास और नारायण दास के साथ अंधेर नगरी जाते हैं और नगर के बाहर पड़ाव डालते हैं। इसका पहला अंक 'बाह्य प्रांत'। दूसरा अंक 'बाजार' है इस अंक में कबाबवाला, घासीराम, नारंगीवाला, हलवाई, कुंजड़िन, चूरनवाला, मछलीवाला, जातवाला, ब्राह्मण, बनिया आदि पात्र हैं। इस अंक में भारत की तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक जीवन पद्धति के विषय में जानकारी मिलती है और इसी अंक में 'टके सेर भाजी टके सेर खाजा' का सुप्रसिद्ध संवाद है।

तीसरा अंक-जंगल है जहाँ महन्त ज्ञान का प्रतीक है। वही उनका दूसरा शिष्य गोबरधन दास अज्ञानी है। वो अंधेरनगरी में अर्थात् पश्चिम में प्रवेश करता है। पश्चिम भोग-विलास का प्रतीक है। नारायण

दास पूरब दिशा में प्रवेश करता है। पूरब भारतीयता का प्रतीक है महन्त जानता है गोबरधन दास इस नगरी के संकट में फंसेगा और इसीलिए कहता है कि विपत्ति के समय में याद करना। चौथा अंक- राज्य सभा है जहाँ राजा, मंत्री और नौकर है ये सबसे महत्वपूर्ण अंक है जहां भ्रष्ट राजव्यवस्था का रूप देखने को मिलता है। अन्याय से न्याय की उम्मीद कैसे की जा सकती है। इस दृश्य में फरियादी आता है। उसकी बकरी कल्लू बनिये की दीवार के नीचे दबकर मर गयी होती है। फिर कल्लू बनिया आता है वो स्वयं को निरपराधी कहता है वो कहता है कारीगर ने दीवार कमजोर बनाई इसलिए ढह गई फिर कारीगर बुलाया जाता है वो इसका दोष चूने वाले को चूने वाला दोष भिश्ती को, भिश्ती कसाई को, कसाई गड़ेरिया को, गड़ेरिया कोतवाल पर अपना दोष डालता है। इसका परिणाम यह होता है कोतवाल को फाँसी पर चढ़ाने की सजा सुनाई जाती है। पाँचवाँ अंक- स्थान 'अरण्य' इस अंक में गोबरधनदास को प्यादे पकड़कर ले जाते है। गोबरधनदास बेकसूर है। लेकिन सिर्फ उसको इसलिए पकड़ा जाता है कि कोतवाल साहब दुबले है। फांसी का फंदा मोटे व्यक्ति के गले में पड़ना चाहिए इसलिए उसको पकड़ा जाता है ऐसी मूर्खता देखकर वो अपने गुरू को याद करता है। गुरू जी कहाँ हो 'आओ'। छठा अंक स्थान- 'श्मशान' इस अंक में गोबरधनदास के याद करने पर गुरू जी आते है गुरू जी अपनी बुद्धिमत्ता से यह घोषणा करते है कि इस समय जिसकी मृत्यु होगी वो सीधा बैंकुठ में जायेगा। यह सुनते ही फाँसी चढ़ने के लिए होड़ लग जाती है। लेकिन जब राजा स्वयं कहता है कि स्वर्ग जाने का पहला अधिकार उसी का है और वह फॉसी चढ़ जाता है।

अंधेर नगरी की यह साधारण कहानी नहीं है अपितु असाधारण कहानी है। रंग परिदृश्य में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का व्यक्तित्व अकेला है। जिन्होंने नाट्य लेखन किया, अभिनय किया। भारतेन्दु अपने युग, वर्तमान और भविष्य, भारतीय और आधुनिक दोनों संदर्भों में नाटक और रंगमंच की प्रकृति नाट्यभाषा, लोकसंस्कृति, लोकनाट्य रूपों की प्रभावशीलता के साथ वो शास्त्रीय और पश्चिमी प्रयोग के प्रति जागरूक थे। भारतेन्दु के समकक्ष एक दूसरी धारा पारसी नाटकों की थी। पारसी नाटकों में अश्लीलता और फूहड़पन को भारतेन्दु युग के साहित्यकार पचा नहीं पा रहे थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने लिखा है- ''देखो तुम मनोरंजन करने और धन कमाने के लिए नाटक करते है हम साहित्य के लिए मानसिक भूख को शांत करने के लिए नाटक लिखते हैं।''

भारतेन्दु अपने समय की लोक परम्परा, लोक जीवन, लोकरंग के प्रति जागरूक थे। भारतेन्दु की चिन्ता थी कि हिन्दी का अपना कोई रंगमंच नहीं है। रंगमंच की दृष्टि से भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की प्रासंगिकता बढ़ जाती है, क्योंकि उन्होंने नाटक के दृश्य को उसकी परिकल्पना के स्तर पर अनुभव किया था। हिन्दी की नाट्यकला को ध्यान में रखते हुए उन्होंने नाटक 'निबन्ध' लिखा। भारतेन्दु जी का सोच थी- ''बिना कोई उत्तम शिक्षा निकले जो नाटक खेला ही गया तो इसका फल क्या?'' भारतेन्दु के समय में पाँच प्रकार की नाट्य परम्परायें समानान्तर चल रही थी- रामलीला, रासलीला, नौटंकी और साहित्यिक रंगमंच तथा पारसी रंगमंच। भारतेन्दु के नाटकों में पाँचों का प्रभाव उनके नाटकों पर पड़ा। संस्कृत नाटकों से उन्होंने कुछ ग्रहण किया कुछ छोड़ा और कहीं-कहीं पूरा स्वीकार किया।'' हमारी नाट्य परम्परा' में श्री कृष्णदास ने लिखा है- ''भारतेन्दु समन्वय के पक्षधर थे इसीलिए उन्होंने पारसी रंगमंच से व्यावसायिकता को ले लिया। भारतेन्दु जी ने अपने नाटकों को प्राणार्पण से सींचा। उन्होंने मेलों में अपने अनेक नाटकों का मंचन कराया उन्होंने सत्रह नाटक लिखे अंधेर नगरी (1881) प्रहसन उनके मौलिक नाटकों में आता है। उन्होंने नाटक की सीधी-सीधी परिभाषा दी ''काव्य सर्वगुण संयुक्त खेल को नाटक कहते है।'' भारतेन्दु जी ने 'नाटक' को अनेक नाम दिये खेल, तमाशा, दिल्लगी, क्रीड़ा, कौतुक चमत्कार।

अधिकांश विद्वानों ने एक स्वर में इस बात को स्वीकार किया हैं ''नाट्यभाषा को पूर्ण रंगमंचीय रूप में हिन्दी-साहित्य में बाबू साहब ही लेकर आये थे।''

अंधेर नगरी की भाषा की मारक क्षमता ने रंगकर्मियों को अपनी ओर आकर्षित किया था इसीलिए उन्होंने इसका मंचन किया इस प्रहसन का एक-एक शब्द नगर के निवासियों की कथा कहता है। अंधेर नगरी का पहला अंक जिसमें महन्त जी की बातचीत अपने चेले से हो रही है इस अंक में सब गा रहे है-

राम भजो राम भजो राम भजो भाई
राम के भजे गनिका तर गई
राम के भजे से गीध गति पाई
राम के नाम से काम बनै सब
राम के भजन बिनु सबहि नसाई[1]

महन्त बच्चा नारायणदास। यह नगर दूर से बड़ा सुन्दर दिखलाई पड़ता है। देख कुछ भिच्छा-उच्छा मिले तो ठाकुर जी को भोग लगे और क्या।

नारायणदास : गुरू जी महाराज। नगर बड़ा तो नारायण के आसरे से बहुत ही सुंन्दर है जो है सो, पर भिच्छा सुन्दर मिलै तो बड़ा आनन्द होय।

महन्त बच्चा गोबरधनदास ! तू पच्छिम की ओर से जा और नारायणदास पूरब की ओर जायेगा।[2]

इस नाटक का प्रथम दृश्य ही पाठकों को खींचता है। इसकी भाषा खींचती है ऐसी भाषा का प्रयोग सुनने को मिलेगा जो भोले-भाले ग्रामीणों की अपनी बोलचाल भारतेन्दु जी ने इसी प्रकार लिखा-

जे स्वारथरत धूर्त हंस से काक-चरित-रत।
ते औरन हत बंचि प्रभुहिं नित होहिं समुचत॥
जदपि लोक की रीति यही पै अन्त धर्म्म जय।
जौ नाहीं यह लोक तदपि छलियन अति जम भय॥

संस्कृत से भी लिया गया भाव उन्होंने अंधेर नगरी में लिया इस भाव के माध्यम से भारतेन्दु अंधेर नगरी के विषय में बता देते हैं-

छेदश्चंदनचूत चम्पकवने रक्षा करोरद्रुमेः
हिंसा हंसमयूरकोकिल कुले काकेषुलीलारतिः
मातंगेन खरक्रयः समतला कर्पूकार्पासयोंः
एषा यत्र विचारणा मुणिगणे देशाय तस्मै नमः

जो चंदन, आम तथा चंपावन को काटकर कीकर के वृक्ष की रक्षा करता है जो हंस, मोर और कोयल के प्रति हिंसक होकर काकलीला में रूचि लेता है तो हाथी के बदले गधा खरीदता है और कपूर एवं कपास को (उनके श्वेत रंग के कारण) एक सा मानता है और जहाँ के 'गुणीजन' ऐसे ही विचार रखते हों, उस देश को नमस्कार है। भारतेन्दु इस विचार के माध्यम से कितना गहरा प्रहार करते है।

अंधेर नगरी का दूसरा अंक-बाजार बहुत महत्वपूर्ण है जिसमें कबाबवाला, नारंगीवाला, हलवाई, कुजड़िन, मुगल, पाचकवाला, मछलीवाला, जातवाला (ब्राह्मण) बनिया इन सबकी भाषा, पात्रों की मानसिकता के अनुसार भारतेन्दु ने रची उनका शब्द चयन वाक्यों की संरचना ये सब उनको नाटककारों की श्रेणी में रखते है।

ले हिन्दुस्तान का मेवा फूट और बैर[3]
हिन्दोस्तान का आदमी लक लक

....

चूरन साहेब लोग जो खाता सारा हिन्द
हजम कर जाता[4]

....

वेद, धम्म, कुल, मरजादा सचाई-बड़ाई
सब टके सेर।[5]

अनमोल अर्थात् जीवन मूल्य, सदाचार सब कुछ टके सेर बिक रहा है पाश्चात्य जीवन जैसा अंग्रेजों ने दिया उसी की ओर सब भाग रहे है टेक सेर पर। भाषा प्रयोग में भारतेन्दु कहीं नहीं चूके हैं। महन्त की पवित्र मानसिकता है इसीलिए वो पूछता है।

वाह! वाह! बच्चा! इतनी मिठाई कहाँ से लाया?

किस धर्मात्मा से भेंट हुई?

गोबरधन दास

गुरू जी महाराज। सात पैसे भीख में मिले थे उसी से इतनी मिठाई मोल ली है।

महन्त- बच्चा! नारायण दास ने मुझसे कहा था कि यहाँ सब चीज टके सेर मिलती है, तो मैंने इस बात का विश्वास नहीं किया बच्चा, यह कौन सी नगरी है और इसका कौन राजा है। जहाँ टके सेर भाजी और टके सेर खाजा है?

राजा की भाषा देखिए : 'दुष्ट लुच्चा पाजी ! नाहक हमको डरा दिया मंत्री इसको सौ कोड़े लगें।

- चुप रहो। तुम्हारा - न्याय वहाँ ऐसा होगा कि जैसा जम के यहाँ भी न होगा।

इन संवादों में नाटकीय परिहास है। इस प्रकार प्रत्येक पात्र की भाषा रंगमंच के उपयुक्त संयोजन को एक साथ प्रकट करती है। ..... ''मानव प्रकृति की समालोचना करनी हो तो नाना प्रकार के लोगों के साथ कुछ दिन बास करौ तथा नाना प्रकार के समाज में गमन करके विविध लोगों का आलाप सुनैं।'' भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अंधेर नगरी में यही दिखाने का प्रयास किया है कि बाजार की भाषा ये दिखाती है कि क्रय-विक्रय में मनुष्यता, मानवीय मूल्य कुछ मायने नहीं रखते अपितु सब खरीदा और बेचा जाता है। बस विज्ञापनी संस्कृति अपना रूतबा दिखा रही है जो आज भी दिखता है इसीलिए उन्होंने दुकानदारों की बोली में खूब चटखारा दिखाया है भारतेन्दु को जन मानसिकता की पहचान थी। आज फिल्मों और धारावाहिकों ने मनोरंजन पर कब्जा कर लिया है आज के दौर में नाटकों का मंचन प्रभावित हुआ है। मंहगी रंममंचीयता को भी एक कारण माना गया है। लेकिन भारतेन्दु नाट्य प्रदर्शन को लेकर एक सावधान व्यक्ति थे इसीलिए उन्होंने सुलभ रंगमंच की व्यवस्था की। वे भारतीय जनता की आर्थिक समस्याओं को जानते थे। उन्होंने बंगाल की परम्परागत नाट्य शैली पारसी रंगमंच को नाम मात्र का स्वीकार किया उन्होंने नाटक के दृश्य संप्रेषण में। दृश्य बंध, गहरी रंगदीपन, ध्वनि की संयोजना के अलावा शब्द पर बहुत बल दिया। अंधेर नगरी के छोटे-छोटे संवाद है लेकिन उसमें छुपे भाव बहुत गहरे हैं। अंधेर नगरी की शब्द संयोजना की ताकत को व्याख्यायित करते हुए ब॰ व॰ कारंत ने कहा था ''रंचमंच की एक लम्बी यात्रा है। रंगमंच परावलम्बी होते हुए भी व्यक्ति केन्द्रित नहीं है। सामूहिक रूप से पूरा समाज उसमें जीवित होता है। अभिनेता कभी भी अपने लिए अभिनय नहीं करता, उसके लिए दर्शक की अनिवार्यता पहली शर्त है लोकल होना रंगमंच की विशेषता है। भॉगड़ा पंजाब में ही ओर कथकली केरल में ही पैदा हो सकता है ..... विश्वविद्यालय या पत्रकारिता में भाषा का निर्माण होता है पर रंगमंच में भाषा अन्दर से पकती है ..... भाषा को अगर पचाना है तो रंगमंच को पचाना जरूरी है। रंगमंच को लेकर मुझे ये बात जरूरी लगती है कि ''भारतेन्दुने अंधेर नगरी को नेशनल थियेटर के लिए एक दिन में 1881 में लिखा था जो काशी के दशाश्वमेध घाट पर उसी दिन अभिनीत भी हुआ था उस संस्था के संरक्षक स्वयं भारतेन्दु थे यह भी कहा जाता है कि बिहार प्रांत के किसी अन्यायी जमींदार के सुधारने या राह पर लाने के लिए भारतेन्दु ने यह नाटक लिखा था अपने निबन्ध 'नाटक' में भी भारतेन्दु ने प्रहसन को 'हास्य रस का मुख्य खेल' कहा है। अंधेर नगरी को हिन्दी रंगमंच का पहला नुक्कड़ नाटक माना जाना चाहिए। जो खुले में, पूरी तरह से अनौपचारिक वातावरण में मंचित हुआ। भारतेन्दु ने इस नाटक के माध्यम से अंधी व्यवस्था को व्यंग्यात्मक उद्घाटन किया है अंधेर नगरी के अंत में जो पंक्तियां आई है।

जहाँ न धर्म, न बुद्धि नहिं नीति न सुजन समाज।
ते ऐसेहि आपहिं नसैं, जैसे चौपट राज।।[6]

इसके विषय में रामविलास शर्मा ने लिखा है'' अंधेर नगरी चौपट राजा में अंग्रेजी राज्य की अंधेर गर्दी की आलोचना ही नहीं वह इस अंधेरगर्दी को खत्म करने की भारतीय जनता की प्रबल इच्छा प्रकट करता है। अंधेर नगरी का कथानक वातावरण, उसके

संवाद नाटकीय प्रभाव सब एक-दूसरे के साथ घुले-मिले हैं। अंधेर नगरी 1968 में प्रयाग रंचमंच, इलाहाबाद द्वारा डॉ॰ सत्यव्रत सिन्हा के निर्देशन में उसका मंचन हुआ। डॉ॰ सत्यव्रत सिन्हा की यह मंच प्रस्तुति बेहद चर्चित रही उन्होंने इस नाटक को समकालीन संदर्भों से जोड़ा। दर्शकों ने इस प्रस्तुति को खुले मन से स्वीकार किया। 1978 में ब॰ व॰ कारंत ने नाटक की आकर्षण मंच प्रस्तुति दी। कारंत की प्रस्तुति राष्ट्रीय नाट्य महाविद्यालय के प्रांगण में खुले आसमान के नीचे एक भव्य और विशाल अभिनय क्षेत्र को आधार बनाकर की गई। मंच के नाम पर एक बड़ा सा गोलाकार धरातल और उसके पीछे दीवार पर कपड़े के बदले सफेद परदे पर बनारस शहर को रेखाओं में उकेरता एक चित्र दृश्यबंध के नाम पर उकेरा गया। इसके अतिरिक्त चारेां ओर फैला खुला परिवेश भी मानो अभिनय क्षेत्र का ही एक हिस्सा है इसकी प्रस्तुति में चालीस अभिनेता थे।

वेशभूषा को महज तीन रंगों में सीमित करके एक विशेष अर्थ को व्यंजित करने की कोशिश की गयी थी। महंत और उसके दोनों चेलों के लिए गहरा केसरिया, राजा के लिए गहरा हरा और बाकी सभी पात्रों के लिए भूरा मटमैला जो एक प्रकार से सामान्य जनता के भी प्रतिनिधि थे।

अंत में कुल मिलाकर अंधेर नगरी का रंगमंच पर सदाबहार नाटक के रूप में मंचित होता रहा है। इसका कथ्य सदैव नया बना रहा। भारतेन्दु हरिश्चंद्र की लेखनी से अंधेर नगरी का जन्म हुआ है सत्य, न्याय, नैतिक मूल्य, मनुष्यता की जब-जब अनदेखी अनदेखी होगी तब-तब अंधेर नगरी को याद किया जायेगा। इसका कथ्य सदैव नया बना रहेगा ये काल और स्थान की सीमाओं से परे है रंगमंच के लिए ये सदाबहार नाटक है।

संदर्भ सूची :

1. अंधेर नगरी, संपादक-डॉ॰ परमानंद श्रीवास्तव, ृ॰-37 लोकभारती, प्रकाशन-2010
2. अंधेर नगरी, संपादक- डॉ॰ परमानंद श्रीवास्तव, पृ॰-37, 38 लोकभारती प्रकाशन-2010
3. वही, पृ॰-41
4. वही, पृ॰-43
5. वही, पृ॰-44
6. वही, पृ॰-63

A Study on Modernization in Indian English Theatre

Dr. C. Chamundeshwari
Associate Professor
School of Arts, Humanities and Social Sciences
REVA University Bangalore- 560064

Introduction :

When I was young, I used to wait for festivals. In my street, every year people organized a committee and brought the sculpture of Annamma, a goddess and did pooja for three days as it was a culture. Every day there will be a theatre play by a Jatra-troops. People will be crowded to see the Epics of Ramayana and Mahabharata's important scenes in the 1980s. India has a long and illustrious history in theatre that dates back over 5,000 years. Indian theatre has its roots in the country's long-standing rituals, traditions and seasonal celebrations (Theatre of India). Modernization originates from Western society amid 19 and 20th centuries. It experiments on social tradition and the artistic world in various forms. "Indian Theatre" is a mixture of new art forms which gave birth to Modern theatre. Britishers were the first to start theatres in Chennai, Mumbai, and Calcutta for entertainment. In the 18th century, Gerasim Stepanovich Lebdev came from Germany and started Bengali Theatres by translating English Plays into Bengali. This is how Modern Indian Theatre emerged. Then many were involved in throwing new light on Modern Theatre such as Girish Chanda Ghose, Deenbandhu Mitra. Later Vishnu Das Bhave Started Marathi Theatre. Bal Gandharve, Govind Balal and many other activists and artists made changes in their perspective on theatre. Gujarati, Parsi and Hindi theatres were started in Mumbai. Bartendu Harischandra, First playwright of Hindi literature. In 1942, Prithviraj Kapoor set up the Bombay Prithvi theatre group. In 1943, IPTA (Indian People's Theatre Association) was started. Modern Indian Theatre came into the picture. Vijay Tendulkar, Mahesh Elkunchwar, Girish Karnad, Surendra Verma, and many others were the new Modern Dramatists. Plays were contemporary and performed in various styles such as Kutiyattam, Ratan Thyan and different forms of plays by K. N Phannikar, B.V Karanth, and Heisnam Kanhailal respectively (Abinav Verma 2022).

The Proscenium Theatre :

Between 1776 and 1808, the Calcutta Theatre presented several of the most well-liked comedies of the day, including Neck or Nothing, Entertainment of The Waterman, Barnaby Brittle, and a brand-new musical production called Rule Britannia. Different seating kinds were available for purchase;

pit and box tickets cost sixteen rupees, higher boxes twelve, and gallery eight. It became a popular meeting place for the European community. Aside from the theatrical performances, people congregated here to dance on the enormous ballroom floor, enjoy the delicious drinks and dishes supplied in the foyer, or conduct business in the friendly atmosphere as frequently did government officials. The performance quality of the plays presented here was on par with any stage in Europe, and the theatre hall was as roomy as London's Bath Theatre. India has a long and uninterrupted tradition of theatre. But when the British brought proscenium theatre in Calcutta, mostly for the amusement of European society and the British soldiers in India, the Indian tradition entered a new phase. A Russian explorer and Indologist named Lebedev performed the first play in Calcutta in 1795; it was a translation of the English farce "The Disguise" by Richard Paul Jodrell. The first capital of the British in India was Calcutta. As the centre of the economy, it saw the arrival of numerous commercial groups, including Armenians, Jews, Parsis, and Europeans. In addition to English administrators, there were missionary organizations. As a result, the collection reflected European communities and the Victorian culture that was unique to them (Visweswara Rao & Ravi Kumar Pyla 2020).

Theatre, Dance and Natyashastra :

In Indian culture, dance-theatre-music has a much richer background, and the connection has persisted throughout later phases. These developments led to the creation of contemporary theatre and film. We'll see that the classical and folk traditions have both made a retaliate in the modern world. Later, contemporary theatre returned to both origins for fresh explorations. As Natyashastra is the main source of the traditional performing arts, we will first have an overview of the classical tradition of Indian drama, dance, and music to establish the chronology.

In India, a country with highly developed theocratic discourses, the word "theatre" has diverse meanings. There is a wealth of information on ancient theatre, dance, and music in Sanskrit writings as well as in the modern incarnation of classical and folk traditions. The first mention of "performers" can be found in Buddhist writings, along with Panini and Patanjali. The performing arts developed into a distinct tradition by the second century BCE, and their prime occurred between the first and tenth centuries CE. The treatise of Natyashastra, which was apparently composed between 200 BCE and 200 CE, shows that performing arts evolved into a highly organised civilization. Bharat Muni is listed as the author. Scholars estimate that the compendium covers the theory and practice of acting, dance, music, dramatic construction, architecture, costume, make-up, and props. It also covers how the guilds administer the theatrical industry, how audiences are gathered, how competitions are set up, and other relevant topics. There are other words used to describe the stage or the concept of a performance area, including natyagriha, natyamandapa, preksagriha, and preksagara. Acting is divided into two categories: traditional natyadharmi and realistic lokadharmi. A hero, also known as a nayaka, a heroine, also known as a nayika, and the clown, Vidusaka, make up the plot. There would be a preface provided by the play's contact between the

audience and the actors to be created by the lead actor, Sutradhar. The dance was supposedly done "on an auspicious ground," which could be assumed. A privilege reserved for the upper caste and the royal members, classical theatre and dance performances were intended for the aristocratic audiences in ancient India. In the expensive palace, the king also had pleasure gardens with theatres and music halls. Dramatic tales sometimes reveal the mythical and religious histories of heroes and monarchs. The kings and nobles conversed in classical Sanskrit among themselves in conversation, as in the drama-text, and utilized Prakrit when speaking to women or characters from a lower caste. According to scholars, actors of all genders played various parts. Additionally, it should be noted that a group of priests coordinated the operations of numerous theatre unions. The Gupta era (about 240-605 CE) was the pinnacle of Indian classical theatre and saw the rise of notable playwrights like Sudraka, Bhasa, Kalidasa, Vishakadatta, Bhavabhuti, and Sri Harsha. The Natyashastra contains the theoretical foundation for Indian dance as well. The spiritual beliefs and legends of Hindu gods were expressed through classical dance. Bharatanatyam is a type of classical dance that is typically performed by a lady dancer alone in temple courtyards. The Shaiva or Vaishnava groups of spirituality could have their own temple. based on Natyashastra. In more detail, dance is a manipulation of Bhangas that incorporates a variety of symmetrical postures in body movement, expressions, and audience participation to create a geometric symmetry; in addition, the dance also incorporates coordinated musical performance. Invocation, or Nritya, which is pure dance, Natya, or the drama, and Moksha, which is the climax and suggests spiritual release, are the three sequences that make up the performance. The Natyashastra also mentions Mukabhinaya, which is another type of musical theatre performed in mime. The performer uses a variety of hand positions to simulate characters, actions, and a narrative while making silent gestures. The performance includes recitation, music, and even percussionist footwork. Within the classical categories, the Sangeet Natak Akademi recognizes eight different dance styles, including(Drid Williams et al.)

In the post-colonial era, Indian playwrights reexamined their mythic and historical past while also willingly assimilating contemporary Western cultural forms, particularly the psychological realism of modern drama. The word "Kanyadaan" alludes to the custom of a father offering his daughter in marriage to a suitable husband in Vijay Tendulkar's 1983 film of the same name. Arun, a young writer from the Dalit group, historically the lowest "untouchable" caste, is the man Jyoti, age 20, says she wants to marry to her parents Nath and Seva in the play. Although the 1950 constitution purported to abolish the caste system, it still exists today (Jeff D. Grace 2019).

Tendulkar (1928-2008), a fearless social and political critic, frequently took his incendiary writing from actual events. His Kamala was influenced by the real-life account of a journalist who bought a prostitute to expose the role of the police and politicians in the business, only to dump her after his needs had been met. Along with two novels, short tales, plays for children, numerous award-winning scripts and television dramas, Tendulkar

also penned 25 one-act plays and 27 full-length plays (Lavy Avis Brown 2).

As evidenced in the Ramlila, Rasleela, Nautanki, and Swang, the majority of traditional folk forms are narrative and presented more simply through singing and recitation. They contain less dance elements. Ballad singing, like that of Manipur's Nupipaala and Rajasthan's Pabuji-ki-phar, is the other significant folk trend. Folklore and regional culture are closely related. The folk theater is a composite art since it features the customary blend of music, dance, drama, stylized speech, and spectacle. Rural people may easily understand it because of the discourse and performance's deep roots in the local lore and tales. Folk theater portrays the social and political realities of the day while serving as an effective means of communication.

People can be secular or religious :

Tamasha, a form of folk theater, appears to have thrived in the 18th century and was patronized by the influential Peshwas of the Maratha state. It is also known that the Maharajas of Travancore and Mysore once engaged in a rivalry match to determine which of their theater troupes have higher talent. The Maharaja of Banaras was passionate about planning a great celebration called the 31-day Ramlila, which attracted tens of thousands of spectators. Folk theaters underwent constant modification as new regional themes, stylized clothing, and masks were included. However,

History and the development of several regional folk theatre styles cannot be known. However, it persisted in several of the colonies even during the colonial

The performing folk custom known as "nautanki" is very common in Uttar Pradesh. As stated in Abul Fazal's 16th book, Ain-e-Akbari, it is possibly quite old. According to some academics, the folk traditions of Rajasthan's Khayal and Mathura's Bhagat and Raasleela are where Nautanki's origins can be found (Agrawal, 1976). Hathras, Mathura, Kanpur and Lucknow in Uttar Pradesh developed as the epicenters of Nautanki culture in the late nineteenth century. Different schools have a variety of variances in the acting, singing, and dialogue content. in operatic verse or prose. The Parsi Theater and the Kanpuri School had similar influences. Natanki did definitely join.

The 20th century saw a rise in popularity for contemporary tradition. Numerous Nautanki Mandali ensembles travel to give performances in rural areas and small cities. Indal Haran and Puranmal are from folklore; there are several themes, ranging from mythology to modern; notable current social issues include Sultana Daku, Jalianwala Bagh, and Amar Singh Rathore. The current transformation is heavily influenced by later modern tendencies as well as Parsi theater.

21st-Century Theatre :

We can observe that modern theatre has undergone a significant transition in the twenty-first century. There is substantial use of technologies, multimedia, various software, animations, video projections, etc. in these entirely virtual or multimedia theatre productions or non-verbal productions. This new movement completely altered how Indian theatre was thought of. These productions are something we can only experience when we witness them. Many directors are active in these domains,

such as Roysten Abel, who has directed such films as A Hundred Snake Charmers, Othelo in Black and White and The Manganiyar Seduction. Dark Things, The Legends of Khasak, The Cabinet of Dr. Caligari, ubu roi, Dream of Death, etc. are some of the plays by Deepan Shivaraman. As well as Talatum, Lorem ipsum, clowns and clouds, among other pieces by Abhilash Pillai.

Mughal-E-Azam is a recent piece of Feroz Abbas Khan's art. And there are many more directors involved in these various ventures. In essence, each play is built on device theatre, which employs a variety of devices (Manik Mandal 2019).

Conclusion :

There are also a lot of directors who base their productions on original ideas, themes, or even installation and materiality. As we can see, we are producing a wide range of plays in 2021, including classic plays, folk plays, contemporary poetic drama, contemporary dance drama, multimedia performances, nonverbal productions, street theatre, mime theatre, physical theatre, and more. This concludes a brief survey of our contemporary Indian play or theatre. In summary, contemporary Indian theatre should have no boundaries it should be played both in urban and rural areas. Most of the playwrights have contributed a lot. Modern theatre should connect mentally, physically, and emotionally to a huge audience.

References :

1. Abinav Verma, "Modern Indian Theatre – A New Perspective" Paripex - Indian Journal of Research, Vol 11, Issue 5, 2022 pp.107.
2. Jeff D. Grace, "Theatres of Independence: Drama, Theory, and Urban Performance in India Since 1947 (review)" Published by University of Toronto Press, Modern Drama, Volume 49, Number 4, Winter 2006, pp. 541-543 (Review), DOI: Access provided at 27 Oct 2019 13:31 GMT from La Trobe University, https://doi.org/10.1353/mdr.2007.0009
3. Lavy Avis Brown, "Theater in Post Colonial in India" https://larryavisbrown.com/modern-theater-in-india/
4. Manik Mandal, Tradition and Modernity in Indian English Theatre: An Analytic study of Girish Karnad's "Hayavadana" Literay Herald, Vol 1 Issue 5, 2019 pp.101.
5. Theatre in India, Culturopedia Articles of India, https://www.culturopedia.com/modern-theatre/
6. Visweswara Rao & Ravi Kumar Pyla, "Brief History of Indian English Drama" Journal Of Critical Reviews, Vol 7, Issue 7, 2020, pp.4085.

बदलते परिदृश्य में रामलीला की मंचीय परम्परा का सांगीतिक अनुशीलन

डॉ. भगत सिंह
सहायक प्रोफेसर संगीत
मान्यवर कांशीराम राजकीय महाविद्यालय, गाजियाबाद

रामलीला का इतिहास व स्वरूप :

आदिकवि वाल्मीकि कृत रामायण में संगीत निष्णात लव-कुश द्वारा राम दरबार में रामकथा गायन का उल्लेख मिलता है जिसे 'कुशी-लव' कहा गया है। कुशीलव की यह परम्परा आगे चलकर भरत, पाठकों, सूत, मागध, चारण तथा हरबोलों के माध्यम से चरित-गायन की परम्परा के रूप में यह विधा साहित्य में स्थापित हो गई।

हिंदी रंगमंच पर शोधकार्य करने वाले डॉ. आशीष त्रिपाठी ने हिंदी भाषा का प्रारंभिक रंगमंच स्वांग अथवा सांग को माना है। कबीर, जायसी और तुलसी जैसे कवियों के यहाँ यह शब्द उपयोग में आया है।

होय जहाँ कही सवांग तमासा तनिक न नींद सताया रे - कबीर

तुलसीदास जी ने भी स्वाँग और ख्याल शब्दों का नाटक के अर्थों में प्रयोग किया है। 'हिलमिल करत सवांग सभा रसकेलि हो'- (रामलला नहछू) तथा 'चढ़े खरनि विदूषक स्वाँग साजि' - गीतावली।

उत्तर भारत में लोगों के मनोरंजन हेतु सांग, नौटंकी तथा ढोला आदि बहुत प्रचलित रहे हैं। पांचजन्य पत्रिका में 'विजयादशमी विशेषांक' (27 सितंबर 2014) में रामलीला के इतिहास के विषय में कहा गया है, ''रामलीला की परम्परा लगभग सात हजार वर्ष पुरानी है तथा विश्व का एक बड़ा भू-भाग उसका रंगमंच बन गया है''। रामायण एक पौराणिक आख्यान है। रामकथा हमारे यहाँ चार रूपों में मिलती है। साहित्यिक (पठनीय ग्रंथों के रूप में), वाचिक (गायन के रूप में), चित्रित तथा शिल्प के रूप में तथा मंचीय अथवा अभिनय के रूप में। रामायण के पश्चात प्रारंभ में रामकथा पर आधारित नाटकों का मंचन संस्कृत में होता था। इसके साथ ही दसवीं शताब्दी में अन्य अनेक नाटकों की रचना हुई जिनमें जयदेव, भास, भवभूति आदि का नाम प्रमुख है। धीरे-धीरे संस्कृत भाषा का ह्रास होने लगा तत्पश्चात क्षेत्रीय भाषाओं में रामलीला खेली जाने लगी। इस लोकजीवन की कई मान्यताएं एवं लोककथायें भी रामलीला में जुड़ती चली गई हैं।

रामलीला लोकनाटक का ही एक रूप है गोस्वामी तुलसीदास जी ने स्वयं रामचरितमानस को लीला कहा है। लीला ईश्वर के सन्दर्भ में ही प्रयक्त होती है। लीला का एक अर्थ खेल है। समस्त सृष्टि ईश्वर का खेल ही है। भारतीय दर्शन की मान्यता है कि पख्रह्म अपने परिकरों के साथ नित्य लीला किया करते हैं। राम को 12 कला युक्त विष्णु का अवतार माना जाता है।

तुलसी काव्य की संगीतात्मकता :

गोस्वामी तुलसीदास काव्यशास्त्र के आचार्य नहीं थे। आपने भक्ति भाव से ओतप्रोत हो काव्य रचना की थी। तुलसी लोकजीवन के गायक हैं। तुलसी कृत

रामचरितमानस तथा संगीत में अद्भुत समानता है। रामायण की चौपाइयां 16-16 मात्राओं में निबद्ध हैं। इन चौपाइयों को कहरवा, अद्धा व तीनताल के ठेके के साथ गाया जाता है। भाषा अवधी है जो सहजभाव से गायन योग्य है। बृज तथा अवधी दोनों ही गायन की भाषाएं हैं। शब्दों की गोलाई संगीत के स्वरों में घुल जाती है। साधारण जन भी मानस की चौपाइयां गुनगुनाते हैं। संगीत के साथ मिलकर इनका सौंदर्य और अधिक बढ़ जाता है। चौपाई और दोहा छंद दोनों ही संगीतात्मक हैं। चौपाइयों में निहित भाव संगीत के साथ मिलकर पक्षी के समान मुक्त हो भावाकाश में गमन करते हैं। रामचरितमानस पूर्ण रूप से शास्त्रीय संगीत पर आधारित है। इसे लोकधुनों के रूप में भी गाया जाता रहा है। उत्तर भारत में रामायण गायन की परम्परा प्राचीन काल से चली आ रही है। ग्रामीण जनों के हृदय को रामचरितमानस की चौपाइयों का गायन अनुप्राणित करता रहा है। बड़े ही श्रद्धापूर्वक लोग अपने घर में रामायण का पाठ रखवाते हैं। गेयात्मक व लयात्मक के कारण वह संगीत के इतने निकट है कि लोग उसे अनेक वाद्ययंत्रों पर सुगमता से गाते तथा आनन्द लेते हैं। सीता के आभूषणों की ध्वनि इस चौपाई के द्वारा व्यक्त हुई है। जैसे 'कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन रामु हृदय गुनि मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही। मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्ही।।'

रामलीला और संगीत का अन्तर्सम्बन्ध :

संगीत में भावनाओं को जाग्रत करने की शक्ति है। ताल, लय व सुर में प्राणीमात्र को लीन करने की शक्ति है। राग रागनियों का जन्म ही मानवीय भावों के आधार पर हुआ है। शुष्क मन व वातावरण को संगीत के द्वारा रसपूर्ण बनाया जाता है। वाद्यों की स्वर लहरियां Background Music का निर्माण करती हैं जिससे दृश्य प्रभावशाली होता है। आनंदमयी उत्सवों से लेकर युद्ध के दृष्यों तक संगीत विभिन्न प्रकार के वातावरण का निर्माण करता है। रामलीला के मंचन में व्यास का स्थान भी रखा जाता है जो कथा की निरंतरता बनाये रखता है। एक संगीतमयी वातावरण के द्वारा कथा आगे बढ़ती रहती है। रामलीला में संगीत एक संचार का कार्य करता है। संगीत कलाकार पारम्परिक धुनों का गायन करते हैं। ये धुनें परम्परागत रूप से चली आ रही हैं। वर्तमान में पारम्परिक धुनों का गायन लुप्त हो रहा है तथा इसके स्थान पर हल्के फुल्के सस्ते व फिल्मी तर्ज पर आधारित गानों का प्रचलन बढ़ गया है। केवल संवाद के आधार पर अभिनय भक्ति का वातावरण उत्पन्न नहीं कर सकता। संगीत के द्वारा ही संवाद का कार्य हो जाता है। जो काम संवाद नहीं कर सकता है वह कार्य संगीत के द्वारा सम्पन्न हो जाता है। नाटक में केवल पाठ हो तो वह श्रोताओं को बांध नहीं सकेगा। इसलिये भरत ने नाटक में संगीत को एक अंग के रूप में माना है। रामलीला में भरत की नाट्य परम्परा विद्यमान है। नाट्कला का हेतु मनुष्य को मोक्ष की प्राप्ति माना गया है। भारत की समस्त कलायें मोक्ष की अनुगामी रही हैं। संगीत व साहित्य का अंतिम ध्येय मनुष्य की चेतना को विकास के उच्च धरातल पर प्रतिष्ठित करना है। संगीत को नाद ब्रम्ह की प्राप्ति का उपाय माना गया है। मंत्रमुग्ध कर देने वाली रामचरितमानस की चौपाइयों का गायन हमें अध्यात्म की भावभूमि पर प्रतिष्ठित कर देता है जहाँ ब्यक्ति स्व व पर से मुक्त होकर एक उन्मक्त पक्षी की भांति मुक्ताकाश में विचरण करने लगता है। श्रोतागण राम के समय के दृश्य की कल्पना करने लगते हैं और राम के जीवन से एकाकार हो जाते हैं।

नाटक में संगीत का प्रयोग प्राचीन काल से ही होता आ रहा है। प्राचीन काल के संस्कृत नाटकों के बिना संगीत की कल्पना ही नहीं की जा सकती। संगीत के द्वारा नाटक का संदेश दर्शकों के हृदय में सीधे ही संचारित हो जाता है। मनोरंजन के साथ ही संगीत में मानवीय मूल्यों का शिक्षण भी निहित है। संगीत कला विहार (अक्टूबर 2016) में नाटकों में

गायन-वादन दोनों पक्षों का उल्लेख है। रामलीला में निम्नलिखित पांच प्रकार की सांगीतिक योजनाओं द्वारा भाव-संचार होता है।

1. कथानक के अनुसार दृश्य के निर्माण हेतु विभिन्न वाद्यों द्वारा पार्श्व संगीत (Background Music) बजाना। करुण, भयानक, रौद्र रस की उत्पत्ति में प्रायः इस प्रकार का संगीत बजाया जाता है।
2. पर्दे के पीछे से गीत गाकर भविष्यवाणी अथवा चेतावनी देने के रूप में
3. विशेष प्रभाव देने के लिए घंटा, शंख, नगाड़ा आदि वाद्यों के प्रयोग द्वारा
4. रंगमंच पर ही संगीत की प्रस्तुति देकर। विभिन्न अवसरों पर इस प्रकार का गायन किया जाता है।
5. भावानुकूल वाद्य बजाकर जैसे करुण रस हेतु सारंगी आदि। श्रंगार रस में सितार आदि, उछल कूद व कौतूहल हेतु तबला आदि से विशेष ध्वनि उत्पन्न करना।

रामलीला में दो प्रकार का संगीत दिया जाता है :

1. सुर संयोजन
2. ताल संयोजन

सुर संयोजन में स्वर अथवा गीत तत्व की प्रधानता रहती है। इसमें भावानुकूल रागों का प्रयोग किया जाता है। हास्य एवं श्रंगार के लिए मेघ, सारंग, भैरवी आदि, करुण रस हेतु भैरव के प्रकार, शिवरंजनी, भूपेश्वरी, चारुकेशी, पूरियाधनाश्री, सोहनी आदि विरक्ति के भाव हेतु वैरागी भैरव, जोगिया आदि रागों का प्रयोग किया जाता है। स्वरों के तीव्र व कोमल होने से ही भाव परिवर्तन होता है।

ताल संयोजन में तबला, पखावज आदि वाद्यों के द्वारा भी विचित्र भावों की उत्पत्ति होती है। तबले पर लय-परिवर्तन के द्वारा हमारे मन के विचार व भाव परिवर्तित हो जाते हैं। सोने के मृग की उछल-कूद के वातावरण को तबले के दायें पर एक विशेष ध्वनि के द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। धीमी गति शोक व शांत रस दर्शाती है जबकि तीव्र लय चंचलता व उत्साह पैदा करती है। नाटक के दृश्य बदलने में भी संगीत से मदद मिलती है। एकाएक शुद्ध धैवत या शुद्ध रिषभ के बाद कोमल स्वरों के प्रयोग होने पर करुण या शोक रस उत्पन्न हो जाता है। भाव-परिवर्तन में संगीत का कार्य महत्वपूर्ण है।

रामलीला में प्रयुक्त गायन-शैलियां :

रामलीला में निम्नलिखित गीत प्रकारों का प्रयोग मिलता है।

1. **शास्त्रीय संगीत -** तुलसीदास जी ने अपने गीतिकाव्यों में 21 राग रागनियों का समावेश किया है। ये राग हैं - भैरव, वसंत, रामकली, गौरी, विभास, आसावरी, सोरठ, जयंत, सारंग, सूहा, मल्हार, ललित, कानडा, धनाश्री, कल्याण, केदार तथा चचरी। शास्त्रीय संगीत का सम्बन्ध सम्भ्रांत समाज से रहा है। यह अभिजात्य वर्ग का संगीत माना जाता है। शहर में होने वाली रामलीलाओं में गायक रामलीला के आरम्भ में गणेश स्तुति प्रायः राग दारी संगीत में प्रस्तुत करते हैं। शास्त्रीय गायन द्वारा भारतीय संगीत की महान नाटक परम्परा का वातावरण बन जाता है। राम, इंद्र, रावण आदि के दरबार का दृश्य दर्शाते समय भी राग निबद्ध छोटे ख्याल की बंदिश गाई जाती है जो नृत्यानुकूल होती है। तिहाइयों के साथ इसे सजाया जाता है।
2. **भाव संगीत -** शास्त्रीय संगीत के बाद दूसरा भाव संगीत है जो सर्वाधिक गाया व सुना जाता है। इसमें गीत, भजन, ठुमरी, गजल आदि आते हैं।

रामायण का आरम्भ तुलसीदास जी की निम्नलिखित चौपाइयों से होता है :

मंगल भवन अमंगल हारी।
द्रवहु सुदसरथ अजिर बिहारी।।
सीता राम चरित अति पावन,
मधुर सरस अरु अति मनभावन।।

पुनि पुनि कितनेहू सुने सुनाये।
हिय की प्यास बुझत न बुझाये॥

उत्तर प्रदेश की रामलीलाओं में संगीतमयी गीत तत्व की प्रधानता है। राधेश्याम शैली में ही कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं। इसमें दूसरी पंक्ति (सीता रावण से)

अरे रावण तू धमकी दिखाता किसे,
मुझे मरने का खौफो खतर ही नहीं।
मुझे मारेगा क्या अपनी खैर मना,
तुझे होने की अपनी खबर ही नहीं॥
तू जो सोने की लंका का मान करे,
मेरे आगे वह मिट्टी का घर ही नहीं।
मेरे दिल का सुमेरू डिगे वो कहाँ,
मेरे मन में किसी का डर ही नहीं॥

इस तरह की धुन नौटंकी में भी गाई जाती है जिसे बहरेतबील कहा जाता है।

वन जाने से पहले राम माता कौशल्या को समझाते हुए कह रहे हैं-

क्यों तू रुदन मचावे जननी, आँसू थाम-थाम-थाम।
नहिं दोषु मातु का माता, लिख दिया था यही विधाता।
अब क्या हाथ मले से आता है विधि बाम-बाम-बाम।
लिखते हैं वेद अरु गीता, सब झूठी जग की रीत।
सदा रहा है नहिं कोई जीता है एक नाम-नाम-नाम।
राग भैरवी में यह गाया जाता है।

एक प्रसंग में सूपर्णखा लक्ष्मण पर मोहित होकर गाती है। इसकी तर्ज उत्तर प्रदेश के लोकगीत पर आधारित है। इस गीत में खड़ी बोली का प्रभाव है।

मैं तो छोड़ आयी लंका का राज,
लखन लाल तेरे लिये॥
भाई भी छोड़ा मैंने, बहिना भी छोड़ी,
छोड़ आयी सारा परिवार, लखन लाल तेरे लिये॥
बाग भी छोड़ा, बगीचा भी छोड़ा
छोड़ आयी सारा संसार, लखन लाल तेरे लिये॥

गीत संगीत के द्वारा ही पूरी रामलीला सम्पन्न होती है। संगीतात्मक गुण के कारण लोगों को रामलीला के संवाद व गीत याद हो जाते हैं।

उत्तर भारत में प्रचलित रामलीला की विभिन्न शैलियां :

राधेश्याम रामायण शैली उत्तर भारत में खेले जाने वाली रामलीला में राधेश्याम कथावाचक की शैली का व्यापक प्रभाव देखने को मिलता है।राधेश्याम कथावाचक का जन्म 25 नवंबर 1890 को बरेली के बिहारी पुर मोहल्ले में हुआ था। कथावाचन की शैली आपको अपने पिता कथावाचक पं बांकेलाल से विरासत में प्राप्त हुई थी। आपने 16-17 वर्ष की अवस्था में ही राधेश्याम रामायण की रचना कर दी थी। यह सम्पूर्ण रामायण 25 भागों में है। हिंदी-उर्दू में यह रामायण गांव गांव में लोकप्रिय हो गई। रामकथा वाचन की इस शैली में इतना आकर्षण था कि पं मोतीलाल नेहरू ने राधेश्याम कथावाचक को इलाहाबाद में अपने आवास पर बुलाकर चालीस दिन तक इस कथा को सुना था। इस शैली से रामलीला को नया आधार मिला। इसे स्वांग शैली का समावेश कहा जा सकता है। तुलसीदास जी की चौपाइयों के गायन के साथ ही रामलीला के पात्र अपने संवाद (Dialogues) राधेश्याम रामायण की तर्ज पर बोलते तथा गाते हैं जो आमजन को रस में सराबोर करता है। इसमें हास्य, वीर, करुण आदि सभी भावों की प्रधानता होती है। लोकनाट्य शैली के आधार पर पारसी थिएटर में हिंदी परम्परा की नींव रखने वाले दिग्गज धे राधेश्याम कथावाचक। आज भी राधेश्याम रामायण को आधारग्रंथ मानकर रामलीला खेली जाती है। राधेश्याम रामायण के कुछ प्रसंग इस प्रकार हैं -

रामलीला के आरम्भ में गणेश-वंदना के बाद निराकार ब्रह्म की महिमा- गान बहरे तबील तर्ज में -

पर्दे में है तो ऐसा है, अब तक भी पर्दा उठा नहीं।
है बेपर्दा है तो इतना है, पर्दा रहते भी छुपा नहीं॥

होकर समीप भी आँखों के, आँखों को उसकी खबर नहीं।

फिर दूर भी इतना आँखों से, आँखों को आता नज़र नहीं।।

आए न ध्यान में मुनियों के, अलबेले की यह मस्ती है।

बस जाता मूर्ति प्रेमियों में, बस है तो इतनी हस्ती है।।

जब जब भक्तों पर भीर पड़ी, तब बँधे बिहारी बन्धन में।

फिर शंका नहीं, खम्भ में हो, या हो दशरथ के आँगन में।।

बीच-बीच में प्रसंगानुसार गाने भी हैं जो पात्रों द्वारा गाए जाते हैं।

पृथ्वी पर बढ़ते अत्याचारों से मुक्ति हेतु भगवान् का अवतार लेने के सम्बन्ध में-

दयानिधि अब तो लो अवतार।
प्रबल हुआ है असुरों का दल, करो शीघ्र संहार।।

पृथ्वीनाथ ! तुम्हारी पृथ्वी पर हाहाकार।
गो ब्राह्मण सब टेर रहे हैं, सुर कर रहे पुकार।।

क्षीर सिन्धु में सोने वाले, जगपति जगदाधार।
जागो आँख खोलकर देखो, है क्या अत्याचार।।

जब-जब धर्मग्लानि होती है, हरता हूँ भू भार।
पूरा करो शीघ्र ही आकर अपना यह इकरार।।

श्राधेश्यामश् हटा अन्तर्पट, दर्शन दो करतार
देखें तो कैसे होते हो निराकार! साकार।।

जन्म के अवसर पर हमारे यहां प्रायः सोहर गाये जाते हैं। राम-जन्म के समय भी परम्परागत शैली में ही सोहर गाये जाते थे। वर्तमान में प्रायः परम्परागत धुनें लुप्त होती जा रही हैं।

आर्य रामायण शैली :

आर्य संगीत रामायण (सम्पूर्ण चारों भाग के लेखक सरदार यशवंत सिंह वर्मा थे। यह किताब उन्होंने खारी वावली दिल्ली प्रेस से प्रकाशित कराई थी। इस किताब में रामायण के प्रसंगों पर आर्यसमाज का प्रभाव है। इसकी शैली पर भी राधेश्याम रामायण का प्रभाव दिखाई देता है। उदाहरण के लिए सीताजी का हरण होने के पश्चात राम चन्द्र जी का गाना रामचन्द्र जी का गाना (रागनी सोहनी)

हर रोज की गर्दिश से गर्दिश में जमाना हो गया।
ऐश और आराम सब इक दम रवाना हो गया।

घर छुटा बेघर हुए बेजर हुए बेपर हुए।
छोड़ सब सामान जंगल में ठिकाना हो गया।।

नहीं ताकत रही लक्ष्मण जी मुझ में जब्त की।
नागहानी ग़म से मैं बिल्कुल दिवाना हो गया।।

अयोध्या में भी जाने की नहीं सूरत रही।
आह यह वन ही मुझे अब जेलखाना हो गया।।

कोई तो मर कर मरा हम जिन्दगी में मर मिटे।
मेरा मरना और जीना इक फसाना हो गया।।

रामलीला मंचन की समस्त सामग्री पात्रों के सम्वाद, गीत तथा पद्यात्मक शैली भी दी गई है। किंतु पद्यात्मक कविता में दमदार शब्दों व छंद का कहीं कहीं अभाव दिखाई देता है। इस कारण इस शैली का अधिक प्रचार नहीं हुआ।

वर्तमान में रामलीला पर औद्योगिकीकरण का प्रभाव :

बढ़ती आबादी और औद्योगिकीकरण के कारण रामलीला के मैदान घिरते जा रहे हैं। अब रामलीला खेलने के लिए पर्याप्त स्थान उपलब्ध नहीं हो पा रहा है। लगभग हर शहर में रामलीला खेलने के लिए बड़ी खुली जगह रामलीला मैदान अथवा रामलीला ग्राउंड नाम से होती थी जो अब या तो पूर्ण रूप से स्थानीय निवासियों द्वारा घेरी जा चुकी हैं अथवा नाममात्र के लिए छोड़ दी गईं हैं। स्थान अभाव के कारण अब कहीं-कहीं सिर्फ पर्दे पर डिजिटल माध्यम से ही रामलीला दिखाई जाने लगी हैं। आजकल शहरों में नृत्य-नाटक के साथ स्क्रीन पर PPT के जरिए रामलीला दिखाई जाने लगी है। यह सिर्फ

औपचारिकता निभाने जैसा ही है। आजकल रामलीला के स्टेज पर 3D प्रभाव भी प्रयोग किया जा रहा है। पारम्परिक वाद्य सितार, तबला, सारंगी, नगाड़ा आदि का प्रयोग न के बराबर हो गया है क्योंकि नई पीढ़ी को यह सीखने को भी नहीं मिल रहा है तथा पारम्परिक वाद्य वादक भी नहीं मिलते हैं। आज बढ़ती टेक्नोलॉजी के कारण रामलीलायें भी हाइटेक होती जा रही हैं। उड़ते हुए हनुमानजी व पुष्पक विमान में रावण का आना आदि को टेक्नोलॉजी के सहारे दर्शाने का प्रयास किया जाता है। अब रामलीलायें संगीत प्रधान व रसात्मक कथामंचन न होकर दृश्यप्रधान होती जा रही हैं। कलात्मक गुणों का अभाव होने के कारण इनका जनमानस के सांस्कृतिक परिष्कार में कोई योगदान नहीं है।

कुछ दशक पहले लीला मंचन हेतु एक महीना पूर्व से ही रिहर्सल होती थी। इसमें शहर अथवा गांव के लोग बड़े ही भक्ति भाव से अपना समय देते थे लेकिन अब लोग भागमभाग की जीवनशैली के कारण समय ही नहीं निकाल पा रहे हैं। अच्छे संगीत व संवाद के लिए निरन्तर अभ्यास की आवश्यकता होती है। कई जगह रामलीलाओं में दर्शकों की भीड़ जुटाने के मकसद से महिला नर्तकियों का नृत्य कार्यक्रम रखा जाता है जो अश्लीलता की श्रेणी में आता है। ऐसे कार्यक्रमों के द्वारा रामलीला का स्तर लोकमंगल का न होकर मात्र सस्ता मनोरंजन बनकर रह जाता है। आज की रामलीलाओं में पहले जैसे संगीतात्मक संवादों का चलन न के बराबर रह गया है। कहीं कहीं आज भी अच्छे स्तर का रामलीला मंचन होता है। जैसे मंडी हाउस दिल्ली के श्रीराम कलाकेन्द्र में रामलीला मंचन, लवकुश रामलीला कमेटी लालकिला, केशव रामलीला कमेटी पीतमपुरा (दिल्ली) में पेशेवर कलाकारों द्वारा रामलीला मंचन किया जाता है।

सन्दर्भ-सूची :

1. गोस्वामी तुलसीदास (टीकाकार हनुमान प्रसाद पोद्दार) रामचरितमानस, गोरखपुर : गीता प्रेस गोरखपुर 273005, 2016।
2. कथावाचक, पं. राधेश्याम, राधेश्याम रामायण सम्पूर्ण 25 भाग, बरेली : श्री राधेश्याम पुस्तकालय बरेली, 1965।
3. दुबे, श्याम सुंदर (सम्पादक), लोक रामकथा, इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन, 2011।
4. वात्स्यायन, कपिला, पारम्परिक भारतीय रंगमंच, ग्रीनपार्क नई दिल्ली : नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, 1995।
5. गुप्त 'कुमुद', अयोध्या प्रसाद, विजयादशमी विशेष : रामलीला की वैश्विक परम्परा. पाञ्चजन्य, 27 September 2014।
6. पोद्दार, हनुमान प्रसाद, श्रीरामभक्ति अंक, गोरखपुर : गीता प्रेस गोरखपुर, 1994।

लोकभाषाओं में सृजित रामकथाओं में विविध लोक-पर्वोत्सवों का निरूपण

डॉ. गजेन्द्र भारद्वाज
सहायक प्राचार्य हिंदी
मारवाड़ी महाविद्यालय, दरभंगा

विमर्श - रामकथा साहित्य के सृजन को लेकर अवधी भाषा साहित्य सर्वाधिक माना जाता है। अवधी लोकसाहित्य में भी पर्याप्त साहित्य ऐसा है जो रामकथा की विषयवस्तु को लेकर लिखा गया है। तुलसीदास, कृतिवास, कम्बन, लालदास, भगवती प्रसाद जोशी 'हिमवन्तवासी', देवेन्द्र प्रसाद चमोली, माधवदास दधवाड़िया, ब्रह्मदिनदास, मेहोजी गोदरा आदि विभिन्न भाषाओं के ऐसे कवि हैं जो रामकथा ग्रंथ लिखकर अमर हो गए। अवधी लोकगीतों में रामकथा का प्रचलन तुलसीदास जी के रामकथा साहित्य से भी पूर्ववर्ती माना जाता है। इन लोकगीतों का विस्तार रामकथा के विविध प्रसंगों में फैला हुआ है तथापि सर्वाधिक संख्या संभवतः सोहर गीतों की ही है। इन सोहरों में राम के जन्म, छठी, अन्नप्राशन, मुण्डन, कर्णछेदन, यज्ञोपवीत, फागोत्सव, विवाहोत्सव आदि के उल्लासपूर्ण चित्र मिल जाते हैं। यथा रामजन्म संबंधित लोकगीतों में गाया जाता है कि बहुत उपक्रमों एवं मानमनौती के बाद दशरथ के घर पुत्र जन्म होने से समूचे अयोध्यावासी प्रसन्न होकर मंगलोत्सव मना रहे हैं। मुदित मन से नाच-गा रहे हैं, दाई नाल काटने के लिए नेग में कौशल्या का हार माँग रही है, दशरथ प्रसन्न होकर इच्छित दान दे रहे हैं, नगरवासियों में राम को देखने की भीड़ सज गई है, राम की छठी मनाने के लिए तैयारियाँ की जाने लगी हैं आदि। रामजन्मोत्सव संबंधी एक लोकगीत की पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं-

'जन्में रघुरैया अवधपुर बाजै बधैया।
राजा दशरथ घरे राम जनम लिहे।'[1]

जब राम का अन्नप्राशन संस्कार संपन्न होता है तो अयोध्या में मंगल उत्सव मनाया जाता है। प्रजा अपने राजकुँवर के अन्नप्राशन को देखने के लिए लालायित है। गुरु वशिष्ठ सोने के कटोरे में राम को खीर खिलाते हैं। कौशल्या रानी अपने आभूषण एवं राजा दशरथ मोहरें लुटा रहे हैं। अवधी जनमानस इस अवसर पर कहता है -

सुवहिं महिनवा क भै राम चारिउ भइया, त ओठ चटावन हो।
श्रामा सोने के कटोरवा म खीर त गुरुजी खियावैं हो।
राजा दशरथ मोहर लुटावैं, कौसल्या अभरन हो।'[2]

जब राम तीन वर्ष के हो जाते हैं तब उनका मुण्डन संस्कार किया जाता है। गुरु वशिष्ठ शुभ मुहूर्त निकालकर मुण्डन की तिथि निश्चित करते हैं। जिस उपकरण से राम का मुण्डन कराया जाना है, राजा दशरथ ने उसे सोने का गढ़वाया है। मंगल बेला पर आमंत्रित प्रजा में बाँटने के लिए कौशल्या माता ने बड़े-बड़े लड्डू बनवाए हैं। राम के मुण्डन के लिए नाई ने पाँच मोहरें माँगी हैं, नेग प्रांप्ति के बाद वह राम की लटों का एक-एक करके छीलता जा रहा है ओर राम की बुआ राम अपने आँचल में इन बालों को रोपकर नेग ले रही है। समगोत्रीय स्त्रियाँ मंगलगीत गाती हैं-

'सोनवाँ क छुरवा गढ़ावै राज दशरथ, नउवा बोलाइन हो।
रानी कोसिल्या गोदी राम त लफरी मुडावइँ हो।
बड़े-बड़े लेडुवा बनावैं कोसिल्या रानी,
गोतिनी बोलावहु हो।'[3]

इसी प्रकार राम के कर्णविधन संस्कार संबंधी लोकगीतों में अयोध्या में मनाए जा रहे उत्सवों का चित्रण करते हुए बताया जाता है कि अयोध्या में आनंद छाया हुआ है। घरों के आँगन को गोबर से लीपा गया है। राजमहल में मोतियों से चौक पूरा गया है। सजाए गए स्वर्ण कलशों में दीप प्रज्वलित हो रहे हैं। राम के कर्ण छेदन के लिए सुदूर स्थान से कार्य में दक्ष सुनार को आमंत्रित किया गया है। राम का कर्णछेदन हो रहा है। इस पावन अवसर पर अयोध्या का लोकमन गा उठता है

'राम का आजु कनछेदन,
अयोध्या म आनंद भयो हो।
गइया के गोबरा से अँगना लिपायो
मोतियन चौक पुरायो, अयोध्या म आनंद भयो हो।'[4]

अवधी लोकगीतों में दशरथ के अयोध्या के राजा होने के बावजूद भी राजमहल को सोने चाँदी से बना होने की बजाय सामान्य ग्रामीण परिवारों की तरह उनके घर-आँगन को गोबर से लीपना, झाड़ू-बुहारी करना, आँगन में बँधे बाँसों पर धोती सूखना आदि सामान्य रहन-सहन से जीवनयापन करना बताया गया है। इन लोकगीतों में प्रसंग आते हैं कि जब राम का यज्ञोपवीत का उत्सव मनाया जाता है तब लीला के सागर राम अपने माता-पिता को छोड़कर जाने से इन्कार करते हुए सामान्य बच्चों की तरह जमीन पर लोटकर मचलने लगते हैं। राजा दशरथ उन्हें अपनी गोद में उठाते हैं और उनके शरीर को झाड़ते हुए उन्हें शिक्षा का महत्व बताते हुए ललचाते हैं कि यज्ञोपवीन में उन्हें स्वर्ण से बना जनेऊ दिया जाएगा। संस्कार के लिए जो पंडित जी बाहर से बुलाए गए हैं वे राजा दशरथ का घर गली-गली घूमते हुए ढूँढ रहे हैं। तब उन्हें अयोध्यावासी बताते हैं कि जहाँ आँगन में ढोलक बज रही होगी, वेदोच्चारण हो रहा होगा, बरुआ भोजन कर रहे होंगे वही उनका महल होगा। इस प्रसंग को लोकगीत में इस प्रकार वर्णित किया जाता है-

'गलिया की गलिया पंडित घूमै हथवा पोथिया लिहे
कौन बखरिया राजा दशरथ क, तौ राम कै जनेऊ,
बाँसन धोतिया सुखत होइहैं,
बरुआ जेंवत होइहैं, पंडित वेद पढ़ै हो।
आँगन ढोल धमाकै दयू एक गरजै।
उहै बखरिया राजा दशरथ क, तै राम क जनेऊ।'[5]

रामविवाह संबंधी कई बधा, गीत अवधी भाषा में प्रचलित हैं यहाँ विवाह के पूर्व राम को सजाने-सँवारने संबंधी कई प्रसंगों का वर्णन इन लोकगीतों में किया जाता है। जिनमें राम को नहलाया जा रहा है। राम के नहावन के लिए राजा दशरथ ने सागर ही खुदवा दिया है, जिसपर घाट बँधाया गया है। कौसल्या माता का पनिहार पानी भर-भरकर ला रहा है जिससे राम को सोने के पीठे पर बिठाकर स्नान कराया जाता है। लोकगीत है

'आजु अवधपुर आनंद, राम कै नहावन हो,
राजा दशरथ सगरा खनावै त घाट बन्हावै हो
रानी कौसल्या कै भरै पनिहार'[6]

कौसल्या माता की गोद में बिठाकर राम का श्रृंगार किया जाता है। उनके सिर पर जो पाग पहनाई हुई है उसकी कलगी में मोर नाचता हुआ प्रतीत हो रहा है, कान में जो कुण्डल पहने हुए है उनमें भी मोर ही नाच रहा है। तब स्त्रियाँ बधाएगीत में कहती हैं कि दूल्हन भी ऐसी चाहिए जिसके घूँघट पर नाचता हुआ मोर हो। जैसे ही राम विवाह के लिए चलने लगते हैं विभिन्न प्रकार के बाजे बजाए जाने लगते हैं। माता मनौती मानती हैं कि मैं दूध की धार अर्पित करूँगी। लोकगीत कह उठता है

'साजि बराति चले राजा दशरथ बहुविधि बजना बजाय,
संख जे बाजै नगारा जे बाजै सबद सुने सहनाय।
जब बरियात जनकपुर पहुँचे, बायें दहिने बोले काग।

घोड़वा चढ़े आवैं लछिमन भइया, कगवा का करहु विचार।'[7]

रामविवाह के बाद जो पहली होली का उत्सव मनाया जाता है उसमें चारों भाई अपनी-अपनी पत्नियों के साथ पहली बार होली खेलेंगे इस सुमधुर विचार से ही समस्त अयोध्यावासी उल्लसित हैं। घर-घर आनंद की बधाइयाँ बजाई जा रही हैं। होली खेलते हुए राम करताल बना रहे हैं, भरत मँजीरे पर संगत दे रहे हैं और हनुमान ढोल बजा रहे हैं। उनकी इस होली को देखकर भगवान शिव भी प्रसन्नमन होकर डमरू बजाने लगते हैं। फिर सभी रंग-बिरंगे कुसुम केसर के रंगों से बनी अबीर लेकर होली खेलना प्रारंभ करते हैं। राम रोने की पिचकारी से होली खेलते हैं। लोकमन होली की फाग गाते हुए कहता है

'केकरे हाथ कनक पिचकारी, केकरे हाथ अबीरा, अवध में होली खेले रघुवीरा,

राम के हाथ कनक पिचकारी, लछिमन हाथ अबीरा, अवध में होली खेले रघुवीरा।'[8]

मिथिलांचल में भी कई विद्वानों ने विभिन्न शीर्षकों में रामकथा का प्रणयन किया है। सीता की भूमि कहलाने वाले मिथिला में राम को जमाई के रूप में स्वीकार किया जाता है। मैथिली कवि चंद्र ने 'मिथिला भाषा रामायण', लालदास ने 'रमेश्वर चरित मिथिला रामायण' आदि ग्रंथों की रचना की। इन ग्रंथों में मैथिली लोकमानस की दृष्टि से रामकथा के विविध प्रसंगों का सरस वर्णन मिलता है। मैथिली के इन ग्रंथों में जिस सरल भाषा में रामकथा-प्रसंगों का वर्णन किया गया है उसे अहिंदी भाषी भी आसानी से समझ लेते हैं। रामजन्म, सीता जन्म, विवाहोत्सव, धनुषयज्ञोत्सव, विवाहोत्सव, रामराज्याभिषेकोत्सव, अयोध्या पुनरागमन पर राम व सीता का सिंहासनारोहण के उत्सव आदि प्रसंगों का वर्णन इन ग्रंथों में विस्तारपूर्वक किया गया है। राम जन्म के अवसर पर समस्त आयोध्यावासियों के उत्सव एवं उत्साह का वर्णन करते हुए लालदास लिखते हैं

'पुत्र जन्म सुनि नृपतिवर, भेला अति आनन्द।
लगला भल उत्सव करय, सुखित सुहृद स्वच्छन्द॥'[9]

रामजन्म के मंगल उत्सव पर सभी गंधर्व मधुर स्वर में बधाए गा रहे हैं। सभी अप्सराएँ मिलकर नृत्य करने लगी हैं। सभी संगीत में पारंगत विद्वानों द्वारा मधुर स्वर में वाद्य यंत्र बजाए जा रहे हैं। नेग माँगे जा रहे हैं, महाराज दशरथ की जय-जयकार करते हुए विरुदावलियाँ गाई जा रही हैं, जिससे महाराज दशरथ के हर्ष का कोई ठिकाना नहीं है वे खुले हाथों से विभिन्न प्रकार के रत्नों का दान दिए जा रहे हैं। समूची अयोध्या में आनंद प्रवाहमान् है। सभी बड़े उत्साह के साथ उत्सव मना रहे हैं। लालदास लिखते हैं

'गाब मधुर सुख स्वर गंधर्व। नचय अप्सरागण मिलि सर्व।

विद्याधरगण वाद्य बजाब। विविध भाग गति सबहि देखाब।

वन्दी मागा सूत समाज। विरुद पढ़य कहि जय महराज।

रहल न नृपकाँ हर्ष ठेकान। कति विधि कयल रतन धनदान।

बहल अवध आनन्द प्रवाह। बड़ उत्सव सभकाँ उत्साह।'[10]

कविचंद्र विरचित मिथिला भाषा रामायण में रामजन्म प्रसंग का वर्णन करते हुए कहते हैं कि कौसल्या माता इस अद्भुत बालक को देखकर हर्षित हो गईं और उन्होंने अपन हाथ जोड़ कर बार-बार इस बालक को प्रणाम कर रही हैं, बालक से सूर्य का दिव्य प्रकाश निकल रहा है। गुरु वशिष्ठ ने जब बालक को देखा तो उसकी शोभा के बखान के लिए उनके शब्द समाप्त हो गए। पूरी अयोध्या में जय-जय की ध्वनि ध्वनित हो रही है। महाराज दशरथ के नेत्रों में अपार हर्ष है। कैकयी ने भरत को तथा सुमित्रा ने लक्ष्मण और शत्रुघ्न को जन्म दिया है। राजा दशरथ ने ब्राह्मणों को हजारों गायों, सोने के रत्न

और सुंदर वस्त्रों का दान दिया, दान को स्वीकार करने वाले महाराज दशरथ के कल्याण का आशीर्वाद दे रहे हैं। चारों राजकुमारों के जन्म के लिए एक बड़े उत्सव का आयोजन अयोध्या में किया गया है। राम के दर्शन के लिए रथ और हाथियों पर चढ़कर कई राजा-महाराजा याचक बनकर आए हुए हैं। किन्नर सोहर गा रहे हैं। राम के दर्शन के लिए स्वर्ग से आए देवतागण दुदुभी बजाते हुए आकाश से फूलों और अनगिनत रत्नों की वर्षा कर रहे हैं।

मगन महीप मन देखि याचकक गन, देव देव करथि अनन्त रत्न वरषन।

कत रथ चढ़ि कत चढ़ि गजराज पीठ कत वाजिराजि न रहल चित धरषन।

सोहत मनोहर सुगाब किन्नरी नरीक बनलि सुरूप एत जन केओ परख न।

'देव दुदुभीक धुनि गगन प्रसून वृष्टि रामचंद्र जनम उत्सव की प्रहरषन।'[11]

पहाड़ी भाषाओं में गढ़वाली का महत्वपूर्ण स्थान है। यह मध्य हिमालय की भाषा मानी जाती है, जो मौलिक लोक साहित्य तथा अनुदित की दीर्घ परंपरा से समृद्ध है। ऐसी मान्यता है कि अयोध्यापति श्रीराम के जीवन का उत्तरकाल इसी क्षेत्र से जुड़ा है इसलिए गढ़वाली भाषा में राम और रामकथा को विशेष महत्त्व दिया जाता है। यहाँ देवप्रयाग का के राम मंदिर तथा रामानुज लक्ष्मण मंदिर, देवलगाँव का सीता मंदिर, ऋषिकेश के भरत तथा शत्रुघ्न मंदिर, जुयालगढ़ के लव-कुश मंदिर, मन्सार मेले में सीता माता का जागर तथा यहाँ प्रचलित लोककथाएँ, इस बात का साक्ष्य प्रस्तुत करती हैं। मौलिक उचनाओं में श्री भगवती प्रसाद जोशी 'हिमवन्तवासी' द्वारा रचित खण्डकाव्य 'सीता वणवास', पं. आदित्यराम दुदपुड़ी की 'रामैण', ब्रजमोहन कबटियाल की सूर्यमणि रामायण, पं. केशवानन्द कैथोला की 'गढ़वाली भाषा को मनतरंग' प्रसिद्ध हैं। अनुदित रचनाओं में वाल्मीकि की शतश्लोकी रामायण से बलदेव प्रसाद नौटियाल द्वारा अनुदित ग्रंथ 'गढ़वाली हरिगीतिका रामायण', वचन सिंह नेगी द्वारा 'रामैण', मोहन लाल नेगी की रामायण(अप्रकाशित गढ़वाली गद्यानुवाद) राम के बालरूप से जुड़े उत्सवों जैसे चूड़कर्म, उपनयन, यज्ञोपवीत आदि से संबंधित विभिन्न जागर गीत, मंगलगीत, होलियारे तथा लोकगीत प्रचलित हैं, जिनमें चारों भाइयों के बाल उतारने के समय दशरथ संवाद आदि को लेकर कई प्रसंग मिलते हैं। यथा-

'नाई रे नाई तू मेरो भाई।

मेरा राम जी तैं कि पीड़ा न लाई,

मेरो राम होलो फूल सि कुंगलों,

मेरो राम होलो नौणी सि मंलूक,

मेरा राम तैं कि पीड़ा न लाई,....."[12]

आगे इसी मंगलगीत में लक्ष्मण, भरत, तथा शत्रुघ्न के नाम जोड़ते हुए गीत को आगे बढ़ाया जाता है। इस गीत का भावार्थ है- हे नाई, तुम मेरे भाई हो, मेरे पुत्रो के बाल उतारते समय उन्हें पीड़ा ने देना, मेरे पुत्र फूलों की तरह कोमल और मक्खन की तरह मुलायम हैं, बिना किसी पीड़ा के इनके बाल उतार देना। इस प्रसंग में अपनी बात कहते हुए राजा दशरथ नाई को मोतियों की माला, मखमल की शॉल, खड़ाऊँ, सोने का उस्तरा आदि देने का वचन भी देते हैं। इसी प्रकार गुणानन्द पथिक की 'गढ़ावाली रामैण' में राम जन्म संबंधी उत्सवों के प्रसंग मिलते हैं। देहराटाइम्स प्रेस देहरादून से सन् 1928 में प्रकाशित पं. केशवानन्द कैथोला की 'मनतरंग' में रामकथा के विभिन्न प्रसंगों मनोहारी वर्णन किया गया है। इस ग्रंथ में राम जन्मोत्सव के प्रसंग का वर्णन करते हुए बताया गया है कि अयोध्या की प्रजा ऋषि-मुनि जन, आकाश के सभी दवेता अपने-अपने निजी कार्यों को छोड़कर हर्षोल्लास के साथ राम की जय-जयकार और वंदना कर रहे हैं। कवि लिखते हैं

'प्रगट ह्वैगे प्रभू जगमां, खुशीसु-नर-मुनि कू वचन अपणा करीं पूरा, पड़ीगे सोच रावण कू।।
करीक यज्ञ की रक्षा, मुनी का साथगै बनमां।
जितीं बलवान राक्षस सभी, खुशी हैगैं ऋषि मनमां।।'[13]

गढ़वाली रामायण (देवेन्द्र प्रसाद चमोली) के बालकाण्ड में भीषण अकाल से पीड़ित जनकपुर की प्रजा की पीड़ा को जल रूपी अमृत की वर्षा से हर लेने वाली तथा सीता के प्रकटोत्सव पर मनाए जाने वाले उत्सव का चित्रण मिलता है। कवि के अनुसार सारी प्रजा आश्चर्य चकित रह गई और सीता को कोई अवतार मानने लगी, महाराज जनक का स्वप्न और प्रयास दोनों साकार हो गए, मिथिलापुरी में सीता जैसी अवतारी कन्या का जन्म हो गया वे लिखते हैं-

'धरती बेटी निकल्ई एक अद्भुत कन्या
हे जगतपति धन्य-धन्य-धन्य।''[14]

बांग्ला में रघुनंदन गोस्वामी जी की 'राम-रसायन', राममोहन बंद्योपाध्याय की 'रामायण' आदि भी रामकथा के विभिन्न प्रसंगों पर आधारित हैं। सीता के प्रकटोत्सव के समय सीता की सुंदरता का वर्णन करते हुए कृतिवास की बांग्ला रामायण में लिखा गया है-

'हरिणी नयने किवा शोभित कज्जल।
तिलफूल जिनि ताँर नासिका उज्जवल।।

सुललित दुई बाहु देखिते सुंदर।
सुधांशु जिनिया रूप अति मनोहर।।''[15]

राजस्थानी साहित्य 'पिंगळ सिरोमणि, 'सीतपुराण' में राम के वनवासी जीवन की कथावस्तु को प्रमुखता से आधार बनाया गया है। जिसमें प्रमुखता से विश्नोई संप्रदाय के प्रमुख कवि मेहोजी गोदरा कृत रामायण का नाम सम्मानपूर्वक लिया जाता है जिसकी रचना तुलसीदास जी द्वारा रचित रामचरितमानस से भी पूर्व कर दी गई थी। इसके अतिरिक्त माधवदास दधवाड़िया की 'रांम रासौ', सुरजनदास पूनिया की 'रामरासो', रुघदास मोहता की 'रुघरास', जोधपुर का 'रघुनाथरूपक' आदि प्रसिद्ध ग्रंथ हैं जिनमें रामकथा के विविध प्रसंगों का वर्णन मिलता है, पर राजस्थानी लोक साहित्य में भी रामकथा के राजजन्म जैसे उत्सवधर्मी प्रसंग मिल जाते हैं। एक लोकगीत के अनुसार ''दाई नालच्छेदन के दस्तूर पर इनाम की ही याचना नहीं कर रही है। वह लाल किनारी वाली साड़ी माँग रही है। ननद ने आकर नवजात को दूध से नहलाया तो वह भी इस नहलाई का नेगचार माँग रही है, जिसपर नेगचार के रूप में दाजा दशरथ एक हाथी और महारापनी कौसल्या अपना कीमती मोतियों का हार उसे दान कर देते हैं

'सिरी रामचन्दर जी जनम लिया है
नणंद आवै दुद्धी धुलावे
दुद्धि धुलाई मांगे
बैडर की साड़ी उनको दीजै
लल्ला की बधाई।
सिरी रामचन्दर जी जनम लिया है।''[16]

तमिल भाषा में कवि कंम्ब की रामायण 'इरामावतारम्' के अतिरिक्त अरुणाचल कविराज ने 'रामनाटकम्' की रचना की जो कि गीतिशैली का एक रामनाटक है, उन्नींसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में संत रामलिंगस्वामी ने 'श्रीराम नाम तिरुपदिकम्', वी. सुब्रह्मण्य अय्यर ने कम्ब रामायण के छन्दों को 'वेण्बा' में लिखकर राककथा का वर्णन किया। कम्ब की रामकथा में राम के अयोध्यापुनरागमन पर राज्याभिषेक से संबंधित एक प्रसंग आता है। जिसमें भरत के द्वारा राम के पट्टाभिषेक की सारी तैयारियाँ कर दी जाती हैं। इस समारोह में भाग लेने के लिए देश-विदेश से कई राजा-महाराजा अयोध्या पधारे हुए हैं। हनुमान, सुग्रीव, विभीषण, राम के परिवार एवं कुटुम्बी जन, गुरुजन आदि की उपस्थिति से रामदरबार सुशोभित है। पूरी अयोध्या को सजाया जाता है। भरत ने सोने और चाँदी के मंडप बनाए हुए हैं, उसे फूलों और नवरत्नों से सजाया हुआ है, पुखराज रत्न का मंच और माणिक से बना सिंहासन है, स्त्रियाँ मंगल आरती के लिए तैयार हैं। राम और सीता को भी सुंदर रूप में सजाया गया है। कवि लिखते हैं 'चित्तिरमंडपं.....पत्तिनि जानकियुडन उलकैयाळुंपडि कोण्डान मुडिकोण्डाने।' भारतीय भाषाओं में रामकथाः तमिल भाषा, संपादक- डॉ. एम. शेषन्, वाणी प्रकाशन, संस्करण-2016, पृ.-81

उपसंहार - भारतीय साहित्य में रामकथा के गद्य और पद्य दोनों रूप मिलते हैं। गद्य रूपों में कथा, नाटक, ललित-निबंध आदि विधाओं में रामकथा का वर्णन मिलता है तो पद्य में मुक्तक दोहों से लेकर महाकाव्य तक अनेक ग्रंथ रामकथा के विविध प्रसंगों को जनमानस तक पहुँचाते हुए आदर्ष चरित्र निर्माण की प्रेरणा प्रदान करने में सफल रहे हैं। लोक साहित्य भी मंगलगीत, बधाएगीत, सोहरगी आदि के माध्यम से लोक में रामकथा को जीवंत बनाए हुए है। विभिन्न भारतीय भाषाओं में राम के जीवन से जुड़े विविध प्रसंगों का वर्णन विस्तारपूर्वक मिलता है। इनमें सर्वाधिक साहित्य राम जन्म, नामकरण, कर्णछेदन, मुण्डन, यज्ञोपवीत, विवाह से लेकर लंका विजय के उपरांत अयोध्या पुनरागमन पर राम के स्वागत पर अयोध्या में मनाई जाने वाली दीपावली तथा रामराज्याभिषेक को लेकर मनाए जाने वाले उत्सवों पर रचा गया है। अयोध्या प्रक्षेत्र की अवधी के साथ मिथिला की मैथिली, ब्रज, गढ़वाली, गुजराती, राजस्थानी, तमिल, तेलुगु, कन्नड़, मलयालम, छत्तीसगढ़ी, असमिया, बांग्ला, मराठी, आदि भाषाओं के साथ-साथ बुंदेली, बघेली, निमाड़ी आदि बोलियों में भी रामकथा का साहित्य पर्याप्त मात्रा में मिलता है। जो जनमानस में राम ओर रामकथा के अन्य चरित्रों को आज भी जीवित रखते हुए आदर्श चरित्र हेतु प्रेरित करता है।

संदर्भ सूची :

1. दीक्षित डॉ. सूर्यप्रसाद, भारतीय भाषाओं में रामकथाः अवधी भाषा, वाणी प्रकाशन, संस्करण-2015, पृष्ठ-116
2. दीक्षित डॉ. सूर्यप्रसाद, भारतीय भाषाओं में रामकथाः अवधी भाषा, वाणी प्रकाशन, संस्करण-2015, पृष्ठ- 119
3. दीक्षित डॉ. सूर्यप्रसाद, भारतीय भाषाओं में रामकथाः अवधी भाषा, वाणी प्रकाशन, संस्करण-2015, पृष्ठ-119
4. दीक्षित डॉ. सूर्यप्रसाद, भारतीय भाषाओं में रामकथाः अवधी भाषा, वाणी प्रकाशन, संस्करण-2015, पृष्ठ-119
5. दीक्षित डॉ. सूर्यप्रसाद, भारतीय भाषाओं में रामकथाः अवधी भाषा, वाणी प्रकाशन, संस्करण-2015, पृष्ठ-120
6. दीक्षित डॉ. सूर्यप्रसाद, भारतीय भाषाओं में रामकथाः अवधी भाषा, वाणी प्रकाशन, संस्करण-2015, पृष्ठ-123
7. दीक्षित डॉ. सूर्यप्रसाद, भारतीय भाषाओं में रामकथाः अवधी भाषा, वाणी प्रकाशन, संस्करण-2015, पृष्ठ-125
8. दीक्षित डॉ. सूर्यप्रसाद, भारतीय भाषाओं में रामकथाः अवधी भाषा, वाणी प्रकाशन, संस्करण-2015, पृष्ठ-127
9. लालदास, मिथिला रामायण, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष- 1999, पृ.-43
10. लालदास, मिथिला रामायण, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष- 1999, पृ.-44
11. कविचंद्र, मिथिला भाषा रामायण, साहित्य अकादमी, प्रकाशन वर्ष- 1999, पृ.-20
12. सिन्हा डॉ. श्रीमती निधि, भारतीय भाषाओं में रामकथाः पहाड़ी भाषा, वाणी प्रकाशन, संस्करण-2015, पृ.-19
13. सिन्हा डॉ. श्रीमती निधि, भारतीय भाषाओं में रामकथाः पहाड़ी भाषा, वाणी प्रकाशन, संस्करण-2015, पृ.-27
14. सिन्हा डॉ. श्रीमती निधि, भारतीय भाषाओं में रामकथाः पहाड़ी भाषा, वाणी प्रकाशन, संस्करण-2015, पृ.-32
15. मिश्र डॉ. हरिश्चंद्र, भारतीय भाषाओं में रामकथाः बांग्ला भाषा, वाणी प्रकाशन, संस्करण-2015, पृ.-115
16. गौतम देवेन्द्र कुमार सिंह, भारतीय भाषाओं में रामकथाः राजस्थानी भाषा, संपादक- वाणी प्रकाशन, संस्करण-2016, पृ.-148

From Streets to Beats : Dalit Feminist Activism via Rap, Gaana and Theater

Dr. Vijaya Supriya CH
Assistant Professor, REVA University
Kattigenahalli, Yelahanka, Bangalore

Introduction :

The powerful feminist expressions that the Dalit youth involved in anti-caste action in India, notably in Tamil Nadu, prominently display in their diverse performances, exude a distinct vibrancy. The widely famous music video "Enjoy Enjaami," a unique mashup of rap, hip-hop, and native tunes, serves as a powerful example of this fervour. In honour of his grandmother, who experienced forced labour in Sri Lanka during the British colonial era, musician Arivu created this musical work.

To vehemently articulate their stance against the pervasive burden of caste and gender oppression, Dalit artists harness the dynamic forces of popular music, lesser-known melodic genres, and the traditional dramatic medium known as koothu (theatre).

Traditionally, Dalit communities have employed song, drumming, and dance as their expressive tools. This oral and expressive culture celebrates various rites of passage and communal gatherings through the art of song, percussion, and dance. It is a communal and seasonal tradition, passed down orally, characterized by vivid descriptions, cleverness, and humor.

However, the divide between the "elevated" classical arts traditionally linked to Brahmins and the "folk" arts favored by Dalit communities and other lower castes (officially designated as Scheduled Castes and Other Backward Castes) developed in parallel with the historical caste distinctions rooted in Vedic times. This partition led to the systematic oppression of Dalits by the upper-caste populace (Chanda-Vaz, 2019, para. 13).

Dalit artistic forms have frequently remained on the periphery of society, primarily due to their lack of broad recognition as significant representations of grassroots literature (Singh, 2018, p. 189). This lack of recognition has not only physically but also psychologically marginalized these art forms.

Therukoothu (street theatre), also known as koothu (short for koothu), and Dalit songs have only recently been introduced into higher caste cultures. The powerful feminist statements notably displayed in the diverse performances of the Dalit youth involved in anti-caste agitation in India, particularly in Tamil Nadu, demonstrate a special liveliness.

The well-known music video "Enjoy Enjaami," which cleverly combines rap, hip-hop, and native tunes, serves as a powerful example of this fervour. Arivu's musical composition honours his grandmother, who experienced indentured labour in Sri Lanka during the time of British colonialism.

In this paper, I argue that young Dalit theater directors, singer-activists, and lyricists craft performances that function as heterotopias3, effectively enabling the subversion of oppressive norms. According to Michel Foucault, a heterotopia serves as a "counter-site" to conventional spaces within society. These heterotopias are "actual locations" that exist in a state of being both represented and contested, as well as invented. They are places that exist beyond conventional spaces, even though it might be possible to pinpoint their physical location in reality (Foucault, 1984, pp. 3-4).

Within this study, I employ the term "heterotopia" to characterize the spaces within which Dalit women and men craft their political identities. Dalit feminist artists purposefully construct their creations within these heterotopic realms as a means of vehemently protesting the prevailing social injustices faced by Dalits. Contemporary artists in the realms of rap, hip-hop, gaana, and koothu find their place within these heterotopian spaces, which encompass the stage, recording studios, the digital sphere, and music videos. In these settings, they boldly articulate their voices and shed light on the contested realities they confront. For women and those from lower castes, this removes hurdles.

The narrative surrounding caste-based oppression in India has undergone a transformation, largely thanks to the efforts of young Dalit individuals. These youth activists engage in powerful protest performances, utilizing the genres of rap and gaana. They skillfully integrate African American rap artists' impact with theatre, slam poetry, and indigenous musical traditions.

Dalit singer-activists challenge preconceived notions about their presence in the theatrical realm by boldly pursuing these artistic forms. They make strategic use of public spaces such as theaters, streets, and the internet as their platforms, effectively transforming these arenas into heterotopic settings that mirror the Dalit experience. In doing so, they dismantle prevailing assumptions and through inventive means, they convey their feminist and democratic values, effectively combating the constraints of the caste system.

Within this essay, I delve into the interplay between the visual and lyrical languages found in the performances of Dalit youth within the realms of rap, gaana, and koothu. Through this analysis, the audience is sensitized to the issues surrounding the oppression of Dalit women and the resilient efforts of Dalit feminism. This investigation highlights how Dalit performers reflect the spirit of Dalit feminism in heterotopic situations in addition to revealing the poetic and aesthetic components that Dalit artists have tapped into. In my examination of Dalit cultural expressions, I employ an intersectional approach that considers both gender and caste as integral facets of analysis.

Rap music performances have gained significant traction in various Indian

languages over the last thirty years, particularly among Dalit youth. In the fight against caste discrimination, rap and gaana have become particularly popular among youth activists in Tamil Nadu. Rap, initially emerging as a manifestation of spoken word music, found its roots in Jamaica during the 1960s. It later disseminated to the African American communities of New York City in the 1980s (Baxter, 1988, p. 30).

Young Tamil Nadu activist-singers use the name "Gaana," which first surfaced in Chennai's working-class neighbourhoods. It is comparable to rap although though Dalit music traditions are followed. It is "edgy folk music characterised by a hard-driving rhythm and earthy lyrics," according to Deeksha (2018). Rap, folk, and melody are all elements of the gaana form, according to Isaivani (Aadhan Tamil, 2019). Rap and gaana staging also contain koothu components. Young Tamil Nadu activist-singers use the name "Gaana," which first surfaced in Chennai's working-class neighbourhoods. It is comparable to rap although though Dalit music traditions are followed. It is "edgy folk music characterised by a hard-driving rhythm and earthy lyrics," according to Deeksha (2018).

Empowering Dalit Feminist Spaces: Heterotopias of Resistance :

Dalit musical performances serve as collective spaces of heterotopia, wherein both the audience and the artists wield agency, fostering a sense of solidarity among them. The utilization of music and koothu as platforms for presenting Dalit feminist narratives establishes heterotopian arenas that not only reflect Dalit struggles and activism but also challenge established conventions. Within these spaces, indigenous forms are ingeniously crafted to question deeply ingrained casteist and sexist traditions, while also imparting anti-oppressive ideologies.

The Casteless Collective, headed by Pa. Ranjith, stands out as a powerful illustration of a heterotopia that uses music as a tool to criticise and resist injustice based on caste. The very name of this collective, "Casteless," conveys its mission to eliminate the scourge of caste discrimination. Comprising musicians from diverse castes and encompassing both genders, this collective engages in live performances and produces music videos distributed widely through the internet. Women vocalists are overcoming gender stereotypes and upper caste restrictions in the heterotopian setting of the stage. One of The Casteless Collective's key singers, Isaivani, claims that she feels empowered to be her true self by the collective and that she enjoys equality on stage. She believes she has found her calling in gaana and rap after connecting with the collective's message and developing a fondness for songs with anti-caste and feminist undertones (Aadhan Tamil, 2019). The female vocalists on Gaana challenge this notion of femininity. Her voice is given energy by rhythm and melody, which are complemented with a percussive dance beat common in koothu and folk-dancing, which fits the song's serious subject matter.

In theatre plays led by caste equality activists, such as Padma Mangai (Singh, A, 2013) and Ashwini Kasi (Pragati, 2021), the alteration of performers' physicality and voice cadence assumes a significant role. Mangai and Kasi have brought attention to creative forms that have their roots in Dalit and historically

marginalised communities, much like Dalit music activists, catapulting them to the fore of cultural expression in the world of music-infused theatre. As they labor to reshape society's narrative, their endeavors have reinvigorated the tradition of musical theater, leveraging it as a platform to recount narratives deeply entwined with contemporary issues. In doing so, they also bring into focus the pressing concerns related to gender and caste-based oppressions (Pragati, 2021, para. 13).

In their artistic endeavours, they audaciously reinterpret conventional myths and upend performance venues, thereby tearing down long-standing boundaries relating to caste and gender differences. Women and members of marginalised groups are given the freedom to assert their agency within the therukoothu's democratising framework, and dramatic arts curricula are seeing a revival of Dalit art forms like tappattam.

The diverse musical and dance styles in Tamil Nadu are referred to as "living forms in Tamil Nadu" by Mangai, an opponent of sexism and casteism (Singh, A, 2013, p. 497). A new idiom might also develop if one is able to look past these forms. The morphologies have developed over time and are adaptive by nature (Singh, A. 2013, p. 497). Therukoothu, isai natakam, and contemporary theatre are just a few examples of the many barriers that Mangai breaks down within the realm of theatre creation. She frequently finds inspiration for her work in under-represented aesthetic traditions. It is performed in areas with underrepresented sociocultural backgrounds (such as the courtyards of housing complexes) and is exclusively performed by women (such as domestic all-female rites and the unofficial, sociolinguistic practises of the oppressed). (Singh (A), pg. 493 (2013).

Actors who direct and create theatrical plays are breaking ingrained gender standards, in contrast to the historical practise of men playing female characters in traditional productions. In therukoothu and other theatre works today, women are actively involved, successfully incorporating topics like transgender persecution, caste-related violence, and female leadership into these plays. In Isaivani's representation of Ambedkar, a Dalit woman adopts the role of a male leader, serving as an illustrative example. This fusion of gaana and theatre creates a distinctive Dalit feminist theatrical experience. Women thus appear on the theatrical stage not only as characters but also as notable actors and musicians.

Whether it is on the street, inside a building, in a TV studio, or online, arts activists including producers, directors, and actors have turned the stage into a powerful political arena. The best way to describe these locations, which occasionally have spontaneous origins, is as dissenting heterotopias. They serve as catalysts for raising public awareness and advancing legislation that safeguards vulnerable communities(AUTHOR).

Empowering Stages: Dalit Women's Artistic Expressions :

Singers like Isaivani transform the psychological environment they create for performers and audience members into a political space where people feel like they have agency. By using the theatre as a heterotopia or alternate setting, Dalit artists may "allow for social and cultural norms to be contested or reversed" (Andrews, 2021).

Dalit musicians and activists believe that any space might be transformed into a venue for performances. You may communicate a message without a stage or a microphone, as Arivu puts it. Make one if there isn't one already. Through poetry and drama, Dalit feminists like Satyam in Sujata Gidla's 2017 film fight caste, gender, and class standards. What we observe in the cultural activism of Dalit youth is the ongoing opposition to the powers that impose boundaries.

Dalit folk music, rap, gaana and koothu performances on stage push marginalised people's psychological bounds, inspiring their imaginative creativity and opening new doors for the Dalit movement. When examining how space and time interact during musical experiences, psychologists have found that "our perception of space and time is highly malleable and changeable. According to Schafer, Fachner, and Smukalla (2013), "Both dimensions are shaped by conscious and unconscious processes, influenced by our perceptions, memories, emotional states, personal interests, current goals, and physiological condition". Rhythm holds a profound influence on both musicians and their audiences, profoundly shaping their perception of space. During moments of intense musical immersion, it possesses the remarkable ability to transform the surrounding space, often leading individuals to redirect their attention inward as the external world gradually recedes into the periphery (Schafer, Fachner, and Smukalla, 2013, para. 45).

The neurobiological understanding of music's spatial aspects sheds light on why Dalit music activists viewed rap, gaana, and koothu as potent means of validating spatial experiences for the gendered body when presented live on stage.

In the context of Dalit musical performances within the theater and YouTube videos, groups like The Casteless Collective excel not only in perfecting the musical art form but also in delivering powerful social messages through their lyrics, all while paying close attention to the use of sound technologies. On the stage or in digital spectacles, they create a compelling vision of social change, portraying a world where the limitations imposed by gender and caste can be transcended. This iconoclastic approach, combined with the cathartic experience of watching and listening to their performances, instills in viewers the potential to envision themselves as active contributors to this transformative process.

Dalit musical performances, as described, play a crucial role in the theater by expanding the boundaries of activism within the arts. They effectively widen the political spaces available to marginalized individuals, placing them at the forefront of feminist activism. Dalit performers leverage their talents, imagination, and collaborative efforts to innovate new artistic forms that resonate with the public. The intersectional feminist messages conveyed in their performances manifest on multiple fronts, embracing both explicit and subtle dimensions. Their music encapsulates a blend of nuance and boldness, seamlessly weaving together humor and incisive critique, wit and persuasive argumentation. In perfect harmony with the rhythmic cadence of koothu, their physical movements on stage, coupled with percussion and vocals, project a provocative and dynamic presence that challenges traditional boundaries (AUTHOR)

Importantly, Dalit musical performances contribute significantly to theatre by infusing a sense of enjoyment and fun into their presentations. These performers deftly combine amusement with their incisive, socially conscious, and feminist ideas to create theatre experiences that are effective and entertaining, ultimately enhancing the landscape of theatre as a whole (AUTHOR).

References :

1. Aadhan Tamil. (2019, May 16). *Isaivani Exclusive Interview* [Video]. YouTube. https://www.youtube.com/watch?v=Y2ELzJHebOI
2. Arya, S. & Aakash, S.R. (Ed.). (2020). *Dalit Feminist Theory. A Reader*. Routledge
3. Baxter, Lawford. (1988, June 15). Rap Music Began on Jamaica in the 1960s. *The New York Times*. https://timesmachine.nytimes.com/timesmachine/1988/06/15/659388.html?pageNumber=30
4. BBC News Tamil. (2021, March 14). *Gana Isaivani Interview* [Video]. YouTube. https://www.youtube.com/watch?v=ksCVhuY20WM
5. Behindwoods TV. (2019, Nov 27). *Casteless Collective Arivu Chumma Kizhi* [Video]. YouTube. https://www.youtube.com/watch?v=Y9Pawofy_ys
6. Chanda-Vaz, U. (2019, Jan 27). How a radical collaboration between a classical and a folk art form is redefining the boundaries and possibilities of performative tradition. *Scroll IN*. https://www.academia.edu/38266545/Karnatik_Kattaikuttu_The_art_of_erasing_boundaries
7. Foucault, M. (1984, October). Of other spaces: Utopias and heterotopias. (J. Miskowiec), Trans.). *Architecture / Mouvement/ Continuité*. https://web.mit.edu (Original work published 1967, March)
8. Gidla, S. (2017). *Ants Among Elephants*. Farrar, Strauss, and Giroux.
9. Gorringe, H. (2016). Out of the cheris: Dalits contesting and creating public space in Tamil Nadu. *Sage*. 19(2), 164-76. DOI: 10.1177/1206331215623216
10. Ingole, P. (2020). Intersecting Dalit and Cultural Studies: De-brahminizing the Discisplinary Space. *Caste: A Global Journal on Social Exclusion*, 1:2, 91-106
11. Kumar, R. (2019). *Dalit Literature and Criticism*. Orient Blackswan.
12. Lyricsraag. (2021, June 18). *Enjoy Enjaami lyrics* [Video].YouTube https://lyricsraag.com/enjoy-enjaami-dhee-arivu/
13. Maajja. (2021, March 6). *Enjoy Enjaami* [Video]. YouTube. https://www.youtube.com/watch?v=eYq7WapuDLU
14. Nathan, A. (2018, Sept., 12). Documentary Koothu puts the Spotlight on a Vibrant Theatre Tradition from Tamil Nadu. *Scroll In*. https://scroll.in/reel/893665/documentary-koothu-puts-the-spotlight-on-a-vibrant-theatre-tradition-from-tamil-nadu.
15. Singh, A. (2013). An Interview with Mangai. *Asian Theatre Journal*, *30* (2), 486–505. https://doi-org.ncc.idm.oclc.org/10.1353/atj.2013.0044
16. Singh. R. (2019). *Spotted Goddesses: Dalit women's agency-narratives of caste and gender violence*. Zubaan. Supreme Court Observer. (n.d). *Judgement in Plain English*. https://www.scobserver.in/reports/sabarimala-temple-entry-indian-young-lawyers-association-kerala-judgment-in-plain-english/
17. Vikatan TV (2015, April 15). *Eppadi, Eppadi*. [Video]. Youtube. https://www.youtube.com/watch?v=Znk6tYHF39c 17

श्री
'रम्माण' लोकनाट्य में संगीत परंपरा

डॉ. कनिका जोशी
एम. ए., एम. फिल, पी. एच. डी.

लोकनाट्यों में संगीत परंपरा कई वर्षो से चली आ रही है। वैदिक काल से ही साधु-संत संगीत के माध्यम से समस्त जन-जीवन को ईश्वर प्राप्ति का रास्ता दिखाते थे। भारत के हर क्षेत्र के लोकनाट्य अपनी संगीत परंपरा के लिए जाने जाते हैं। पूरे विश्व में अगर किसी देश का नाम वहाँ की अतुल्नीय संस्कृति, विरासत, धर्म, रीति, रिवाज, त्यौहार, परंपरा, जाति आदि में प्रथम स्थान पर आता है तो वह है हमारा देश 'भारत'। नाम, से तो ये हिंदुओं का स्थान 'हिन्दुस्तान' है, परन्तु इस देश ने हर धार्मिक संप्रदाय के लोगों का स्वागत हमेशा पूरे दिल से किया है। इस देश का इतिहास हज़ारों साल पुराना है। हमारे देश के कई क्षेत्रों में हज़ारों साल पुरानी मूर्तिकला, शिल्पकला, तथा अनेक कलाकृतियों से यह साबित होता है कि यह भूमि कई महान व्यक्तित्वों के दर्शन कर चुकी है। ये व्यक्तित्व इतने प्रभावशाली थे कि कई सौ सालों से इन्हें घर-घर में पूजा जाता है। हमारे प्रभु श्रीराम और श्री कृष्ण इन्हीं प्रभावशाली व्यक्तित्वों में से एक रहे जिन्होनें जन कल्याण के लिए अपना सब कुछ समर्पित कर दिया। 'रम्माण' ऐसे ही प्रभावशाली व्यक्तित्वोंकी गाथा को जन-जीवन के समक्ष प्रस्तुत करता है।

'रम्माण' उत्तराखण्ड की रंगमंच शैली है। यह उत्सव उत्तराखण्ड के चमोली जिले के 'सलूर-डूंगरा' गाँव में हर साल अप्रैल के महीने में भव्य तरीके से मनाया जाता है। 'रम्माण' हमारे देश की रामायण परंपरा का एक अपभ्रंश है। कहा जाता है कि आदिगुरु शंकराचार्य जी उत्तराखण्ड आए और विशेष रूप से ज्योतिर्मठ (वर्तमान में जोशीमठ) और बद्रीकाश्रम (वर्तमान में बद्रीनाथ) क्षेत्र में लगभग 400 वर्ष रहे। वहीं पर एक गाँव है 'सलूर-डूँगरा' जो कि वर्तमान में दो अलग-अलग गाँव में तब्दील हो गया है, पर पहले यह गाँव एक ही नाम से जाना जाता था, यानि 'सलूर-डूँगरा' गाँव। आदिगुरु शंकराचार्य जी ने जोशीमठ में ही कल्पवृक्ष के नीचे आत्मज्योति प्राप्त की और तभी से उस जगह का नाम ज्योतिर्मठ पड़ा जो कि वर्तमान में 'जोशीमठ' नाम से जाना जाता है। शंकराचार्य जी ने गायन, वादन के माध्यम से सनातन धर्म का प्रचार-प्रसार किया तथा गायन, वादन माध्यम से ही श्री राम और श्री कृष्ण लीलाओं के प्रति आस्था जगाने का अभ्यास किया और ऐसा करने में वो सफल रहे। इसके परिणामस्वरूप वहाँ पर श्री कृष्ण तथा श्री राम की लीलाओं का मंचन शुरू हुआ। क्योंकि आचार्य श्री शंकराचार्य जी दक्षिण भारत से आए थे और वहाँ पहले से ही मुखौटा नृत्य की परंपरा थी, तो वही, परंपरा के चलते इस मंचन में भी मुखौटों का प्रयोग शुरू किया गया। उस समय यह मंचन बहुत ही सूक्ष्म तरीके से होता था पर आज यह एक मेले के रूप में मनाया जाता है। 'रम्माण' के बारे में शोध के दौरान मुझे कुछ गुणी लागों के

साक्षात्कार लेने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। ''इसी गाँव के डॉ॰ कुशल भंडारी जी जो कि वर्तमान में गवर्नमेंट इंटरमीडिएट कॉलेज के प्रिंसिपल हैं, उनका साक्षात्कार लेने पर 'रम्माण' से जुड़ी कई बातों को जानने का अवसर प्राप्त हुआ।'' ''उन्होनें बताया कि यह कार्यक्रम पूरे सलूर-डूँगरा गाँव के रक्षक 'भूमि क्षेत्रवाल देवता' के प्राँगण यानि की मंदिर परिसार में ही हर साल मनाया जाता है।'' यह कार्यक्रम लोगों की आस्था और विश्वास से जुड़ा होने के साथ-साथ मनोरंजन का साधन भी था जिसका पूरा गाँव पूरे साल प्रतिक्षा करता था। इसी प्रथा को इस गाँव ने कई सौ सालों से कायम रखा है और आज यह कार्यक्रम एक मेले के रूप में पूरे चौदह दिन तक मनाया जाता है। इस मेले में प्रयोग किए गए मुखौटे भोजपत्र की लकड़ी जिसका बोटेनिकल नाम 'बैटयूला यूटिलिस' (Betula Utilis) है, से बनाए जाते हैं। मुखौटा परंपरा में 18 मुखौटों का प्रयोग किया जाता है जिन्हें दो श्रेणियों में बाँटा गया है। इनमें से एक श्रेणी है जिसमें देवी-देवताओं के मुखौटे हैं जो उस गाँव के लोगों की धार्मिक पंरपरा से जुड़े हुए हैं। इन्हें घो-पत्तर कहा जाता है। दूसरी श्रेणी में आते है वो मुखौटे जो मनोरंजन के तौर पर प्रयोग किए जाते हैं। इन्हें 'खल्यारी पत्तर' से संबोधित किया जाता है। इस मेले में कोई संवाद नहीं होते, केवल गायन, वादन और नृत्य की प्रधानता ही इस मेले में होने वाले हर एक मंच कार्यक्रम की होती है।

उत्तराखण्ड के सभी गाँव में जागर गयान को परंपरा हे जो कि कई सौ साल से चलती आ रही है। पुराने समय में गाँव के लोगो को अलग-अलग कार्य सौंपे जाते थे। किसी को पूजा-पाठ का कार्यकिसी को शादी ब्याह में भोजन बनाने का कार्य आदि। ऐसे ही 'जागर गायन' जो कि गाँव के लोगो के इष्ट देवता तथा अन्य देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिए गाया जाता है यह कार्य भी कुछ लोगों को सौंपा गया जिन्होनें पीढ़ी दर पीढ़ी उस परंपरा को बरकरार रखा। 'रम्माण' मेले में भी जागर गायन होता है जब देवी-देवताओं के मुखौटों की विधि-विधान पूजा की जाती है तथा उन्हें गर्भ गृह में स्थापित किया जाता है। पुराने समय में जब यह कार्यक्रम होता था तो जागर-गायन के लिए बाहर से लोग बुलाए जाते थे जो इस कार्य में निपुण होते थे। परंतु समय के साथ-साथ इस पंरपरा में भी बदलाव आया। वर्तमान काल में इस गायन परंपरा को कुछ इसी गाँव के तथा कुछ अन्य गाँव के लोगों ने आत्मसात करके क़ायम किया हुआ है। 'रम्माण' में जो भी लीलाएँ, घटनाएँ आदि दिखाई जीत हैं, उनका वर्णन इस जागर गायन में विस्तार रूप से उत्तराखण्ड में बोली जाने वाली गढ़वाली भाषा में बताया जाता है। देवी-देवताओं के मुखौटों का नृत्य रम्माण मेले में हर दिन की शुरुआत में किया जाता है तथा उनकी सेवा का कार्यभार हर साल कुछ लोगो को सौंपा जाता है जो उनका भोग, प्रसाद आदि का कार्यभार संभा?लते हैं तथा मेले के अंतिम दिन तक मंदिर के बाहर ही बिस्तर लगाकर सोते हैं।

'रम्माण' आज एक उत्सव के रूप में मनाया जाता है। हालाँकि इस मेले में जो रामायण की लीलाओं का कार्यक्रम होता है वो सबसे अंतिम दिन पर होता है, पर जब ये मंचन कई सौ साल पहले शुरू हुआ था उस वक्त इसका आकर्षण केंद्र इसमें गायन द्वारा की गई रामायण की लीलाओं का वर्णन ही था, इसीलिए इस पूरे मेले का नाम ही 'रम्माण' पड़ गया। रामायण के अलावा भी इसमें कई कार्यक्रम होते हैं जिनमें मुखौटा नृत्य का वर्णन मैनें पहले ही कर दिया है। इसके अलावा इनमें गोरखा समुदाय और गढ़वाली समुदाय के बीच के युद्ध का भी अनुक्रम संगीत के माध्यम से दिखाया जाता है। उत्तराखण्ड में एक समय पर गोरखा राजाओं का शासन था जो कि मूल रूप से नेपाली नागरिकता के थे। इन्हीं गोरखाओं और गढ़वाली समुदाय के लोगों के बीच एक युद्ध हुआ था जिसमें गढ़वाली समुदाय ने इन पर विजय प्राप्त की थी और इनके शासन से खुद को आज़ाद किया था। इसी युद्ध के दौरान जो

तलवारें, शस्त्र आदि जंगलों में पाए गये, उन्हीं अस्त्र-शस्त्र को मंदिर में संभाल कर रख दिया गया। कुछ गोरखा जो अपनी जान बचा पाए उन्हें गाँव के ही कुछ लोगों ने अपने घरों में शरण दी तथा उन्हें छुपा दिया। इसी अनुक्रम का मंचन 'रम्माण' मेले में किया जाता है जहाँ लाल परिधान के दो लोग गोरखा समुदाय का प्रतिनिधित्व करते हैं तथा सफेद पोशाक के दो लोग गढ़वाली समुदाय का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस मंचन के लिए जो गढ़वाली समुदाय के दो लोग सुनिश्चित किए जाते हैं उनमें से एक सलूर गाँव का होता है और एक डूँगरा गाँव का। इसी तरह गोरखा समुदाय के जो दो लोग सुनिश्चित किए जाते हैं उनमें भी एक डूँगरा गाँव से बनता है और दूसरा जो सलूर गाँव से बनता है वह उन्हीं परिवारों में से किसी एक का वंशज होगा जिस परिवार ने युद्ध के समय गोरखाओं को शरण दी थी। इस मंचन की अवधि एक से दो घंटे की होती है। इस युद्ध प्रदर्शन के अंत में सभी श्रोताओं पर एक प्रकार की घास फेंकी जाती है जिसका नाम पुरु घास है और इसका बोटेनिकल नाम Cyathula Tomentosa है। काँटेदार घास होने के साथ-साथ यह घास अच्छी फसलों के लिए, बेहद खतरनाक होती है। 'रम्माण' का मेला शुरू होने से पहले इस घास को भारी मात्रा में पूरे गाँव के खेत-खलियानों से निकाला जाता है तथा इस मल युद्ध के खत्म होने के पश्चात सभी के ऊपर इसे फेंका जाता है जिसे देवी-देवताओं के आर्शीवाद के रूप में माना जाता है। इस तरह 'रम्माण' का मेला पर्यावरण से भी जुड़ा हुआ है।

इस मेले में गायन-वादन नृत्य की प्रधानता है। वादन में ढोल-डमाऊ, भौंकरे तथा मंजीरे का प्रयोग किया जाता है। 'रम्माण' के ऊपर एक पूरी डॉक्यूमेंट्री UNESCO ने तैयार की है जो UNESCO के यूट्यूब चैनल पर उपलब्ध है। डॉक्टर कुशल भंडारी तथा डॉ डी. के. पुरोहित जी ने कुछ अन्य महत्वपूर्ण लोगों के साथ मिलकर 'रम्माण' को पूरी दुनिया के कोने तक पहुंचाने का भरपूर प्रयास किया और UNESCO के ज़रिये उस प्रयास में काफी हद तक सफल रहे। इस कार्यक्रम का आयोजन हर साल सलूर-डूँगरा गाँव के लोगों की धार्मिक धारणाओं तथा मनोरंजन के लिए किया जाता था और आज इस कार्यक्रम ने एक 13-14 दिन के मेले का रूप ले लिया है और देश-विदेश से लोग इस मेले को देखने आते हैं। वर्तमान में यह मेला UNESCO द्वारा फंड किया जाता है और बहुत ही बड़े स्तर पर आयोजित किया जाता है। रम्माण को UNESCO की तरफ से 2 अक्टूबर 2009 में विश्व सांस्कृतिक धरोहर घोषितकिया जा चुका है। ''इंदिरा गाँधी कला केंद्र' के सहयोग से राम कथा, महाभारत तथा कृष्ण लीला के अंश को शामिल करने के साथ ही नरसिंह अवतार, गोरखा आक्रमण, तिब्बत व्यापार, कत्यूरी राजवंश और हास्य नाटिकाओं का समावेश भी रम्माण में किया जाता है।''

1. भंडारी कुशल, साक्षात्कार, प्रिंसिपल, गवर्नमेंट इंटरमीडिएट कॉलेज
2. भंडारी कुशल, साक्षात्कार, प्रिंसिपल, गवर्नमेंट इंटरमीडिएट कॉलेज
3. अप्रैल 24, 2010, राष्ट्रीय सहारा, न्यूज आर्टिकल

"Music Tradition of Raamleela"

Dr. Ashutosh Sharma
Assistant Professor
M.P.N College, Mullana (Ambala)

"Raam Leela" usually refers to the traditional Indian dramatic enactment of the epic story of Lord Rama, known as the Ramayana. In this context, music plays a significant role in enhancing the overall experience and impact of the performance. Here's how music affects Raam Leela:

Emotional Depth: Music helps convey the emotions and sentiments of the characters and situations in the Raam Leela. The use of different ragas (melodic modes) and rhythms can evoke specific moods, making the story more emotionally engaging for the audience. For instance, a joyful raga might be used during celebratory scenes, while a somber raga might accompany moments of sorrow or reflection.

Narrative Enhancement: Music aids in storytelling by creating an immersive atmosphere. It provides cues to the audience about the nature of the scenes, whether they are battle sequences, moments of love and romance, or moments of introspection. The music complements the narrative, helping the audience connect with the story on a deeper level.

Cultural Connection: Raam Leela is a cultural and religious event for many communities in India. The use of traditional musical instruments, vocal styles and compositions deepens the cultural connection and authenticity of the performance. Music becomes a bridge between the ancient narrative and the modern audience.

Aesthetic Appeal : Music adds aesthetic beauty to the performance. Well-composed music and choreographed dances enhance the visual and auditory experience, making the Raam Leela visually captivating and melodically pleasing.

Devotional Aspect : The Ramayana has strong religious significance, and music can enhance the devotional aspect of the performance. Bhajans (devotional songs) and chants dedicated to Lord Rama and other deities can invoke a sense of reverence and spirituality among the performers and the audience.

Rhythmic Elements : Music often incorporates rhythmic patterns and beats that synchronize with the actions and movements on stage. This rhythmic coordination adds dynamism to the performance, especially during action sequences, dance sequences, or dialogues.

Cultural Preservation : Music in Raam Leela helps preserve and transmit cultural and religious values from one generation to another. It serves as a means of passing down ancient stories, traditions,

and values through an engaging and entertaining medium.

Audience Engagement : Music has the power to captivate the audience's attention and hold it throughout the performance. Catchy tunes, rhythmic patterns, and emotional melodies make the Raam Leela more engaging, ensuring that the audience remains invested in the unfolding story.

Ram leela or Ram Katha Tradition is a big part of the Hindu culture in the Indian cities of Ayodhya, Varanasi, Vrindavan in Uttar Pradesh, Almora in Uttarakhand, Satna in Madhya Pradesh and Madhubani in Bihar. The Ramlila festivities were declared by UNESCO as one of the "Intangible Cultural Heritage of Humanity" in 2008.[1]

Ram leela (also Ramlila) is at the forefront of all performing arts in India. We say this because Ram leela, the dramatic folk re-enactment of the life of Rama, is a mega event that takes place for 10-30 days in many parts of India during the annual festival of Navratri.

During the 10 days of festivities, various Rama-related plays are enacted, all as a part of Ram leela, in many places across villages, towns and cities, especially in North India.

While most of these Ram leelas follow the traditional lines from Ramcharitramanas, a rendition of the epic Ramayana, penned by Tulsidas, there are others where the dialogues are written and delivered in Khadi Boli, a regional dialect.

Ramlila is a compound of Sanskrit words "Rama" (seventh Vishnu avatar) and "Lila" (play) meaning Rama's play.

Since ramlila involves the very play, so there are elements through which play takes place.

- **First of element is Dialogue :** used in the form of Chaupaiys - quatrain verse of Indian poetry.
- **Second is Acting :** Usually, the actors in Ramleela are multi-talented while acting they have sung with coordinating it with the taals which is still considered as the most complicated in the field of theatre
- **Third of element if Set-Up:** Traditionally organised in a makeshift open-air theatre at night, it is usually staged by amateur acting teams drawn from all segments of the society
- **Fourth states the central element involving Music :** Singers and musicians, men and women, elderly and youth play different parts, sing the verses to music, recite dialogues

Ram lilla or 'The Story based on the life of Lord Rama', is a performance of then Ramayana epic in a series of scenes that include song, narration, recital and dialogue. It's a text which deals with some very important lessons for the modern society, but the rich text when performed with-auditory and visual ways,then it enhances the message conveyed to us receivers. Also it induces the emotional aspect through Music.

For instances, at the end of each episode, lila, an aarti is performed, chants of 'Har Har Mahadev' or 'Bolo! Raja Ramchandra ki Jai!' resound in the air, as the audience join in. Thereafter, a jhanki, literally a peep or glimpse, tableaux of frozen iconic moments from the 'Manas', is presented, which not only distill and crystallise the message of the story for the audience but is also appreciated for its spectacular effect.[2] so this clearly signifies the Musical effects in Ramleela.

Music and different moods depicted in Ramleela :

The Ramayana is constantly recited with its verses accompanied by dance and pleasant music. Hence it signifies that various moods are projected through Music, in Ramleela

Uday Shankar had developed a musical rendition of the 'katha' in the Almora or Kumaon style, which was developed further by Brijendra Lal Sah and Mohan Upreti. Certain couplets of Rama-charitamanas are sung in chorus, apart from reciting them aloud. This is known as the 'opera style' of presenting Ramlila. Professional troupes known as 'Mandalis' perform the acts of Ramlila. So this can be interpreted as a powerful form of team making and it evoke the sense of spirituality through musical element in the play.

Ramlila in Abroad :

Ramlila has developed into a well appreciated art form which has conquered the furthest corners of the world. It is also immensely popular in countries like Nepal, Australia, United States, Mauritius, Pakistan, Netherlands, Canada, Fiji, South Africa, Guyana, Trinidad and Tobaggo and Great Britain. Here, it comes about hitting the conscious and even sub-conscious of international Indians and even foreigners, hereby Music can serve as a great tool as it can be an alternative to Language, so Musicality can tune the audience over seas into emotionality and spirituality with keeping the ramleela's interpretation as it as, further adding more positive effects. Musicians and 'Dhol' drummers also participate in this Ramlila. This generates a semi employment medium for them.

Sometimes the sarangi and harmonium are also used for generating music and the dholak also provides the additional rhythm. An important element of Nautanki is satire and also used for the same purpose. Many times the Nautanki artistes are from those families, who have been in this profession for generations. Most of them are illiterate, though a number of professional singers have also joined Nautanki mandlis.[3] Music plays a very important role to discover and expose the various layers of meaning and provide a new dimension to theatrical reality in essence.

In summary, music is an integral component of Raam Leela, enriching the narrative, emotional depth, cultural significance and overall experience of this traditional performance. It serves as a powerful tool to connect the audience with the essence of the Ramayana and the cultural heritage it represents.

Foot Notes :

1. https://en.wikipedia.org/wiki/UNESCO
2. (Ramlila of Ramanagar The future of ritual: writings on culture and performance, by Richard Schechner. Published by Routledge, 1993. ISBN 0-415-04689-0. Page 169.)
3. https://www.indianetzone.com/18/nautanki_uttar_pradesh.htm

New Experimentation in Modern Theatre

Dr. Gaveesh
Assistant Professor, Department of Music
Guru Nanak Dev University, Amritsar, Punjab

Introduction :

It's estimated that theatre began in the 6th century B.C. in Ancient Greece. One of the first recorded elements of the theater and acting comes from 534 or 535 B.C. In the 5th century, playwrights began to innovate as they added more actors to the stage.[1] In earlier times the theatre was quite confined. But slowly it began to expand its horizons in every direction. Various innovations were taken place time to time in theatre worldwide. Almost every Aspect including proscenium, Set design, Background, Costumes, Auditoriums, Mic systems, Music, Lighting etc. underwent tremendous change. Lot of experimentation is happening around us in theatre. Author has the privilege to share some of them briefly in this research paper.

Stage & Set design :

From the early days of painted backdrops and simple props to today's intricate and high-tech stage setups, the art of stage design has evolved tremendously. In its metamorphosis, the stage has become a pivotal character in every Broadway production, silent yet expressive, static yet dynamic.[2] Earlier there were directors and actors only in theatre. But now we see set designers in theatre as well. Their job is to design the set as per requirements of the director. Lot of experimentation in the making of sets and props is going on these days. Technology has entered into set designing. During his interview theatre artist Mr. Preetpal Rupana (National School of Drama) told the author that in recent play 'Hayavadana' (Girish Karnad), directed by Neelam Man Singh there was a totally different concept of set making was used. In this play a truck was installed on stage and the actors build the set from the things kept in the truck according to the scene. In another example, 'The Money Opera' by Amitesh Grover premiered at Serendipity Arts Festival Goa in December 2022, a full 5 story building was used for play. All the floors were engaged with Acting and sitting.[3] Asim Waqif was scenographer and Anindya Roy was set designer. This play was totally a new concept in India. In his interview Prof. Suresh Bhardwaj (NSD, New Delhi) told the author that these days artists are very creative. He told that in play 'Saag Meet' famous actress Seema Bhargav used the kitchen utensils and other household items as props and interestingly she cooked that dish on the stage and served to the audience after the play, which is unique.[4]

Modern technology has made it easier for theaters to upgrade the visual appeal of their productions and accomplish a variety of tasks. Through automation and 3D printing, sets can be constructed faster, contain more detail and pull viewers deeper into the setting and story. Additionally, new technology allows theatrical productions to incorporate video and other multimedia into their performance. Whether it be video backdrops that enhance a set with images of fog, clouds or rain or videos to aid a one-man show by showing relevant clips, video technology adds an extra dimension and gives set designers more to play with while crafting productions.[5] Digital and augmented reality (AR) technology in stage design did wonders in this field. The digital realm has opened up endless possibilities, allowing designers to weave complex narratives and create spellbinding visuals. Through the use of projection mapping and AR, stage designers can construct detailed worlds that offer immersive experiences for the audience.[6]

Lighting :

Early theatrical productions in Greece and Rome were staged in theaters that faced east to west to improve the lighting on the stage. This design made it so that plays could be put on in the afternoon, with the sunlight hitting the actors but not those seated in the orchestra section. In the 19th century, limelight transformed the stage, as it could be directed using lenses and reflectors. Limelight was eventually replaced in the 20th century by electrical lighting that has continued to develop into the modern lighting systems we see today. Today's lighting is often operated using a digital light board that can control hundreds of lights that go into a production.[7] DMX (Digital Multiplex) lighting technology did a wonderful job and totally overhauled the lighting system in theatre.[8] The growing capabilities of LED lights and electrical systems make it much easier for the modern theater to utilize specialized lighting systems. Instead of simply lighting the stage, modern technology can alter the intensity, pattern and color of lights with the press of a button or turn of a dial.[9] Mr. Preetpal Rupana told that with time profile, PC and Fresnel lights fade away with time and PAR, LED lights took their place. These days all type of theatre use PAR and LED lighting system. Next are Rolling Head, Projection Lights which are used in high budget plays. Generally light designers use various types of lights for different purposes. They use specific background lights, specific projection lights. There are special Digital consoles to control these light system. These Consoles are very sophisticated and Hi-Tech which give amazing results. These have immense capability to enhance the emotions and scene beauty according to the dialogues and requirements of the play.[10]

Sound and Audibility :

Earlier there were special training sessions for actors regarding dialogue delivery. Actors were told to speak so load that their voice must reach to the last row of the audience. But now the scenario has changed a lot. Now we have very scientifically designed prosceniums where a whisper reaches to the last row. These days laws of physics, Sound propagation like Reverberation and Echo are taken into account while making Prosceniums so that sound should reach the audience with

precision. The material used in making auditoriums is specially designed which treats sound in such a manner that it got travelled to audience without any problem and it enhances the audio quality of music and dialogues during the stage play. Secondly in modern theatre, director never direct his actors to shout and compromise with emotional content, instead he directs his actors to speak with their natural tone maintaining proper feelings and emotions. For this purpose modern mic system did its job very well. There are Omni directional microphones which catch voice from each direction. For greater mobility, Lapel Microphones are there which gives freedom to the artist to move anywhere on the stage. Companies like Shure, Sennheiser, Rode and Neumann etc. provided great mic systems to us for crystal clear sound quality. Instead of using handheld mics or those placed on the ground, performers can wear tiny mics as flesh-colored headsets or even hidden in their hair to give high-quality sound without the distraction of a visible microphone. Modern speaker systems have given theatres the ability to have one person direct all a production's sound and hone each element to perfection. Through a mixing desk, a sound operator can control the level of an actor's mic and play sound effects at the appropriate times, along with controlling any music the production utilizes.[11] There are various experiments are going on with sound effects and music as well. Earlier generally the sounds and music was live. But now there are lot of new trends. In his interview Devender Lekhi a famous TV and Stage artist told the author that during the play 'All my sons' performed at Naat-Shala Amritsar Sound Designer did wonderfully well. He used Laptop to play pre-recorded sound tracks for background music and special effects. He used his Synthesizer to play some melodies and chords to enhance the mood of the scene, did some Alaps, humming and sang songs live.[12] Downloaded sounds, background music tracks & computer generated special sounds are widely used in theatre these days. These all add emotional content to the play and increases the interest of the audience.

Conclusion :

Hence we see a great extent of experimentation in every aspect of Theatre. This has revolutionized stage design, enabling designers to create more dynamic, intricate, and immersive environments. This includes the use of automation for complex set changes, sophisticated lighting systems for enhanced mood-setting, Precise Microphones, high-definition sound systems for improved audio, and the incorporation of digital elements like projections and even virtual reality. These have changed the whole scenario of modern theatre. As rightly said change is the only constant and experimentation is pre requisite for growth and development in every field, but at the same time this must be insured that the basic laws of theatre should not be compromised during the process of modernization & experimentation.

References :

1. https://illuminated-integration.com/blog/how-technology-has-changed-theater/
2. https://www.broadwayseats.org/guides/stage-design-in-broadway-shows/
3. Interview with Theatre Artist & Teacher Mr. Preetpal Rupana from NSD, Delhi

4. Interview with Theatre Artist & Teacher Prof. Suresh Bhardwaj from NSD, Delhi
5. https://illuminated-integration.com/blog/how-technology-has-changed-theater/
6. https://www.broadwayseats.org/guides/stage-design-in-broadway-shows/
7. https://illuminated-integration.com/blog/how-technology-has-changed-theater/
8. Interview with Theatre Artist & Teacher Prof. Suresh Bhardwaj from NSD, Delhi
9. https://illuminated-integration.com/blog/how-technology-has-changed-theater/
10. Interview with Theatre Artist & Teacher Mr. Preetpal Rupana from NSD, Delhi
11. https://illuminated-integration.com/blog/how-technology-has-changed-theater/
12. Interview with TV Artist and Teacher Mr. Devender Lekhi, Jalandhar, Punjab

Nautch Girls of Kashmir during the Dogra Period (1846-1947)

Dr. Javid Ahmad Moochi
(CAS, Dept., of History),
Aligarh Muslim University, Aligarh, U.P.

Ancient society of Kashmir was characterised by singing, dancing, and dramatic performances. Dancers and singers swarmed every court and temple.[1] Even the institution of *Devdasi*[2] appears to have originated in India and Kashmir (seems to be an early practice in India as well as in Kashmir).[3] The Chinese pilgrim Huein Tsang, who visited India in the seventh century, testifies to the existence of a well established institution of temple dancers.[4] A passage from *Rajtarangini* suggests that during the reign of Durlabhaka Pratapaditya II,[5] the system of dedicating girls to temples for dancing was prevalent in Kashmir. But, sometimes the girls who served in the temples could be taken away for personal enjoyment by the Kings.[6]

Dancing or *Nautch* Girls :

From *Rajtarangni* we learn that Kings were free to marry *Devdasis*. Several of the maiden singers were so beloved to kings that they eventually raised to the rank of queens. For example, Ranga and Hamsi, the famous *Domba* singer, became the queen of Chakravarman (936-937), and the legendary King Harsha was himself a dance expert.[7] With the advent of Islam although *devdasi* institution disintegrated but dancing remained an important component of royal entertainment under the Sultans and Mughals. The institution of *Nautch* Girls was exclusively the state monopoly during the period.

It had been the practice of Sikhs as well as afghan rulers to spend nights in company of the *Nautch* girls enjoying their music and dance. In many colonial accounts we find references to the troupe of professional *Nautch* girls of Srinagar. Diwan Kripa Ram, one of the Sikh governors of Kashmir was always accompanied by a company of dancing girls and his State barge was always paddled by women.[8] Commenting on the sad plight of *Nautch* Girls Hugel writes:

> *"These poor creatures are doomed to a hard fate, they are not allowed either to sing or dance without permission, and if they get this, an officer of the government always accompanies them, who grasps, whatever they received".*[9]

There is a fascinating description given by Lt. Col. Torrens (1860), of a *Nautch* by Kashmiri girls in the picturesque

Shalimar Garden at Srinagar. The author was enchanted by the beauty of Shalimar, the queen of gardens, which he felt should be visited at night, by the pale of moonlight when it is properly bedecked with torches, and crowned with lamps. Then "the proper thing to do is to give orders for the *nautch* at Shalimar." Apart from the beauty of the Shalimar garden, Torrens was enchanted with the dancing and singing of the charming Kashmiri *Nautch* girls whom he considered 'vastly superior' to what he had seen elsewhere.[10] William Simpson, a renowned professional artist, was another eyewitness to a similar performance in Shalimar Gardens. He was so spellbound by the sight of nautch girls dancing by torchlight that he describes it as "the sweet delusion of a never to be forgotten night." nevertheless, during the Dogra period dancing or *Nautch* was confined to low origin women and no respectable person Hindu or Muslim would dream of allowing his women folk to perform in public as seclusion of the upper class women was the rule and the singing and dancing art was considered unfit for girls of upper classes.[11]

The poor "*nautch* girls" of Kashmir were reduced to the status of "slave-girls" right from the Sikh period. However, the change in fortune of dancing girls-from a position of cultural authority, if not main-stream respectability, to one of margina-lization and infamy-can be traced to Dogra rule, when the Dogra rulers discontinued patronizing the *nautch* and increasingly defined dancing girls as prostitutes. Thus, the profession that was once patronised by rulers of their era and regarded as an ancient cultural heritage[12] began to lose significance during the Dogra reign, as the state no longer patronises it and it has developed into an assertive source of revenue. As a result sometime.

According to Prem Nath Bazaz, when Maharaja Ranbir Singh's rule began, Kashmiri women had lost everything for which they had been renowned in the past.[13] Destiny conspired against these poor daughters in such a way that if an exquisite girl with attractive features and a shapely body was born, their parents could sell them as dancing girls.

The river folk (*Hanjis*) of the Jhelum were traditionally associated with a particular gypsy tribe that supplied the prettiest *Nautch* girls in India to "troll the tongue and roll the eye",[14] despite the fact that the majority of them ended their lives in brothels.[15] For instance, the most celebrated dancing girl from the court of Maharaja Ranjeet Singh of Punjab was *Kamal* called 'Lotus' by W. G. Osborne, who visited Lahore in 1838. The Maharaja had received her with the tribute from Kashmir.[16] These dancing girls wore simple clothing, as they were the property of a certain class of people in the district, who purchased them during their childhood and trained them for a harsh and ignoble life.[17] When one of them asked if she desired to leave their lord, she stated that she did not, as she had been sold as a child. She had never known her parents love, and if she escaped, she would have no home, no family to claim her or whom she could claim, and if she left the current lord, she would undoubtedly fall into the hands of the other powers.

Dr. Wakefield, a British visitor to Kashmir in 1875, writes 'that after leaving *Atchabal*,[18] we arrived at an old tumbled village called *Shangus*,[19] which was celebrated in the farmer's days as containing

a colony of *Nautch* girls renowned for their beauty and talent, but which has no representatives on this spot at the present time, the family apparently having died out or migrated to another locality'.[20] The singing, dancing and the beauty of the *nautch* women from this village was renowned all over the valley. The most famous among these dancers was a woman named Lyli. Initially known as *Hafiza*, these dancing girls gained popularity among both the upper and lower classes in medieval times.[21] However there is a prima facie evidence about the term *Hafiza* was a later interpolation in Kashmiri music and dance history. To recapitulate, besides male singers, there were female singers & dancers from ancient-medieval times down to the present times in Kashmir.[22]

Amir Khan Jawan Sher (1770–1776 C.E.) was one of the Afghan governors who maintained a large troupe of dancing girls who used to sing and dance in the *Farhat* Garden on the banks of Dal Lake on government expense.[23] During the period under survey there happened to be professional musical clubs for aristocracy and feudal elites run by brokers and prostitutes. One such centre was in *Anantnag* district of Kashmir near famous *Achabal* mughal garden where a small garden is still remembered after the name of the lady manager of that centre.[24] Their main source of income was, however, performances in government parties. They were also seen at Dogra Darbars and festivals which the Maharajas held at different places of Jammu and Kashmir.

The government had kept a close eye on these *Nautch* girls during the Dogra Period. Some of the dancing girls had to pay 80-100 *Chilkee* Rupees a year towards the Dogra Government.[25] Sometimes as a mark of hospitality Dogra rulers often made presents of *nautch* girls for the amusement of their distinguished English guests. They were enslaved individuals who were unable to sing or dance without the permission of their overseer, to whom they were required to resign a substantial portion of their earnings. With time, and as a result of the authorities' heavy taxation, they were forced to either abandon the profession or lean toward prostitution. In this context Robert Throp in his work *Kashmir Misgovernment* mentions:

> *"Each Nautch Girl dances in the service of Dogra rulers; every cajolery she bestows on her admirers, every gift she extorts from their liberality, is for the benefit of the Dogra Government".*

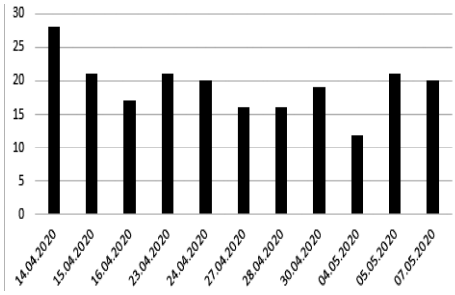

Travelling band of musicians with Kashmiri Dancing Girl.

***(Source: In the land of Kashmir, Ladakh and Gilgit*, R. C. Arora)**

Conclusion :

To conclude, it can be said that the *nautch* girls were an integral part of Kashmiri society and culture. They were in existence from the early times till the mid nineteenth century. Apart from their important social and political influence on the Kings and Princes, the Kashmiri society had also reflected their cultural

contribution. Though, *Hafazas* and *Nautch* girls are no-longer to be found in Kashmir, their graceful skill in dancing and peculiarly melodious voices are still within the living memory of many old men of this valley.

References :

1. F. M. Hassnain, *Hindu Kashmir*, Light and Life Publishers, New Delhi, 1977, p. 136.
2. Girls dedicated to Temples for Dancing.
3. Dr. Sunil Chandra Ray, *Early History and Culture of Kashmir*, Indian Museum Calcutta, 1957, p. 99.
4. Pran Nevile, *Nautch Girls of the Raj*, Penguin Books, India, 2009, p.11.
5. Kalhana, *Rajatarangi*, Vol., I, English Transl., M. A. Stein, Motilal Banarsidas, Delhi, 1900, p. 123.
6. Dr. Sunil Chandra Ray, *Early History and Culture of Kashmir*, p. 99.
7. Kalhana, *Rajatarangi*, Vol., I, pp. 226-227.
8. G. T. Vigne, *Travels in Kashmir Ladak, Iskardo*, II Ed., Vol., II, Henry Colburn, London, 1844, pp. 74-75.
9. Baron Charles Hugel, *Travels in Kashmir and the Punjab*, John Peteram, London, 1845, p. 146.
10. Col. Torrens, *Travels in Ladakh, Tartary and Kashmir*, Marlborough Street, London, 1860, p. 302.
11. Mohammad Ishaq Khan, *History of Srinagar 1846-1947, A Study in Socio-Cultural Change,* Aamir Publications, Srinagar, 1978, p 96-97.
12. Srivara, *Zaina Rajatarangini*, Transl., Kashi Nath Dhar, Indian Council of Historical Research and People's Publishing House, New Delhi, 1994, p. 102.
13. Prem Nath Bazaz, *Daughters of the Vitasta*: *A History of Kashmiri Women from Early times to the Present Day*, Pamposh Pablications, New Delhi, p. 196.
14. James Milne, *the Road to Kashmir*, Hodder and Stoughton, London, 1929, p. 125.
15. Pearce Gervis, *This is Kashmir*, Cassell & Company Ltd., London, 1954, p. 268.
16. Pran Nevile, *Nautch Girls of the Raj*, p. 95.
17. Baron Erich Von Schonberg, *Travels in India and Kashmir*, Vol. II, Great Marlborough Street, London, 1853, p. 62.
18. A small Mughal Garden located in *Anantnag* district of Kashmir.
19. A small village in district *Ananatnag*.
20. G.T. Vinge, *Travels in Kashmir Ladak, Iskardo*, II Ed., Vol., II, p. 349.
21. P. N. K. Bamzai, *A History of Kashmir Political, Social, Cultural from the Earliest to the Present Day*, III Ed., Gulshan Books, Srinagar, 2008, pp. 570-71.
22. Greater Kashmir, *Music and Dance of Kashmir: A Historical Perspective* by M. J. Aslam, 26 Aug., 2022.
23. P. N. K. Bamzai, *A History of Kashmir Political, Social, Cultural from the Earliest to the Present Day*.
24. Farooq Ahmad Bhat, *Kashmiri Society as Reflected in Folk Literature (1819-1947)*, Ph.D. Thesis (unpublished) Submitted to the Department of History, University of Kashmir, Srinagar, 1999, p. 216.
25. Thorp, Robert, *Kashmir Misgovernment*, ed. by F. M. Hassnain, Gulshan Books, Srinagar, 1980, p. 72. Also see, Lala Ganeshi Lala, *Siyahat-e-Kashmir (Kashmir Nama or Tarikh-i-Kashmir) Being an Account of Journey to Kashmir, Manograph No. 4*, Eng., Trans., by Vidya Sagar Suri, The Punjab Government Publication, Shimla, 1955, pp. 35-36.

चित्रकूट की रामलीला

डॉ० ज्योति विश्वकर्मा
सहायक आचार्या, संगीत विभाग (गायन),
जगद्गुरु रामभद्राचार्य दिव्यांग राज्य विश्वविद्यालय, चित्रकूट

गिरिजा सुनहु राम की लीला।
सुर हित दनुज विमोहन शीला॥

कवि कुलगुरु महाकवि प्रकृष्ट प्रबंधन प्रणेता अभिनव वाल्मीकि गोस्वामी तुलसीदास जी ने श्रीरामचरितमानस में मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम की लीलाओं का एक ऐसा उदात्त वर्णन प्रस्तुत किया है जिसका कोई उपमान नहीं बन पाता। गोस्वामी जी ने श्रीराम लीला को अभिनय का रूप भी दिया। उन्होंने अपनी रामचरित मानस में लिखित चौपाइयों के आधार पर राम लीला का मंचन भी करवाया। गोस्वामी तुलसीदास जी ने दो स्थानों पर राम लीला का मंचन कराया था। प्रथम वाराणसी के राम नगर में द्वितीय चित्रकूट में। दोनों में उन्होंने व्यास पद्धति बनाई। एक व्यास रामचरितमानस की चौपाइयां गाकर के पढ़ता जाता और उन्हीं चौपाइयों का अनुसरण करके भिन्न-भिन्न युवक या बालक श्रीराम लीलाओं का अभिनय करते थे। यह उनकी परंपरा थी। व्यास मानस जी की चौपाइयों के गायन में लोक धुनों के साथ-साथ शास्त्रीय रागों का भी समावेश होता था। उन्होंने अपने पात्रों के चयन में भी प्रायः नारी पात्र नहीं रखा और छोटे बालकों को ही भिन्न-भिन्न पात्रों की भूमिका दी। जैसे श्रीराम, श्री लक्ष्मण, श्री भरत, श्री शत्रुघ्न, सीता जी, हनुमान जी राक्षस पात्र में रावन आदि। इनके अभिनय गोस्वामी जी की राम लीला में बालक ही करते रहे हैं। उन बालकों में भी ब्राह्मण बालकों को ही उन्होंने अभिनय करने की व्यवस्था दी। गोस्वामी जी की राम लीला में जो भगवान् राम का अभिनय करता था उसे भगवत स्वरूप ही माना जाता था। आज भी वही होता है। राम लीला के प्रारम्भ और अंत में श्रीराम, लक्ष्मण, सीता जी की आरती होती है और उसी पूज्य भाव से उन्हें देखा भी जाता है। राम नगर की लीला में लगभग एक महीने लीला चलती है और वहां भिन्न-भिन्न लीलाओं के लिए भिन्न-भिन्न स्थान निश्चित किये गए हैं क्योंकि राम नगर का परिसर बड़ा है। यहाँ की राम लीला काशी महाराज के निर्देशन में चलती है इसलिए वहां श्री अयोध्या की लीला अलग स्थान पर होती है, मिथिला की लीला अलग स्थान पर होती है और इसी प्रकार लंका, किष्किन्धा एवं पंचवटी की लीला भी अलग-अलग स्थानों पर होती है। श्री चित्रकूट में उन्होंने जो राम लीला प्रारंभ की वो किसी राज सत्ता के आधार पर नहीं चलाई जा रही थी। उसका नेत्रित्व निश्किंचन साधू-संतों के द्वारा किया जाता था। उनके पास तो इतना धन होता नहीं था इसलिए वे न्यायआर्जित धन के आधार पर सात्विकता से राम लीला की व्यवस्था करते थे। चित्रकूट की राम लीला खुले आकाश में होती है। अश्विन के शुक्ल पक्ष में इस का आयोजन होता है। यह राम लीला सामान्यतः चित्रकूट में कर्वी के पास शंकर बाजार में राम लीला होती है। चित्रकूट की राम लीला में व्यर्थ के नृत्य नहीं होते थे। कोई अभद्र चर्चा नहीं होती थी। मादक पदार्थों का सेवन भी वर्जित था। दर्शकों

को निषेध होता था कि वे ठिठोली न करें और भक्ति भाव से देखें। भगवान् श्रीराम और उनके परिकरों के उसी प्रकार से आभूषण, वस्त्र, धनुष-बाण आदि उपकरणों की व्यवस्था होती थी। चूंकि गोस्वामी तुलसीदास जी की मान्यता में 15 वर्ष से अधिक का व्यक्ति राम लीला में भाग नहीं ले सकता था। जो शुद्ध होता था बालक उसी को यह दायित्व दिया जाता था। इसीलिए उनकी राम लीला के पात्र सभी के सभी बालक ही होते थे।

गायन में भी गोस्वामी जी ने अपने रामचरितमानस की चौपाइयों को कहीं सोरठा, कहीं दोहा, कहीं छंद को ही चुना। राग में भी गोस्वामी तुलसीदास जी देस, बिहाग, केदार, मालकौंस, चंद्रकौंस, दुर्गा, हमीर आदि प्रसिद्द रागों का आलंबन लेते रहे हैं। गोस्वामी जी की दृष्टि में राम लीला मनोरंजन नहीं था, वहां ये परमात्मा की सेवा थी। इसलिए वहां पवित्रता का बहुत ध्यान रखा गया था और पवित्रता के साथ किसी प्रकार का समझौता नहीं था। कहीं-कहीं गोस्वामी जी ने लोक धुन को भी राम लीला की परंपरा में जोड़ा। जैसे -

अहह धन्य लक्ष्मण बडभागी।
राम पदारबिंद अनुरागी।।

कहीं लोक की भावनाओं का अनुगमन करते हुए गोस्वामी जी ने रागों को कोई वरीयता नहीं दी। यथा -

आगे चले बहुरि रघुराया ।
ऋष्यमूक पर्बत नियराय।।

तहँ रह सचिव सहित सुग्रीवा।
आवत देखि अतुल बल सींवा।।

और कहीं तो गोस्वामी जी ने अपनी मौलिकता के आधार पर शुद्ध ग्राम्य भावनाओं का समावेश करते हुए ऐसी-ऐसी धुनियाँ प्रकट की जिनका राग से सामंजस्य जल्दी नहीं हो पाटा। जैसे-

रावन रथी बिरथ रघुवीरा।
हे मोरे रामा हो।
देखि विभीसण भयउ अधीरा।।
हे मोरे रामा हो।

इसी प्रकार लोक धुनों में गोस्वामी जी जब चौपाई गाते और गवाते हैं तो लगता है साक्षात भगवान् श्रीराम का मन में अवतरण हो गया और कलि वहां से भाग गया। गोस्वामी जी की राम लीला में दो जनश्रुतियां बहुत प्रमाणिकता से सुनी जाती हैं। प्रथम है राम नगर की राम लीला के सम्बन्ध में द्वितीय है चित्रकूट की राम लीला के सम्बन्ध में। राम नगर की राम लीला में कहा जाता है कि एक बार राम लीला हो रही थी तो वहां एक महात्मा उपस्थित हुए जो परम सिद्ध थे। उनके मन में मनोरथ था की राम नगर की राम लीला में जब भगवान् राम जी की आरती होगी तो मुझे बुलाएंगे। वे एकांत में झुरमुट में जाकर रो रहे थे। उन संत का नाम था प्रेम लता जी महाराज। संयोग से जब राम लीला की आरती का प्रारम्भ हुआ, यद्यपि सामान्यतः उनको एक सामान्य साधक माना जा रहा था। पर ये रो रहे थे की राघव जी मुझे बुला लें। आरती प्रारंभ हुई तो तुरंत उस प्राकृत बालक में भगवान् राम का आवेश आ गया और बालक ने कह दिया राम जी के रूप में कि महाराज, आपके पीछे झुरमुट में एक संत मेरे लिए रो रहे हैं। उनको ले आइये और उनके दर्शन के पश्चात ही आरती कराइए। जाकर ढूंढ करके उनको लाया गया और प्रेमलता जी का दर्शन करके सारी व्यवधान की परिस्थिति समाप्त हो गयी और आरती यथावत चली।

एक घटना राम लीला में और भी देखी जाती है वह है चित्रकूट की और यह कथा परंपरा से चली आ रही है की जब राम लीला का प्रारम्भ हुआ तो अंग्रेजों ने कहा की हम हनुमान जी को तभी मानेंगे जब वे एक छलांग में राघव प्रयाग से स्फटिक शिला तक चले जाएं। संत रोने लगे।संतों ने कहा कि हनुमान जी आज लाज रख लीजिये। हनुमान जी ने लाज राखी और जो बालक हनुमान जी का अभिनय कर रहा था, वह एक छलांग में ही राघव प्रयाग से स्फटिक शिला पर जाकर गिरा।

दूसरी घटना गोदर दास जी के अखाडे में राम लीला होती थी। वहां एक रावन का पुतला बनाया गया था जिसमें दस मुख थे। जब राम लीला होती थी उसे देखकर हनुमान धारा के हनुमान जी से गर्जना का स्वर सुनाई पड़ता था जिसे प्रत्यक्ष सभी साधुओं ने सुना। तब सभी साधुओं ने निर्णय लिया की इस भयावह वातावरण में हम जी कैसे सकेंगे। इसी गोदर दास के अखाडे में जो दस मुख का रावन बना है उसका एक सिर तोड़ दिया गया। आज भी प्रत्यक्ष प्रमाण है। तब से अब हनुमान धरा के हनुमान जी का स्वर वहां नहीं सुनाई पड़ता।

तीसरी घटना जगद्गुरु रामानंदाचार्य स्वामी रामभद्राचार्य जी के सामने की है। उसके साक्षी वे स्वयं हैं। प्रमोद वन में राम लीला चल रही थी। राज्याभिषेक का प्रकरण आया तो उन्हें आहूत किया गया। किसी भी प्रकार उन्हें यह आग्रह किया जा रहा था कि इस राम लीला में वे वशिष्ठ जी की भूमिका निभा दें। वे बार-बार मना करते रहे क्योंकि वे यह जानते थे की वे वशिष्ठ जी की भूमिका निभाएंगे तो अभिनय कर रहे बालक में निश्चित रूप से श्रीराम जी का आवेश आ जाएगा। प्राकृत जीव श्रीराम का आवेश नहीं सह सकेगा। कहीं अनर्थ हो जाए तो अच्छा नहीं होगा। परन्तु उनकी बड़ी बहन (जिन्हें हम सब बुआ जी कहकर पुकारते थे) उन्होंने कहा कि गुरु जी आप वशिष्ठ की भूमिका निभा दीजिये। वे प्रत्यक्ष प्रमाण है कि उन्होंने पूर्ण वशित के भाव में आकर उन्होंने श्रीराम जी का अभिनय कर रहे बालक का तिलक कर दिया। उस बालक में राम जी का आवेश आ गया और वह बालक मूर्छित हो गया। वह 24 घंटे तक मूर्छित रहा। इसके पश्चात जब जगद्गुरु जी ने प्रार्थना की तब वह उठा और प्रकृष्ठ हो गया। इस घटना से सारा जनमानस भावुक हो गया। इस उद्धरण का यह तात्पर्य है की चित्रकूट की लीला में आज भी यदि ठीक से पवित्रता के साथ स्वयं को सहभागी बनाया जाए संयम के साथ बालक श्रीराम आदि का अभिनय करे तो आज भी भगवान् श्रीराम का या भगवती सीता का आवेश आ जाता है। यहाँ तक श्री चित्रकूट कि राम लीला में कहा जाता है कि जहाँ सीता जी के पुराने अलंकार रखे जाते थे उनको पुराना अलंकार कहा जाता था, आज भी वह पुरानी लंका के नाम से प्रसिद्द है और पुरानी लंका में ही भगवती के अलंकार रखे जाते थे। एक संत थे।जिनकी आँख रीच ले गया था। जो बालक श्री सीताजी का अभिनय कर रहा था उसमें सीता जी का आवेश आ गया और उसने जा करके महात्मा जी का भोजन बनाया। इस प्रकार चित्रकूट की राम लीला में जो अभिनय की परंपरा गोस्वामी जी ने डाली। उसके 3 पक्ष थे। भौतिक रूप से लोग देखते थे की अभिनय हो रहा है। आध्जीविक रूप से भगवान् श्री सीता-राम जी यहाँ विराजमान हैं और आध्यात्मिक दृष्टि से उस बांकी झांकी को भाव जन अपने ह्रदय में बसाते थे और लोग बसाते भी हैं। जहाँ तक संगीत का विषय है तो वहां ताल में दीपचंदी, कहरवा, दादरा आदि प्रसिद्द तालों का प्रयोग भी श्री चित्रकूट की राम लीला में होता है और देस, काफी, आसावरी, भैरवी, भैरव, भूपाली भीमपलासी आदि रागों का भी प्रयोग होता है। जिससे समय-समय पर भगवान् श्रीराम का रंजनात्मक स्वर प्रस्तुत हो जाता है। इस प्रकार चित्रकूट की राम लीला के सम्बन्ध में इतना ही कहना चाहिए की वहां प्रत्येक पुरुष पात्र होता है। वो भी बाल पुरुष पात्र होता है। वहां महिलाएं पात्र नहीं होतीं और वहां भगवान् की उपासना मान कर ही राम लीला का अभिनय होता है। ऐसी राम लीला को मेरा शत-शत प्रणाम।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :

1. Abhishek. (08 October 2019)। चित्रकूट की रामलीला है बिल्कुल अलग, रामचरित मानस नहीं राजा के लिखे संवादों पर होती लीला। jagran.com: https://www.jagran.com/uttar-pradesh/kanpur-city-ramleela-is-played-in-chitrakoot-with-dialogues-written-by-king-jagran-special-19649481.html से पुनर्प्राप्त
2. Abhishek Agnihotri. (10 October 2021)। परेड रामलीला में आज चित्रकूट भ्रमण का दृश्य होगा आकर्षक, एलइडी स्क्रीन पर मंचन का प्रसारण

- Shri Ram Chitrakoot brhaman leela will play on stage of pared. jagran.com: https://www.jagran.com/uttar-pradesh/kanpur-city-shri-ram-chitrakoot-brhaman-leela-will-play-on-stage-of-pared-ramleela-kanpur-22100387.html से पुनर्प्राप्त

3. Dipanita Nath. (11 October 2016). Fourteen years forever: The Chitrakoot Ramleela is the world's earliest known Ramleela . The Indian Express.com: https://indianexpress.com/article/lifestyle/art-and-culture/fourteen-years-forever-3071115/ से पुनर्प्राप्त

4. Dipanita Nath. (19 October 2018). The world's oldest Ramleela, started 477 years ago in Varanasi. The Indian Express.com: https://indianexpress.com/photos/lifestyle-gallery/the-worlds-oldest-ramleela-chitrakoot-ramleela-started-475-years-ago-in-varanasi-3069163/ से पुनर्प्राप्त

5. आकांक्षा सिंह। (10 October 2018). More than 150 years old chitrakoot Ram leela। 150 वर्ष से अधिक पुरानी है श्री राम की तपोभूमि की ये रामलीला गुलामी से लेकर बंटवारे और आज तक संभाले रखा। patrika.com: https://www.patrika.com/chitrakoot-news/more-than-150-years-old-chitrakoot-ram-leela-1-3544957/ से पुनर्प्राप्त

6. गोस्वामी तुलसीदास, (दि. न.)। उत्तरकाण्ड, दो। 1, 3 श्रीरामचरितमानस (पृ. 4480)। में चित्रकूट : अंतर्राष्ट्रीय श्रीरामचरितमानस अनुसंधान केंद्र जगद्गुरु रामभद्राचार्य विकलांग विश्वविद्यालय।

7. गोस्वामी तुलसीदास। (दि. न.)। किष्किन्धाकाण्ड, दो। 1,1। श्रीरामचरितमानस (पृ. 3310)। में चित्रकूटः अंतर्राष्ट्रीय श्रीरामचरितमानस अनुसंधान केंद्र जगद्गुरु रामभद्राचार्य विकलांग विश्वविद्यालय।

8. गोस्वामी तुलसीदास। (दि. न.)। बालकाण्ड, दो। 113,8। श्रीरामचरितमानस (पृ। 54)। में चित्रकूटः अंतर्राष्ट्रीय श्रीरामचरितमानस अनुसंधान केंद्र, जगद्गुरु रामभद्राचार्य विकलांग विश्वविद्यालय।

9. गोस्वामी तुलसीदास। (दि. न.)। बालकाण्ड, दो। 204,75। श्रीरामचरितमानस (पृ. 91-92)। में चित्रकूट : अंतर्राष्टरीय श्रीरामचरितमानस अनुसंधान केंद्र जगद्गुरु रामभद्राचार्य विकलांग विश्वविद्यालय ।

10. गोस्वामी तुलसीदास (दि. न.)। युद्धकाण्ड, दो। 80,1। श्रीरामचरितमानस। में चित्रकूट : अंतर्राष्ट्रीय श्रीरामचरितमानस अनुसंधान केंद्र जगद्गुरु रामभद्राचार्य विकलांग विश्वविद्यालय।

तमाशा लोकनाट्य की संगीत परंपरा एवं प्रयोग

डॉ. माया सगरे–लक्का
सह–आचार्य,
कला, मानविकी और सामाजिक विज्ञान विभाग,
रेवा विश्वविद्यालय, बैंगलोर

आधुनिक काल में जनता के लिए सबसे लोकप्रिय फिल्में बनी हुई है। हर एक की इच्छा होती है कि वह नई फिल्म देखें, कलाकार की कलाओं को देखें। हर एक की शुरुआत भारत में हुई है इसलिए भारत को कलाओं से समृद्ध विविधताओं से भरा संस्कारों से युक्त देश माना जाता है। भारत के विभिन्न राज्यों में परंपरागत संस्कृतियाँ कलाएँ हैं, उनको हमारे देश में विविध धार्मिक एवं सामाजिक अवसरों पर प्रस्तुत किया जाता है। जिसे लोकनाट्य, नाटक कहा जाने लगा। यह लोकनाट्य रंगमंच पर प्रस्तुत किया जाता था। नाटक पारंपरिक हुआ करते थे, इसीलिए प्रसिद्ध होते थे। इनके माध्यम से सामान्य लोगों की जीवन शैली को दर्शाया जाता था, पारंपरिक के रूप में दर्शाया जाता था। जात्रा–यात्रा, नौटंकी, रामलीला, रासलीला, स्वांग, नौटंकी, दशावतार, करियाला, ख्याल, तमाशा, ओट्टन, थुलाल, तेरुकूट्टू, भाम, कलापन आदि है।

भारत के प्रसिद्ध पारंपरिक नाटक के लोकनाट्य में यात्रा/जात्रा जो पूर्वी भारत का धार्मिक लोकनाट्य है। जिसमें रुक्मणी हरण जैसे नाटकों को प्रस्तुत किया जाता था। रामलीला नाट्य की शुरुआत तुलसीदास ने की। जिसमें रामायण की कहानियाँ दशहरे के समय खेली जाने लगी। यह कहानियाँ केवल भारत में ही नहीं विदेशों में भी प्रसिद्ध रही। रासलीला में कृष्ण की घटनाओं को नाट्यरूप में प्रस्तुत किया गया है। इसे अधिकतर जन्माष्टमी के समय कृष्ण की अठखेलियों को नाटक में रूपांतरित कर खेली जाती है। इस अवसर पर श्री कृष्ण का मथुरा और वृंदावन नहीं तो देश के कोने कोने में इसका मंचन किया जाने लगा और आज भी अधिक मात्रा में इन त्योहारों को मनाया जाता है।

पंजाब, हरियाणा, राजस्थान, ओडिसा, उत्तर प्रदेश, बंगाल के ग्रामीण क्षेत्र में स्वांग प्रसिद्ध है। इसकी दो शैलियाँ है - रोहतक और हाथरस। रोहतक में हरियाणवी (बंगरु) भाषा का प्रयोग होता है तो हाथरस शैली में ब्रज भाषा का प्रयोग होता है।

19वीं सदी में नौटंकी शब्द सामने आया। वास्तव में इसके लिए रंगमंच भगत के रूप में 400 वर्षों पहले ही था। तो दशावतार कोंकण और गोवा क्षेत्र का प्रसिद्ध लोकनाट्य है। जिसमें विष्णु के 10 अवतारों को प्रस्तुत करते हैं। करियाला, शिमला, सोलन के क्षेत्र में प्रसिद्ध है। ख्याल-हिंदुस्तानी लोकनृत्य, नाटक और राजस्थानी लोकनृत्य में एक है।

ओट्टन, थुलाल केरल का नृत्य और काव्य का संयोजन है। इसकी विशेषता मेकअप और मुखौटा लगा चेहरा सब को अपनी ओर आकर्षित करता है। तेरुक्कुटू-तमिलनाडु का लोकप्रिय लोकनाट्य है। तो भाम, कलापन-आंध्रप्रदेश का। जिसमें कुचीपुड़ी नृत्य

के हाव-भाव और चेहरे की अभिव्यक्ति अभिव्यक्त होती है।

तमाशा- पश्चिम भारत के महाराष्ट्र राज्य श्रृंगारिक लोकनृत्य है। यह अपने आप में एक विशिष्ट कला है।

भारतीय लोकनाट्य तमाशा :

उपर्युक्त विविध नाटकों या लोकनाट्य में एक लोकनाट्य प्रकार है- तमाशा। यह महाराष्ट्र की सबसे लोकप्रिय कला है। 'तमाशा' इस कला के पूर्व महाराष्ट्र में अन्य लोककलाएँ प्रचलित थी जैसे–गोंधल, जागरण, वाघ्यामुरली, दशावतार, वासुदेव के गीत, पोतराज आदि। 'तमाशा' में 'प्रेमगीत' यानी 'लावणिस' शामिल है। जिसके कारण यह लोक कला सर्व सामान्य जनता में लोकप्रिय थी। यह महाराष्ट्र की 'कोल्हाती' और 'महार' इन दो समुदायों से जुड़ा हुआ है। तमाशा में पाँच बातें एक-दूसरे से जुड़ी रहती है- गण, गौलण, लावणी, बतावणी, वग।[1]

भारतीय लोकनाट्य तमाशा का इतिहास :

जिस प्रकार अन्य राज्यों में रामायण और महाभारत को नाट्य रूपांतर मिलता था उसी प्रकार महाराष्ट्र में भी रामायण और महाभारत में अनेक नृत्य और संगीत विषय को नाटक के माध्यम से दर्शाया जाता था। मराठी विश्वकोश में रूढ़ी - परंपरा के संदर्भ में– ''तमाशा' शब्द उर्दू भाषा का है' यह बताया गया है। यह शब्द 13वीं 14वीं शताब्दी से दक्षिण भारत मुसलमानी अम्मल शुरू हुई तब से मिलता है। एकनाथ जी के भारुड में भी 'बड़े-बड़े तमाशा देखें' इस प्रकार की उक्ति मिलती है। तमाशा का जनक महाराष्ट्र के बंशीधर भट्ट है, इस लोकनाट्य में गायन नृत्य तथा संगीत होता है। मराठी में तमाशा के प्रवर्तक राम जोशी को माना जाता है। संस्कृत पुराणों, किर्तनियों के गायन और आम थिएटर के लोकप्रिय रूपों से भी परिचित थे। बाद में मोरोपंत से इनका नाम जुड़ गया। इन्होंने लावणी गायन की शुरुआत की। जो शहीदों के रूप में माना जाता था। इसमें तमाशा के लिए अनेक सी कथाओं और प्रेम गीतों की रचना की थी। इसीलिए विद्वानों का मानना है कि लावणी की उत्पत्ति तमाशा से ही हुई है। तमाशा में 'शाहिर' यह संज्ञा मुलतः 'शायर' या 'शहर' इस अरबी शब्द से बनी हैं।

तमाशा का स्वरूप :

तमाशा का स्वरूप स्पष्ट करते हुए नामदेव व्हटकर कहते हैं कि, ''18 व्या शतकाच्या सुरुवातीला वीरांच्या विषयवासनेवार उतारा म्हणून जन्मलेला हा खेळ 19 व्या शतकाच्या सुरुवातीला भक्ती, नीति, ब्रह्मज्ञान यात आला. म्हणजे तमाशाचे हाड शूरवीरांच्या श्रृंगाराचे तर मांस सात्विकतेचे दिसते हाडाचे वळण आणि मांसाने दिलेला आकार यांनी प्रकृती बनते तसे श्रृंगाराच्या हाड़ाने आणि सात्विकतेच्या मांसाने तमाशाचे शरीर बनले आहे। तमाशाच्या गाडीचे एक चाक श्रृंगाराचे तर दूसरे ब्रह्मज्ञानाचे होते या दोन्ही चाकांना जोडणारा कणा शूरवीरांच्या परक्रमांचा होता''[2] अर्थात 'तमाशा' महाराष्ट्र में पेशवाई काल के पूर्व से ही अस्तित्व में था।

महाराष्ट्र की लोकप्रिय कला 'तमाशा' है। इस तमाशा को अग्रेसर करने में रघुवीर खेड़कर, मंगला बनसोडे, कालू बालू, दत्ता महाडिक, चंद्रकांत ढ़वलपुरीकर आदि लोगों ने प्रयास किया। हर गांव-गांव में जाकर कलाकार तमाशा को प्रस्तुत करते थे। तमाशा लोगों का मनोरंजन तो करता ही था लेकिन साथ ही उसके माध्यम से साहित्य की निर्मिती भी होती थी। जैसे तमाशा के लिए लोकगीत, लावणी, सवाल-जवाब, गण-गवळण आदि रचनाएँ निर्माण होती।

तमाशा में काम करने वाले कलाकारों को गाँव-गाँव जाकर अपनी कला को प्रदर्शित करना पड़ता था। इस दल को 'फड़' कहा जाता हैं। जिसके लिए ना उनके पास कोई मंच उपलब्ध रहता था न रहने की कोई खास सुविधा। वे जहाँ जगह मिले, चाहे वह

गाँव का चौपाल हो, किसी के घर का आंगन हो या खुला मैदान हो वह अपनी कला से लोगों का मन जीत लेते थे। तमाशा जब मंच पर प्रस्तुत किया जाता था उसके कुछ हिस्सों में प्रस्तुतीकरण होता था- जो निम्नानुसार है -

गण - भारतीय संस्कृति में किसी भी शुभ कार्य की शुरुआत गणेश वंदना से की जाती है। उसी प्रकार तमाशा की शुरुआत भी गणेश जी को आवाहन करके ही की जाती है। उनका तमाशा निर्विघ्नं हो, उन्हें सफलता मिले यही उद्देश्य रखकर गणेश जी की वंदना की जाती है। गणेश वंदना करते-करते ही तमाशा के शाहिर दो प्रकार के अध्यात्म-जो शिव और ब्रह्मा को श्रेष्ठ माननेवाले 'तुरेवाले' तथा 'कलगीवाले' अपने-अपने देवताओं की स्तुति करते हैं और यहीं पर दो पक्ष निर्माण कर देते हैं। इसी गण को गणाची लावणी कहा जाता हैं।

गौलण - 'गण' प्रस्तुति के पश्चात गौलण प्रस्तुत की जाती है। ज्ञानेश्वर जी ने अनेक सी आध्यात्मिक गौलण लिखी हुई है। जिसमें भक्ति का रस कूट-कूट कर भरा हुआ है।

''नवल देखिलें कृष्णरुपीं बिंब।
सांवळी स्वयंभ मूर्ति हरिची ॥1॥
मन निवालें बिंबलें समाधान जालें।
कृष्णरुपें बोधलें मन माझें ॥ध्रु0॥
बापरखुमादेविवरु सांवळा सर्व घटीं।
चित्तें चैतन्या मिठी घालिताखेवों ॥2॥''[3]

अर्थ - त्या सावळ्या कृष्णाची स्वयंभु मूर्ती मी पाहिली व मला त्याचे नवल वाटले. त्या कृष्णरुपाच्या बोधामुळे माझे समाधान झाले व मन शांत झाले तो रखुमाईचा पती व माझे पिता सर्वांमध्ये चैतन्यरुपाने असुन त्याला मी मिठीत कवळुन घेत आहे असे माऊली सांगतात।

इसी अध्यात्म का आधार लेकर तमाशा में श्रृंगार को दर्शाया जाता है गौलण शब्द श्रीकृष्ण से जुड़ा है। गौलण का अर्थ दूध बेचने वाली स्त्री। मथुरा में गोपिकाओं का और श्री कृष्ण का रिश्ता प्रेम पूर्वक था। भागवत में इसका संपूर्ण वर्णन मिलता है। गोपिकाएँ मथुरा में गाय का दूध निकाल कर उसे बेचने तक का परिश्रम करती थी साथ ही दूध के अन्य प्रकार भी बेचती थी। कृष्ण और उसके साथी दूध और मक्खन की चोरी किया करते थे। लेकिन कृष्ण का मायूस चेहरा देख उसकी सुंदरता देख गोपिकाएँ उससे मोहित हो जाती थी। गोपिकाओं की द्विधा अवस्था को इन रचनाओं में दिखाया जाता था। चोरी करता तो शिकायत करती और वह (कान्हा) न दिखाई दे तो बेचैन हो जाती। इनमें एक कलाकार होता है जिसे पेंद्या कहा जाता है, वह हंसी मजाक करता है। इनमें मावशी और पेंद्या का संवाद, मौसी और कृष्ण का संवाद, मौसी और अन्य गोपिकाओं का संवाद अत्यंत लुभाने वाला होता हैं।

लावणी - 'तमाशा' में अत्यंत लोकप्रिय प्रकार है। 'गीत' और 'नृत्य' का संयोग है 'लावणी'। जो स्त्री प्रस्तुतिकरण होता है। जो अत्यंत ऊर्जावान होता है। जिसमें संगीत, नृत्य के साथ लय भी अत्यंत महत्वपूर्ण होता है। जैसे खेत में चावल को लगाना है तब जो गीत गाए जाते हैं, उसे मराठी में 'लावण' कहा जाता है। उसी से 'लावणी' शब्द की निर्मिती हुई। इसमें श्रृंगार वर्णन, विरह, झगड़ा, पुरुषों का मनोरंजन के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। लावणी में सामाजिक, काल्पनिक, आध्यात्मिक तथा पौराणिक प्रकार भी मिलते हैं।[4]

आज 'लावणी' केबल 'तमाशा' का ही हिस्सा न रहकर वह एक नृत्य कला के रूप में भी प्रचलित हुई है। महाराष्ट्र में सांस्कृतिक कार्यक्रमों में लावणी नृत्य को रखा जाता है। साथ ही दूरदर्शन पर जिस प्रकार 'सारेगामप' या 'डांस इंडिया डांस' प्रोग्राम दिखाए जाते हैं उसी प्रकार केवल लावणी पर भी 'ढोलकीच्या तालावर' नाम से कार्यक्रम रखा जाता है। जिसमें अलग-अलग जगह से लावणी सम्राग्नी

आकर अपनी कला को प्रदर्शित करती है। इसीलिए लावणी को महाराष्ट्र की सांस्कृतिक पहचान माना जाता है।लावणी में भी अलग-अलग प्रकार होते हैं जैसे- मराठी लावणी, ढोलकी लावणी, बैठाकीची लावणी, कोली लावणी आदि।

'दिसला गं बाई दिसला', 'अप्सरा आली', 'वाजले की बारा', 'उगवली शुक्राची चांदणी', 'मला लागली कुणाची उचकी', 'मी सोडून सारी लाज' ऐसे अनेक से प्रसिद्ध लावनियाँ हैं।

बतावणी - इसका 'तमाशा' के विषय में सभागृह में हंसी-मजाक के लिए प्रस्तुतीकरण होता है। इसमें कुछ बातें व्यंग्यात्मक रूप से स्पष्ट की जाती है। इसमें दो प्रकार के पात्र होते हैं– 'तात्या' और 'बापू'। कलाकारों की अगली वेशभूषा को थोड़ा सा समय उपलब्ध कराने के लिए यह उन पात्रों की सहायता होती है। वे विनोद के माध्यम से लोगों को हंसाने का काम करते हैं।

वग - तमाशा के उत्तरांग के कथा नाट्य 'वग' को कहा जाता है। यह नाटक जैसा ही होता है, जो तमाशा के अंत में प्रस्तुतीकरण होता है। इसमें विमुक्त संवाद, अभिनय, नृत्य-संगीत यह समूह के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। 1865 में बाबा मांग जी ने 'मोहन बटाव' यह मराठी में पहला वग लिखा। जो तमाशा में लिया गया। पेशवेकालीन 1853 में शाहिर परशराम 'पतिव्रताची लावणी' तथा सगन भाऊ की 'कस्तूरी का सुगंध' में इस कला को दर्शाया गया। जैसे-

रतनगढ़ शहर मोठ गुलजार
तिथ भीमसेन राजा राज्य करणार
त्याला मरून चार वर्षे झाली बरोबर
पोटी मुलगा आणि मुलगी सुंदर
शोभ राजाला SSS हे SSS हे SSS
पुढ़ घडला के प्रकार ऐका घड़ीभर
ध्यान द्या शब्दाला SSSS हे हे SSSS[5]

मराठी के प्रसिद्ध कवि, लेखक बशीर मोमिन कोठेकर जी ने 'इश्कान घेतला बळी', 'बाईने दाबला इंगा', 'ताम्बड़ फुटल रक्ताच', 'भंगले स्वप्न महाराष्ट्राचे' आदि वगनाट्य को तमाशा के लिए लिखकर अपना योगदान दिया है। मराठी के सर्वश्रेष्ठ लोक कवि, समाज सुधारक तथा लेखक अन्नाभाऊ साठे जी ने वगनाट्य के लिए लेखन किए हुए हैं।

तमाशा को प्रस्तुतीकरण के लिए अनेक से वाद्यों का उपयोग किया जाता है जिसमें ढोलकी, तुनतुना, हलगी, कड़े और झांझ आदि। ढोलकी तमाशा में सबसे महत्वपूर्ण वाद्य माना जाता है। दक्षिण में जो वाद्य हैं उससे यह वाद्य अलग दिखाई देता है। तमाशा की संगीतमय पृष्ठभूमि ढोलकी से ही जुड़ जाती है। वैसे तमाशा के संगीत रचनाओं में अलग-अलग रागों का उपयोग किया जाता है। जैसे- यमन, भैरवी, पिलू यह हिंदुस्तानी राग सर्वसामान्य माने जाते हैं। ढोल बजने के उपरांत ही मुख्य संगीतकार का प्रवेश होता है और सारे गीत शुरू हो जाते हैं।

तुन तुना, हलगी, झांज इन अलग-अलग वाद्यों को तमाशा के अंतर्गत महत्वपूर्ण स्थान है। हर एक वाद्य अपनी खूबी दिखाता है, अपनी विशेषता दिखाता है। तुन तुने की डंडी हाथ में रखकर हाथ की उंगलियों के नाखूनों से तुन तुना बजाया जाता है। यह बजाने वाला सुरत्या होता है। हालगी वास्तव में शाहिर का वाद्य है और वही तमाशा के अंतर्गत आगे चलकर आया है। यह एक सर्वसामान्य वाद्य है, लेकिन तमाशा के अंतर्गत अपनी एक खूबी विशेषता सामने लाकर रख देता है। 'झांज' यह वाद्य गोंधल में से तमाशा में आया हुआ है। भजन में टाल भी इस्तेमाल किया जाता था और झांज टाल से थोड़ा सा अलग दिखाई देता है। इन सभी वाद्यों का तमाशा के अंतर्गत सबसे महत्वपूर्ण स्थान दिखाई देता है।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि 'तमाशा' भारत के लोकनाट्य संगीत परंपरा में सबसे महत्वपूर्ण स्थान रखने वाली कला नजर आती है। तमाशा के अंतर्गत

सरकार के माध्यम से अनेक से पुरस्कार भी दिए जाते हैं। इस क्षेत्र के अंतर्गत सबसे अधिक सेवा करने वाले कलाकार को राज्य शासन 2006 से हर साल 7 दिन के तमाशा महोत्सव का आयोजन करता है और इस वक्त विठाबाई नारायणगांवकर इनके नाम से पुरस्कार भी वितरित किया जाता है। इस पुरस्कार का स्वरूप ₹500000 मानचित्र तथा मानपत्र इस प्रकार का है और आज भी हम देखते हैं कि तमाशा यह केवल पुराने जमाने में ही नहीं बल्कि आज तमाशा के अंतर्गत लावणी इस लोक कला को समाज के अंतर्गत अधिक मान्यता मिलती हुई नज़र आती है। महाराष्ट्र में तमाशा के लिए एक थिएटर कला का आयोजन भी किया जाता है, एक नया आयाम मिला हुआ है। आज मराठी नाटक और रंगमंच वर्षों से विकसित होने के बाद उसमें एक जागरूकता का हथियार बना हुआ नजर आता है।

सन्दर्भ सूची :

1. लोक कलेतील गणेशाचे रूप – पुढ़ारी न्यूज
2. बशीर मोमीन (कवठेकर) दै. महाराष्ट्र टाइम्स, 2 मार्च 2019
3. मराठी ज्ञानेश्वर गाथा - अभंग गाथा - संत ज्ञानेश्वर अभंग
4. मराठीतील लोकनाट्य परम्परा - विकास - शिवजी विश्वविद्यालय, कोल्हापुर
5. व्हटकर, नामदेव, मराठीचे लोकनाट्य - तमाशा, कला आणि साहित्य, कोल्हापुर – 1975

हिंदी नाटकों की संगीत परम्परा

डॉ. नंदिनी चौबे
सहायक प्राध्यापक, हिंदी
रेवा विश्वविद्यालय, बेंगलुरू

नाटक एक ऐसी अभिनय परक विधा है जिसमें सम्पूर्ण मानव जीवन का रोचक एवं कुतूहल पूर्ण वर्णन होता है। यह एक दृष्य काव्य है। इसका आनन्द अभिनय देखकर लिया जाता है। नाटक 'नर' शब्द से निर्मित है जिसका आशय है सात्विक भावों का अभिनय। नाटक दृश्य काव्य के अंतर्गत आता है। इसका प्रदर्शन रंगमंच पर होता है। नाटक गद्य का वह कथानक रूप है, जिसे अभिनय संगीत, नृत्य, संवाद आदि के माध्यम से रंगमंच पर अभिनीत किया जा सकता है। नाटक एक सामूहिक कला है। अतः नाटक में प्रत्येक व्यक्ति का कार्य समान रूप से महत्त्वपूर्ण है। एक भी व्यक्ति के गलत कार्य का प्रभाव पूरे नाटक पर पड़ता है।

भारतीय नाटक का इतिहास प्राचीन वैदिक काल का है। इसके बाद यह आधुनिक रंगमंच की परंपराओं को आगे बढ़ाता है। ऐतिहासिक पथ की ओर मुड़ते हुए, पुराण, उर्वशी, यम और यमी, इंद्र-इंद्राणी, सरमा-पाणि और उषा सूक्तस के साथ, प्राचीन नाटकों की शुरुआत ऋग्वेद के स्मारकीय स्रोत सामग्री के कारण होती है। यहाँ तक कि रामायण, महाभारत और अर्थशास्त्र के महाकाव्यों में नाटकीयता की विशिष्ट तकनीकें हैं। वाल्मीकि, व्यास और पाणिनि जैसे-ऋषियों ने भी निर्णायक प्रकाश डाला था तथा पतंजलि ने भी अपने महाभाष्य में दिल से योगदान दिया था। प्रारंभिक वैदिक युग के नाटकों की उत्पत्ति को बाद की सभी कृतियों में सबसे प्रामाणिक और आधिकारिक माना जाता है। 'प्रो. सैलवेन लेवी ने प्रो. मैक्समूलर के मत का अनुमोदन करते हुए कहा है कि वैदिक काल में भारत में नृत्य और संगीत कला पूर्ण रूप से उन्नत हो चुकी थी।'[1]

'कहा जाता है कि मानव - समाज में मूलतः नाट्य - कला की उत्पत्ति उसी दिन हुई जिस दिन किसी बालक ने खेल-खेल में अपने में किसी अन्य व्यक्तित्व की कल्पना की। उस दिन से आज तक यह कला निरंतर विकसित होती जा रही है। पौर्वात्य और पाश्चात्य विद्वान इस विषय पर वर्षों से गवेषणा करते चले आ रहे हैं कि नाटक कि उत्पत्ति किस देश और किस काल में सर्वप्रथम हुई। ऋगवेद, जो संसार के प्राचिनतम ग्रंथों में परिगणित होता है, इस समस्या पर प्रकाश डालता है। ऋगवेद में नृत्यकला का इतना प्रचार हो चुका था कि उषा का वर्णन करते हुए ऋषिगण उसकी उपमा एक नर्तकी से देते रहे।'[2]

भरत मुनि को भारतीय नाट्यशास्त्र का संस्थापक माना जाता है और उन्होंने भारतीय नाटक को द फिफ्थ वेद के रूप में वर्णित किया। इस प्रकार, भरत को अक्सर भारतीय नाट्य कला के पिता के रूप में स्वीकार किया जाता है। भरत के नाट्यशास्त्र में एक व्यवस्थित तरीके से नाटक की तकनीक या बल्कि कला को तैयार करने और उसे नियंत्रित करने का पहला प्रयास प्रतीत होता है। नाट्यशास्त्र पाठक को

न केवल इस बात की सलाह देता है कि किसी नाटक में क्या चित्रित किया जाना है, बल्कि यह भी कि किस तरह से चित्रण को क्रियान्वित किया जाना है। ''भरत मुनि के समय में नाटक के निम्नलिखित विविध अवयव निर्धारित हो चुके थे- 1. नट, 2. नटी (स्त्री-पात्र का अभिनय स्त्री द्वारा ही किया जाता है।), 3. नृत्य-वाद्य, 4. संगीत, 5. संवाद, 6. कथावस्तु, 7. रंगमंच।''[3]

बाद में, 300 ई. के मध्य तक, भारतीय नाटक का इतिहास यह बताता है कि संस्कृत भाषा में अभिनय और तराशने का खेल काफी हद तक विकसित और पनपा था, जो वास्तव में महाकाव्य की कविताओं के रूप में सामने आया। प्रत्येक नाटक 9 रस में से 1 के आसपास आयोजित किया गया था। 15वीं शताब्दी तक, संस्कृत नाटक ज्यादातर तमिलनाडु, केरल, कर्नाटक, आंध्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश और गुजरात में मंच पर प्रदर्शित किए जाते थे। गुजरात के वल्लभी के राजा मित्रक ने भारतीय नाटकों और कलाओं को पर्याप्त संरक्षण दिया था।

संस्कृत नाटक भारत की गौरवशाली संस्कृति तथा परम्परा का प्रतीक है। नाट्यशास्त्र (जिसे नाटक तथा संगीत का आदिग्रन्थ माना गया है) में संगीत के शास्त्रीय पक्ष का विस्तृत विवेचन मिलता है। भरतमुनि ने संगीत का वर्णन नाटक के संदर्भ में ही किया है। इसलिए स्पष्ट है कि प्रारम्भ से ही नाटक के लिए संगीत को महत्त्वपूर्ण माना गया है। इसी परम्परा को हिंदी नाटककारों ने भी निभाया है। समय परिवर्तन के साथ-साथ इसके स्वरूप तथा प्रयोग में परिवर्तन आते रहे हैं। भारतेंदु युग, प्रसाद युग, प्रसादोत्तर युग तथा आधुनिक युग के नाटककारों एवं निर्देशकों ने अपने नाटकों में समान रूप से संगीत का प्रयोग किया है।

कुछ विद्वानों का मानना है कि संगीत का प्रयोग नाटक में नाटकीय तत्त्वों को बढ़ा देता है, अतः नाटक की आवश्यकता अनुरूप ही संगीत का प्रयोग अपेक्षित तथा उपयुक्त होता है। प्राचीन काल में गीतों के माध्यम से संगीत का अत्यधिक प्रयोग देखने को मिलता है, परंतु आधुनिक युग में संगीत का प्रत्यक्ष प्रयोग न करके अप्रत्यक्ष प्रयोग ही दृष्टिगोचर होता है। यथा, वर्तमान युग में संगीत का प्रयोग नाटक में वातावरण निर्मित हेतु, भावों की अभिव्यक्ति करने के लिए, रिक्तता पूर्ति करने के लिए तथा कथा-विकास इत्यादि कार्यों के लिए अधिक होने लगा है।

भारतीय संगीत और रंगमंच की चर्चा करनी हो तो तमाशा, यक्षगान, भवई, वगैरह के अलावा भला हम किस भारतीय रंगमंच की बात कर सकते हैं। हिन्दी नाटक की प्रथम सांगीतिक कड़ी माना जाने वाला नाटक 'इन्द्रसभा' कदाचित् इन्हीं लोकनाट्यों और 'रहस' के गीत-संगीत से प्रभावित था जिसने नाटक की एक नयी तहजीब ही विकसित की।

उन्नसवीं शताब्दी के अंत में मुंबई से शुरु हुई पारसी नाट्य मंडलियों ने संगीत प्रधान नाटकों की एक अलग परंपरा विकसित की। यद्यपि वहाँ सब कुछ तड़क-भड़क से पूर्ण हुआ करता था। 'यादगारे-हत्र' में जमील कंधापुरी ने लिखा है कि उस वक्त स्टेज पर वही ड्रामा कामयाब हो सकता था जिसमें तसन्नो (दिखावापन) और तकल्लुफ का ख्याल रखा जाता हो। अगर मर्द को अपनी उल्फत (प्रेम) का इजहार करना हो तो कोई ग़ज़ल छेड़ देता और हिरोइन उसका जवाब 'ठुमरी' मे देती।

पारसी रंगमंच का प्रभाव ही था कि उसका धुर-विरोधी होते हुए भी भारतेंदु एवं प्रसाद भी इससे अछूते न रह सके। भारतेंदुयुगीन नाटकों में ग़ज़ल, होरी आदि का प्रयोग 'इन्दरसभा' के अनुरूप ही हुआ है। नाटक में संगीत जब केवल चमत्कार प्रियता या केवल रुढ़ि के लिए उपयुक्त होने लगे, तब वह नाटक के लिए नुकसानदेह ही होती है। पारसी रंगमंच में इसकी झलक देखी जा सकती है।

इसके बावजूद भी पारसी रंगमंच में संगीत को जिस प्रभावशीलता के साथ प्रयोग किया गया उससे बहुत कुछ सीखा जा सकता है। एक और बात थी कि 'पारसी मंच का दृष्टिकोण व्यावसायिक था। अतः वे अपनी प्रदर्शन शैली में दर्शकों को प्रभावित करने के सारे व्यावसायिक फार्मूले अपनाते थे। प्रसाद को व्यावसायिक दोनों प्रकार के सामने 'रंगांदोलन' जैसे कार्य नहीं थे पर वह रंगमंच से एकदम अनभिज्ञ थे, यह गलत है।'[4]

संस्कृत के लुप्त प्रायः नाटकों के अवशेषों, लोक नाट्यों की परंपरा और पारसी शैली के नाटकों के संक्रमणकारी दौर में भारतेन्दु के नाटक – हिन्दी नाट्य संगीत के लिये एक सुखद अनुभव माना जा सकता है। ब्रजभाषा नाटकों की पद्यात्मकता, पारसी नाटकों की असाहित्यिक गीत-संगीत योजना, अश्लीलता के साथ ही 'इन्दरसभा' की संगीत-शैली, गजलों आदि के जड़ीभूत प्रभाव से हिन्दी नाटकों को मुक्त करने की दिशा में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का प्रयास ऐतिहासिक है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने नाटक की भाषा और रंग भाषा के स्तर पर संगीत की आत्मा को पहचाना।

भारतेंदु के नाटकों का संगीत एक ऐसा मोड़ है जहाँ से पुरानी परंपराएँ टूटती हैं, नई मर्यादाएं जन्म लेती हैं। उनके नाटकों की संरचना में गीत प्रधान होते गए हैं, वाद्य और नृत्य गौण हैं। 'अंधेर नगरी', 'भारत दुदर्शा', 'सत्य हरिश्चंद्र', 'नीलदेवी' ने तो रंगमंच पर प्रतिमान स्थापित किए हैं। भारतेंदु का नाट्य संगीत, शब्द और छंद रंगमंच की उनकी समझ नई सृष्टि करते हैं।

भारत दुर्दशा की लावनी, 'नीलदेवी' की लावनी और गीत अपने उद्देश्य, शब्द रचना में भूलाए नहीं जा सकते। गीत, संगीत, अभिनय, कथ्य और चरित्र का जो संगठन 'भारत दुर्दशा' में है वह स्वतः स्फूर्त है। छंद बोलते हैं और हर प्रतीक परम छंद, लय मूर्त हो जाती है। 'अंधेर नगरी' ने तो रंगकर्म की भाषा का इतिहास ही अपनी समग्रता में रच डाला। लोकधर्मी चेतना ने भारतेंदु को मनोरंजन विरोधी भी नहीं बनाया। उनका संगीत कथानक, पात्र, वातावरण, समाज, जन कल्याण, रोचकता, कौतुक सबसे जुड़ा है।

कहा जा सकता है कि भारतेंदु हरिश्चंद्र नाट्य-संगीत के गंभीर और संवेदनशील सर्जक हैं। भारतेन्दु के समकालीन नाटककारों ने संगीत को और आगे बढ़ाया। भारतेन्दु ने हिन्दी समाज में जिस नाट्य संगीत की शक्ति और प्रभाव को समझा और स्थापना की उसकी बुनियाद पर नाट्य-संगीत की सुंदर कल्पना हमें प्रसाद में मिलती है। प्रसाद के गीत नाटक एक स्तर तक वातावरण-निर्माण, चरित्र-उद्घाटन, विरोधाभास, संघर्ष-शमन आदि के साथ मनोरंजन का कार्य करते हैं।

जयशंकर प्रसाद के नाट्य-संगीत की अपनी सीमाएँ भी हैं। कई बार नाटकों में उनके गीत अतिरंजित लगते हैं। एक नाटक में चौदह-चौदह गीतों का प्रयोग, वह भी ऐतिहासिक नाटकों में, उनके प्रभाव को खण्डित करता है। कवित्व मोह में गीतों की साहित्यिक व संस्कृतनिष्ठ भाषा के साथ गीतों के अधिकता से प्रायः अधिकतर गीत अनावश्यक लगते हैं। 'स्कंदगुप्त' में तेरह गीत हैं जिनमें छः की गायिका देवसेना है और एक गीत उसकी सखी उसी के प्रति गा रही है। एक गीत विजया का है और दो नर्तकियों के हैं। पुरुष पात्रों में केवल एक पात्र है, कवि मातृगुप्त जो गीत सुनाता है। एक गीत नेपथ्य से सुनाई पड़ता है। 'चंद्रगुप्त' में भी तेरह गीत हैं। इनमें भी ग्यारह गीत स्त्रियों द्वारा गाए जाते हैं। एक नेपथ्य से सुनाई पड़ता है और एक गीत राक्षस गाता है। 'ध्रुवस्वामिनी' में चार गीत हैं जिनमें दो का गान मंदाकिनी करती है, एक कोमा गाती है और एक गान नर्तकियों द्वारा होता है।

बावजूद इसके प्रसाद के गीत कई स्थानों पर नाटकीय कथा की तीव्रता को बढ़ाने का कार्य करते हैं। वस्तुतः संगीत का प्रयोग नाटक में कितना हो सकता है, यह नाटक की कथावस्तु पर निर्भर करता है। समस्यामूलक नाटकों में गीत-संगीत की गुंजाइश बहुत कम रहती है किंतु ऐतिहासिक नाटकों में इसकी मात्रा बढ़ाई भी जा सकती है। यह स्पष्ट है कि 'ध्रुवस्वामिनी' सरीखे समस्या नाटक के अतिरिक्त प्रायः सभी नाटक ऐतिहासिक-सांस्कृतिक नाटक थे। अतः इनमें गीत और संगीत की उपस्थिति प्रायः उचित और आवश्यक भी प्रतीत होती है।

प्रसाद के बाद सामान्यतः लोग मानते हैं कि नाटक से संगीत का बहिष्कार सा हो गया। वास्तव में पारसी थियेटर व तदोपरांत सिनेमा के प्रभाव से उसके गीत-संगीत में जो सस्तापन आया उसने नाटक और संगीत के अंतर्सम्बन्धों और उनकी आपसी उपयोगिता पर पुनर्विश्लेषण की आवश्यकता कराई गई। इसके बाद दोनों कलाओं मे द्वैत आ गया। किन्तु 60 और 80 के दशक में संस्कृत और लोक नाटकों की जीवंत परंपरा का प्रायोगिक रुप जिस तरह अपनाया गया उससे पुनः नए रुप में 'नाट्य संगीत' की प्रतिष्ठापना के प्रयास हुए।

वास्तव में नाटक अनेक कलाओं का एक जनतंत्र है। इसमें ललित कला से लेकर स्थापत्य कला तक के अनेक रुप समाविष्ट होते हैं तब जाकर नाटक अपने सफलतम रुप में दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत होता है- और नाटक की किताबी भाषा को एक नई 'रंगभाषा' मिलती है। ध्यान देने वाली बात है कि नाटक में प्रयुक्त कलाएँ अपने स्वतंत्र या मूल रुप में नहीं बल्कि संशोधित और बदले हुए रुप में सम्मिलित होकर एक अर्थ, भाषा, अभिव्यक्ति, चेतना का सृजन करती है। इसलिए नाटक में प्रयुक्त संगीत भी स्वतंत्र संगीत से अलग होगा और कदाचित् व्यापक भी।

हिन्दी रंगमंच की अपनी सीमाएँ हैं। जिस लोक नाटक ने हमें नाटकों में संगीत की प्रभावशीलता के प्रति जागरुक किया उसके कलाकारों की तरह हिन्दी रंगमंच का अभिनेता अच्छा गायक नहीं होता। दूसरी ओर नाटक में संगीत-रचना और गायन-वादन में जो 'बदलाव' चाहिए वह 'संगीतज्ञ' मानना नहीं चाहते। प्रायः हिन्दी रंगमच में संगीत के 'प्रोफेशनल' कलाकार नहीं जुड़ते। इससे एक 'गैप' बना हुआ है जो संगीत को उसकी पूर्ण शक्ति के साथ रंगमंच का हिस्सा बनने में व्यवधान उपस्थित करता है।

हिन्दी का समाज अपने कलाकारों के प्रति एक खास़ तरह की उपेक्षा का भी आदि रहा है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के व्यक्तित्व में काव्य, संगीत, चित्रकला का विलक्षण समन्वय है, उनके संगीत को 'रवीन्द्र संगीत' नाम और प्रकार मिला। हिंदी में प्रसाद और निराला में कविता, संगीत, चित्र का अद्भुत समन्वय है। स्वयं प्रसाद का काव्य, नाटक और निराला के 'गीतिका', 'अर्चना', 'बेला संग्रह' उनके काव्य और संगीत के अद्भुत प्रमाण हैं। दोनों में 'प्रसाद संगीत', 'निराला संगीत' का समागम हो सकता था लेकिन हमारे यहाँ साहित्य और संगीत कला, नृत्यकला, रंगकला का शाश्वत और सहज संबंध कभी नहीं बन पाया।

हिन्दी समाज का तथाकथित साहित्यिक नाटक प्रायः गीत और संगीत की परम्परा या परिपाटी नहीं बना सका। उसके पीछे कारण यही माना जाना चाहिए कि इस हेतु आधार भूमि वैसी नहीं थी जैसी की मराठी या बांग्ला नाटकों में नजर आती है। मराठी नाटकों में तो नाट्य-संगीत एक बड़ा 'कान्सेप्ट' है जिस पर अलग से बहुत कुछ कार्य हुए हैं। बड़े-बड़े शास्त्रीय संगीतज्ञ उससे जुड़े रहे। हिन्दी रंगमंच के साथ ऐसा न हो सका। लेकिन गीत और संगीत किसी न किसी रूप में इसका अभिन्न हिस्सा अवश्य रहा और समय-समय पर पणिक्कर, कारंत, मोहन उप्रैती और संजय उपाध्याय जैसे संगीत के जानकार निर्देशकों ने इसे और मजबूती प्रदान की। लेकिन

ऐसे निर्देशकों भर से काम नहीं चल सकता, इसके लिए पूरी की पूरी टीम चाहिए। ऐसा अब तक हिन्दी रंगमंच में संभव नहीं हो सका है।

पारसी नाटकों, लोकनाट्यों, मराठी व बांग्ला नाटकों में गीत और संगीत की उपस्थिति इसलिए अधिक थी कि उस वक्त अच्छा अभिनेता-गायक और नर्तक भी हुआ करता था तथा निर्देशक को संगीत की यथेष्ट जानकारी थी। लेकिन आज ऐसा नहीं है। इसलिए हिन्दी नाटकों में गीत और संगीत का उपयोग हमेशा सवालों के घेरे में रहा। वर्तमान में रंगसंगीत नाटक का एक युग मुख्य सहायक तत्त्व बन गया है। वर्तमान में रंगसंगीत मात्र अलंकरण की वस्तु न रहकर कथा-विकास का भी साधन माना जाने लगा है।

हिंदी नाटकों की संगीत परंपरा में भगवद रस, आदि रस, वीर रस, श्रृंगार रस और हास्य रस जैसे विभिन्न भावनाओं को व्यक्त करने के लिए संगीत का महत्वपूर्ण योगदान होता है। संगीत के माध्यम से कहानी का विकास होता है और दर्शकों को नाटक से जुड़ने में मदद मिलती है। इस संगीत परंपरा में ध्वनि यंत्रों का उपयोग, जैसे कि तबला, हारमोनियम, फ्लूट, वीणा, ढोलक, ढफल, ताल और मृदंग जैसे संगीत उपकरण किए जाते हैं। यह संगीत नाटकों को गाया और बजाया जाता है, जिससे दर्शकों को रस और भावना का अनुभव होता है।

हिंदी नाटकों की संगीत परंपरा भारतीय कला और संस्कृति का महत्वपूर्ण हिस्सा है। यह संगीत परंपरा विभिन्न भावनाओं, कथाओं, और समाज के प्रत्येक पहलू को छूने का प्रयास करती है, और नाटक के एक महत्वपूर्ण घटना के रूप में संगीत का उपयोग करती है।

हिंदी नाटकों की संगीत परंपरा का इतिहास :

हिंदी नाटकों की संगीत परंपरा का इतिहास विशाल और विविध है, जिसमें विभिन्न कालों और क्षेत्रों के नाटककारों और संगीतकारों ने योगदान किया है। भारतीय संस्कृति के प्राचीन काल में, नाट्यशास्त्र के आधार पर नाटकों का आयोजन किया जाता था। इस समय के नाटकों में संगीत का महत्व था, और वेदों और पुराणों की कथाओं को उन्होंने संगीत के माध्यम से प्रस्तुत किया था।

भक्ति काल में, भक्ति और देवों के प्रति भक्ति के भाव से भरपूर नाटक बने। तुलसीदास के 'रामचरित-मानस' का अद्वितीय महत्व है, जिसमें भगवान राम की कथा को संगीत और नृत्य के साथ प्रस्तुत किया गया। मुघल साम्राज्य के समय में, मुघल सम्राटों और दरबार के पात्रों ने संगीत नाटकों को प्रोत्साहित किया।

प्रमुख संगीतकार और गायक :

फिल्म निर्माण के आरम्भिक दौर की बड़ी कम्पनियों में रणजीत फिल्म्स, रणजीत मूवीटोन और उसके मालिक सेठ चंदूलाल शाह का नाम मील के पत्थर की तरह है। रणजीत फिल्म्स ने कई संगीतकारों को फिल्मों में मौका दिया। कम्पनी के आरम्भिक और प्रथम संगीतकार फिल्म देवी देवयानी (1931) में उस्ताद झंडे खां थे। बचपन से ही झंडे खां ने हारमोनियम और अन्य कई वाद्य-यंत्रों को बजाने में उस्तादी हासिल की थी। जुबली,न्यू अफ्रेड और पारसी अल्फ्रेड थिएटरों के लिए उन्होंने सैकड़ों गीत बनाए जो मशहूर रहे। महाभारत नाटक में दिए संगीत के कुछ हिस्सों का एच.एम.वी ने रेकॉर्ड भी निकाला था। उस समय के नाटकों में शुरु में गाए जाने वाले गीतों में अक्सर कोरस का प्रयोग होता था। ऐसे गीतों को स्वरबद्ध करने में झंडे खां ने विभिन्न शास्त्रीय तथा अर्धशास्त्रीय संगीत शैलियों का प्रयोग किया।

हिंदी नाटकों की संगीत परंपरा में कई प्रमुख संगीतकार और गायक भी हैं, जैसे कि आनंदमोहन मित्र, पुरुषोत्तम दास जलोता, और लता मंगेशकर।

हिंदी नाटकों की संगीत परंपरा में संगीत प्रदर्शन का भी महत्वपूर्ण भूमिका है, और यह रंगमंच पर किसी काव्य या दृश्य को गहराई से अनुभव करने में मदद करता है। वर्तमान में, हिंदी नाटकों की संगीत परंपरा भारतीय नाटक और संगीत से जुड़ी हुई है और विभिन्न प्रकार की नाटक और म्यूजिकल प्रदर्शनों के माध्यम से जीवंत है। यहां कुछ मुख्य बिंदुओं पर चर्चा की जा रही है :

म्यूजिकल नाटक :

वर्तमान में, हिंदी नाटकों में म्यूजिकल नाटकों का प्रमुख स्थान है। इन नाटकों में कथा को संगीत, गाने, और नृत्य के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। यहां बॉलीवुड म्यूजिकल नाटक भी शामिल हैं, जैसे कि 'हैर' और 'ग्रीस'।

संगीत कार्यशाला :

संगीत कार्यशालाओं का प्रसार वर्तमान में बढ़ रहा है। ये कार्यशालाएँ गायन, वाद्य, और नृत्य की प्रशिक्षण प्रदान करती हैं और नाटकों के लिए गायन और संगीत की रचना करने में मदद करती हैं।

ऑनलाइन प्लेटफार्म :

डिजिटल युग में, ऑनलाइन प्लेटफार्म भी हिंदी नाटकों की संगीत परंपरा को बढ़ावा दे रहे हैं। वेब सीरीज़ और डिजिटल नाटकों में भी संगीत का महत्वपूर्ण स्थान है, और ये नए कलाकारों को मौका देते हैं अपनी संगीतीय प्रतिभा का प्रदर्शन करने के लिए।

लोक प्रियता :

हिंदी फिल्मों के गाने और संगीत आज भी लोगों के बीच में बहुत प्रिय हैं। बॉलीवुड संगीत की लोकप्रियता विश्वभर में है, और यह नाटकों के संगीत के प्रशंसकों के लिए एक महत्वपूर्ण स्रोत है।

पारंपरिक संगीत :

हिंदी नाटकों की पारंपरिक संगीत परंपरा भी जीवंत है। क्लासिकल संगीत, भजन, और शास्त्रीय संगीत भी नाटकों में अच्छी तरह से उपयोग किए जाते हैं, खासकर पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों में।

इन सभी कारणों से, हिंदी नाटकों की संगीत परंपरा वर्तमान में बहुत ही महत्वपूर्ण और जीवंत है, और यह भारतीय कला और संस्कृति का महत्वपूर्ण हिस्सा बनी हुई है।

आज के रंगमंचीय परिदृश्य पर नजर डालते हैं तो पाते हैं कि समकालीन नाटककारों ने लोक शैली पर नाटक लिखे हैं या फिर स्वतन्त्र रूप से। कुछ नाटककार 'गीतों' के प्रयोग के प्रति सचेत रहे हैं। 'एक सत्य हरिश्चन्द्र', 'कबिरा खड़ा बाजार में' तथा 'छोटे सैयद बड़े सैयद' में गीतों की परिकल्पना इतनी सावधानी से की गयी है कि कहीं पर भी गीत, नाटक के प्रवाह को रोकता नहीं, बल्कि उसे आगे बढ़ाने में सहायक होता है। इतना ही नहीं, ये गीत एक ओर नाटक की वस्तु के सन्दर्भ में तत्कालीन स्थितियों पर, तो आज के सन्दर्भ में समकालीन परिस्थितियों पर व्यंग्य करते हैं। 'छोटे सैयद बड़े सैयद' के भांड़ों के गीतों के माध्यम से ही उस युग के राजनीतिक, धार्मिक एवं आर्थिक दबाव मुखर हो उठते हैं। इसी तरह से 'एक सत्य हरिश्चन्द्र' के गीत आज के 'प्रजातन्त्र' पर तेजी से चोट करते हैं। ऐसे ही गीतों की परिकल्पना शरद जोशी के 'दो व्यंग्य नाटक' में सूर्यभानु गुप्त द्वारा की गयी है और ऐसे ही लोकरंग में रंगे 'बकरी' के गीत भी हैं।

ऐसा नहीं कि बिना गीतों के नाटक सफल नहीं हो सकता, बिल्कुल हो सकता है तथा हुए भी हैं। बंगला से अनूदित 'जुलूस' और मराठी से अनूदित 'जात ही पूछो साधू की' इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। हिन्दी के ही 'आठवाँ सर्ग', 'सूर्य की अन्तिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक', 'कर्फ्यू', 'आधे-अधूरे', 'हानूश' आदि अनेक ऐसे नाटक हैं, जिन्होंने बिना गीतों के ही प्रेक्षकों को उद्वेलित किया है। फिर भी यह मानने में कोई हिचक नहीं होनी चाहिए कि

जब गीत नाटक के संवाद को हम तक पहुँचाते हैं तो उनमें ताकत ज्यादा होती है। संगीत की भाषा सब को छूती है। इसलिए 'टोटल थियेटर' की अवधारणा में गीत एवं संगीत को आवश्यक माना गया है।

हिन्दी रंगमंच पर होने वाले नाटकों में गीतों का प्रयोग लगातार बढ़ा है और बढ़ रहा है। तो क्या हम 'टोटल थियेटर' की ओर जा रहे हैं? हाँ या ना कहना कठिन है, लेकिन इतना जरूर कहा जा सकता है कि संगीत ने नाटकों को लोकप्रिय बनाने में अपनी भूमिका का निर्वाह किया है और अभी यह प्रक्रिया रुकी नहीं है, बल्कि अमित सम्भावनाओं का आकाश खुला है।

संदर्भ :

1. दशरथ ओझा, हिंदी नाटक : उद्भव और विकास, राजपाल एण्ड संज़, दिल्ली, पृष्ठ - 29।
2. वही , पृष्ठ – 27
3. वही, पृष्ठ – 26
4. गिरीश रस्तोगी, हिंदी नाटक का आत्मसंघर्ष, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ – 56

नाट्य और संगीत का अन्तर्सम्बन्ध

डॉ॰ प्रियंका अरोड़ा
असिस्टेंट प्रोफेसर, संगीत विभाग
गुरू नानक देव विश्वविद्यलय, अमृतसर

अभिव्यक्ति मनुष्य की नैसर्गिक प्रवृत्ति है, जिसके लिए वह वाणी, इंगित अथवा इशारों आदि का अवलम्बन लेता है, इसी के अन्तर्गत नकल या अनुकरण की प्रवृत्ति भी शामिल होती हैं, जो नाट्य का रूप धारण कर लेती है। प्रो. वेदव्यास अपनी पुस्तक 'हिन्दी नाट्य-कला' में नाटकों का सूत्रपात ऋग्वेद काल के पीछे से ही मानले हैं। उनके शब्दों में 'भारतवर्ष के रूपकों का सर्वथा पूर्व और प्रारम्भिक रूप ऋग्वेद में प्रार्थना-मंत्रों और सम्वादों के रूप में मिलता है। यह तो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि भारत में नाट्य ने अपना पूर्ण रूप किस समय धारण किया। पर इसमें कोई संदेह नहीं कि पाणिनी से कई सहस्त्र वर्ष पहले इस देश में रूपकों का बहुत अधिक प्रचार हो चुका था और अच्छे-अच्छे नाटक भी बन चुके थे, क्योंकि पाणिनि ने अपने व्याकरण में नाट्य-शास्त्र के शिलालिन् और कृशाश्व इन दो आचार्यों के नाम दिए है।''[1] जो यह प्रमाणित करता है कि पाणिनि के काल तक भारत में नाट्य कला का इतना विकास हो चुका था कि उसके लक्षण-ग्रन्थ भी अस्तित्व में आ चुके थे।

''नाटकों के सम्बन्ध में मानना है कि उनके बीज वैदिक संवादसूक्तों में मिलते हैं। वैदिककाल में अभिनय संभवतः बड़े-बड़े यज्ञों के अवसरों पर होते रहे। एक छोटे से अभिनय का प्रसंग सोमयाग के अवसर पर आता है, इसमें तीन पात्र होते थे- यजमान, सोम-विक्रेता और अध्वर्यु। यह ठीक है कि यह याज्ञिक प्रक्रिया है, किन्तु अभिनय जैसा ही है, क्योंकि सोमरसिक इन्द्र के लिए उसके अनुयायी इस भाग की योजना करते थे। आचार्य भारत के अनुसार देवासुर संग्राम के बाद इन्द्रध्वज के महोत्सव पर देवताओं के द्वारा नाटक का आरंभ हुआ।''[2] नाट्य-शास्त्र के आधार पर नाट्य की उत्पत्ति के संदर्भ में कतिपय बिन्दु जो उल्लेखनीय है, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि इसके उद्भव के सम्बन्ध की परिकल्पना ब्रह्मा, शिव और विष्णु आदि देवताओं से की गई है, जिसमें देवी शक्तियों का आशीर्वाद भी महती है। संवाद, गीत, रस, अभिनय आदि तत्वों को ब्रह्मा जी ने चारों वेदों से ग्रहण कर नाट्य-सृजन किया। नाट्य में देवताओं के जीवन की कथाओं से प्रेरणा प्राप्त की गई एवं इसमें स्त्रियों का प्रवेश शुरूआत में ना होकर बहुत बाद में हुआ। ध्यातव्य है कि भरत मुनि ने नाट्य को 'पंचम वेद कहा है, जिसकी रसानुभूति उच्च वर्ग हो नहीं निम्न वर्ग भी ले सकता है अर्थात, यह निम्न वर्ग के लिए भी उपलब्ध है। वैदिक साहित्य में नाट्य की उत्पत्ति पर अवलोकन करें तो ऋग्वेद के संवाद सूक्तों को विद्वान बाद के संस्कृत नाटकों के स्त्रोत मानते हैं। ऋकसंहिता में पन्द्रह संवाद सूक्त, इसके प्रथम मण्डल में दो सूक्त ऐसे हैं, जिसके अन्तर्गत इन्द्र और मरुत का संवाद प्राप्त होता है। तीसरे मण्डल के तेतीसवें सूक्त में नदियों तथा विश्वामित्र का, चौचे मण्डल के अठारहवें सूक्त में वामदेव, इन्द्र और अदिति का संवाद है।

सामवेद के समय में संगीत कला प्रचलित हो चुकी थी, जो कि नाट्य का महत्वपूर्ण अंग है, वहीं अथर्ववेद में पुरुषों द्वारा नृत्य किए जाने और गायन करने का विवेचन मिलता है। ''आधुनिक काल के कई विद्वानों से यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि ऋग्वेदकालीन यक्षों में वस्तुत कुछ अभिनय हुआ करता था। सारे संसार की प्राचीन जातियों में नाच-गान और अभिनय का अस्तित्व पाया जाता है। प्रो. फान श्रडेर के अनुसार 'ऋग्वेद' में आए हुए संवाद प्राचीनतर भारोपीय काल के आर्यों में प्रचलित नाच, गान और अभिनय के उत्तरकालीन रूप होंगे।''[3]

तीसरी और चौथी शताब्दी में भी, नाट्य विद्या का प्रचलन था। मैक्डौनल का मत है नट् धातु से नट और नाटक शब्द की उत्पत्ति हुई है, जबकि पिशेल का विचार है कि कठपुतलियों से नाटकों का उद्भव हुआ। वेवर इस मत के समर्थक है कि भारतीय हिन्दुओं ने यूनान से यह कला सीखी परन्तु इसे उचित नहीं माना जा सकता क्योंकि भारतीय नाटकों में यूनानी नाटकों का प्रभाव परिलक्षित नहीं होता है। पं. सीताराम चतुर्वेदी भी इसके उद्भव को लेकर भरतमुनि के नाट्य-शास्त्र के पहले अध्याय को उद्धृत करके इन्द्र देव और ब्रह्मा जी का विवरण देकर लिखते है कि ''ब्रह्माजी ने समाधि लगाकर संकल्प किया कि मैं इतिहास से युक्त ऐसा नाट्य नामक वेद बनाता हूं, जिससे धर्म, अर्थ और यश की प्राप्ति होगी, जिसमें सुन्दर उपदेश भरे होंगे यह संकल्प करके उन्होंने ऋग्वेद से पाठ्य या बोलने का अंश सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से श्रृंगार आदि रस लिए। इस प्रकार ब्रह्माजी ने वेद और उपवेदों से सम्बन्ध रखनेवाला सभी सुन्दरताओं से भरा हुआ यह नाट्य वेद बनाया।''[4]

भारतीय नाटकों में विद्वानों ने इसकी रचना की पद्धति को वृत्ति कहा कहा है। जो कि संख्या में चार है- कौशिकी, सात्त्वती, भारती तथा आरभटी। कौशिकी में जहां नृत्य, गीत, विलास और रति आदि को विवेचित किया जाता है, वहीं सात्त्वती में नायक दया, शौर्य, त्याग, सत्व आदि गुणों से सम्पन्न होता है। भारती में नटों की बातचीत अधिकांशतः संस्कृत में होती है। आरघटी वृत्ति क्रोध, इन्द्रजाल, माया आदि को प्रस्तुत करती है। भारत के अतिरिक्त मिस्त्र, यूनान, रोम, चीन, जापान, यूरोप आदि देशों में भी नाटक और उसके कई प्रकार प्रसिद्ध है। मूक अभिनय, संवादमय, संगीतमय, त्रासद, सुखान्त, प्रहसन, व्यंग्यात्मक, ऐतिहासिक आदि इसके उदाहण है। अन्य भेदों में मेलोड्रामा, समस्या नाटक, प्रहसनों के विविध रूप, श्रव्य नाटक, पाठ्य नाटक, प्रयोजनवादी नाटक, संगीत नाट्य (औपेरा), एकांकी नाटक आदि आते हैं। हालांकि नवीन वर्गीकरण में विषय के अनुसार पौराणिक, ऐतिहासिक, प्रतीकात्मक, रूढ़, राजनीतिक, प्रदर्शन रीति के अनुसार मुकाभिनय नाटका, छाया, गीति नाट्य, नृत्य-नाट्य, दृश्य-श्रव्य; प्रभाव के अनुसार, उद्देश्य के अनुसार, पात्रों के अनुसार, रंगमंच के अनुसार आदि कई भेद हैं। वर्तमान में नाटक को 1.कथा प्रधान 2.परित्र प्रधान 3.व्यापार प्रधान 4.संगीत 5.उद्देश्य तथा 6.संवाद प्रधान वर्गों में बांटा जाता है, कथा की प्रधानता में कि नाटककार किसी विख्यात कथा को प्रस्तुत करता है। दूसरे में नायक या नायिका के गुणों को प्रस्तुत करना या किसी के अवगुणों को प्रदर्शित करना मुख्य लक्ष्य होता है। तीसरे में संवादों का प्रयोग कम और क्रियाओं का समावेश अधिक, चौच में नृत्य, वाद्य और गीत के माध्यम से नाट्य व्यापार प्रस्तुत होता है। पांचवें में कोई विशिष्ट उद्देश्य और छठे में संवादों से नाटक का व्यापार सिद्ध किया जाता है। किसी संरचना की तात्विक विवेचना उसे समझने, जानने में योग्य भूमिका निभाता है। इसी प्रकार नाट्य के तत्वों के रूप में मुख्यतः कथा वस्तु, पात्र-योजना, कथोपकथन अथवा संवाद, रस, भाषा, अभिनेय आदि का समावेश किया जाता है। कथावस्तु के अभाव में नाटक का कोई अस्तित्व नहीं। भारतीय विद्वानों ने इतिवृत्त अर्थात कथा को बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी कार्य नामक अर्थ प्रकृतियों में विभक्त किया है। इसकी पांच अवस्थाएं

क्रमशः आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति, फलागम है। पात्रों की योजना नाटक में महत्वपूर्ण है, जहां नायक के लिए अपेक्षित गुणों का विधान होता है। नायक धीरोदात्त, धीरललित, धीरप्रशान्त, धीरोद्वत होना चाहिए। इसके अतिरिक्त नायक के सहायक पात्र भी होते हैं, जिनमें पताका, विदूषक, विट और प्रतिनायक की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है। नायक की भांति नायिका भी यहां महती स्थान रखती है। स्वकीया, परकीया, सामान्या इसके तीन भेद हैं। नाटक में रस-संख्या को लेकर विद्वानों में मतभेद हैं तथापि भरत मुनि ने इसमें श्रृंगार रस, वीर रस, रौद्र रस, करुण रस, हास्य रस, वीभत्स, भयानक, शांत रस को मान्यता दी है और निर्वेद संचारी भाव की श्रेणी में रखा है। संवाद नाटक की कथावस्तु और पात्रों को विकसित करते जाते हैं और भाषा कथा, पात्रों और देशकाल की प्रस्तुति देती है। अभिनेय, नाटक का प्राण कहा जा सकता है क्योंकि मूलतः नाटक की रचना ही रंगमंच के लिए होती है और नाटक में निहित उद्देश्य इसे इसकी पूर्णता के साथ सिद्ध करता है। सर्वविदित है कि संगीत मानव के साथ विविध पक्षों से सम्बन्धित रहा है। प्राचीन काल से ही इसका मनुष्य के दैनिक जीवन से लेकर विशेष उत्सवों में श्रेयस्कर स्थान है। 'संगीत दर्पण' में इसे 'गीतं, वाद्यं, नर्तनं च, त्र्यं संगीतमुच्यते।' कह कर परिभाषित किया गया है। ''अर्थात् गीत या गाना, वाद्य और नर्तन तीनों को मिलाकर संगीत कहते हैं। कुछ का कहना है कि इन तीनों को मिलाकर संगीत होता है, कुछ इनमें से प्रत्येक को संगीत समझते हैं, किन्तु वास्तव में तीनों के समाहार को संगीत कहते हैं। इनमें से नृत्य तो वाद्य के सहारे चलता है और बाद्य गीत के सहारे चलता है, अतः इन तीनों में मुख्य गीत ही है।''[5] नाट्य-कला में भी संगीत-योजना अन्य तत्वों की भांति ही महत्वपूर्ण है, जो कई तरह से दृष्टिगोचर होती है। गीतों के साथ-साथ वाद्यों का प्रयोग, पृष्ठ संगीत के रूप में, विशेष प्रभाव के लिए नेयथ्य से शंख, घड़ियाल, घण्टा, नगाड़े आदि के प्रयोग से रंगपीठ पर गाए जाने वाले गीत या रंगशाला पर जो पात्र उपस्थित हैं उसे कोई सूचना देने वाला गीत आदि। नाटक में गीत का उचित अवसर होना भी आवश्यक होता है। ''अवसर का अर्थ यह है कि किस ऋतु में, किस विशेष परिस्थिति में, किस पात्र के द्वारा गीत गवाने का आयोजन किया जा रहा है। जहां तक गीति नाट्य की बात है उसमें तो पूरा नाटक ही गीत में होता है। इसलिए उसमें केवल रस या भाव का ही ध्यान रखा जाता है, किन्तु गद्य नाटक में गीत के प्रयोग के लिए अवसर की अनुकूलता अत्यन्त आवश्यक है।''[6] नाटकों में कई ऐसे अवसर प्रस्तुत होते हैं, जब पात्र गीतों का प्रयोग करते दिखाई देते हैं। जब कोई पात्र अकेला बैठा हो और मन-बहलाव के लिए गा रहा हो, कोई पात्र गीत या वाद्य सीख या सिखा रहे हो, किसी उत्सव पर, प्रेमाचार के मौके या प्रिय को याद करते समय, देवी-देवताओं की स्तुति करते हुए, युद्ध के अवसर पर उत्साहित करने हेतु, नाटक के प्रारम्भ में, कोई उपदेश देने के लिए आदि। इतना ही नहीं भाव वैविध्य के लिए विविध रागों में गीत गाया जाना चाहिए जैसे करूण रस में राग भैरव, राग भूपति, देशी, गान्धास आदि श्रृंगार रस में राग मेघ, द्रविड़, भैरवी, गौड़ी आदि। जितना महत्व गीतों का है उतना ही पृष्ठ संगीत का भी। कोमल और कर्कश ध्वनि के लिए क्रमशः तार वाले वाद्य, बांसुरी, मंजीर व ढोल, मृदंग, शेख, घंटा आदि का प्रयोग होता है। संगीत के व्यवस्थापक द्वारा इस बात का ध्यान रखना अपरिधर्य है कि नाटक के लिए उपयुक्त वाद्य प्राप्त हैं या नहीं। नाटक में संगीत योजना करते समय इस बात का विशेष रूप से ध्यान रखा जाता है कि कौन से स्थान पर किस राग तथा ताल में एवं किस पात्र से गीत की योजना करााायी जाए या वाद्य का प्रयोग हो। चूंकि संगीत गीत, वाद्य और नृत्य से बना है और नाटक में गीत तथा वाद्य के साथ नृत्य का महत्व भी अक्षुण्ण है अतः यहां पर नाट्य कला में प्रस्तुत शास्त्रीय नृत्य का वर्णन अपेक्षित है। ''नृत्य के सम्बन्ध में नाट्योत्पत्ति के इतिहास के

प्रसंग में बताया जा चुका है कि जब इन्द्र ने इच्छा प्रकट की कि वेदाधिकारहीन लोगों के लिए भी ज्ञान और मनोरंजन का साधन निकाला जाए, तब उनकी प्रेरणा से ब्रह्माजी ने चारों वेदों से पाठ्य, अभिनय, गीत और इस लेकर पंचम नाट्यवेद की रचना की, जिसमें महादेवी जी ने नृत्य जोड़ कर उसे पूर्ण कर दिया। तात्पर्य यह है कि नृत्य भी नाट्य के साथ ही उत्पन्न हुआ और उसके आदि आचार्य भी भगवान शंकर ही है। किन्तु शंकरजी का नृत्य ताण्डव या उदृधत पुरुष-नृत्य था। इसलिए पार्वती जी ने स्त्रियोचित कोमल लास्य नृत्य की सृष्टि करके उसकी रही-सही कमी भी पूरी कर दी।''[7] वर्तमान में शास्त्रीय नृत्य के अन्तर्गत भरतनाट्यम, कथकली, मणिपुरी, कत्थक, मोहिनी अट्टम इत्यादि आते है परन्तु भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में नृत्य तथा नृत्त के सन्दर्भ में जो व्यवस्था प्रदत की है उसका अनुसरण इनमें नहीं होता। भरतनाट्यम् तथा मोहिनी अट्टम में भरतमुनि द्वारा विवेचित कल्वित्य मुद्राएं तथा चेष्टाएं अवश्य प्रयोग हुई है परन्तु पूर्णरूपेण अनुकरण अप्राप्य हैं। परन्तु नाट्य कला में नृत्य की निहितता स्वीकार्य है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि नाट्य और संगीत का अन्तर्सम्बन्ध कई पक्षों से महती है। फिर चाहे वो गीत का विधान हो, वाद्यों के प्रयोग की महत्ता हो या फिर नृत्य के माध्यम से भावों की अभिव्यक्ति। संगीत के सभी भेद नाट्य-कला को उत्कृष्ट बनाने में साधु भूमिका निभाते हैं।

संदर्भ :

1. प्रो॰ वेदव्यास (1937), हिन्दी नाट्य कला, साहित्य भवन, लाहौर, पृ॰ 22
2. डॉ॰ देशराज (2021), रंगमंच एवं नाट्यकला : एक समग्र अध्ययन, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, भूमिका से
3. द्विवेदी, हज़ारी प्रसाद, पृथ्वीनाथ द्विवेदी (1963), नाट्यशास्त्र की भारतीय परम्परा और दशरूपक, राजकमल प्रकाशन, पटना, पृ॰ 05
4. चतुर्वेदी, पं॰ सीताराम (1964), भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच, हिन्दी समिति, लखनऊ, पृ॰ 06
5. वहीं, पृ॰ 645
6. वहीं, पृ॰ 672
7. वहीं, पृ॰ 691, 692

Resonating Voices and Empowered Stages : A Feminist Exploration of Women's Roles in Indian Theatre and Music

Dr. Rajaneesh Kumar HV
Assistant Professor, Dept. of English
School of Arts, Humanities and Social Sciences
REVA University, Bengaluru-560064

The cultural landscape of Indian theatre and music has been significantly influenced by the pivotal contributions of women. Their contributions span centuries, influencing artistic expression and societal narratives. In both realms, women have not only excelled as performers but have also emerged as playwrights, directors, composers and advocates for change. In Indian theatre, women have been instrumental in bringing diverse stories and characters to life. They have challenged societal norms and provided a platform for marginalized voices. From ancient classical dramas to modern experimental plays, women have been at the forefront, showcasing their versatility and artistic prowess. Likewise, in the realm of music, women have left an indelible mark. From classical maestros to contemporary pop sensations, female artists have demonstrated extraordinary skill and creativity. They have transcended boundaries, not only within India but on the global stage, garnering recognition for their exceptional talent and unique contributions to musical genres spanning classical, folk, and contemporary. Beyond their artistic achievements, women in Indian theatre and music have also become powerful agents of social change. Through their work, they have addressed pressing issues such as gender inequality, social injustice, and cultural preservation. They have used their platforms to amplify voices that might otherwise go unheard, enriching the artistic tapestry of India.

The present paper takes a feminist perspective on the pivotal role of women in shaping Indian theatre and music. It emphasizes their diverse contributions as performers, playwrights, directors, and composers. It also highlights their historical influence, global recognition, and advocacy for social change, ultimately enriching the cultural landscape of India.

Historical Context :

The historical journey of women's engagement in Indian theatre and music reveals a profound and enduring influence on these art forms. From ancient classical performances to contemporary expressions, women have been integral to the evolution and enrichment of Indian cultural heritage. Their roles have transcended convention, asserting their rightful place in the annals

of artistic history. This exploration provides invaluable insight into the dynamic tapestry of women's contributions to Indian theatre and music.

From the late nineteenth century onwards, Indian women began making noteworthy contributions to regional theatre, influenced by both European drama and indigenous performance traditions. Despite their significant role, their efforts have often been overlooked, marginalized, or omitted from historical accounts. As time progressed, their impact on social disparities and the reshaping of India's cultural history became increasingly profound. It is important to acknowledge the pioneering yet largely forgotten endeavors of Balamani Ammal in the early 20th century. A former devadasi, she led an all-women troupe that provided shelter and toured extensively in the Indian state of Tamil Nadu. Following her lead, R. Nagarathnamma, a director and male impersonator, established an all-female Kannada company in 1958. The earliest plays authored by women were written in Bengali, Urdu, and Marathi. Swarnakumari Devi (1855-1932) and Rasheed Jahan (1905-52) used their Urdu and Bengali plays to shed light on societal injustices. Cornelia Sorabji (1866-1954), a pioneering lawyer, penned the first English-language drama by an Indian woman, titled "Gold Mohur Time" (1930), a parable play that she successfully published in London. Bharati Sarabhai furthered this legacy with her socially conscious works, including "The Well of the People" (in verse, 1943) and "Two Women" (prose, 1952).

India boasts a rich tapestry of music traditions, with women making substantial contributions throughout its history. Since ancient times, women have held pivotal roles in various forms of Indian music. From the classical mastery of MS Subbalakshmi, the devotional fervor of Mira Bai, to the iconic Bollywood melodies of Lata Mangeshkar, the list is extensive. Exploring the lives of these remarkable women provides a deeper appreciation for their indelible impact on Indian art and culture.

Women Empowering Stages :

The portrayal and representation of women in Indian theatre and music have not been without challenges. Traditional narratives often confined women to restrictive roles, relegating them to the sidelines. However, pioneering artists like Balamani Ammal and R. Nagarathnamma forged new paths, leading all-women troupes and defying conventions. Their endeavors not only showcased remarkable artistic prowess but also challenged the deeply entrenched patriarchal norms of their times. Indian theatre and music provided a platform for women to amplify their voices, addressing social issues and advocating for change. Swarnakumari Devi and Rasheed Jahan used their plays in Urdu and Bengali to shed light on prevailing social evils. These women stood as beacons of resistance, using art as a medium to initiate conversations about gender equality and justice. In the introduction to her anthology "Staging Resistance: Plays by Women in Translation," Tutun Mukherjee articulates the following statement: "The denial of education to women, the male exclusivity in the print culture, the tendency to 'vulgarise' and 'devalue' oral culture (generally the female domain), the separation of the private and public space have all served to confine women to certain

genres and restrict or erase their presences in others" (2005, p. 4)

Prominent female dramatists in post-independence India encompass a diverse array of talents. In Bengali theatre, figures like Nabaneeta Dev Sen, Mahasweta Devi, and Saoli Mitra have made significant contributions. In Gujarati theatre, the likes of Dhiruben Patel and Varsha Adalja have left their mark. The Hindi theatre scene boasts accomplished names such as Mannu Bhandari, Mridula Garg, Kusum Kumar, Shanti Mehotra, and Mrinal Pande. The Marathi theatre tradition has been enriched by the works of Malatibai Bedekar, Mukta Dikshit, Tara Vanrase, Jyoti Mhapsekar, Sushma Deshpande, and Prema Kantak. In Punjabi theatre, Manjit Pal Kaur stands out, while in Tamil theatre, Ambai and Mangai have made notable contributions. The Telugu theatre landscape has been influenced by the works of Volga and Vinodini, while in Urdu theatre, Jameela Nishat has left a lasting impact. Writing in English, Dina Mehta is a standout figure, delving into a range of themes in works like "Mythmakers," "Tiger, Tiger," "Sister Like You," "When One plus One Makes Nine," and her most acclaimed pieces, "Brides Are Not for Burning" and "Getting Away with Murder." Additionally, in 1989, Bilkiz Alladin skillfully portrayed the historical romance of the British Resident in Hyderabad, James Kirkpatrick, entwined with the captivating Khairunnissa, in the compelling piece "For the Love of a Begum," shedding light on the complex interplay of the Raj and harem politics.

The rise of women directors in the realm of cultural production has been a positive development. They bring with them a distinct perspective shaped by gendered insights, innovative communication methods, and a nuanced approach to societal issues. This has broadened the scope of theatre to encompass women's experiences and viewpoints, while also reinterpreting works by male playwrights through a gender-sensitive lens. This shift is crucial for the growth and influence of women-centric theatre in India. It's worth noting that theatre, often entrenched in patriarchal norms, can sometimes assimilate female-authored texts without truly appreciating their groundbreaking nature. In some cases, it may even commodify what are considered "feminine concerns" for male consumption.

Early pioneers in this movement include directors like Shanta Gandhi, Dina Gandhi-Pathak, Sheila Bhatia, Rekha Jain, Vijaya Mehta, and Joy Michael. They paved the way for a new generation of innovative creators such as Anuradha Kapur, Kirti Jain, Amal Allana, Usha Ganguli, Neelam Man Singh Chowdhry, Sohag Sen, Tripurari Sharma, Anamika Haksar, Anjana Puri, B. Jayashree, Maya Rao, Rati Bartholomew, Nadira Zaheer Babbar, and Vinapani Chawla. Presently, emerging talents like Robijita Gogoi, Shailaja J., and Jayati Bose are pushing boundaries and introducing fresh artistic expressions.

Resonating Voices in Indian Music :

Women have played vital roles in Indian music. They excel as classical vocalists and instrumentalists. Renowned figures like Lata Mangeshkar and Asha Bhonsle have left a lasting impact. Women also compose music, contribute to regional genres, and dominate playback singing in Bollywood. In folk, ghazal, and Sufi music, artists like Begum Akhtar and Abida Parveen have made significant

contributions. In contemporary and fusion music, artists like Shreya Ghoshal and Anoushka Shankar bring innovation. Despite challenges, women continue to shape and innovate in the Indian music scene.

From ancient times to the present day, their contributions have been profound and varied. Notable figures include Andal, a 9th-century Tamil saint and poetess known for her devotional compositions to Lord Vishnu. Mukta Bai, a 13th-century Marathi saint and poetess, is celebrated for her abhangas dedicated to Lord Vitthal. Lal Ded, a 14th-century Kashmiri saint and poetess, is renowned for her spiritually focused compositions known as "Vatsun."

Mira Bai, a mystic poet from the medieval period, is known for her devotion to Lord Krishna and her role in the Bhakti movement. Saraswati Bai Rane, a modern-era Hindustani classical vocalist, was the first Indian female artist to record music. Begum Akhtar, a 20th-century classical singer, gained acclaim for her soulful renditions of ghazals and thumris. MS Subbulakshmi, a legendary Carnatic vocalist, was the first Indian musician to receive the Bharat Ratna award. Kishori Amonkar, another prominent Hindustani classical vocalist, was known for her unique style and emotional expression in music. Lata Mangeshkar, one of the most prominent playback singers in Indian cinema, is hailed as one of the greatest singers in Indian music history. Shuba Mudgal, a contemporary Hindustani classical vocalist, is recognized for her experimental approach. Lastly, Girija Devi, celebrated in the Banaras Gharana, earned the title of 'Queen of Thumri' for her influential contributions. These women have left an indelible mark on India's musical heritage, influencing generations of musicians and music enthusiasts. Their diverse styles and contributions continue to inspire and shape the rich tapestry of Indian music.

Gender Issues in Indian Theatre and Music :

Gender issues in Indian Theatre and Music encompass a range of challenges and opportunities related to the roles, representation, and experiences of women and LGBTQ+ individuals in these artistic domains.

In the introductory section of her book "Gender, Space, and Resistance: Women and Theatre," Anita Singh states: "To begin with feminist theatre thrived in cities and towns in India primarily in non-commercial spaces. Jan Natya Manch (People's Theatre Front) of Safdar Hashmi formed in 1973 performed an agitprop street play Aurat (Women, 1979) which dealt candidly with issues like bride burning, dowry, and wife bettering" (Singh, 2013, p. 23). Gender issues in Indian theatre encompass limited roles and stereotyping of women on stage, disparities in opportunities for women in directing and technical roles, challenges related to sexual harassment, historical practices of cross-dressing, emerging feminist theatre movements, and the need for more inclusive representation of LGBTQ+ characters. Although there have been strides made through activism, advocacy, shifting trends, and policy alterations, there remains a need for further efforts to establish a theatre community in India that is truly inclusive and equitable.

Gender issues in Indian music reflect a complex interplay of cultural norms and historical biases. Traditionally, women have been underrepresented in the music industry, particularly in classical and traditional genres. There exists a noticeable gender disparity among prominent performers and maestros, creating a glass ceiling that limits the visibility and recognition of female musicians. Cultural norms have perpetuated stereotypes, influencing the types of instruments women are expected to play and the roles they are encouraged to assume in musical settings. Moreover, LGBTQ+ representation in Indian music remains limited, often subject to stereotypes and caricatures. Despite these challenges, there is a growing movement towards inclusivity. Women-centric music festivals and initiatives have emerged, providing a platform for female musicians to showcase their talents and challenge gender disparities. Advocacy groups and individuals are actively working towards breaking down barriers and promoting inclusivity in the Indian music industry. Efforts are underway to encourage diverse voices, fostering a more inclusive and equitable musical landscape that celebrates talent irrespective of gender or sexual orientation. As Toffin (2008) mentioned in his Newar Society: City, Village, and Periphery, women are restricted from music-learning and practice as they are considered impure. Hence, when such practices are further supported by social institutions and embedded in socialization process, women through repeated performance of such practices often internalize them and consider them normal. Such process of internalization and normalization of discriminatory social practices often lead to reproduction of such practices.

Conclusion :

In conclusion, the influence of women in Indian theatre and music is an intricate tapestry of resilience, creativity, and social impact. Throughout history, women have defied societal norms, breaking through barriers to shape the cultural landscape of India. From ancient classical performances to contemporary expressions, their contributions have been invaluable, encompassing roles as performers, playwrights, directors, composers, and advocates for change. Despite challenges, women have empowered stages, challenging gender norms and amplifying marginalized voices. In music, their indelible mark spans classical, folk, and contemporary genres, leaving an enduring legacy of artistic brilliance. These women have not only excelled in their respective fields but have also used their platforms to address pressing societal issues. Initiatives like women-centric festivals and advocacy efforts signify a growing movement towards inclusivity. Despite the advancements that have been achieved, there is still a significant amount of work ahead in order to cultivate an environment where talent can flourish without regard to gender. The journey of women in Indian theatre and music is a testament to their enduring spirit, demonstrating that their voices and contributions are essential in shaping the cultural narrative of India. Their stories inspire the next generation to continue breaking barriers, paving the way for a more inclusive and equitable future in the arts.

References :

1. R.G. Mahapati. (2008). Women in Theatre. In S. Prasanna (Ed.), Silent Sufferings and Unheard Agony in the Regional Writings on Women (1st ed. ed., pp. 108-111). New Delhi: Sarup & Sons.
2. Singh, A. (2013). Gender, Space and Resistance: Women and Theatre in India. (T. T. Anita Singh, Ed.) New Delhi: D.K. Agencies.
3. Wandor, M. (1984, November). The Impact of Feminism on the Theatre. Feminist Review (18), 76-92. Retrieved August Sunday, 2015, from http://www.jstor.org/stable/1394862
4. Mukherjee, T. (2005). Staging Resistance: Plays by Women in Translation. New Delhi: Oxford University Press.
5. Toffin, G. (2008) Newar Society: City, Village, and Periphery. Lalitpur: Himal Books.
6. Wolf, R. K. (2009) 'Introduction' in Wolf, R, K. (ed.) Theorizing the Local: Music, Practice and Experience in South Asia and Beyond. New York: Oxford University Press.

लोकनाट्य जात्रा : समग्र अध्ययन

डॉ० रंजना उपाध्याय
सहायक आचार्या, नृत्य विभाग
संगीत एवं मंच कला संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221005

भारतीय लोकनाट्य परंपरा जात्रा न केवल एक अत्यंत विकसित व समृद्ध साहित्यिक अभिव्यक्ति के रूप में विश्व भर में लोकप्रिय है, वरन चित्र, शिल्प, साहित्य, संगीत इत्यादि अन्य कलाओं के उद्भव तथा विकास के संदर्भ में भी अत्यधिक महत्वपूर्ण है। नाटक, प्राचीन समय से ही भारतीय संस्कृति की सर्वोत्तम अभिव्यक्तियों में से एक रहा है। छंद बद्ध संवाद की विशद परंपरा हमें वेदों में देखने को मिलती है, ऋग्वेद में वर्णित पुरूरवा-उर्वशी संवाद इसका एक उदाहरण मात्र है।[1]

इसके अतिरिक्त **दक्षिणी बिहार (मगध) में रामगढ़ पहाड़ी पर जोगीमारा तथा सीताबेंगा गुफा में प्राप्त शिलालेखों जिनका रचना काल तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व माना गया है, में भी ब्राह्मी लिपि में प्राकृत भाषा का एक लेख प्राप्त होता है जिसमें सुतानुका की प्रेम कथा का वर्णन है।**[2] इन सभी के आधार पर कहा जा सकता है, कि प्राचीन भारत में नाटकीय कला अपने उत्कर्ष को प्राप्त कर चुकी थी। पंचम वेद के रूप में विख्यात नाट्यशास्त्र में भी अमृत मंथन, त्रिपुरदाह इत्यादि नाटक के प्रकारों का उल्लेख प्राप्त होता है। भारतवर्ष के न केवल उत्तरी अपितु दक्षिणी क्षेत्र की भी अपनी अत्यंत विकसित एवं समृद्ध लोकनाट्य परंपरा है, जिसका वर्णन प्राचीन संगम साहित्य में भी प्राप्त होता है। मध्यकाल में पश्चिमी यूरोप के समान भारत में भी धार्मिक पुनर्जागरण को बल मिलना प्रारंभ हुआ, फलस्वरुप भारत के विभिन्न प्रांतो में भिन्न-भिन्न प्रकार की धार्मिक यात्राओं का प्रचलन प्रारंभ हुआ।

इन्हीं में से एक नाटकीय अभिव्यक्ति बंगाली पाल-गण अथवा जात्रा थी। पाल गान एक प्रकार की पौराणिक कथा का कथा पाठ था, जो विभिन्न प्रकरणों में विभाजित थी, जिसमें कथा-पाठ के नायक तथा उसके अन्य सहयोगी कभी-कभी संवाद का प्रयोग करते थे। वस्तुतः यह माना जाता है कि यही बंगाल की लोकनाट्य जात्रा का प्रारंभिक स्वरूप था। **'जात्रा' शब्द का शाब्दिक अर्थ है धार्मिक जुलूस तथा इस जुलूस अथवा यात्रा में कभी-कभी लोग देवताओं व प्रसिद्ध नायकों का वेश भी धारण कर लेते थे। पाल-गण की भावना और धार्मिक जुलूस का संयोजन स्पष्ट रूप से बंगाली यात्रा के मूल में परिलक्षित होता है।** इसमें अभिनय से ज्यादा गायन की प्रधानता थी। इसके पूर्व अथवा अंतिम भाग में हास्य गीत होते थे, जिनमें सामाजिक अथवा व्यंगात्मक चरित्र की प्रधानता रहती है। इन जात्राओं का सर्वाधिक प्रचलन 19वीं शताब्दी के मध्य बंगाल में था, लगभग इसी समय भारत के अन्य प्रान्तों में भी इसी प्रकार की धार्मिक यात्राओं का प्रचलन भिन्न-भिन्न स्वरूपों में देखा जा सकता है। इन सभी यात्राओं का मुख्य उद्देश्य भारतीय जनमानस में वैष्णव भक्ति का प्रचार-प्रसार करना था। वैष्णो

भक्ति प्रेम तथा सामाजिक सौहार्द के पुनर्गठन हेतु 16वीं शताब्दी के वैष्णव संत चैतन्य महाप्रभु को जात्रा के प्रतिस्थापक के रूप में देखा जा सकता है। यात्रा का उपयोग बंगाल तथा उड़ीसा के शाक्त उपासकों द्वारा भी किया गया। परंतु उनके लिए यह जात्रा अनुष्ठानिक रूप में अधिक था।

स्कंद पुराण में 12 यात्राओं का उल्लेख है, जो वर्ष के 12 महीने में भगवान विष्णु की पूजा के लिए आयोजित किए जाते थे।

चांदनी जात्रा - वैशाख यानी अप्रैल में के महीने में आयोजित किया जाता है।

स्नैपुनी जात्रा - जेठ यानी मई -जून माह में आयोजित किया जाता है।

रथ जात्रा - आषाढ़ यानी जून जुलाई में आयोजित किया जाता है।

स्यानी जात्रा - श्रावण मास में आयोजित किया जाता है।

दक्षिण पर्शिया जात्रा - भाद्र मास में आयोजित किया जाता है ।

बंपरशिया जात्रा - आश्विन मास में आयोजित किया जाता है ।

उठानी जात्रा - कार्तिक मास में आयोजित किया जाता है।

चांदनी जात्रा - अगहन मास में आयोजित किया जाता है।

पुष्पभिषेक जात्रा - पौष मास में आयोजित किया जाता है।

सल्योदनी जात्रा - माघ मास में आयोजित किया जाता है।

डोल जात्रा- फाल्गुन मास में आयोजित किया जाता है।

मदनभंजिका जात्रा - चैत्र मास में आयोजित किया जाता है।

स्कंद पुराण के अतिरिक्त बम्केश्वर तंत्र में भी 16 यात्राओं का उल्लेख प्राप्त होता है, जो की भिन्न-भिन्न मास में आयोजित होते हैं। प्राचीन ग्रंथो तथा साहित्य में जात्रा मुख्य रूप से सामाजिक तथा धार्मिक त्योहारों के रूप में मिलते हैं। इसके अतिरिक्त संस्कृत नाटकों में भी जात्रा का वर्णन भवभूति के उत्तर रामचरित और मालतीमाधव नाटक में भी प्राप्त होता है। बंग साहित्य में जात्रा का सर्वप्रथम उल्लेख 16वीं शताब्दी में मिलता है।

विश्व कोष के 15वें अंक के अनुसार जात्रा अपने प्रारंभिक रूप में कीर्तन गायन के साथ धार्मिक जुलूस के रूप में प्रस्तुत किया जाता था। कालांतर में एक स्थान पर लोगों ने एकत्रित होना शुरू किया और वहां पर अभिनय के तत्वों को जोड़कर इसका प्रदर्शन सामूहिक रूप से किया जाने लगा। भक्ति गायन तथा नृत्य के इसके साथ जुड़ने पर यह कला रूप 'जात्रापाला' के नाम से जाना जाने लगा। जात्रा प्रदर्शन के प्रमुख क्षेत्र बिहार, बंगाल, उड़ीसा और असम है। 19वीं शताब्दी में बंगाल और उड़ीसा की क्षेत्रीय संस्कृति का प्रभाव भी बंगाल की जात्रा में देखा जा सकता है। उड़ीसा में मुख्यतः यह प्रदर्शन पौराणिक, धार्मिक, व्यक्ति विशेष, इतिहास तथा प्रचलित कहानियों पर आधारित होता है। वर्तमान समय में ध्वनि और प्रकाश की नई तकनीक के प्रयोग तथा इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के प्रयोग द्वारा जात्रा के प्रस्तुतीकरण को और भी अधिक समृद्ध बनाया गया है।

बिहार में जात्रा लोक नृत्य के रूप में उरांव जनजाति जो कि नेपाल से विस्थापित एक जनजाति है, के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। उरांव जनजाति के तीन प्रमुख लोक नृत्य हैं जत्रा, कर्मा तथा जदुर।[5]

जात्रा की विषय-वस्तु : भारतवर्ष के विभिन्न क्षेत्रों में प्रचलित अन्य लोकनाट्यों के समान ही जात्रा लोकनाट्य की विषय वस्तु भी मूल रूप से पौराणिक तथा धार्मिक आख्यानों पर केंद्रित होती है। 12वीं शताब्दी में राजा लक्ष्मण सेन की दरबारी कवि जयदेव ने गीत गोविंद की रचना की। गीत गोविंद के अनेक

पदों का प्रयोग 15वीं शताब्दी के पश्चात चैतन्य महाप्रभु द्वारा प्रचारित यात्रा में देखा जा सकता है। पौराणिक प्रसंगों और अन्य ऐतिहासिक नायकों के अतिरिक्त अनेक जात्रा नाटक भिन्न-भिन्न कथावस्तु के साथ भी प्रदर्शित किए जाने लगे। **सन 1473 से 1480 के मध्य वर्धमान क्षेत्र के कुलीन गांव के निवासी मालाधर बसु ने प्रथम बांग्ला साहित्य की रचना 'श्री कृष्णा विजय' नाटक लिखा।**[6] 1494 में जसिराज खान ने 'कृष्ण पांचाली' नाटक लिखा और 1495 में बशीरहाट के विप्रोदास पिपलाई ने 'मानस विजय' जात्रा लिखा। चट्टोग्राम के कविंद्र परमेश्वर ने 'पांडव विजय' जात्रा लिखा। इसके बाद से बंगाली नाटकों के लेखन के विकास का चरण प्रारंभ हुआ। मानस (नागदेवता), की कहानियां चंडी तथा अन्य स्थानीय पौराणिक कहानियां भी रामायण तथा महाभारत के प्रसंगपर आधारित जात्राओं के समक्ष ही प्रस्तुत की जाने लगीं।

Contribution of learning

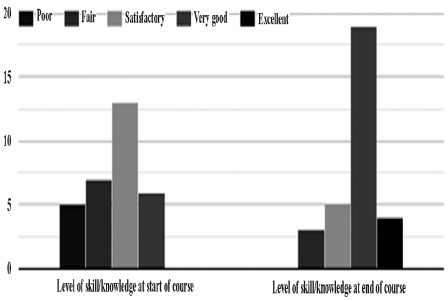

15वीं शताब्दी के आसपास बंगाल के बांकुरा-वीरभूमि क्षेत्र के बारु चंडीदास ने 'श्री कृष्ण कीर्तन' लिखा। यह रचना राधा-कृष्ण के प्रेम पर आधारित थी, जिसे संवाद एवं गीतों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया। इस नाटक के प्रथम प्रकरण में राधा और कृष्ण का जन्म होता है, इसके पश्चात 12 और प्रसंग है जिनके नाम इस प्रकार हैं - **तांबुलाखंड, दंखंड, नौकाखंड, भारखंड, छात्रखंड, वृंदावनखंड, कालियादमनखंड, यमुनाखंड, हरखंड, वनखंड, वंशीखंड और विरहखंड**। इन सभी प्रसंग का प्रदर्शन एक दिन में प्रस्तुत कर पाना संभव नहीं था। इन सभी प्रकरणों के प्रत्येक खंड के साथ पाला शब्द को जोड़ने पर इन खंडों के नाम तांबुलखंड पाला, धनखंडपाला इत्यादि रखे गए। श्री कृष्ण कीर्तन में गीत मुख्यतः संवादोन्मुख होते हैं। इसलिए इनमें नाटकीयता का पट भी रहता है। इसके तीन प्रमुख पात्र हैं - श्री कृष्ण, राधा और बरई (संदेशवाहक) - तीनों ही पात्र अपने संवादों को गीतात्मक पदों के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं।

चैतन्य महाप्रभु द्वारा प्रचारित कृष्ण जात्रा को नटगीत के नाम से भी जाना जाता था नट गीत का अर्थ है संगीत के साथ नृत्य प्रदर्शन। कृष्ण यात्रा में भगवान कृष्ण से संबंधित अनेक प्रसंगों का नाटकीय चित्रण प्रस्तुत किया जाता था। यद्यपि ऐसे प्रमाण प्राप्त होते हैं, कि 15वीं शताब्दी के पूर्व में भी बंगाल क्षेत्र में कृष्ण कीर्तन तथा कृष्णा जात्रा की पूर्व प्रचलित परंपरा थी, परंतु चैतन्य महाप्रभु ने इसमें नवीन आयामों को जोड़ा। जात्रा पाला के विभिन्न रूपों के विकास के साथ पारंपरिक कला के रूप में कृष्ण जात्रा ने अपनी कलात्मक और प्रमाणिकता को बनाए रखा। चैतन्य महाप्रभु ने जात्रा प्रदर्शनों में वेशभूषा तथा रूप सज्जा के विकास में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया। उन्होंने श्री कृष्ण लीला जात्रा की रचना की तथा उसमें सखी भाव का अभिनय भी स्वयं किया। 1506 ई. में चैतन्य महाप्रभु ने गया यात्रा से वापस लौटने के पश्चात चंद्रशेखर के निवास में रुक्मिणी हरण में रुक्मिणी की भूमिका निभाई। चैतन्य महाप्रभु के पश्चात कुछ समय तक जात्रा नाटकों में कोई उल्लेखनीय विकास के प्रमाण नहीं प्राप्त होते हैं, परंतु 18वीं शताब्दी में शक्ति जात्रा, नाथ जात्रा, पाल जात्रा, कृष्णा जात्रा का कालिया दमन प्रसंग मे आम जनमानस लोकप्रियता के शिखर को छुआ। इस शताब्दी के अंत में भरतचंद्र का 'विद्या सुंदरपाल' जात्रा अत्यंत लोकप्रिय हुआ। इसी समय जात्रा में कुछ ऐसे मनोरंजन तत्वों का समावेश हुआ, जिसने जात्रा के वास्तविक स्वरूप को स्तरहीन मनोरंजन की

श्रेणी में ला दिया। जात्रा प्रदर्शन के इस पतन काल में इसे पुनः प्रतिस्थापित करने का श्रेय शिशुराम अधिकारी को जाता है। उन्होंने स्वयं जात्रा नाटकों में प्रदर्शन किया तथा गायन के अधिक प्रयोग के स्थान पर गद्य रूप मे संवादों का प्रयोग प्रारंभ किया। इत्यादि जात्रा नाटकों के प्रचलन के साथ-साथ सामाजिक बदलाव के फल स्वरुप जात्रा नाटकों की विषय-वस्तु में भी परिवर्तन देखने को मिलते हैं। विषय-वस्तु के आधार पर यात्रा नाटकों को 8 विभागों में वर्गीकृत किया जा सकता है-

1. पौराणिक तथा भक्ति परक
2. ऐतिहासिक
3. राजनीतिक
4. सामाजिक
5. अर्ध ऐतिहासिक तथा रूपक
6. जीवनी
7. प्रसिद्ध साहित्यिक कृतियों का नाटकीय रूपांतरण
8. विदेशी नाटकों की अनुकृति अथवा अनुकूलन

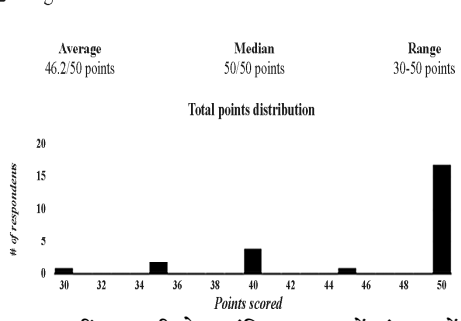

18वीं शताब्दी के प्रारंभिक चरण में बंगाल में हुए सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक बदलावों का प्रभाव जात्रा नाटकों पर भी पड़ा, फलस्वरुप आमजनों के दैनिक जीवन के प्रसंग पर आधारित नाटकों का प्रदर्शन भी आम जनमानस के आकर्षण का केंद्र बनने लगा।

19वीं शताब्दी के प्रारंभिक चरण में प्रेमचंद अधिकारी ने कृष्ण जात्राओं में कृष्ण की भूमिका अभिनीत की तथा जात्रा को पुनः बंगाल के लोकप्रिय नाट्य रूप के रूप में प्रतिष्ठा दिलाई। उनके शिष्य बदन अधिकारी ने भी इसी परंपरा का निर्वहन कर बदन जात्रा नामक जात्रा कंपनी की नींव रखी। लगभग इसी समय परमानंद अधिकारी की कंपनी, कृष्ण कमल अधिकारी की कंपनी, गोपाल रे की कंपनी इत्यादि जात्रा कंपनियां जात्रा नाटकों को प्रदर्शित करने वाली प्रमुख कंपनियों के रूप में प्रसिद्ध हुई। इनके द्वारा खेले जाने वाले प्रमुख जात्रा कृष्ण जात्रा, राम जात्रा, मनशर भाषण, शिव जात्रा, चंडी जात्रा इत्यादि थे। **इन जात्रा कंपनियों के समानांतर बांग्लादेश में नूतन जात्रा नाम से धनाट्य वर्ग द्वारा संचालित जात्राओं का प्रचलन भी धीरे-धीरे बढ़ने लगा। इन जात्राओं के मुख्य कथानक समसामयिक विषय पर केंद्रित होते थे, जिनका मुख्य उद्देश्य मनोरंजन मात्र था, परंतु इसमें एक प्रमुख बात यह थी कि वर्ष 1849 में रामचंद मुखोपाध्याय के समूह द्वारा नंदा विदाई नामक जात्रा प्रदर्शन में महिलाओं ने भी पहली बार प्रतिभाग किया।**[9] इसी के साथ कीर्तन तथा संवाद हेतु शास्त्रीय राग-रागिनियो, टप्पा, ख्याल, हफखरे आदि का प्रयोग भी जात्रा नाटकों में होने लगा। नल दमयंती पाला, राजा विक्रमादित्य, नंदा बिदोय और विद्या सुंदर पाला तत्कालीन प्रचलित प्रमुख जात्रा नाटक थे, जो कि अपने समय के सर्वाधिक प्रचलित तथा प्रसिद्ध नाटकों में गिने जाते हैं।

19वीं शताब्दी के दौरान प्रतिष्ठित नाटकों में 'नल दमयंती' का नाम प्रमुख है, जो कि महाभारत के कुछ प्रसंगों पर आधारित था तथा कृष्णा जात्रा की विषय वस्तु से भी जुड़ा हुआ था। लगभग इसी समय जात्रा के एक अन्य रूप श्विद्या सुंदर जात्रा, जिसमें धर्म निरपेक्षता का विचार समाहित था, ने ग्रामीण क्षेत्रों और विभिन्न समुदायों के लोगों को अत्यधिक आकर्षित किया।

जात्रा में संगीत - जात्रा नाटकों में गीत निश्चित होते थे, परंतु संवाद पूर्व निर्धारित नहीं होते थे। अन्य

लोकनाट्य के समान ही इसमें गायक अथवा अभिनेता गीत के साथ-साथ संवाद भी नाटक के प्रदर्शन के दौरान ही बोलते थे तथा पुरुष-पात्र ही महिलाओं के पात्रों को भी अभिनीत करते थे। 19वीं शताब्दी के द्वितीय चरण में हुगली कॉलेज के प्रोफेसर मनमोहन चट्टोपाध्याय ने जात्रा नाटकों की वेशभूषा रूप सजा, संगीत, वाद्य यंत्र तथा नृत्य में व्यापक परिवर्तन किया। जिसे उनके बाद के कलाकारों मोतीलाल राय, बृजमोहन राय, परमानंद अधिकारी, श्री रामदास सुबोध दास ने भी अपनाया। मनमोहन चट्टोपाध्याय ने जात्रा हेतु प्रयुक्त संगीत को शास्त्रीय आधार प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसके साथ ही इससे पूर्व पुरुष तथा स्त्री पात्रों की आवाज को पुरुष ही स्वर देते थे, उन्होंने स्त्री पात्रों के गीतों में किशोर युवकों के स्वर का प्रयोग किया। जिससे जात्रा में ''जुरही गान'' का प्रचलन प्रारंभ हुआ।[10]

जात्रा में संगीत की एक समृद्ध परंपरा रही हैए जो जात्रा को अत्यंत प्रभावशाली बनती है। इस जात्रा की परंपरा में शास्त्रीय एवं लोक संगीत दोनों का ही समावेश किया जाता है। जात्रा के अभिनेताओं व अभिनेत्री को अभिनय के साथ-साथ गाना भी अनिवार्य होता हैस ऐसे कम ही अभिनेता व अभिनेत्री होंगे जिन्हें शास्त्रीय संगीत के रागों का ज्ञान ना हो। जात्रा में नाटक के संवाद के साथ-साथ नाटक में निहित भाव को चरम अवस्था तक पहुंचाने एवं रस युक्त संगीतिक वातावरण बनाने में रागों की विशेष भूमिका होती है। प्रार्थना के गीत, विरह के गीत या अन्य श्रृंगारिक गीत अधिकांश रूप से शास्त्रीय रागों पर आधारित होते हैं। जात्रा में सबसे अधिक प्रयोग किए जाने वाले रागों में भैरव, भैरवी और बागेश्वरी है। ऐतिहासिक व पौराणिक कथानक संबंधी नाटकों में राग सदैव उस काल के भाव को इंगित करने व भाव को स्पष्ट करने के लिए प्रयोग किए जाते हैं। छोटे पात्रों जैसे- माली, सेवक, भिक्षु आदि के अभिनय के समय लोक संगीत (कीर्तन या भटियाली) का प्रयोग किया जाता है। जात्रा की परंपरा सदैव संगीत के कारण ही गतिमान रही है।

जात्रा के गीत बंगाल के लोगों द्वारा गाए जाते रहे हैं और यह बंगाल की सांस्कृतिक स्मृतियों में भी अंकित है। कुछ जात्रापालों (जात्रा संगीतकार) ने इतिहास में अपना महत्वपूर्ण स्थान बनाया है, जैसे - परमानंद (1733-1823), गोविंद अधिकारी (1810-1887), मनमोहन चट्टोपाध्याय और मुकुंद दास (1878-1934)। बंगाल में अनेक प्रकार की संगीत परंपराओं को धीरे-धीरे जात्रा में जगह मिल गई, उनमें से लेटोगान, कबिगान, भादुगान, कीर्तन, कॉथा-कॉथा गीत प्रकार अत्यंत महत्वपूर्ण है। जात्रा के संगीत पक्ष को विभिन्न भागों में बांटा गया है जो निम्न है-

प्रस्तावना गान-यह एक परिचयात्मक गीत है, जो नाटक के विषय वस्तु से परिचित कराता है।

कबिगान -19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में पाया गया कि आम जनता में प्रसिद्ध कबिगान जो कि अत्यंत श्रृंगारिक थे, वे भी जात्रा में शामिल हो गए। यह गीत कभी-कभी मात्र श्रृंगारिक न होकर के अभद्र व अश्लील भी हो जाते हैं।

जुर्ही गान - जब अभिनेता स्वयं गायक होता है और वह नाटक के भाव के अनुरूप गायन करता है तब उसे जुर्ही गान कहते हैं।

दोहर गान - गायकों के समूह को दोहर कहते हैं, जिसके दो प्रकार हैं-1-आग दोहर 2-पच दोहर। जब समूह में व्यक्ति पात्र के लिए गाता है तब वह समूह का नेतृत्व करता है वह आग दोहर कहलाता है, बाकी एक समूह के रूप में शामिल हो वह पच दोहर है।

एकाने बालकेर गान-एकाने शब्द से तात्पर्य है अकेला और बालक शब्द स्वतः ज्ञात है। यह गीत बालक अथवा व्यक्ति के दुःख को दर्शाता है।

गणेर गण गान - इससे तात्पर्य है कि यह एक जन गीत है और जिसमें समाज को जागरूक करने का भाव निहित हो तथा गीत धार्मिक विषयों पर आधारित हो।

जात्रा युगल गान - इसमें स्त्री पुरुष का युगल गीत संवाद के रूप में शामिल होता है।

जात्रा में प्रयोग होने वाले वाद्य यंत्रों में तबला, पखावज, खोल और वायलिन के विभिन्न रूप है। प्राचीन समय में पिंगा एक तंत्र युक्त वाद्य था, जिसे गज के माध्यम से बजाया जाता था, उसका नाम परिवर्तित करके 'बाहुलिन' कर दिया गया, जिसका अर्थ होता है बाहु पर रखकर बजाए जाने वाला वाद्य यंत्र और इसी से बेला या वायलिन आया। शहनाई, हारमोनियम, वायलिन, सितार, बांसुरी, तबला, झांझ आदि पारंपरिक वाद्य यंत्रों का प्रयोग यात्रा के साथ किया जाता था, परंतु आधुनिक समय में गिटार, कीबोर्ड, सैक्सोफोन, ऑक्टोपैड एजैज़ सेट और कांगो जैसे- इलेक्ट्रॉनिक उपकरणों का प्रयोग भी यात्रा में किया जाता है।

1980 के दशक में यात्रा प्रदर्शन में प्रयुक्त गयनशैलियों में बहुत सारे परिवर्तन हुए, परिवर्तन के इस दौर में संगीतकार प्रशांत भट्टाचार्य रघुनाथ दास सुनील बरन समरेंद्र घोष उज्जवल विश्वास और स्वप्न प्रकाशी इत्यादि संगीतकारों ने मूलरूप को न बदलते हुए अनेक मौलिक रचनाएं लिखीं।[12]

प्रारंभ में जब यात्रा नाटक होते थे, तो उनका मंच सीधा और सरल होता था। जो किसी ऊंची और खुली जगह अथवा मंदिर के चबूतरे पर बनाया जाता था। आधुनिक तकनीक के विकास से इन मंचों का स्थान प्रेक्षागृहों ने ले लिया है, परंतु ग्रामीण बंगाल में आज भी जात्रा का प्रदर्शन सम्पूर्ण रात्रि चलता रहता हैं एवं जिसका आयोजन गाँव के किसी खुले स्थान या गाँव के किसी धनी व्यक्ति के प्रांगण में किया जाता हैं। जात्रा के साथ कबिगान एवं पांचाली को धनी वर्गों एवं ग्रामीणों द्वारा विभिन्न उत्सवों व आयोजनों पर संरक्षण प्रदान किया गया। कहीं-कहीं सभा मंडप बनाकर प्रेक्षकों के लिए दरी कंबल आदि बिछा दिए जाते हैं। जिसके चारों ओर पेट्रोमैक्स (लालटेन) जलाई जाती है। सभा के बीच एक पर्दे का विधान रहता है जिसके पीछे अभिनेता वेश आदि बदलते हैं। यदि मंच पर सिंहासन की आवश्यकता हो तो उसके स्थान पर लकड़ी की कुर्सियां रख दी जाती हैं जिन पर रेशमी अथवा सूती वस्त्र डाल दिया जाता है। संगीतकार एक तरफ बैठे होते है, जो मुख्यतः अवनद्ध वाद्य जैसे- ढोल या पखावज और काँसी या झांझ बजाते है। साथ ही हारमोनियम, वॉयलीन, बाँसुरी या शहनाई द्वारा भी संगत की जाती है। अनुबोधक (Prompter) द्वारा बीच-बीच में कथानक के अनुसार उदबोधन किया जाता है।[13]

प्रदर्शन के समय जिस भी वस्तु की आवश्यकता होती है वह प्रेक्षकों के सामने ही मंच पर लाई अथवा हटाई जाती है दृश्य या दृश्यावलियों की किसी को चिंता नहीं होती दर्शक अपनी कल्पना से सभी दृश्यों के साथ तादात्म्य में स्थापित कर लेते हैं।[14]

जात्रा का आधुनिक स्वरूप - स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात बंगाल में आए सांस्कृतिक बदलाव का व्यापक प्रभाव जात्रा पर भी पड़ास ग्रामीण बंगाल के इस प्रमुख मनोरंजन उद्योग में कृष्ण व शक्ति जात्रा के साथ-साथ धर्मनिरपेक्ष जात्राओं ने भी अपना स्थान बनाना प्रारंभ कर दियास बांसुरी, ढोल इत्यादि वाद्य यंत्रों के स्थान पर आधुनिक आर्केस्ट्रा का प्रयोग तेजी से होने लगा साथ ही प्रोसिनियम नियम स्टेज का प्रभाव भी जात्रा पर स्पष्ट रूप से देखा जाने लगा। टेलीविजन तथा सिनेमा ने भी जात्रा के विषय वस्तु, इसके प्रदर्शन, वेशभूषा पर व्यापक प्रभाव डाला। औपनिवेशिक काल में अंग्रेजों द्वारा जात्रा के मूल उद्देश्य से भटकाकर जात्रा प्रदर्शन में निम्न कोटि के मनोरंजन को भी शामिल कर लिया गया, जिससे जात्रा को नीरस व अश्लीलता की श्रेणी में ला दिया। फलस्वरुप ग्रामीण मनोरंजन की यह लोकप्रिय विधा समाज में सम्मान की दृष्टि से नहीं देखी जाने लगी, क्योंकि अंग्रेजों का लक्ष्य था कि देश के मूल निवासी अपनी लोकप्रिय संस्कृति से दूर रहें और इस प्रकार वे अपने लक्ष्य में कुछ हद तक सफल भी रहे। धर्मनिरपेक्षता, शैलीकरण तथा प्रतिनिधित्व के मामले में आधुनिक जात्रा का श्रेय 19वीं सदी के लोकप्रिय जात्रा लेखक मोतीलाल राय को जाता है। जो की

गिरीश घोष के समकालीन थे। उन्होंने कालिया दमन, वस्त्रहरण तथा ब्रजलीला इत्यादि पौराणिक विषय वस्तु पर आधारित जात्राओं को नवीन कलेवर प्रदान किया तथा उनमें नवीनता का समावेश कर ग्रामीण बंगाल के लोगों को नाटक की भव्यता से परिचित कराया। 20वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ग्रामीण बंगाल की संस्कृति के वास्तविक स्वरूप को समझकर जात्रा लेखक बृजेंद्र डे, फणीभूषण विद्या विनोद, उत्पल दत्त, भैरव गांगुली ने अनेक प्रसिद्ध जात्रा नाटकों का लेखन किया।

फणीभूषण विद्या विनोद ने मायेर देश, रामानुज, रूप साधना जैसे- नैतिक मूल्य परक तथा धर्मनिरपेक्ष और राष्ट्रवाद से संबंधित जात्राओं का लेखन किया। 1960 से 70 के दशक में साम्यवाद की लहर के कारण जात्रा ग्रामीण बंगाली लोगों के मध्य राजनीतिक भागीदारी बढ़ाने का एक सबक माध्यम बना। शंभू बाग ने हिटलर 1967, घूम बांगर गण 1967, रक्त कथा अफ्रीका 1971, लेनिन 1969 इत्यादि प्रसिद्ध नाटकों का लेखन किया। सौरेंद्र मोहन चट्टोपाध्याय के जात्रा नाटक बंगाल की राजनीतिक चेतना को बदलने का साधन बने।

इसके अतिरिक्त 1990 तथा 2000 के शुरुआत में भीड़ के आकर्षण तथा दर्शकों की संख्या को बढ़ाने के लिए जात्रा प्रदर्शन के साथ-साथ जादू का शो या सर्कस को भी इसके साथ में सम्मिलित कर दिया गया। जात्रा की विभिन्न कंपनियों में भी आपसी प्रतिद्वंद्विता की शुरुआत हो गई। 1970 के दशक तक दर्शन ही जात्रा गान के सबसे बड़े आलोचक के रूप में पहचाने जाते थे जात्रा एक ही जगह पर 5 से 6 दिन होता था। यदि किसी दिन प्रदर्शन में कोई कमी रह गई तो अभिनेता अपने कमरे से बाहर नहीं जा सकते थे दर्शकों की भीड़ उनकी आलोचना करती थी। प्रोसिनियम मंच के आने से दर्शक तथा कलाकारों के बीच यह अंतर आ गया। इसके साथ ही अभिनेताओं का दर्शकों के साथ सीधा संबंध एक प्रकार से समाप्त हो गया।

1960 के दशक से वार्षिक जात्रा महोत्सव का आयोजन अत्यंत विस्तृत एवं विशाल मंच पर किया जाने लगा। **सन् 1968 में विद्याविनोद को संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार प्राप्त हुआ एवं सन 1976 में सुरज्या कुमार दत्त द्वारा जात्रा के अस्तित्व की वैधता सिद्ध करने हेतु अनेक कार्य किए गए, जिसके फलस्वरूप जात्रा के विभिन्न पक्षों पर आधारित प्रचार, सेमीनार, समाचार-लेखों ने कलकत्ता में जात्रा के प्रदर्शन हेतु जागरूकता उत्पन्न की एवं पलाकर (लेखकों) द्वारा नवीन आविष्कार के साथ चरित्र के अनुरूप संवाद लिखे जाने लगे, हास्य व्यक्तित्व के लिए उसके अनुरूप पलास, ऐतिहासिक एवं आध्यात्मिक पलास उदारता के साथ जटिल भावों के लिए लिखे गए।**

स्वप्न कुमार तथा उत्तम कुमार को लोकप्रिय सिनेमा को यात्रा के मंच पर लाने का श्रेय जाता है। उन्होंने सप्तपदी, सन्यासी राजा, स्त्री आदि नाटकों का सफल मंचन किया है। वर्तमान समय में अनेक बंगाली फिल्मों और धारावाहिकों की कहानी को जात्रा के खुले मंच पर प्रदर्शित किया जाता है। वर्तमान समय में जात्रा नाटक न केवल भारतीय समसामयिक विषयों पर केंद्रित है बल्कि अनेक प्रसिद्ध यात्रा नाटकों की विषय वस्तु पश्चिमी देशों के रचनाकारों की कृतियों पर भी केंद्रित है। शेक्सपियर के प्रसिद्ध नाटक मैकबेथ को भी जात्रा नाटकों के माध्यम से प्रदर्शित किया जा चुका है। इसके साथ ही मल्टीमीडिया तथा बाजारवाद के प्रवेश ने आज के यात्राओं को आधुनिकता की दौड़ में शामिल कर दिया है। इलेक्ट्रॉनिक लाइट, माइक्रोफोन, प्रोजेक्टर, मूवेबल स्टेज, डायनेमो इत्यादि के प्रयोग से जहां एक ओर जात्रा प्रस्तुतियां अत्यंत आकर्षक बन गई है वही और इन प्रस्तुतियों की लागत भी बढ़ गई है। इसके साथ ही जात्रा प्रदर्शन में महिला कलाकारों का भी प्रवेश हो चुका है। यद्यपि कुछ पारंपरिक जात्रा कलाकारों ने प्रदर्शन में तकनीक के अत्यधिक प्रयोग के प्रति अपनी अस्वीकारिता भी दिखाई है।

निष्कर्ष - अतः स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि जिस प्रकार समस्त कलाओं का उद्भव समाज के कल्याण के लिए हुआ, उसी प्रकार जात्रा लोकनाट्य का उद्भव भी सामाजिक उत्थान व भक्ति भावना को प्रेरित करने के लिए हुआ। इस नाट्य कला को उत्कर्ष पर ले जाने व समृद्ध बनाने में समाज के विभिन्न कला साधकों, जात्रा लेखकों और जात्रा के कलाकारों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। जिस प्रकार प्रत्येक कला पर कतिपय सामाजिक विकृतियों व समाज के अन्य कारकों का प्रभाव पड़ता है, उसी प्रकार जात्रा लोकनाट्य पर भी तत्कालीन सामाजिक विकृतियों का प्रभाव पड़ा। किंतु इसके बावजूद भी अनेक कलाकार इसकी मौलिकता व सौंदर्य को बनाए रखते हुए आधुनिक रंगमंच की तकनीक का सार्थक प्रयोग कर इस कला का संवर्धन कर रहे हैं और इस प्राचीन लोकनाट्य परम्परा को प्रवाहमान बनाए हुए हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1. त्रिपाठी, वशिष्ठ नारायण (2001) भारतीय लोकनाट्य, नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन।
2. भारद्वाज, डॉ. लक्ष्मीनारायण (1992), रंगमंच लोकधर्मी- नाट्यधर्मी, गाजियाबाद : के. एल. पचौरी प्रकाशन।
3. पाटिल, मनोज (2013), भारतीय रंगमंच की परम्परा, नई दिल्ली : रोहित पब्लिकेशंस।
4. ठकराल, रमेश (2013), नृत्य एवं संगीत कला, नई दिल्ली : रोहित पब्लिकेशंस।
5. Lal, Ananda.(2009). Theatres of India. New Delhi: Oxford University Press.
6. Manochhaya, Katia Légeret.(2018). Dance Theatre of India Crossing New Aesthetics and Cultures. New Delhi: Niyogi Books.
7. Chaitarjee, Suniti Kumar. (1956). Indian Drama, Publication Division, Ministry of lnformation and broadcasting Government of India,
8. http://epgp.inflibnet.ac.in/epgpdata/uploads/epgp_content/S000451PA/P001528/M016687/ET/1466161390P2M25TEXT.pdf
9. https://www.indianetzone.com/59/music_jatra.htm#:~:text=Types%20of%20Music%20in%20Jatra,ragas%20always%20evoke%20the%20period
10. https://www.academia.edu/62602309/Jatragaan_in_Bengal_A_Study_in_Musical_Traditions
11. https://postscriptum.co.in/wpcontent/uploads/2020/08/pS5.iiArpita.pdf
12. https://www.sahapedia.org/tag/jatra
13. https://www.thehindu.com/society/history-and-culture/at-majuli-the-masks-come-out-on-full- moonnights/article33169260.ece
14. https://www.jetir.org/view?paper=JETIRDS06121
15. https://www.researchgate.net/publication/354667721_Crossings_with_Jatra_Bengali_Folk-theatre_Elements_in_a_Transcultural_Representation_of_Lady_Macbeth
16. https://youtu.be/_gQBf8MGQaE?si=CI7yGmE8VRcubd7v
17. https://youtu.be/eF5mywq0lbM?si=c96sK3qbNPVwGXf3
18. https://youtu.be/Fn0jlx5q9k0?si=cOd7Ncqgv163vF1s

"Inherent Musical Characteristics in Goan Folk Theatre Form - *Gawda Jagor*"

Dr. Saish Deshpande
Theatre Director, Music Designer and Academician,
Panaji – Goa, 403001.

Voices were used as an expression of human impulses like fear, anger and joy. Exaggeration being one of the inherent human inclinations, the desire to embellish voices for dramatic effect resulted in primeval vocal (thus musical) expressions. The rituals have always been accompanied by fertility songs, chorus singing, chants, ceremonial drumming and funeral hymn. This ceremonial singing and the narrative styles have influenced folk theatre styles that are practiced during annual community gatherings.

> Jukka O. Miettinen mentions that,
>
> India is said to be home to many archaic rituals cherished by small rural communities for several centuries of which some are age-old classical traditions of dance-drama related to the *Natyashastra*, while, others are popular forms of folk entertainment reflecting the changing tastes of their audiences. To visualise their narration, all of these forms have used mimetic performances by a single actor-dancer and also by a group with songs and dances [01].

Just as in the Indian sub-continent, 'Music' has been an inherent element in all of the rituals and performing art forms of Goa. All of the primary sounds of rituals take the form of functional music in the ritualistic and folk theatre forms and *Gawda Jagor* is one of them.

2. Goan Folk Theatre form, *Gawda Jagor* :

During their known cultural heritage spanning over more than 2000 years of life, the *Gawdas* of Goa have witnessed the changing colours of history which has left numerous shades on them. The changing world as seen by them is reflected through their annual ritualistic theatrical performance, the *Jagor*.

The performing ritual does not have a particular story as such but different characters with different characteristics are presented or exhibited through songs on a sanctified circular space known as *'Maand'*.

Gawda Jagor presents a creative usage of costumes, headgears and props. Use of props usually consists of material improvised from whatever that is available in the surrounding. Their creative use enhanced by colourful costumes adds to the theatricality while comedy remains integral to the performance.All female characters are usually portrayed by the males.

According to senior folklorist Vinayak Khedekar,

> "*Gawda Jagor* performance has till date witnessed around sixty to seventy characters depicting as many human tendencies. Each of them arrives,sings, dances, narrates and exits. Sometimes, characters also present a parody of any current event or take a jibe at local leader. The whole performance reflects a spontaneous outburst of folk creativity. Some members of the community also perform as a part of a penance or a vow" [02].

This is the most reigning extant theatre form witnessed around Goan villages of Chimbel, Nauxi and Shiridao (all near Panaji), Karmali (on the Panaji Ponda road) and Priol, Veling, Curti, Bandivdem (Ponda taluka) around the month of May every year.

2.1. Features of *Gawda Jagor* :

- It is a Ritualistic dramatic performance.
- It is performed by members of the Gawda community for themselves.
- The performance has a designated time and space.
- *Gawda Jagor* is performed as a ritual and not for entertainment.
- Everyone present is a part of the performance.
- The structure is very much associated to the surroundings and is flexible.
- It is practiced to awaken the divine and supernatural forces and seek blessings.
- The ritualistic drama is performed out of the community's own motivation.

3. Importance of Music :

The performance of *Gawda Jagor* has its own conventions. The group is led by a '*Maand Mukheli'* – leader of the performing space – who brings together and coordinates the presentation of the ritual. He ensures the observance of the sequence of entry and exit of each character through the musical interludes. This is executed with the help of various rhythm patterns supplemented by songs.

Each of the *Sawang* – character – adds to form a series of independent theatrical skits that combine song and dance sustained with simple theatrical acting. The *Maand* provides an opportunity to the members to sing and dance whilst performing the various *sawang* individually or in a group as a ceremonial rite.

The convention of presenting all skits invariably in the form of verses or lyrical rhythmic recitations, emphasises the importance of the element of its 'Music'. Rythm and Tempo not only dictate the flow of the presentation, but also decide the graph of the ritualistic performance. The opening convention of invocation as well as the concluding rite of thanksgiving are configurated on music. At every step, 'Music' not only accompanies but also carries the ritual forward.

It is intresting to note that the concluding of the *Jagor* is signified by the symbolic 'upturning the musical instruments' which clearly hints to 'Music' being an indispensable component in the folk performing ritual.

3.1. Use of Music :

While witnessing the performances, it was observed that after entering the *Maand*, the character sings out the first

line and then dances as the chorus reciprocate. Each song denotes the characteristics of the *sawang* and thus is like an independent incident enacted. The episodes are independent of each other and seldom interlinked. It should be noted that none of the songs or the sequence of their presentation is scripted. The entire *Jagor* along with its musical patterns are passed on through the oral tradition.

The researcher after studying performances of *Gawda Jagor* at Veling, Chimbel and Nauxi, noticed that :

1. *Naman* is the first song after the preliminaries and is sung in unison. Other songs by the chorus are sung to help in enactment of the character and to support the stylised actions.
2. The songs are often limited to the basic three or four notes and sung without a formal scale.
3. During presentation,a member of the chorus also reacts rhythmically and an interaction with the character as well as the audience takes place.
4. The performance utilises the element of 'Music' for the following :
   a) To call out to the members of the community at the sanctified space, the *Maand*,
   b) To set the mood of the ritual and the performance,
   c) To invoke and appeal to the supernatural powers and deities through chants and songs sung both in solo and in a chorus,
   d) Introducing the characters,
   e) To describe the characteristics while aiding the dance movements and
   f) As an instrumental accompaniment for musical interludes.

4. Characteristics of the 'Music' component :

Gawda Jagor performance is an assemblage of musical skits imbibed in dance.The songs unique in their rendition style change with the characteristic of each character that enters and hence the texture of each song varies from each settlement and village to village.This has given birth to a range of lyrical compositions sung to an equally diverse range of tempo and rhythmic variations.

Alexander Henn states,

> The *jagar / zagor* practitioners take the bodily activities of the ritual, that is, the drumming, dancing and singing, in precisely that order, to evoke the presence and effect the protective forces of the gods, saints and ancestors therefore, in most villages, the dancers always face the oil lamp during their performance, thus turning their backs on their human audience sitting around or in front of the stage[03].

The performer or sometimes the *Maand Mukheli* on his behalf, sings out the first line as each character is introduced and while he dances,the *Maandeli* – chorus – repeat the line in the same pitch. Each performer thus begins in a tone that suits his character and in a pitch that suits him whereas the tempo reflects the emotion of the characteristic. The entire Music is produced through voices and indigenous rhythmic instruments.

4.1. Musical instruments :

Gawda Jagor is performed on the accompaniment of only the percussion instruments. Traditionally, there has been no melody instrument to decide and fix the common note or to determine the range

of a particular musical scale. It is the Percussion instruments that decide the tempo and rhythm of each characteristic.

The instruments used during the performance are :

a) Kaansallem (cymbals),

b) Ghumot - a percussion instrument of earthen vessel with a drum membrane mounted on the bigger opening.

c) Dob or *Doph* - small drum with the membrane on one side and played by a stick.

The major rhythm pattern is played on the *Ghumot* while the *Dob* or *Doph* provides the bass structure. The side rhythm and the treble tone are lent by the *Kaansallem.* This contributes to a well balanced audio arrangement.

However, the researcher has lately observed the introduction of the foot operated harmonium as an accompanying instrument for enhancing the dramatic effect.

4.2. Rhythms :

Rhythms used to accompany the enactment of every character differ in style and tempo. None of these rhythm patterns are similar to the commonly established folk or classical *taal.* They are similar to the established rhythms only through their *Matras* – count value. The patterns played in the performance of *Jagor* are original in their structure and belong to the form itself.

Most commonly observed rhythmic beat patterns in the performance of *Gawda Jagor* are,

a) The plain 04 beats rhythm,

b) The familiar 08 beat cycled plain progression,

c) The swaying 06 beats,

d) The intricate 07 beat cycle.

Most significant is the *Modd* – break – in the rhythm which is a kind of a signal suggesting a change. The *modd* is most prominently sounded and is important for the performer to change the step or start the next line or simply his cue for exit.

4.3. Melodies of *Gawda Jagor* :

The melodies or tunes incorporated in a *Gawda Jagor* performance have been crafted to suit the emotion of the character being presented. The pitch does not remain common but varies according to the sentiment of the characteristic. Songs are not sung as an accompaniment to the dances but the dance like movements of the characters represent the song.

Each song at times is presented in a different scale and many times, the tempo changes too. This freedom is taken by the performer while he introduces his character by singing the first line. Certain melodies are exclusive, completely different from other styles of regional music. The songs have been passed on by oral tradition while the characters, by convention.

After examining the songs performed at Veling, it is noticed that the melodies can be broadly grouped in to 'Conventional' and 'Innovative'.

a) Conventional melodies :

It is viewed that *Gawda Jagor* incorporates certain tunes that are identifiable with the form. They seem to have evolved along with the form itself. These few that are traditionally associated to the performance are either,

i. Primordial and originated as a necessity or,

ii. Influenced by the then prevailing sources like folk songs and folklore.

Vinayak Khedekar feels that,

> "Both *Magnne* – invocation – and the concluding *Saangnne* – thanksgiving – of the (Gawda) *Jagor* are similar to the *Zhaado,* a type of chanting of the *Kulmi* community of Goa. However, all of these have originated from the primitive hymns" [04].

After understanding and analysing the melodies, the researcher has drawn the following inferences,

- The *Naman* sung at the beginning especially the prayer '*Aadhivan naman paile jaana...'* or '*Naman maajhe saiba bhoomi mandala...*' and '*Dhone dhone deva bhagevanta...*' more noticeably show traits of the primitive style of reciting.
- It is observed that like the *Vedic* chants which also are a descendent of primitive music, *Naman* and other such songs do not exhibit variety of notes but follow the combination of three notes.
- Unlike the use of minor keys or *komal swar* used in *Vedic* chants, *Naman* and the other traditional melodies use only *shuddha swar* – pure notes.
- The melodies of certain songs used to depict human characteristics seem to have been influenced by the folk songs of the region.
- Tunes from the folk culture like the *Hovi* or the *Dhalo* sung by the women folk are felt to have a likeness to certain traditional melodies of *Gawda Jagor* [05].

b) Innovative melodies :

New tunes seem to have seeped in the melodic structure of *Jagor* during the period from 15th to 18th century CE. These structurally different tunes can be categorised as innovative melodies. These were probably crafted with the influence of other cultures and customs.They are also a result of the introduction of new characteristics which were a reflection of the socio-cultural changes that occurred in Goa after early 1600. This also exposed the community to other traditional forms of music. These mainly include,

i) Formal Temple rituals :

Some of the songs accompanying the *sawang* that have been introduced in the later years suggest an influence of traditional singing styles of *Bhakti* movement. As the villages developed and extended their boundaries, the *Gawda* community gradually got acquainted with formal temple music like *Aarti* and *Bhajan*.

ii) Christian Culture :

After the arrival of the Portugese (1510), many of the Gawdas were converted to Christianity in the period between 1523 to 1570 CE. With the new faith, certain festivals like the *Intruz* started being celebrated. The festival brought in different melody patterns. These melodies have also added a diverse expression to the songs. This influence of the western style of music is noticed especially in the rhythm pattern.

It is to be noted that the entire melodic and rhythmic structure of the '*Gawda Jagor*' has been developed to suit the pronounced word and its Music is a reflection of the inherent melody and rhythm found in the language of *Gawdas.*

5. Conclusion :

a) *Jagor* derives its integrity and endurance from its participation as a community experience held together by its musical identity.

b) Music is not used as a support to the performance, but it is the guiding force to the annual ritual.

c) The indegenious folk instruments used in the performance namely the *Ghumot*, *Dob* and *Kansalle* are revered and are a part of the ceremonial rite.

d) Music exercised during the folk theatre performance has spontaneity and is the expression of the feeling of that particular moment.

e) It is the rhythm and tempo that denotes,decides and designs the progression of the performance.

f) While the rhythmic variations are vivid, the tunes are identifiable with the form.

g) There is no independent identity of the singer or the instrumentalist(s) but the musicians reflect as one component and one characteristic.

It can be concluded that, in *Gawda Jagor*, every convention and each progression is guided by and structured on its musical component. The musical structure here is not intellectually cultivated but is resourced and inspired from nature and the ambience. Songs portray the episode, its sentiment while the rhythm decides the emotional graph.

'Music' thus constitutes the major aspect of *Gawda Jagor* and is an inherent characteristic of this Goan folk theatre form.

Declaration - *This is an original work and has not been published anywhere else or send for publication*.

Declaration on conflict of interest- *I do not have any conflict of interest.*

References :

1. Miettinen, J.O, Asian Traditional Theater and Dance. Theatre Academy, Helsinki- https://disco.teak.fi/asia/early-literature-and-theatre/. Seen on 24 Jan 2019.
2. Vinayak Khedekar.Personal interview (Konkani).03 Nov 2018 – Raibandar,Goa.
3. Alexander Henn, "Ritual, History and Identity in Goa". *Rituals in an Unstable World: Contingency – Embodiment – Hybridity*. Edited volume with Klaus-Peter Köpping. (Frankfurt: Peter Lang, 2008) 217.
4. Vinayak Khedekar. Personal interview (Konkani). 12 Sep 2019 – Raibandar,Goa.
5. Dr. Saish Deshpande, unpublished thesis - *A study of Goan Traditional Theatre form; Kaalo and Goan Folk Theatre form; Gawda Jagor with special reference to 'Music'* – 2022.

प्राचीन भारतीय नाट्य परंपरा एवं हिंदी रंगमंच : एक अवलोकन

डॉ. संगीता कुमारी
सहायक प्राध्यापक (हिंदी)
जे. जे. कॉलेज (मगध विश्वविद्यालय), गया, बिहार

जिस तरह भारतीयता का निर्माण इसके विविध सामाजिक, सांस्कृतिक, भौगोलिक इकाई के समन्वय से हुआ है; लगभग उसी तरह कला, स्थापत्य, संगीत या साहित्यिक विधाएँ एक दूसरे के आदान प्रदान से ही अपनी एक पहचान बनाते हुए आगे बढ़ी हैं। कहानी, कविता, उपन्यास आदि की तरह ही नाटक भी साहित्य की एक विधा है पर यह अपने स्वभाव में ही एक मिश्रित विधा है और अपनी रंगमंचीय जीवंतता एवं दृश्य श्रव्य काव्य के रूप में स्थापित होने के कारण साहित्यिक जगत में इसका एक विशिष्ट स्थान भी है।

हिंदी-रंगमंच की ऐतिहासिकता पर दृष्टि देने से पहले रंगमंच के तत्वों की सामान्य जानकारी देना मुझे यहाँ उचित जान पड़ता है। इनमें सबसे प्रमुख है- कोई कथा-कहानी जिसके माध्यम से नाटककार कोई विचार या संदेश पाठक, स्रोता और दर्शक तक सम्प्रेषित करता हो। इसके अतिरिक्त अभिनेता जो नाटक के आलेख और दर्शकों के बीच एक पुल का काम करते हैं; आलेख (चाहे लिखित हो या मौखिक); स्थान (जिसे मंच, रंगभूमि अथवा प्रेक्षागृह भी है) जहाँ पर; नाटक का मंचन किया जाता है; दर्शक जो नाटक के प्रस्तुति आलेख को पढ़ने के लिए नहीं वरन देखने और सुनने के लिए आते हैं; दूसरे तकनीकी पक्ष जैसे मंच-सज्जा, वेश-भूषा, रूप-सज्जा, प्रकाश-सज्जा, अन्य दूसरे उपकरण आदि जो अभिनेता के साथ मिलकर प्रस्तुति की एक सम्पूर्ण रंगभाषा रचते हैं। इसके साथ-साथ कह सकते हैं कि नाटक एक द्विजन्मी विधा है अर्थात उसका पहला जन्म एक लिखित आलेख के रूप में और दूसरा उसकी प्रस्तुति में संपन्न होता है। यहाँ नाटक पहले या रंगमंच पहले यह अलग मुद्दा है; हाँ यह जरूर है कि दोनों एक दूसरे सम्बद्ध हैं।

भारतीय नाट्य परंपरा के सन्दर्भ में देखें तो यहाँ भी प्रस्तुति की दो शैली का उल्लेख है- लोकधर्मी और नाट्यधर्मी। नाटक के अनुसार रंगमंच का निर्माण हो या रंगमंच अनुसार नाटक ये प्रारम्भ से ही विवाद का मुद्दा रहा है। जयशंकर प्रसाद जैसे उच्च कोटि साहित्यकार ने 'इसकी जबरदस्त ढंग से स्थापना की है कि नाटक के लिए रंगमंच चाहिए, न की रंगमंच के लिए नाटक। इसमें कोई संदेह नहीं कि उनकी इस स्थापना में काफी दम है क्योंकि पहले रचना का ही जन्म होगा, तभी उसके अनुसार प्रदर्शन स्थल का निर्माण होगा। यह ठीक ऐसा ही है कि पहले किसी परंपरा की शुरुवात होती है और कालांतर में समय के एक दीर्घ अंतराल के बाद वह परंपरा शास्त्र के रूप में प्रतिष्ठित हो पाती है।' लगभग इसी तरह का मत रबीन्द्रनाथ टैगोर का है जब वह कहते हैं कि- 'यदि किसी अच्छे नाटक का अभिनय नहीं हो पा रहा है तो यह उस नाटक का नहीं वरन अभिनय का दुर्भाग्य है। इस तरह से टैगोर नाटक विधा की शक्ति क्षमता

का ही समर्थन करते नजर आते हैं जो पूरी तरह से शब्दों पर आधारित होता है।' इस बात को और भी बल मिलता है जब आधुनिक काल के श्रेष्ठ नाटककार मोहन राकेश यह कहते हैं कि नाटक की संरचना में ही रंगमंचीय संभावना होती है।

यदि रंगमंच की ऐतिहासिकता पर गौर करें तो इस के जन्म और विकास को महाकाव्यों में घूम-घूमकर गाने सुनाने की परंपरा, कथा गायन और कथा वाचन शैली से जोड़कर भी देख सकते हैं। इस तरह इनकी प्राचीनता महाकाव्यों, मिथकों और लोक-कथाओं की ओर लौटने की प्रेरणा भी देता है और अपनी ऐतिहासिकता सिद्ध करने के लिए कुछ स्तरों पर नाटक-रंगमंचीय परंपरा से जोड़कर देखने के लिए बाध्य भी करता है।

भारतीय परिप्रेक्ष्य में रंगमंच की ऐतिहासिकता संस्कृत नाटकों की उत्पत्ति एवं विकास से संबद्ध है। सामान्यतः संस्कृत नाटकों की उत्पत्ति को दैविक अनुष्ठानों के रूप में यज्ञ, पूजा, हवन आदि धार्मिक संस्कारों से जोड़ दिया जाता है। दरअसल, इसके पीछे कई मिथकीय और पौराणिक आख्यान परंपरा एक ठोस कारण के रूप में मौजूद है। भारतीय सांस्कृतिक-साहित्यिक परंपरा में आदिम तत्वों के रूप में विद्यमान इन मिथकीय चेतनाओं का महत्वपूर्ण स्थान है क्योंकि हमारे यहां ऐतिहासिक रूप से इतिहास-पुराण की कोई लिखित परंपरा नहीं रही है। इसलिए मिथकों, प्रतीकों, संस्कारों की मूल धारा का संदर्भ किसी काल विशेष से नहीं है, बल्कि मौखिक रूप से पीढ़ी दर पीढ़ी इसका हस्तांतरण भी होता रहा है और संरक्षण भी। अब ऐसे में यदि भारतीय रंगमंच की प्राचीनता को देखें तब ऐतिहासिक रूप से हमें वैदिक काल तक जाना होगा क्योंकि हड़प्पाई लिपि अभी तक पढ़ी नहीं जा सकी है, हालांकि पुरातात्विक साक्ष्य और उन पर उत्कीर्ण चिह्नों से इसकी समृद्धि का अंदाजा अवश्य लगाया जा सकता है। सैद्धांतिक रूप से नाट्य-रंगमंच की प्राचीनता उर्वशी-पुरुरवा की कथा के रूप में ऋग्वेद में मौजूद है। 'दरअसल, नाट्य का उद्गम आदिम पूजा-अनुष्ठानों में है। कई ऋगवैदिक सूक्त समवेत पाठ अथवा दो या अधिक पत्रों द्वारा अभिनय के रूप में प्रस्तुत किए जाने के लिए हैं। सबसे प्रसिद्ध उदाहरण उर्वशी-पुरुरवस की कथा है। प्राचीनतम ऋग्वेद में यह कथा अभिनीत संवाद के रूप में है- उस आदिम प्रथा का नाट्य रूप जिसमें किसी अप्सरा के साथ पवित्र अनुष्ठानिक विवाह (hieros gamos) रचने के बाद प्रजनन-संबंधी अनुष्ठान में उस विवाहित पुरुष की बलि दे दी जाती थी। वैदिक पुरुरवस मुक्ति के लिए खूब अनुनय-विनय करता है, पर उर्वशी उस याचना को शांति भाव से ठुकरा देती है। इस नाट्य-कथा ने धीरे-धीरे बदलते विरही प्रेमियों के प्रेमाख्यान का रूप ले लिया। गायन व नृत्य, आदिम प्रजनन-संबंधी अनुष्ठानों की भांति, संस्कृत नाटक के आवश्यक अंग हैं।'

हालांकि कई विचारक संस्कृत नाटकों की उद्भव के तत्व को दैवी उत्पत्ति संबंधी धारणा के साथ जोड़ने के पक्ष में नहीं है परंतु धार्मिक संप्रदायों से नाटकों ने प्रेरणा ग्रहण की है इस मत को खारिज नहीं किया जा सकता। 'राम-कृष्ण के कथा-स्रोतों से नाटकीय विषय-वस्तु का ग्रहण किया जाना, अभिनय के पूर्व कुछ धार्मिक कृत्यों का होना, भरत के नाट्यशास्त्र का शिव का तांडव और लास्य नृत्य का पुरस्कर्ता स्वीकार करना, नाटक के प्रारंभ में नांदी का प्रवेश आदि नाटकों को धार्मिक प्रभाव से बहुत कुछ सम्बद्ध कर देते हैं। जैन और बौद्ध धर्मों के नाटक संबंधी दृष्टिकोण के आधार पर भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं। रामायण-महाभारत के पाठों के संबंध में संदेह होने के कारण उनके अभिनेता और अभिनेयता संबंधी संदर्भों को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। फिर भी नाटक पर इनके गहरे प्रभाव को अस्वीकार करना असंगत है।'

हिंदी रंगमंच आज अपने आधुनिक रूप में जिस तरह से विद्यमान है उसकी पड़ताल से पहले संस्कृत नाटक और रंगमंच का जो प्रभाव हिंदी रंगमंच पर पड़ा है उसकी चर्चा यहाँ समीचीन है। कहा जाता

है कि नाटक के निर्माण पर अभिनय का प्रश्न छिड़ा- 'जब इंद्र ने ब्रह्मा से अभिनय हेतु अपनी असमर्थता प्रकट की तो भरतमुनि को कार्यभार सौंपा गया। भरतमुनि के यहाँ पुरुष पात्र पर्याप्त संख्या में विद्यमान थे परन्तु स्त्री पात्रों का अभाव था। ब्रह्मा ने अप्सराओं की रचनाकर के इस अभाव की पूर्ति कर दी। पृथ्वी तल पर प्रथम अभिनय की तैयारी पूर्ण हुई। स्वर्ग से नारदादि संगीतज्ञ इस उत्सव में सम्मिलित हुए। 'असुरपराजय' नामक नाटक रंगमंच पर खेला जाने लगा। असुरों को इसकी सूचना मिली। स्वभावतः उन्होंने नाटक अभिनय का विरोध किया। साथ ही साथ बुद्धिमानों ने यह भी निश्चय किया कि रंगमंच के लिए एक भवन अर्थात रंगशाला निर्माण की जाये ताकि असुरगण सरलता से आक्रमण न कर सकें तभी से खुले मैदान को छोड़कर रंगशालामें अभिनय होने लगा।' उपरोक्त विवरण भरत-नाट्यशास्त्र में नाटक संबंधी विवरण से संबंधित है।

इसी तरह कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी इस बात के प्रमाण हैं कि उस समय नट, नर्तक, गायक, वादक, कथा सुनाकर जीविका कमानेवाले, कुशीलव, प्लवक, सौभिक, चारण आदि विद्यमान थे। अर्थशास्त्र में ही इस बात के भी प्रमाण हैं कि गणिका, दासी अथवा अभिनय करने वाली नारियों को गाना, बजाना, अभिनय करना आदि के लिए शिक्षा राज्य की ओर से दिया जाता था। बौद्ध-काल में नाट्य कला का प्रचार भारत व्यापी होना विनयपिटक के द्वारा प्रमाणित होता है। इसी तरह पतंजलि के महाभाष्य में भी साहित्यिक नाटकों का विवरण है। पहली शताब्दी में भास की 'स्वप्नवासवदत्ता', 'उरूभंगम्', 'करुणाभरण' जहाँ उन्हें पहले महत्वपूर्ण नाटककार के रूप में स्थापित करता है और गैरयथार्थवादी रंगमंच की अपेक्षा करता है वहीं चौथी सदी के आस-पास कालिदास के नाटक अभिज्ञानशाकुंतलम्, मालविकाग्निमित्रम आदि रूढ़ियों के रचनात्मक इस्तेमाल की पेशकश करता है। वहीं सातवीं सदी में भवभूति के नाटक पर करुणा की छाप है पर यह बुद्ध की करुणा-भाव नहीं वरन मनुष्य की संवेदनशीलता को स्थापित करने वाले रंगमंच के पैरोकार हैं।

संस्कृत के नाटकों में सर्वाधिक प्रसिद्ध नाटक कालिदास के हैं। हालांकि, ऐतिहासिक रूप से उससे पहले भास द्वारा 'स्वप्नवासवदत्तम' नाटक की रचना हो चुकी थी जो राजा उदयन के प्रेमाख्यानों पर आधारित है। कालिदास के नाटक भारतीय साहित्य के लिए आज भी अमूल्य धरोहर हैं। 'उसके मनोहर काव्य **मेघदूतम** में एक मेघ दूत बनकर एक निर्वासित यक्ष का प्रेम-संदेश दूर देश में उसकी विरह-कामिनी प्रिया तक पहुंचाता है। काव्य में उन समस्त भारतीय प्रदेशों का अनुपम प्रकृतिचित्रण है जिन में से होकर उसे जाना था। **रघुवंश** में राम के पूर्व-पुरुषों का चरित्र-चित्रण है और परोक्ष रूप में इसमें गुप्तों की विजयों का वर्णन भी हो सकता है। अधूरे **कुमारसंभव** में शिव व पार्वती के पुत्र के रूप में स्कंद के जन्म की कथा है; देवों और मनुष्यों को कष्ट पहुंचाने वाले एक दानव का विनाश करने के लिए स्कंद ने जन्म लिया बताया गया है।'

इस तरह ईसा की दसवीं सदी तक भले ही संस्कृत नाटक और रंगमंच का जोर रहा पर ग्यारहवीं–बारहवीं शताब्दी तक इसमें गतिरोध उतपन्न हुआ जिसका एक कारण इस्लाम आक्रमणों को भी ठहराया जाता है वहीँ दूसरे कारण के रूप में क्षेत्रीय भाषाओँ के प्रचार-प्रसार को भी देखा जा सकता है। भक्ति काल में जिस प्रकार कविता राजाश्रय त्याग कर जनता से जुड़ी थी उसी प्रकार रंगमंच भी जनता का श्रेय पाकर फला-फूला।

हिंदी रंगमंच पर संस्कृत के रंगमंच के अतिरिक प्राकृत, मैथिली, उड़िया, असमी, आदि भाषाओँ के नाटक और रंगमंच का प्रभाव भी पड़ा। एक स्तर पर उस समय के नाटक और रंगमंच को तत्कालीन कविता से पृथक करके देखने की जगह इन से जोड़कर भी देखा जा सकता है। स्वांग, रामलीला, रासलीला, भगत, विदापत और नौटंकी हिंदी रंगमंच के ही प्राचीनतम रूप की तरह हैं। रामलीला और

रासलीला तो तुलसी साहित्य और कृष्ण साहित्य के ही नाट्य रूपांतर हैं। प्रारम्भ में ये लीलाएं अवध एवं ब्रज क्षेत्र में केंद्रित थी, बाद में ये पुरे हिंदी क्षेत्र में फ़ैल गयी। सुदूर मिथिला में विदापत एवं कीर्तनिया का जोर था। विद्यापति की रचनाओं को केंद्र में रखकर ही ये नाट्य रूप तैयार किये गए थे। रामलीला, रासलीला हो या विदापत या कीर्तनिया इनका आग्रह धार्मिक था जबकि स्वांग एवं नौटंकी सामाजिक बुराइयों पर प्रहार करने वाले नाट्य रूप थे। भक्ति काल तक ये सभी नाट्य रूप सामंती मनसबदारी के खिलाफ जनता के बीच विकसित होते रहे। अतः इन्हे जनता का ही रंगमंच समझना चाहिए। कह सकते हैं कि जब युग की संवेदना को शास्त्र नहीं पकड़ पाता तब ऐसी स्थिति में लोक उन संवेदनाओं को पकड़ता है।

इस तरह उत्तर में जहाँ नाटक रंगमंच का स्वरुप स्थानीयता से जुड़ा था वहीँ दक्षिण भारत में उत्तर भारत की तुलना में अपेक्षाकृत इस्लाम के आक्रमणों का भय कम था और क्षेत्रीय शक्तियों के रूप में पांचवीं-छठी सदी से लेकर तेरहवीं सदी तक चोल, चालुक्य, पल्लव, प्रतिहार, राष्ट्रकूट आदि शासकों का शासन था, इन्होंने न सिर्फ सत्ता पर दृढ़ता से पकड़ बनायीं वहीँ बड़ी संख्या में मंदिरों का निर्माण भी कराया। मंदिर के स्थापत्य में ही विशाल प्रांगण, गर्भगृह आदि शामिल था जिसने न सिर्फ प्रेक्षागृह के लिए जगह उपलब्ध करायी बल्कि मंदिरों में चढ़ने वाली अपार धनराशि ने एक ऐसी व्यवस्था निर्मित जिससे वहां बाजार का विकास हुआ और व्यापार को फलने-फूलने का अवसर मिला वरन कला और संस्कृति के विकास में भी सहायता मिली। इन मंदिरों में रहने वाली देवदासियां जिन्हें नृत्य संगीत से जुड़ी सभी कलाओं की शिक्षा दी जाती थी इन्होंने अभिनय को एक नया आयाम दिया। यह अलग बात है कि इस कुरीति ने स्त्रियों की स्वतंत्रता को और भी क्षति पंहुचाई। इस तरह मध्यकाल में मंदिर, भक्ति और खेत-खलिहान से जुड़ी लोक गीत-संगीत और उसकी सामूहिकता ने नाटक-रंगमंच की सजीवता को बनाये रखने में सहायता पंहुचाई।

उन्नीसवीं सदी तक आते-आते हिंदी कविता की भांति नाटक और रंगमंच भी राज दरबारों की शोभा बढ़ाने लगे। इंदरसभा (1852) इसका उदहारण है। बाद में इंदरसभा की लोकप्रियता देखकर पारसी रंगमंच (1853) अस्तित्व में आया। इसका आधार शुद्ध व्यावसायिकता था इसलिए इसने मनोरंजन को ही अपना अभीष्ट बनाया। दर्शकों को चमत्कृत करना ही इसका उद्देश्य था। नाटकों में दृश्यों की बहुलता, गीतात्मक संवाद, गीतों की भरमार, नृत्य योजना, आदि का नियोजन दर्शकों के अनुरूप होता था। इस तरह पारसी रंगमंच का प्रभाव जहाँ हिंदी रंगमंच पर प्रमुखता से था वहीँ उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध तक मराठी, बंगला और कुछ दक्षिण भारतीय भाषाओँ के आधुनिक रंगमंच का प्रभाव भी हिंदी रंगमंच पर पड़ रहा था। बंगला में दीनबंधु मित्र का नीलदर्पण नाटक काफी सफल हुआ था। इसी तरह 1868 तक शीतला प्रसाद त्रिपाठी कृत जानकीमंडल का मंचन हो चुका था और मोटे तौर पर इसे हिंदी का पहला मंचित नाटक माना जाता है। इस तरह हिंदी रंगमंच लोक परंपरा और पाश्चात्य प्रभाव को ग्रहण करते हुए आगे बढ़ रहा था।

दीर्घकालीन लोप के बाद आधुनिक काल में फिर से नाटक और रंगमंच का आविर्भाव अकारण नहीं है। नाटक दृश्य-श्रव्य विधा है। उसके लेखन मंचन में जन चेतना की अहम भूमिका रही है। जब विदेशी संस्कृतियों के हमले से भारतीय संस्कृति अपनी पहचान खो रही थी तब भारतीय जनता को जगाने और संगठित करने का कार्य इसी युग में हुआ। यह अनायास नहीं है कि भारतेंदु का झुकाव नाटक और रंगमंच की ओर है; नाटक और रंगमंच जनता से संवाद बनाने का सशक्त माध्यम है, इसके द्वारा दर्शकों को संगठित कर अपनी बातें पंहुचाई जा सकती थी। भारतेंदु एक दृष्टि संपन्न रंगकर्मी थे। उन्होंने अव्यावसायिक रंगमंच खड़ाकर पारसी नाट्य कंपनियों का विरोध किया। भारतेंदु ने, मंचन, अभिनय, प्रदर्शन की विधिवत शुरुवात की। इन्होने परंपरा का

सर्जनात्मक उपयोग समकालीन समस्याओं को जांचने परखने में की। यथार्थवादी रंगमंच के पक्षधर सतही आधुनिकता से इस तरह आक्रांत थे कि कई बार परंपरा से ली गयी अच्छे मूल्यों की भी अनदेखी की। परन्तु 1931 के बाद पश्चिमी रंगमंच आन्दोलनों से जुड़कर नाटक और रंगमंच को एक नयी दिशा देने की कोशिश की गयी। हिंदी प्रदेश में अलग-अलग विश्वविद्यालयों की स्थापना ने भी हिंदी नाटक और रंगमंच के विकास में सहयोग दिया। 1930-60 के बीच यथार्थवादी नाटकों की लहर आयी। लक्ष्मीनारायण मिश्र, उपेन्द्रनाथ अश्क, जगदीश चन्द्र माथुर और बाद में मोहन राकेश, सुरेन्द्र वर्मा जैसे नाटककार इसी धारा से जुड़े नाटककार हैं।

जयशंकर प्रसाद भारतेंदुकालीन राष्ट्रीय चेतना के अतिसाहित्यिक विकास हैं। भले ही प्रसाद ने नाटक के लिए रंगमंच की अनिवार्यता पर प्रश्नचिह्न लगाया हो परन्तु उनके नाटकों में पात्रों को जिस तरह पहली बार स्वतन्त्र व्यक्तित्व मिला और कार्य-कारण सम्बन्ध की श्रृंखला में बांधकर पात्रों को चरित्रों में ढाला गया और यथार्थ के सृजन के लिए जिस अंतर्द्वंद्व की सर्जना की उसने भारतीय रंगमंच को पाश्चात्य नाटक और रंगमंच की ट्रैजिक परंपरा के समकक्ष लाकर खड़ा कर दिया। रंगमंच के लिए आवश्यक रंग-संकेत, वेश-भूषा, रूप-सज्जा, अभिनय, गीत, संगीत, सबों को व्यापक आधार मिला।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद पश्चिम में एब्सर्ड यानी विसंगत नाटकों का जन्म हुआ। हिंदी रंगमंच में विसंगत धारा का सूत्रपात भुवनेश्वर जैसे नाटककार 'ऊसर', 'स्ट्राइक' और 'ताम्बे के कीड़े' जैसे एकांकी के माध्यम से कर चुके थे। चालीस-पचास के दशक में जहाँ पारसी रंगमंच का पतन हुआ वहीँ दूसरी ओर भारत छोड़ो आंदोलन के बाद 'भारतीय जन नाट्य संघ' (1943) की स्थापना हुई और 1944 में पृथ्वी राज कपूर द्वारा पृथ्वी थिएटर की स्थापना हुई। यही वह समय है जब हिंदी रंगमंच में नुक्कड़ नाटक के लेखन और मंचन की शुरुवात हुई। 'इप्टा' जो अपनी स्थापन से ही प्रगतिशील सांस्कृतिक विचारधारा के प्रचार प्रसार से जुड़ा था इसने हिंदी रंगमंच को राजेंद्र रघुवंशी, ख्वाजा अहमद अब्बास एवं बलराज साहनी जैसे रंगकर्मी दिए। इन रंगकर्मियों ने यथार्थवादी अभिनय पद्धति का विकास किया जबकि पृथ्वी थिएटर के सूत्रधार पृथ्वीराज कपूर पारसी अभिनय पद्धति में सिद्धस्त थे। आजादी बाद केंद्रीय सरकार के उद्यम से संगीत नाटक अकादमी और राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय जैसे संस्थान अस्तित्व में आये जिनसे प्रसिद्ध रंगकर्मियों ने जुड़कर नयी संभावनाएं जगाई।

आजादी बाद हिंदी रंगमंच और नाटक की दिशा बदली। मूल्य संकट और रिश्तों के तनाव नए भंगिमाओं एवं नए प्रयोगों के साथ मंचित हुए। जगदीश चन्द्र माथुर, हबीब तनवीर, धर्मवीर भारती, मोहन राकेश आदि रचनाकारों ने रंगमंच को एक नयी पहचान दी। आगे सत्तर के दशक में निर्देशन और रचना दोनों ही कार्य साथ-साथ करने वालों में इब्राहिम अल्काजी, हबीब तनबीर, ब. ब. कारंत, सत्यब्रत सिन्हा, श्यामानंद जालान, सत्यदेब दुबे, हबीब तनवीर, रतन थियम, भीष्म साहनी, जैसे नाम प्रमुखता से लिए जा सकते हैं।

रूस के इस्तानास्लावस्की की रंगमंचीय दृष्टि का प्रभाव भी हिंदी रंगमंच पर पड़ा। इन्होंने मनुष्य के शरीर को समष्टिगत अभिव्यक्ति का माध्यम बताया और आंगिक, वाचिक, सात्विक, आहार्य अनुभावों की बात की जो संस्कृत के नाट्यशास्त्रीय परंपरा के भी करीब ठहरता है और साधारण परिस्थितियों में भी रंगमंचीय संभावना को बढ़ाता है। इस तरह शास्त्रीय और पाश्चात्य प्रभाव के समन्वय से जिस सर्जनात्मक संवाद की उत्पत्ति हुई उससे परंपरागत नाट्यरूप को नई साज-सज्जा के साथ प्रस्तुत किये गए। दूसरे आधुनिक नाटकों में पुरानी देशी नाट्य तत्वों को समाहित किया गया और तीसरे यह कि नाटककारों ने आधुनिक रंगदृष्टि लेकर नाटक के विधान से ही परंपरागत नाट्य तत्वों का उपयोग किया।

इस प्रकार समग्र रूप से हम कह सकते हैं कि हिंदी रंगमंच भारतीय पारंपरिक नाट्य विधा की मजबूत आधार भूमि पर खड़ी एक ऐसी इमारत है जिसने पारम्परिक विधाओं के साथ और आधुनिक काल के संचार माध्यमों की प्रगति, वैश्विक स्तर आ रहे सोशल मीडिया माध्यमों के समन्वय का प्रयत्न किया है। यह सच है कि नवें और दसवें दशक की संचार क्रांति और फिल्म उद्योग, टेलीविज़न, वीडियो, कंप्यूटर, इंटरनेट जैसे संचार माध्यम के चौतरफा आक्रमण ने आज रंगमंच के लिए संकट पैदा किया है। फिल्म और टेलीविज़न से आसानी से उपलब्ध मनोरंजन के साधन और इसकी व्यावसायिकता ने रंगमंच पर सवाल भी खड़े किये हैं। ऐसे में रंगमंच को इन तकनीकी माध्यमों की होड़ में फंसने की जगह अपनी नाट्य परंपरा और आंतरिक शक्ति के बलबूते नयी राह तलाशनी होगी साथ ही हिंदी नाटककार और रंगकर्मी को न सिर्फ राष्ट्र की अन्य भाषाओँ से संवाद बनानी होगी साथ ही साथ अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी सक्रिय होना होगा।

संदर्भ सूची :

1. देवेन्द्र राज अंकुर, रंगमंच का सौंदर्यशास्त्र, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰99
2. देवेन्द्र राज अंकुर, दर्शन-प्रदर्शन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ॰51
3. दामोदर धर्मानंद कोसंबी, प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012, पृ॰246
4. बच्चन सिंह, हिंदी नाटक, राधा कृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011, पृ॰16
5. वही, पृ॰25
6. दामोदर धर्मानंद कोसंबी, प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012, पृ॰249

संस्कृत नाटकों की संगीत परम्परा एक चिंतन

प्रो. डॉ. सारिका विवेक श्रावणे
शोध मागदर्शिका, सहयोगी प्राध्यापक, संगीत विभाग
स्व. छ. मु. कढी कला महाविद्यालय,
अचलपूर कॅम्प, जिला- अमरावती, महाराष्ट्र

महर्षि भरत के नाट्यशास्त्र में नाट्य संबंधी ज्ञान के अतिरिक्त इससे प्राचीन भरत की सामाजिक अवस्था का भी बहुत अच्छा एवं विस्तृत परिचय प्राप्त होता है।

डॉ. राघवन जी इन्होंने साहित्य के विश्वकोश इनसाईक्लोपिडिया ऑफ लिटरेचर के प्रथम खंड पृष्ठ-468 में लिखा है, अपने 46 अध्यायों में यह 'नाट्शास्त्र' एरिस्टोटल की रचना की अपेक्षा अधिक पूर्ण है और संस्कृत नाट्यसाहित्य के संबंध में पूर्ण ज्ञान प्रदान करता है और महर्षि भरत का उद्देश गीत और संगीत की व्याख्या करना नही था बल्कि वेदों में वर्णित गूढ़ एवं कठिण तत्वों को सरल तथा स्वाभाविक ढंग से जनता जनार्दन के समक्ष स्पष्ट करना था जिससे सभी लोग वेदों की गहराई को समझ सके तथा उसे अपने जीवन में उतार सकें। संस्कृत नाट्य लेखन से लेकर नाट्य प्रयोग की सूक्ष्मतम जानकारी नाट्यशास्त्र ग्रंथ से मिलती है। इस ग्रंथ से संस्कृत नाटक का प्रयोग किस स्वरूप मे होना होगा इसका ज्ञान मिलता है।

प्रस्तुत शोधप्रपत्र में संस्कृत नाट्यपरंपरा का विवेचन करने का प्रयास किया है।

विषय प्रवेश :

भरत के अनुसार, ब्रम्हा ने ऋग्वेद से पाठ्य, यजुर्वेद से अभिनय, सामावेद से गीत और अथर्ववेद से रस ग्रहण कर वेदोपवेद से संबंधित 'नाट्य-वेद' की सृष्टी की। नाट्यवेद की रचना के लिए त्रेतायुग के मनुवैवस्वत-युग में इंद्र आदि देवताओं के अनुरोध को स्वीकार कर ब्रम्हा ने इस नाट्यवेद की रचना की थी। भरत मुनी को नाट्य-वेद ब्रम्हा से ही प्राप्त हुआ। ब्रम्हा ने ही महर्षी भरत को नाट्यवेद की शिक्षा दी और ब्रम्हा के आदेशानुसार ही भरत ने अपने सौ पुत्रों के सहयोग से नाट्यवेद का प्रयोग किया। भरत नाट्य की मातृरूपा भारती, आरभटी एवं सात्वती आदि वृत्तियों का प्रयोग तो कर सके, परंतु स्त्री-प्रधान कौशिकी वृत्ति के प्रयोग में उन्हें सफलता नहीं मिली क्योंकी नाट्यप्रयोग के लिए स्त्रियाँ उपलब्ध नही थी, भरत ने भगवान शिव के नृत्य में सुकुमार श्रृंगार रस समृद्ध नृत्य और अंगहार संपन्न कौशिकी के रूप को देखकर ब्रम्हा से निवेदन किया। तत्पश्चात ब्रम्हा ने पुनः अप्सराओं का सृजन कर भरत को सौंप दिया वे नाट्यालंकार में पुर्णरूपेण निपूण थी। इसके उपरांत स्वाति- जैसे भांड-वादक तथा नारदादि जैसे गायकों का भी सहयोग मिला। इस प्रकार चारों वेदों से नाट्य के प्रधान चार अंगो, चार वृत्तियों और गान-वाद्य की सहायता से नाट्यप्रयोग का श्रीगणेश हुआ।

इ. स. पूर्व 140 मे लिखा हुआ पतंजलीकृत महाभाष्य इस व्याकरणविषयक ग्रंथ में 'नंट' शब्द का उल्लेख मिलता है। पतंजली के अनुसार-

''अनुकरण, पठन, गायन एवं नर्तन माध्यम से अभिव्यक्त करनेवाला नट होता है।'' यह भी उलेख प्राप्त होता है।

संस्कृत नाट्यपरंपरा या रंगमंच का अध्ययन करते समय यह ध्यान मे आता है की, संकृत नाटक की परंपरा तेरवी शताब्दी में देखी जा सकती है। इन नाटकों को राजाश्रय रहता था। इसिलिए संस्कृत नाटक श्रृंगार रस प्रधान सुखात्म रहती थी। प्राचीन कवी जैसे भास, कालीदास चौथी शताब्दी इ. स. (गुप्तकाल), भवभूती 8वीं शताब्दी इ. स. आदी। इनके अभिज्ञान शाकुंतल, विक्रमोर्विशीय, वेणीसंहार, मुच्छकटिक आदी संस्कृत नाटकों की रचना कि थी। आठवीं शताब्दी का आरंभकाल भवभूती नाटककार का इन्होंने महावीरचरित मालती-माधव एवं उत्तर रामचरित नाटकों का निर्माण किया।

जो संस्कृत नाटक थे उनमे गद्य की तुलना में पद्य अधिक दिखाई देता है। संस्कृत नाटक मालविकाग्निमित्रम के दूसरे अंक में मालविका के मौखिक / जलसा का उल्लेख है। इसमें वह उपगणम अर्थात जो प्रारंभिक श्लोक प्रस्तुत करती है और चतुष्पादिवस्तु अर्थात चार पंक्तियाँ गाती है। ऐसे उल्लेख प्राप्त होते हैं, की वह उसी गीत पर नृत्य करती है। कर्पूरमंजरी जैसे- प्राकृत नाटाकें में भी संगती का व्यापक उपयोग दिखाई देता है। अन्य संस्कृत नाटककारों मे हर्ष (रत्नावली, नागानंद), विशाखादत्त (मुद्राराक्षस), भट्टनारायण (वेणसिंहार) इनका समावेश है। उस शताब्दी पश्चात विशेष उल्लेखनीय संस्कृत नाटक शोधार्थी को इस शोध प्रपत्र के अध्ययन अंतर्गत प्राप्त नही हुआ। संस्कृत नाटकों की संगीत परंपरा की चर्चा करते समय गायन, वादन, नृत्य यह कला एकल हो सकती है, परंतु रंगभूमी यह निश्चित रूप से सामूहिक कला है।

संस्कृत नाटकों का प्रारंभ नांदी से होता था। जैसे-

कालिदास कवि राज रचित हे
गाणी शाकुंतल रचितो।
आणूनिया अवसान
नसे हे महत्कृत्यभर
शिरी घेतों
पंचतुंड नररूंडमालधर

कालिदास संस्कृत के सर्वश्रेष्ठ नाटककार से सर्वपरिचित है। इनका स्मरण कर और सर्वप्रथम स्तुति करके नाट्य प्रयोग उचित सफलतापूर्वक हो इसीलिए ईश्वर को नांदी द्वारा प्रार्थना की जाती थी। नाट्य प्रयोग पूर्ण होने पर ईश्वर को नाट्शास्त्र कर्ता भरत एवं श्रोताओं को वंदन कर आभार व्यक्त करने के लिए भरत वाक्यों का गायन होता था।

राग गायन में प्रथम राग के स्वरों का गायन करना चाहिए जिसे हम आज भी भाषा में 'आलाप' या मुक्तलाप कहा जाता है। राग गायन का द्वितीय सोपान चीज या गीत रचना है। कालिदास ने इसे वस्तु संज्ञा प्रदान की है। इसे प्रबंध का पर्यायवाची समझा जा सकता है। कालिदास ने ऐसी एक वस्तु का मालविकाग्नि मित्र में इकतिस, विक्रमोर्वशीय में तथा तीन अभिज्ञान शाकुंतलम् में उल्लेख किया है। तो इससे यह कह सकते है कि, गायन की सामान्य विशेषताओं के अंतर्गत उसकी मधुरता, व्यक्तता, सुस्पष्ट अभिव्यक्ति, भावाविव्यक्ति, संवेगात्मकता एवं लालित्य को रखा जा सकता है। जैसे अवसर पड़ते पर गीत के साथ अभिनय प्रयोग भी होता था। अर्थात गीत के भाव प्रकाशन के लिए अभिनय का आश्रय भी मान्य था वैसे ही अभिनय प्रभावशाली करने में संगीत के सहायता की आवश्यकता लगती थी।

अभिनय यह संस्कृत रंगभूमी का अत्यंत महत्त्वपूर्ण घटक है। गायक, वादक तथा नर्तक यह नाट्य प्रस्तुतीकरण में महत्त्वपूर्ण घटक होते है। जो संगीत का समूह रहता है उसे स्त्री-पुरूष गायक, बासुरीवादक, बीणावादक, तालवादक इनका समावेश होता है।

संस्कृत नाट्यसंहिता का पठन करते समय यह ध्यान मे आता है कि, नाट्यशासत्र मे प्राकृत भाषा में रचित तथा समयानुरूप धृवा इस गीत प्रकार का

उल्लेख मिलता है, अर्थात रंगी भूमि पर नट आते-जाते समय प्रसंगानुरूप भावावस्था स्पष्टरूप से अभिव्यक्तीकरण मे एवं परिवर्तन में धृवा गीत का उपयोग होता होगा और यह लिखीत रूप में न होने के कारण आज संरक्षित नही है। संस्कृत नाटक मे संवाद रहता था वह गद्य तथा पद्य मिश्रण से रहता था। पद्य में श्लोक रहते थे, गाणे नही। यह भी स्पष्ट होता है की संस्कृत नाटक मे संस्कृत एवं प्राकृत भाषा का उल्लेख रहता था।

संस्कृत रंगभूमि पे जो नाट्य प्रयोग होता है वह भवकेंद्री होते थे। अतः स्पष्ट होता है की कालचक्र के परिवर्तन के साथ नाट्य के स्वरूप व प्रयोग भी परिवर्तित होते गए। संगीत एक ऐसा पक्ष है, जिसमें व्यक्तिगत मनोभाव व व्यक्ति निष्ठता का प्रभाव सर्वाधिक होता है। यदि नाट्य के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य के अनुसार देखा जाए तो यह एक प्राचीन कला है।

संस्कृत नाटक आज दिखाई नही देते क्योंकि ये किसी प्रांत की भाषा नही जो प्रांतिक भाषा है, जो लोक भाषा है उसी में लोकनाट्य दिखाई देते है। इसीलिए आज इसमें नवीन प्रयोग का मेरे अध्ययन अंतर्गत समावेश नही हैं।

निष्कर्ष :

अंत में मै इतना ही कहना चाहूँगी की संगीत नाटक की सीमा बहुत व्यापक है। संगीत नाटक एवं नाट्य परंपरा को संरक्षित करना चाहते है, तो हमें संगीत को अतीत के पौराणिक विषयों से सजाने के साथ ही बदलते समय के प्रति भी जागरूक होना चाहिए। इससे नए संगीत नाटक आने चाहिए तभी ऐसा होगा। संगीत नाटक को वास्तविक पुनरूद्धार मिलना चाहिए और मै यहाँ केवल संस्कृत नाट्य परंपरा के संदर्भ में ही नही वरन् कुल नाट्य परंपरा का वास्तविक पुनरूद्धार होना चाहिए ऐसी स्पष्टाभिव्यक्ती करना चाहूँगी। आज की पीढ़ी को नाटकों की ओर आकर्षित करने के लिए पूर्ण विस्तारित नाटकों की बजाय लधु नाटक प्रस्तुत किए जाने चाहिए। नाटक, संगीत प्रतियोगिताएं, संगीत नाटक कार्यशालाएँ, आयोजित की जानी चाहिए। तभी युवा पीढ़ी गायक संगीत नाटकों और उनके संगीत की ओर आकर्षित होंगे। इस दृष्टी से आज की प्रस्तुत 'भारतीय रंगमंच की संगीत परंपरा एवं प्रयोग' यह संगोष्टी बहोत ही सराहनीय है। अतः भारत में आवश्यकता इस बात की है की, योजनाबद्ध रूप से आधुनिकतम उपकरणों की सहाय्यता से नाट्यों को उनकी प्राकृतिक अवस्था में रिकॉर्ड कराया जाए ताकि वे भविष्य के लिए सुरक्षित रह सके। प्रदेशों की संगीत-नाटक अकादमी तथा भारतीय ज्ञान परंपरा (IKS) सरलता से कर सकती है और वैसे भी अब नई राष्ट्रीय शिक्षा नीति में संस्कृत भाषा एवं कला को उचित स्थान प्राप्त हुआ है। जिससे कला एवं भाषा के संदर्भ में नाट्य पुर्नसंस्कारित होने की जरूर आशा कर सकते है।

संदर्भ :

1. शास्त्री बाबूलाल शुक्ल, 'नाट्यशास्त्र', द्वितीय भाग, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी-221001, संस्करण, 2015
2. व्यास डॉ. भोलाशंकर, 'भारतीय संस्कृतशास्त्र और काव्यालंकार', चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी।
3. चैतन्य कृष्ण, 'संस्कृत साहित्य का नविन इतिहास'।
4. उपाध्याय डॉ. रामजी, 'संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास'।
5. भातीया कान्ति किशोर, 'संस्कृत नाटककार'।
6. संगीत, मार्च 1988, प्रकाशन, संगीत कार्यालय हाथरस, 204101, पृ. क्र.-51
7. संगीत, जुलाई 1988, प्रकाशन, संगीत कार्यालय, हाथरस, 204101, पृ. क्र.-31
8. Devadhar, C. R., 'Plays Aseri has to Bhas'.

आधुनिक रंगमंच की संगीत परम्परा

डॉ. शालिनी ठाकुर
सहायक प्रोफेसर
संगीत एवं ललित कला संकाय, दिल्ली विश्वविद्यालय

रंगमंच शब्द 'रंग' और 'मंच शब्द के प्रयोग से बना है। रंग शब्द का अर्थ है- नृत्य या अभिनयपरक कार्य, जो मंच पर प्रदर्शित किया जाए तात्पर्य यह है कि जहाँ नृत्य या अभिनयपरक कार्य प्रस्तुत किया जाता है, उसे रंगमंच कहते हैं। रंगमंच की परंपरा बड़ी प्राचीन है। मानव के ज्ञान के विकास के साथ ही रंमंच का प्रारंभ होता है।

अनुरंजन मनुष्य की वृत्ति है। रंगमंच के विकास के पीछे भी यही अनुरंजन की वृत्ति क्रियाशील है, लेकिन कोरा अनुरंजन भी महत्त्वपूर्ण नहीं होता, उसके साथ कुछ लोकहित भी अपेक्षित हैं।

रंगमंच से संबंधित सबसे प्राचीन ग्रंथ भरतमुनि कृत 'नाट्यशास्त्र' है, जो ईसा की पहली सदी में रचित माना जाता है। इस ग्रंथ में नाट्य और रंगमंच का व्यापक विवेचन किया गया है। यह एक लक्षण ग्रंथ है। लक्षण ग्रंथ, लक्ष्य ग्रंथ पर आधारित होता है अर्थात् पहले नाट्य या नाटक लिखा गया होगा, फिर उसका मंचन हुआ होगा और उसके आधार पर रंगमंच के सिद्धांत निर्मित हुए होंगे। 'नाट्य-शास्त्र' के अध्ययन से लगता है कि भारत में नाट्य और रंगमंच की बड़ी समृद्ध परंपरा रही है और भरतमुनि से पहले कम-से-कम एक हजार वर्ष पूर्व से यह परंपरा विद्यमान रही होगी, अन्यथा इतना समृद्ध ग्रंथ लिखना संभव नहीं था। कहना न होगा कि ('नाट्य-शास्त्र' नाट्य-विद्या और रंगमंच का विश्वकोष है।) रंगमंच का इतना विशद् और सर्वांगीण विवेचन विश्व के किसी एक ग्रंथ में नहीं मिलता।

भरतमुनि ने नाटक की उत्पत्ति को दैवी माना है। ब्रह्माजी नाट्य के विषय में कहते हैं- ''यह विवधि अवस्थाओं से पूर्ण, अनेक प्रकार के भावों से संपन्न, लोकवृत्ति का अनुकरण करने वाला नाट्य मेरे द्वारा रचा गया है।''

त्रेतायुग में देवताओं की प्रार्थना पर ब्रह्मा ने ऋग्वेद से संवाद, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनयकला और अथर्ववेद से रस लेकर, पंचम वेद के रूप में नाटक की रचना की। इसमें शंकर ने तांडव और पार्वती ने लास्य जोड़ा। इसके साथ ही नाट्य-मंचन के लिए विश्वकर्मा ने रंगमंच का निर्माण किया। ऐसा अनुमान है कि लोक-नाट्य से रंगमंच का प्रारंभ हुआ होगा।

संस्कृत में नाटक और रंगमंच की परंपरा बड़ी समृद्ध रही है। नाट्याभिनय के उल्लेख वेदों, महाभारत, रामायण, कौटिल्य, अर्थशास्त्र तथा कालिदास आदि के ग्रंथों में मिलते हैं। संस्कृत की रंगमंच परंपरा ईसा की दसवीं सदी तक किसी-न-किसी रूप में सक्रिय रही। मुगलों के आगमन के साथ संस्कृत-रंगमंच का विकास अवरूद्ध हो गया। अब नाटक पाठ्यरूप में लिखे जाने लगे। नाट्य लेखन में रंगमंच की सीमाओं को दृष्टि में नहीं रखा गया। नाटकों के छिटपुट प्रदर्शन राज्याश्रय में होते रहे, जिन तक औसत दर्शक नहीं पहुँच पाता था। अब औसत दर्शक के लिए लोक-भाषाओं में रंगमंच का विकास प्रारंभ

हुआ। ये मंच शास्त्रीय पद्धति पर न होकर, प्रदेश-विदेश के लोक-व्यवहार और क्षमता पर आधारित थे। लोक नाट्य प्रदर्शन खुले मंच पर होता था।

भारत में अंग्रेजी राज्य स्थापित होने के साथ, अंग्रेजी रंगमंच का विकास हुआ। सन् 1756 में अंग्रेजों ने कलकत्ता में प्रथम रंगशाला स्थापित की। इसका नाम 'प्ले हाउस' था। दूसरी रंगशाला 'कलकत्ता थियेटर' नाम से सन् 1777 में बनी। यह 'न्यू प्ले हाउस' के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसमें अंग्रेजी नाटक अभिनीत किए जाते थे। बंबई में प्रथम रंगशाला सन् 1770 में बनी, जिसका नाम 'बंबई थियेटर' रखा गया। इन रंगशालाओं में आगे चलकर अंग्रेजी नाटकों के साथ मराठी और गुजराती नाटक भी मंचित किए जाने लगे। सन् 1859 के लगभग पूना में मराठी नाटकों के मंचन के लिए रंगशाला बनी। इसी समय गुजराती नाटकों के मंचन के लिए अहमदाबाद में रंगशाला स्थापित की गई। अंग्रेजी नाटकों से प्रेरित होकर बंगला, मराठी और गुजराती में नाट्य-लेखन प्रारंभ हुआ और रंगमंच ने विकास की राह पकड़ी।

पारंपरिक रंगमंच से अभिप्राय परम्परानुगामी उन नाट्य प्रदर्शनों से है जिनमें पंचम वेद कहे जाने वाले भरतमुनि के नाट्यशास्त्र को पंचम वेद के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए भारतीय रंग-प्रयोग अथवा नाट्य प्रदर्शन का जो स्वरूप और साध्य निर्धारित किया था, उसकी प्रवहमान करते हुए भारतीय रंग-प्रयोग अथवा नाट्य-प्रदर्शन का जो स्वरूप और साध्य निर्धारित किया था, उसकी प्रवहमान नाट्यधारा को ही पारंपरिक अथवा परंपराशील नाट्य का रूप माना जा सकता है। नाट्य प्रदर्शन को पंचम वेद कहने के पीछे भरतमुनि के सामने एक विशेष दर्शकीय-परिपेक्ष्य था। वेदाध्ययन करने से जो लोक-समाज वंचित था, उसे भी धर्म और लोक-व्यवहार का ज्ञान सुलभ कराने के निमित्त ही भरतमुनि ने नाट्य प्रदर्शन की तत्वतः परिकल्पना की थी।

भरतीय रंगमंच का प्रयोग-विज्ञान बहुत आयोजनमय रहा है। नाट्य की रंगमंचीय प्रस्तुति का समारंभ पूर्वरंग से होता है। पूर्वरंग की योजना नाट्य प्रस्तुति के लिए उपयुक्त मानसिकता उत्पन्न करने के हेतु होती है। दर्शक नाट्याभिनय को दत्त-चित्त होकर देख सके, ऐसी रागात्मक भूमिका सृजन करने के लिए भारतीय रंग-प्रस्तुति में पूर्वरंग के संयोजन को महत्त्व दिया गया है। मूल नाट्यवृत्त के अभिनय को दिखलाने से पूर्व रंगमंच के जितने व्यापार हैं वे सब पूर्वरंगमूलक व्यापार कहलाते हैं। इस पूर्वरंग के अंतर्गत गीत, ताल, वाद्य, नृत्य, पाठ्य की समवेत योजना ऐसी की जाती है जिससे नाटक के इतिवृत्त के अनुकूल दर्शक का मनोभाव जागृत किया जा सके। इस पूर्वरंग के संयोजन के कई रूप हैं जिनका भारतीय प्रस्तुति की दृष्टि से बहुत महत्त्व है। पूर्वरंग का सबसे पहला रूप प्रत्याहार नाम से जाना जाता है।

प्रत्याहार से अभिप्राय रंगमंच पर वाद्य आदि का विन्यास है। गायक-वादक कहाँ और कैसे बैठेंगे, उनके प्रयोग में आने वाली वस्तुएँ कैसी रखी जाएंगी, इसकी योजना प्रत्याहार के अंतर्गत आती हैं। इसके अनंतर अवतरण नाम से पूर्वरंग का एक दूसरा चरण देखने को मिलता है। इस योजना में रंगपीठ के ऊपर गायिकाओं का आगमन होता है। अवतरण के पश्चात् आरंभ नाम से पूर्वरंग के ऊपर गायिकाओं का आगमन होता है। अवतरण के पश्चात् आरंभ नाम से पूर्वरंग का एक नया स्वरूप सामने आता है। आरंभ नाम से जाने वाले पूर्वरंग के भेद के अंतर्गत आलाप के साथ गीत का आरंभ किया जाता है। इसके बाद विविध प्रकार के वाद्यों की स्वरलहरी का सामंजस्यपूर्ण विधान किया जाता है। इन भेदों के रूप में प्रस्तुति के पूर्वरंग भाग में संगीत की पूर्ण सज्जा संपादित होती है। इसके अनंतर गीत नामक पूर्वरंग का एक नया रूप सामने आता है जिसके अंर्तगत देवताओं का कीर्तन किया जाता है। इन समायोजनों के अनंतर नांदी की योजना की जाती है।

अनुकरणप्रियता मनुष्य का स्वभाव है और किसी भावना के विशेष उद्रेक के क्षणों में नाच उठना या गाना भी मनुष्य की सहज प्रवृत्ति होती है। इसलिए

जब कभी मनुष्य समूह के रूप में इन प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर क्रियाशील होता रहा होगा तभी से रंगमंच का एक आरंभिक रूप प्रकट हुआ होगा। आदिम निवासी सामूहिक मनोविनोद के रूप जो नृत्यगान करते रहे होंगे अथवा किसी देवता का अनुष्ठान करते हुए जो पद यात्राएं या उनके कार्यों का अनुकरण करते रहे होंगे, उन धार्मिक अनुष्ठानों के अवसर पर रंगमंच का एक आरंभिक रूप तो प्रकट हुआ ही होगा। यह रंगमंच अवश्य ही बहुत अनगढ़ या खुले में संपन्न होने वाला ही रहा होगा किंतु पाश्चात्य रंगमंच का एक विकसित स्वरूप जो हमें प्राप्त होता है, जिसका संबंध नाट्य-रचना पर आधारित क्रिया-कलापों से संपृक्त होता है वह तो ग्रीक थियेटर के आविर्भाव के साथ ही सुलभ होता है।

नृत्यकला, संगीतकला एवं नाट्याभिनय की भारतीय रूढ़ियों के क्षेत्र में होने वाले अनुसंधानों और प्रयोगों से आज अपने जातीय जीवन के रंगमंच की पहचान कुछ सरल हो गई है। आज हिन्दी रंगमंच विकास की उस स्थिति में है जब हम भारतेन्दु के समय में उद्भाषित अव्यवसायिक रंगमंच की परंपरा से लेकर आज तक के रंग प्रयोगों को समेट कर एक राष्ट्रीय रंगमंच का गठन कर सकते हैं। पश्चिमी रंग-रूढ़ियों के प्रति आज की बढ़ती हुई रूझान को कुछ संयमित करके, प्रादेशिक नाट्यशैलियों की मूलभूत भावना को बढ़ावा देते हुए एक राष्ट्रीय रंगमंच की स्थापना की जा सकती है। इस कार्य को संपादित करने के लिए रंगकर्मियों और नाटककारों को 'नाट्यशास्त्र' एवं 'विष्णुधर्मोत्तरपुराण' में आहार्य-अभिनय के अंतर्गत व्याजिम, पुस्त, चेष्टिम, नेपथ्य आदि विधियों के साथ पाश्चात्य नाट्य-पद्धति की प्रकाश-संयोजना, रंगमंचीय रूप-सज्जा और नाट्य-प्रयोग की नवीनतम तकनीकी विधियों का समुचित समन्वय करके राष्ट्रीय रंगमंच के नये शैली-शिल्यमूलक तत्वों को खोजा जा सकता है।

गीत-संगीत हमारी संस्कृति का हिस्सा है जिसके केन्द्र में जितना उल्लास है, उतना ही दर्द भी है इसलिए फिल्मों से पहले भी हमारे थियेटर या नौटंकी में गीति तत्व को विशेष दर्जा दिया गया है, जिसमें सिद्धांततः नायक या नायिका के भाव प्रकटन के लिए गीत-संगीत की एक माध्यम बनाया गया। भारतीय संगीत प्रारंभ से ही परम्पराओं से प्रतिबद्ध रहा है। उसकी इसी प्रतिबद्धता के मूल में परम्पराओं से प्राप्त होने वाले लाभ निहित थे। यही कारण है कि प्राचीन काल से भारतीय संगीत में समय-समय पर अनेक परम्पराओं का विकास होता रहा है। परम्पराएँ संगीत के लिए मार्ग प्रशस्त करती है जिनके आधार पर नवीन गायन एवं वादन-शैलियों का विकास होता रहा।

संगीत-मनुष्य के हृदयगत भावों को प्रकट करने का एक सशक्त माध्यम है। उसकी स्वर-लहरियों में से ऐसी शक्ति है जो कि मनुष्य को अपनी ओर आकर्षित करने का सामर्थ्य रखती है। इसलिए संगीत को उत्कृष्ट कलाओं की श्रेणी में रखा गया है। उदाहरण स्वरूप किसी भी फिल्म या नाटक के अभिनय के साथ-साथ उसमें प्रयुक्त किए जाने वाले संगीत का भी उतना ही अधिक महत्त्व होता है। नाटक तथा रंगमंच की सुंदरता को बढ़ाने के लिए संगीत के प्रयोग को विशेष महत्त्व दिया गया है। नाटककार नाट्य-रचना के सर्जनात्मक कार्य की बुनियादी जरूरतों और कठिनाइयों को गहराई, तीव्रता और सूक्ष्मता से पहचान सकता है, यदि रंगमंच की उसे पहचान होती है। रंगमंच का अपना एक व्याकरण होता है। निर्देशक या प्रस्तोता, दर्शक, अभिनेता, नाट्य-मण्डप, दृश्यबंध और रंगसज्जा के निर्माता रंगशिल्पी, रंगदीपनकार या प्रकाश-योजना करने वाले व्यक्ति, ध्वनि-संकेत अथवा ध्वनि-प्रकाश के अवयव आदि रंगमंच के व्याकरण के अंग है, इनके प्रभावोत्पादक प्रत्यन से प्रस्तुतीकरण की कला का सौंदर्य व्यक्त होता है। इस व्याकरण को समझे बिना नाटककार रंगमंच के माध्यम का समग्रता के साथ उपयोग नहीं कर सकता। ''रंगमंच पर अभिनीत होकर ही नाटक पूर्ण अभिव्यक्ति को प्राप्त हो सकता है। पुस्तकों में वह अंटता नहीं। नाटक का नाम सुनते ही स्वभावतः स्टेज का स्मरण हो आता है। इसलिए नाटककार और समालोचक दोनों के लिए स्टेज की जानकारी

आवश्यक होती है। यह स्पष्ट हो जाता है कि नाट्य-सृजन रंगमंच सापेक्ष वह कथोपकथनमूलक शब्द-सृष्टि है जो सामूहिक संप्रेषण के लिए होती है। नाटक एक त्रयआयामी कला है, जिसके तीन आयाम है-

1. नाटककार- जो नाट्य-सृष्टि को शब्दबद्ध आकार देता है,
2. निर्देशक या प्रस्तोता-जो रंगमंचीय आलेख की समस्त प्रक्रियाओं से गुजरता हुआ नाटक की प्रस्तुति को सुलभ बनाता है तथा
3. दर्शकवृंद-जिसकी उपस्थिति के बिना नाटक की प्रस्तुति का कोई अर्थ ही नहीं है।

रंगमंच से अनुशासित होने के कारण नाटककार के अंदर भाषा-प्रयोग संबंधी कई नियंत्रण होते हैं। पहला नियंत्रण रंगव्यापार की गत्यात्मकता को अक्षुण्य रखना है। अतः नाटककार बिम्बात्मक या विवरणात्मक भाषा-शैली में पात्रों के बीच संवाद न कराकर एक विषय से दूसरे विषय पर द्रुतगति से संरचणशील भाषा-शैली का प्रयोग करता है। उसे शिक्षित, अर्द्धशिक्षित एवं अशिक्षित सभी वर्ग के दर्शकवृंद को संबोधित करना होता है। अतः लोक में प्रचलित व्यावहारिक एवं सीधी भाषा को ही नाटक अपनाना अपेक्षित है।

नाटक प्रस्तुतीकरण के लिए होता है। जो नाट्क का अभिनय करता है उसे नट या अभिनेता कहते हैं। प्रतिभासंपन्न अभिनेता ही नाटक की आत्मा को विकसित कर सकता है।

हिन्दी के आधुनिक प्रतीक नाटकों ने, रंगोपकरण के विविध-कौशलपूर्ण उपयोग से हिन्दी रंगमंच को मौलिक दिशा प्रदान की है।

हिन्दी रंगमंच की तलाश में आधुनिक रंग-आंदोलन को सक्रिय गति देने में मंच-सज्जा, रूप-सज्जा, प्रकाश-संयोजन और ध्वनि-संगीत योजना की महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

नाट्यकला की अस्मिता के विषय में प्रसिद्ध अंग्रेजी नाट्य समीक्षक 'एशले ड्यूक्स' की यह मान्यता है कि ''नाटक और उसके दर्शक-वृंद के बीच एक घनिष्ठ संबंध विद्यमान रहता है। नाटक केवल अभिनीत होकर ही अपनी प्राणवत्ता को प्राप्त कर सकता है।''

''ब्रैण्डर मैथ्यूज' का भी मत है कि ''नाटक कथोपकथन की शैली में रची गई एक ऐसी कहानी है जिसे क्रिया-व्यापार के रूप में दर्शक सम्मुख प्रदर्शित किया जाता है नाटक की कलात्मक सार्थकता तभी व्यक्त होती है जब उसका अभिनय किया जाता है। वह प्रदर्शन के हेतु रूपायित होता है।

नाटक सर्जनशीलता या कलागत रूप अपनी समग्रता में तभी प्रकट होता है जब रचना को दर्शक-समूह के समक्ष रंगमंच पर अभिनय करके दिखलाया जा सके। नाट्यकला के विषय में पाश्चात्य विचारकों ने भी नाटक को रंगमंच सापेक्ष कला माना है एवं प्रस्तुतीकरण की आवश्यकता और प्रभाव की दृष्टि से नाट्यतत्वों की मीमांसा की है। अपने आंतरिक जीवन या बाह्य आचरणों में अथवा समाज के साथ अपने नानाविध संबंधों में, मनुष्य सहज ही अपने आपको एक प्रकार के तनाव और संघर्ष की स्थिति में पाता है। वह कभी-कभी मुखौटा आदि पहन किन्हीं बातों का अनुकरण या प्रदर्शन करते हुए मुदित होना चाहता है। मनुष्य में जीवन की सार्थक रूप को पाने के लिए मूल्य या सौंदर्य की भूख होती है। ये तीनों ही बातें नाट्य-सृजन के मूल में स्वभावतः विद्यमान रहती है।

नाटक का कथानक ऐसा होना चाहिए जिसे अभिनेताओं के द्वारा किसी-न-किसी रंगमंच पर प्रस्तुत कर प्रस्तोता दर्शक को प्रभावित करने में समर्थ हो सके।

नेमिचन्द जैन के अनुसार, ''जो नाटक अभिनय नहीं, उसकी गणना नाटकों में नहीं, काव्य तथा अन्य साहित्य रूपों के साथ होती है।'' नाटककार नाट्य रचना के सर्जनात्मक कार्य की बुनियादी जरूरतों और कठिनाइयों को गहराई, तीव्रता और सूक्ष्मता से पहचान सकता है, यदि रंगमंच की उसे पहचान होती है।

नाट्याभिव्यक्ति के इसी तथ्य को इंगित करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि ''रंगमंच पर अभिनीत होकर ही नाटक पूर्ण अभिव्यक्ति को प्राप्त हो सकता है। पुस्तकों में वह अंटता नहीं। नाटक का नाम सुनते ही स्वभावतः स्टेज का स्मरण हो आता है। इसीलिए नाटककार और समालोचक दोनों के लिए स्टेज की जानकारी आवश्यक होती हैं।''

रंगमंच से अनुशासित होने के कारण नाटककार के ऊपर भाषा-प्रयोग संबंधी कई नियंत्रण होते हैं। पहला नियंत्रण रंगव्यापार की गत्यात्मकता को अक्षुण्ण रखना है। अतः नाटककार बिम्बात्मक या विवरणात्मक भाषा शैली के पात्रों के बीच संवाद न कराकर एक विषय से दूसरे विषय पर द्रुतगति से संचरणशील भाषा-शैली का प्रयोग करता है। उसे शिक्षित, अर्द्धशिक्षित एवं अशिक्षित सभी वर्ग के दर्शकवृंद को संबोधित करना होता है। अतः लोक में प्रचलित व्यावहारिक एवं सीधी भाषा को ही नाटक में अपनाना अपेक्षित है।

रंगमंच और संगीत :

संगीत ने अनादिकाल मानव-मन, मानव-सभ्यता और मानव-साहित्य को प्रभावित किया है। संगीत के इस ऋण को स्वीकार कर भरत ने अपने नाट्य-शास्त्र में पूर्वरंग के अन्तर्गत-गायन, वादन और नृत्य की बड़ी व्यापक व्यवस्था की है तथा आतोघ, तत, सुषिर तथा आवंद्य वाद्यों, ताल, ध्रुवा आदि का विस्तार से विवेचन किया है। नृत्य के सम्बन्ध में 205 करणें एवं 32 अंगहारों से युक्त जिस नृत्त (या ताण्डव नृत्य) का वर्णन भरत ने किया है, वह आगे चलकर उनके नाम पर 'भरतनाट्यम' के नाम से ही विख्यात हो गया है।

कुछ विद्वान 'नृत्य' को 'नाट्य' से भिन्न मानते हैं और 'भरतनाट्य' को बहुत बाद का अपितु देवदासियों द्वारा विकसित नृत्य रूप मानते हैं। ऐसे लोगों को यह समझ लेना चाहिए कि अभिनवगुप्त के अनुसार नृत्य के भेद लास्य और ताण्डव भी दशरूपकों की भांति नाट्य के ही दो भेद है।, अतः नृत्य या नृत्त की रूपगत पृथकता के बावजूद नाट्य से पृथक कोई सत्ता नहीं है। भरत द्वारा 'ताण्डव लक्षणं' नामक चतुर्थ अध्याय में जिस करणादि विभूषित ताण्डव नृत्य का वर्णन किया गया है, वही पहले 'चित्राभिनय' के नाम से और बाद में स्वयं भरत के नाम से 'भरतनाट्यम' के रूप में प्रख्यात हुआ। सम्भवतः देवदासियों ने भरतनाट्यम को ही अपने ढंग पर और विकसित किया और परवर्ती आचार्यों ने इसके उद्भव का श्रेय भी उन्हें प्रदान कर दिया, परन्तु यह भरतनाट्यम के मूल प्रवर्तक नृत्याचार्य भरत के प्रति अन्याय होगा। नृत्य और संगीत ने एक साथ और पृथक-पृथक भी नाटक को अत्यधिक प्रभावित किया है। किसी भी नाटक में नृत्य और संगीत की प्रायः बहुलता रहती थी, जो पारसी नाटक मण्डलियों की सफलता में बड़े सहायक होते थे। आज के नाटक में गद्य की प्रधानता के साथ नृत्य और संगीत की उपेक्षा सी होने लगी है, परन्तु दूसरी ओर यह उपेक्षा अव्यवसायिक (एमेच्यर) रंगमंच के साधनों की सीमाओं की भी घोतक है। गद्यनाटकों की अपेक्षा गीति-नाट्य, नृत्य-नाट्य या संगीत नाटक प्रायः अधिक संख्या में सामाजिकों को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। भारतीय कला केन्द्र, दिल्ली द्वारा प्रस्तुत 'रामलीला', नाट्य बैले सैन्टर दिल्ली द्वारा प्रस्तुत 'कृष्ण लीला', भारतीय लोक कला मण्डल, उदयपुर द्वारा प्रस्तुत 'मूमल महेन्द्र', 'म्हाने चाकर राखो जी', 'पनिहारी और इंद्रपूजा', सचीनशंकर बैले यूनिट, बम्बई द्वारा प्रस्तुत 'माहीगीर और जलपरी', 'मानव-'आत्मा की मुक्ति', 'शिव-पार्वती-विवाह' आदि इसी प्रकार के नृत्य नाट्य है, जिनकी लोकप्रियता से हिन्दी रंगमंच के उज्ज्वल भविष्य की आशा बँधती है।

रंगमंच : एक योग

पतंजलि ने 'योगश्चित्तवृत्तिः निरोधः' कहकर योग के लिए चित्त की बहुमुखी वृत्तियों का नियंत्रण आवश्यक बताया है। यह योग मन, आत्मा और शरीर की क्रियाओं को इस प्रकार संचालित करता है कि संपूर्ण इंद्रियाँ और चित्त एक लक्ष्य-ब्रह्म की

प्राप्ति के लिये साधनारत हो जाता है। अपने 'योग दर्शन' में पतंजलि ने योग के चार अंग बताए हैं: समाधिपाद, सांधनपाद, विभूतिपाद तथा कैवल्यपाद। भरत द्वारा प्रवर्तित भरतनाट्यम में इस योग की विभिन्न क्रियाओं के दर्शन किये जा सकते हैं। भरतनाट्यम् पर साधनपाद और विभूतिपाद का गहरा प्रभाव है। साधनपाद में ऐसे योगासनों का समावेश है, जिनसे शारीरिक व्यायाम होता है और रोग-निरोध में सहायता मिलती है। 'विभूतिपाद' में मन की एकाग्रता तथा शरीर के नियंत्रण की शिक्षा दी जाती है। भरतनाट्यम के द्वारा योग के इन दोनों अंगों की व्यावहारिक शिक्षा प्राप्त होती है। एक अंग का निक्षेप तथा संधिका अर्थात् सिर तथा अन्य अंगों की एक साथ शिक्षा। भरतनाट्यम का नर्तक सर्वप्रथम अपनी गर्दन में गति देकर उसका संचालन करता है और फिर आँखें तथा हाथ-पैर नृत्य-मुद्राओं के साथ संचालित होते हैं और अंत में सम्पूर्ण शरीर ताल-लय की गति में बंधकर नृत्यस्त हो जाता है। तीव्र गति से नृत्य प्रारंभ हो जाता है और जैसे ही वह रूकता है कि नर्तक किसी एक मनमोहक मुद्रा में जड़ीभूत (फ्रीज) होकर खड़ा हो जाता है। नर्तक गीत के भावों के अनुरूप प्रायः संवेग पाद-निक्षेप के साथ अपनी मुख-एवं-अंग मुद्राएँ भी उसी गति के साथ प्रदर्शित करता है। हाथ की मुद्राएँ प्रायः गीत के शब्द में निहित भाव को कलापूर्ण ढंग से व्यक्त करती है। मुख मुद्राओं एवं अंगहार का एक साथ सौष्ठव के साथ प्रदर्शन तभी संभव है, जब नर्तक का मन एकाग्र हो और संपूर्ण शरीर पर उसका सुदृढ़ नियंत्रण हो। नृत्य के समय जिन आकर्षण अंगहारों का प्रदर्शन किया जाता है वे सुन्दर योगासनों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। रंगभूमि की प्रेक्षणीयता के संदर्भ में रूप का अर्थ-भेद करते हुए, डॉ॰ लक्ष्मीनारायण लाल लिखते हैं, 'वह दृश्य जो आधा हमारी आँखों से दिखाई दे रहा है, आधा जो अदृश्य है, उसका हम अभिज्ञान कर सकते हैं। जितना देखना संभव है, उतना देखना, शेष का अपने चित्त से अभिज्ञान करना।' रूप के स्थूल पक्ष को वह दृश्य मानकर ऊपर को अदृश्य मानते हैं। यह अदृश्य ही अलौकिक तत्व हो जाता है। स्वभावतः अदृश्य है वही रूप का सौन्दर्य विधायी पक्ष भी है, उसकी आभा है। वही वस्तुतः प्रेक्षक को सहसा अभिभूत कर उसे दृष्टा बना देती है। स्थूल जगत में जब मनुष्य अपनी व्यक्तिगत सत्ता से मुक्ति के लिए भाव से अनुभव की ओर अग्रसरित होगा तभी उसकी अनुभूतिपरक दृष्टि रूपक में परिवर्तित होगी। डॉ॰ लाल का विश्वास है, 'जिसमें जितना अधिक रूपकत्व है वह उतना नाटक है, जिसमें उसका अनुपात जितना कम है, तदनुसार वह प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग समवकार, विधि, अंक ईह्यमृंग है।

संगीत, नाटक और कहानी का अंतःसंबंध :

संगीत रंगमंच में एक रंगीन और जीवंत कला है। यह आवाज और ताल का संगम है जो दिल को छू सकता है और लोगों को एक साथ जोड़ सकता है। संगीत रंगमंच का मतलब है कि संगीत को एक प्रदर्शन के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। इसमें संगीत, नृत्य, अभिनय और समाज की एक मधुर मिश्रण होती है। यह एक रंगीन और जीवतंत प्रसारण होता है जो दर्शकों को मनोरंजन करता है। रंगमंच और नाटक दोनों ही एक ही चीज को दर्शाने के लिए उपयेाग होता है। रंगमंच एक विशेष जगह होती है जहाँ नाटक प्रदर्शित होता है। और नाटक एक कला रूप है जिसमें कलाकार भूमिकाओं को अदा करते हैं और कहानी को दर्शकों के सामने प्रस्तुत करते हैं। जहाँ तक रंगमंच के स्वरूप का संबंध है, मंच और ख्याल दोनों में एक ही प्रकार के रंगमंच का प्रयोग कया जाता है।

एकस्तरीय और द्विस्तरीय दोनों ही रंगमंच होते हैं। 'खंब थापन' (स्तभ स्थापना) एक महत्त्वपूर्ण प्रारंभिक अनुष्ठान है। गायकों के लिए एक विशेष स्थान होता है जिसे 'तेक की पट' कहते हैं और

दीक्षित व्यक्तियों के लिए एक पवित्रीकृत स्थान होता है जिसे 'बड़ा धंत का पट' कहते हैं। इनकी अंतर्वस्तु बहुत भिन्न प्रकार की है और ऐतिहासिक, सामाजिक तथा रूमानी कथाओं को महत्त्व देने के कारण इसमें और रूपक की सहायता के बिना ही समसामयिकता धारणा करने की क्षमता आ जाती है। पौराणिक नाटकों की बहुस्तरीयता के विपरीत यहाँ द्विस्तरीयता या एकात्मकता तक दृष्टिगत होती है। थोड़े पार्थक्य के साथ इन सबका ढांचा एक सा ही है। ये सभी रूप उत्तरवर्ती संस्कृत नाटक या संगीतक के सिद्धान्तों का अनुसरण करते हैं और इस दृष्टि से राम नारायण अग्रवाल का इन समस्त रूपों को 'संगीत' का विधागत नाम देना सही प्रतीत होता है।

आधुनिक भारतीय रंगनाटकों के संदर्भ में कुछ बातें आश्चर्यजनक रूप से समानता लिए हैं तो कहीं उनके अन्यत्र उत्थापनों को लेकर विचित्र संयोग देखने को मिलते हैं। प्रायः भाषाई नाटक जब अपने क्षेत्र-विशेष में अभिनीत होते हैं तो उनमें बहुत से नाटक इतनी अधिक मात्रा में लोकप्रिय हो जाते हैं कि उनकी सैकड़ों-आवृत्तियाँ हो जाने पर भी सामाजिकों में उनके प्रति आकर्षण कुछ कम नहीं होता, जबकि उनमें से अनेक भिन्न भाषाई-नगर प्रान्तों के सामाजिकों में वह उत्साह और आकर्षण उत्पन्न नहीं कर पाती।

रसानुभूति कराने वाली सामग्री का इस्तेमाल नाटक तथा रंगमंच की पहली शर्त है। अन्य कलाओं को तो फिर भी पाठक, दर्शक या श्रोता से बचाकर एकांत-साधना का अंग बनाया जा सकता है, किन्तु नाटक दर्शक से बच नहीं सकता।

दर्शक की उपस्थिति की अनिवार्यता उसे रसानुभावक सामग्री की अनिवार्यता से जोड़ देती है। काकू, श्रृंगार प्रसाधान, वेशभूषा, दृश्य को साकार करने वाली कला आदि चीजों का उपयोग नाटक के साधन रूप में होना लाजिमी है। जाहिर है ये सभी चीजें मनुष्य ने विकसित सांस्कृतिक युग में पहुँचकर ही पाई हैं। ऋग्वेद के युग में रंगमंच तथा नाट्यकला का संकेत मिलता है। बुनाई, बढ़ईगीरी, सोनारी, चमड़े की कमाई, कोषाप्रसाधन, चिकित्सा, संगीत, वास्तु, कढ़ाई, नृत्य, काव्य आदि कलाओं का उल्लेख ऋग्वेद में किया गया है, परन्तु नाट्यकला तथा रंगमंच का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता।

देश के विभिन्न भागों के नाटक मंडली की भाँति जामिया का ड्रामा क्लब भी लोगों के अन्दर रंगमंचीय चैतना पैदा करने का सामर्थ्य रखता है। जामिया के ड्रामा क्लब का भी एक रोचक इतिहास है। जामिया के रंगमंच तथा नाटक के प्रस्तुतीकरण में संगीत का विशेष महत्त्व था।

जामिया में नाटक तथा रंगमंच की पहली ईंट 1974 या 1975 के बीच रखी गई जामिया ने नाटक को एक सांस्कृतिक और शैक्षणिक 'टूल' के तौर पर भी इस्तेमाल किया था। यह जामिया के रंगकर्म का एक उल्लेखनीय पक्ष है। वैश्वीकरण ने हमारी समस्त सांस्कृतिक कलाओं की परम्परा को कई प्रकार से प्रभावित किया है, जिसके कुछ सकारात्मक पहलू भी हैं और नकारात्मक पहलू भी हैं संगीत को भारतीय रंगमंच कला का आवश्यक अंग माना जाता है। संगीत एवं भारतीय रंगमंच तथा नाट्य कला का घनिष्ठ संबंध है। यह एक तथ्य है जब नाटक को वाणी का वरदान नहीं मिला था और पर्दे पर मूक आकृतियाँ अपने मनोभाव, संकेतों एवं मुद्राओं से व्यक्त करती थीं तब भी संगीत अभिन्न रूप से नाट्यकला से जुड़ा हुआ था। संगीत को हमेशा से ही भारतीय रंगमंच और नाट्यकला का आवश्यक अंग माना जाता रहा है।

रंगमंच तथा नाट्यकला में पार्श्व संगीत की भूमिका भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। प्रश्न यह उठता है कि आखिर पार्श्व संगीत की आवश्यकता क्यों पड़ी? इसीलिए क्योंकि यह नाटकों में भावों को तीव्रता से उजागर करने के साथ-साथ उसमें एकाग्रता भी लाता है जिससे रंगमंच तथा नाट्यकला के प्रस्तुतीकरण को और अधिक प्रभावशाली बनाए जा सके। पार्श्व संगीत प्राचीनकाल में भी था तथा राजदरबारों में भी पार्श्व संगीत होता था। पार्श्व संगीत का कार्य वास्तव में

किसी स्थिति का पूर्वाभास देना और उसे स्वर सज्जा के माध्यम से अभिव्यक्त करना है जो संगीत और संगीतकार की कल्पनाशक्ति पर निर्भर करता है। पार्श्व संगीत पूर्व घटित एवं भविष्य की घनाओं को ध्यान में रखकर संयोजित किया जाता है। पार्श्व संगीत के माध्यम से कहानी सूत्र की निरन्तरता कायम रखी जाती है। पार्श्व संगीत में मौन का भी उतना अधिक महत्त्व है जितना संगीत का। इसमें सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि संगीत संयोजक, को इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि लेखक निर्देशक का चिंतन विशेष कथा को किस ओर ले जा रहा है। उसी चिंतन को ध्यान में रखकर संगीतकार अपनी कल्पना शक्ति से ऐसे संगीत का संयोजन करता है जो उस सूत्र एवं उस प्रभाव को उजागर कर कहानी को एक नई दिशा प्रदान करता है।

नाटकों में पार्श्व संगीत देने के लिए लोक प्रचलित रागों एवं धुनों का प्रयोग अक्सर किया जाता है। धुनों एवं रागों का चुनाव साधारण तथा उतरांग प्रधान होने के दो कारण दृष्टिगोचर होते हैं। पहला यह है कि ख्यालों का प्रारम्भ द्वितीय प्रहर के लगभग होता है। दूसरा यह आवाज को दूर तक पहुँचाने के लिए उपयोगी है। उदाहरण के लिए चिडावी-ख्यालों की लोक धुनें प्रायः भैरवी, सोरठ, देस, वृन्दावनी, सारंग, कालिंगड़ा, आसावरी, झिन्झोटी, पहाड़ी, जौनपुरी, काफी, बरवा, बिहाग, पीलू, मांड, कल्याण, खमाज, धनाश्री, परज, भूपाली, सोहनी आदि रागों पर आधारित है। नाटक में किसी भी दृश्य को प्रभावकारी बनाने में पार्श्व संगीत का बहुत बड़ा योगदान है। पार्श्व संगीत के द्वारा ही नाटकों को जीवन्त और प्रभावशाली बनाया जा सकता है। क्योंकि नाटक और संगीत का आपस में बहुत गहरा संबंध है। किसी विशिष्ट कथानक को प्रभावोत्पादक अभिव्यक्ति के लिए संगीत, नृत्य, नाट्य, वेशभूषा, मंच-सज्जा एवं वाद्य आदि उपकरणों को आश्रय लेकर कलात्मक मनोरंजन दिव्यात्मक रसनिष्पति के स्तर तक पहुँचने के उद्देश्य से कला प्रर्दान के लिए जिस स्थान विशेष का चयन किया जाता है, ऐसे स्थान विशेष को ही रंगमंच की संज्ञा दी गई है। रंगमंच पर की गई प्रस्तुति का आस्वादन करने के लिए प्रेक्षकों के बैठने के स्थान को समन्वित करके बनाए गए भवन को ''रंगशाला ''रंगस्थल'' या ''प्रेक्षागृह'' कहकर नामांकित करने की प्रथा सम्भवतः महाकाव्य काल से चली आ रही है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि आधुनिक समय में नाटकों का मंचन सभाभवनों में पूर्ण वैज्ञानिकों संयंत्रों की सुविधा उठाते हुए किए जाने लगा है। अतः Casio, Drumset, Electronic, Guitar, Octopad आदि पाश्चात्य वाद्यों के माध्यम से भी रंगमंचीय प्रस्तुतियों में संगीत के प्रयोग को एक नवीन दिशा देने के प्रयत्न किए जा रहे हैं। अतः निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता है कि रंगमंच का परम्परागत स्वरूप हो या वर्तमान परिप्रेक्ष्य में उनकी विद्यमानता-रंगमंच व संगीत का सम्बन्ध सामाजिक व सांस्कृतिक परिवर्तनों के साथ-साथ वैज्ञानिक संयन्त्रों व संसाधनों से परिपूरित होकर निरन्तर एक-दूसरे की अन्योन्याक्षिता सिद्ध करते रहे हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1. महमोहन घोष, सं॰ दि नाट्यशास्त्र, भाग 2, अध्याय 5, कलकत्ता, दि रायल एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल, 1950
3. वही, भाग- 2, अध्याय 25 से 33 तक।
3. एक रामकृष्ण कवि, संपादक, नाट्यशास्त्र ऑफ भरतमुनि, भाग 2, 4/24-26, अभिनव-विवृति, पृ॰-59
4. वही, 4/320, अभिनव-विवृति, पृ॰-206
5. रंगभूमिः भारतीय नाट्य सौन्दर्य, पृ॰-42

The Musical Setting of Kutrala Kuravanji - A Folk Dance Drama of Kalakshetra

Dr. H. G.Amrutha Varshini
Musician/Performer, Bengaluru

Introduction :

Kuravanji Natakas are traditional art forms which is a consolidation of the threefold aspect of Iyal (poetry), Isai (music) and Nataka (drama). The term Kuravanji is derived from the two words "Kuravan" and "Vanji" where Kuravan refers to tribe and vanji refers to a woman of a hilly terrain. Kuravanjis-s were primarily meant for stage performances. The tradition of Kuravanji Dance Drama, an integral part of Tamil dramatic literature is as old as 300 years. It is believed that there are nearly 120 Kuravanji-s written in Tamil text and nearly 60 kuravanjis written in other Indian languages. One of the Tamil Kuravanji-s the Tirukuttrala Kuravanji by Tirukuda Rasappa kavirayar who belonged to the 1720's was the very first dance drama production of Kalakshetra Foundation, Chennai. The dance drama was envisaged by Rukmini Devi Arundel, the founder in the year 1944. The musical setting for the entire production was by Vidvan Veena Krishnamachari.

A brief overview of Kutrala Kuravanji:

The Kuravanji Natakas belong to the Tamil dramatic literature. Kutrala Kuravanji is a Tamil Dance drama composed by Tirikoota Rajappa Kavirayar in the year 17201. This is one of the early Kuravanji Natakas of Tamil Nadu. This work has a literary merit. The Sahitya of this dance drama has been printed, but the original music is not traceable. All Kuravanji Natakas begin with an entry of a Kattiyakaran or sutradhara. In this Dance-drama as well, the Kattiyakaran makes his entry first and describes in a song the picturesque manner of the procession of Lord Tirikoodanatar (Lord Shiva). After this the sakhi's or maids enter and describes the beauty of the Lord. Vasanthavalli, the heroine of the drama makes her next appearance with a ball game and the Sakhi's join her in the game. Their play is cut short with the procession. Vasanthavalli instantly falls in love with Lord Tirikootanatar. In a magnificent song she describes the beauty of the Lord. Smitten with love Vasanthavalli falls down. The Sakhi's console her. The next important character in a Kuravanji paly is the Kuravan- Kuratti (Gypsy man and woman). The Kuratti makes her appearance with a song describing the beauty of her land, the magnificent waterfalls (Kutralam) etc. At this context, the Kuratti comes to the location of Vasanthavalli. At the request of the Heroine, the Kuratti reads her palm and predicts that vasanthavalli has fallen in love with the Lord and her desire will

be fulfilled very soon. Heartened by the wonderful news, the Kuratti is bestowed with valuable gifts. When the Kuratti returns back to the Kuravan, the Kuravan doubts Kuratti and they pick up a fight regarding this and reconcile after Kuratti-s justifications. The Kuravanji Nataka's are lively because of the Kuravan Kuratti, where petty fights between Kuravan Kuratti are shown. These scenes are usually very humorous in nature. The play ends with the wedding of Vasanthavalli and Tirukootanathar.

Smt.Rukmini Devi Arundel was a person of Deep foresight and charisma. She was a visionary and that's the reason behind producing so many dance dramas which provided ample scope to realise her large vision of Indian culture and also to reinvent traditions. Her first dance Drama Kuttrala Kuravanji is a master piece. Traditionally Kuravanji's were performed by a group of female dancers attached to the temples in form of Desi Attam or Sadir style of dance (ancestor of contemporary Bharanatyam tradition). Even today we can find a special platform in Brihadeswarar Temple (Thanjavur) where Kuravanji dance dramas used to be performed during the reign of Maratha rulers (AD 1674-1854).[2]

The following Text of Kutarala Kuravanji dance drama is taken from the Kalakshetra Foundation Library where the original music composed by Sri Krishna-machari is documented.

Sri Krishnamachariar's deep knowledge of dance helped him in a great way during the composing time. His style was quite unique. He would understand the sequence and used to compose immediately with apt Raga, Tala and suitable Music of the Kutrala Kuranvanji.

Brief Biography of the composer :

Sri Veena Krishnamachariar was a Post-Trinity composer belonging to the 20th century. He belongs to the Sishya Parampara of Sadguru Sri Tyagaraja. Primarily Sri Krishnamachariar was a Vainika under the tutelage of "Panchatala" Sri Neelakanta Shastry who was a pupil of Sallangahali Krishna Iyer of Tanjore[3] under whom Krishnamachariar learnt several compositions including Kshetrajna's Padam's and Javali's. As the prefix suggest, Sri Krishnamachariar was an expert in playing the instrument Veena. His expertise was such that he could play the instrument in upright (Urdhva) position with utmost clarity, brimming with Bhava[4]! Sri Krishnamachariar along with his famous brothers Sri Tiger Varadachariar and Sri K.V.Srinivasa Iyengar learnt vocal music under the doyen Sri Patnam Subrama?ia Iyer who hails from the Sishya Parampara of Tyagaraja.

Sri Krishnamachariar at the request of Smt. Rukmini Devi Arundel spent one year (1944) at Kalakshetra, Chennai. He taught the Sangita Siromati course along with eminent Vidwans. Here Krishnamachariar was also given the task to compose music for Kalakshetra's first ever Dance Drama, Kutrala Kuravanji.

The Music of Kutrala Kuravanji :

Now coming to the music of the Kutrala Kuravanji, the play begins with a prayer to Lord Ganesha sung in the raga Natta set to Adi tala.

Pumali yitali malai punaintakurrala tisar

In the next Sloka, Rajappakavirayar seeks the blessings of Lord Shiva on whom this Kuravanji is composed upon, followed by an invocation to Goddess Sarasvati, one who bestows knowledge.

This is followed by the entry of the Kattiyakaran who in a beautiful way describes the beauty of the procession of Tirukoodanatar. The entry begins with a sollukattu (nritta portion) followed by a song in the raga Natta :

P Ṡ Ṡ N	Ṡ, Ṡ,	P Ṡ Ṡ N	Ṡ Ṡ Ṡ Ṡ
Kitataka	Theithei	Tarikita	Dhimitaka
P Ṡ Ṡ N	Ṡ Ṡ Ṡ N	P Ṡ Ṡ N	P M GM
Kitataka	Tarikita	Dhingina	Tom endru

Bavani vandanare malavitaip Bavani vandanare

Though the raga has been mentioned as Natta, when we observe the notation, it clearly shows that most of the Pallavi portion has been composed in the shades of Gambheera natta as there is no presence of the Rishabha note. But when we hear the music of the Dance Drama sung in the audio, we can clearly see that they have landed in Rishabha svara and they have sung as "mgpm R, S. Especially when one analyses the original notation, where the rishabha note is clearly absent, this raises a doubt whether this was a later addition as this has been taught successively for many years and most probably a person with clear musical understanding would have included the rishabha svara for aesthetic appeal as it confides to the present day Natta. In the Anupallavi, the rishabha is introduced, however, Sri Krishnamachari has used lot of "MGS" prayogas rather than the conventional "MGM R, S" or "MRS".

The next sequence is a description of the procession witnessed by the women-folk of the country. This is composed in a ragamalika where the sahitya is interspersed with beautiful swara passages or Chittasvara in respective ragas to suit dance. This portion begins with a Viruttam in the raga Kedaram. This is followed by kanni in the Ragas Bhairavi, Dhanyasi, Bilahari, Saranga, Sahana, Saveri, Surutti, Begada without the Nishada which is the forte of the composer where he has omitted this svara completely in a well-established raga like Begada which shows his penchant for experimentation.

Next sequence is a Viruttam which describes the entry of the heroine Vasanthavalli. The Viruttam is set in the raga Anandabhairavi. The sollukattu precedes the viruttam.

This is followed by a song which describes the "Pandattam" or Ball game in the raga Anandabhairavi and is set to Adi Tala. This song is sung by Sakhis who describe the heroine who is engaged in ball play. The Raga handled is very simple and devotional in nature like the songs found in utsava sampradaya or Nauka Charitram of Tyagaraja. The tune is something similar to the popular song "karpagavallinin".

This is followed by a Viruttam in the raga athana where Vasanthavalli witness the procession and is wonderstruck as to who is the Lord being taken in the procession! This is followed by a song in the Raga Athana set to Rupaka tala. Here the description of the Siddar (Tirikootanatar / Shiva) is given. Here the

poet has given beautiful description about his appearance. He is described as one who has worn snake around his neck, one who has poison in this throat any women who will see him will fall in love instantaneously. Who this siddar really is? Oh friend!

Inda siddar yaaro vegu

Vindaik kararaga vidaiyileri vandar (inda)

The music setting is composed using basic phrases of athana. This is followed by a Viruttam which describes about Vasanthavalli fallen in love with the lord after listening to the words of Sakhis who inform her that the siddar was none other than Lord Shiva himself. This is described beautifully in the following sloka in the raga Pantuvarali. Looking at Vasanthavalli's state, the sakhis console her that the Lord will accept her love and ask her to be hopeful. This is composed in the raga Shankarabharana. After this unable to bear the pangs of separation, she admonishes the sun, moon and other elements and request them to carry her love message to the Lord. This is composed in Senchuruti as heard in Kava?i chindu. Though there is no mention of Raga and ta?a in the notation, when we hear the archives we can infer that this is composed in senchuruti Raga and Adi tala. (Tannamududan piranday Vennilave anda Ta??aviyai enmaranday Vennilave).

Unable to see vasanthavalli's condition, the Sakhi's suggest that she send a message to the Lord. This is composed in a Viruttam followed by a Kanni in the raga Paraz. This is followed by a message song in raga Paraz. Of all the compositions in this dance drama, this song is unique in the sense that this is like a krti where there is Pallavi, Anupallavi, Charana and Chittasvara. In the Ragamalika we found after each passage there was a Chinnasvara. But this feature is not found in other Krti like compositions.

The next important feauture in a Kuravanji Nataka is the introduction of Kuratti. She plays a very important role as a soothsayer or fortune teller where folk tunes are employed in this dance drama as well, Sri Krishnamachari has used Ragas like Surati, Nadanamakriya, navaroj, Mohanam, Kapi etc which are used in folk music also.

The description of the Kuratti's arrival is composed in the Raga Suruti (Vañci vandanale malaikkura vañci vandanale).

After listening to Kuratti about her place and about her merits, the sakhis request her to tell some more about her. Here Vasanthavalli understands Kuratti as a fortune teller and requests her to predict her future. In the interim, Vasanthavalli interrupts the Kuratti and asks her to tell her future quickly without going in to other details. For which the Kuratti says, that Vasanthavalli has fallen in love and soon she will be united. After the prediction, Vasanthavalli becomes very happy and bestows valuable gifts to the Kuratti. Here a conversation takes place between the Kattiyakaran and the Kuratti on the same matter where the Kuratti tells the kattiyakaran that Vasanthavalli will be united with the Lord soon. This is composed in Nadanamakriya. The kuratti tells Vasanthavalli, that the Lord will come to her tomorrow, and she will be a witness to all her shyness, happiness which cannot be hidden! Vasanthavalli is thrilled at this news and bestows valuable gifts to the Kuratti. This is followed by nrtta portion which is composed similar to Jathisvaram

style in the raga Hindolam set to adi tala. This is the concluding piece. As mentioned earlier, there are several other scenes which has been deliberately avoided due to time constraint as a dance drama performance is composed for two hours, in such a situation, one has to compromise either by not incorporating some scenes or if one incorporates the entire text, then the Abhinaya and Nrtta portion will have limited scope. So Smt. Rukmini Devi, opted for the former way by selecting important scenes for her dance drama.

Usually at this point, there will be scenes on Kuravan searching for Kuratti and some humorous incidents take place. As mentioned earlier, the chitrakavya variety of the Uparupaka can be seen in Kuravanji dance dramas which give plenty of scope for vipralambha sringara, the sakhi playing an important role as the nayika's messenger.

As per the script, the Kuravanji nataka ends with a song in the raga Madhyamavathi set to Khanda chapu tala. But this song is not available in the archives.

Analysis of the Ragas handled in the Dance Drama :

Sri Krishnamachari has used traditional Raga-s like Nattai, Bhairavi, Dhanyasi, Suruti and such like for the Kutrala Kuravanji Nataka. The folk tunes are composed in Raga-s like anandabhairavi, Navaroj, Nadanamakriya, senchurutti, Kapi etc. There is also a Kavadi Chindu type tune for one of the sequence which is not mentioned in the notation but is sung in the audio.

Krishnamachari has also used ragas based on the feel for Sahitya. For instance when vasanthavalli is unhappy about things not working in her favour, the raga used is varali. The description of Kurattis entry which is usually composed in bright ragas which also is the turning point in the story is composed aptly in Surutti. Similarly the description about the merits of kuratti is composed in Arabhi which is very bright for the occasion.

Another aspect observed with regards to usage of Ragas as a compa-rison between the regular compositions versus Kuravanji is that, he has used only rakti ragas like Dhanyasi, Surutti, Pharas, Saranga, Navaroj etc for the Dance drama compositions which is not seen in any other compositions. For instance he has used Surutti Raga is 3 different sequences. And similarly Raga dhanyasi has been handled in two different situations. This makes us understand that Sri Krishnamachari composed compositions based on bhava primarily. One interesting fact to note is that in the ragamalika where Raga Begada figures, he has handled the raga without the Nishada. But since it formed one small portion in the dance drama, the absence of Nishada though obvious did not mar the overall effect which is felt otherwise in the regular compositions.

With regards to the svara passage composed in Hindolam, it is composed in a similar way as his Jathisvara with inbuilt rhythmic pattern which is apt for dance. We can also find his signature teermanam of three five's in the last passage as seen in his other compositions.

He has also used a variety of talas which is very bright. Due to such usage of wide spread Tala-s, the sollukattus are also very apt. He has used a variety of talas like Adi, Rupaka, Misra Chapu, Adi Tisra gati and Khanda Chapu.

From the above analysis, it is most probable that the music composed for Kutrala Kuravañji was specified by Smt. Rukmini Devi Sri Krishnamachariar's deep knowledge in dance helped him in a great way during the composing time. His style was quite unique. He would understand the sequence and used to compose immediately with apt Raga, Tala and suitable Sollukattus. The first tune was the final. There would be no edition or changes to the first tune5. Such was His expertise!

References :

1. Rukmini Devi Arundale, 1904-1986: A Visionary Architect of Indian Culture- Chapter 19, Kuravanji-Dance Dramas- Sunil Kothari- Page 163.
2. Natalie savelyeva – article on Kuravanji natakas - http://www.natyam.ru/kurav.html#intro
3. The Hindu speaks on music
4. Gana Manjari – Introduction – Seshachalam, Kalakshetra Publication, 1966
5. Adyar Lakshman – The Hindu

असम की नाट्य की संगति परम्परा और अंकिया नाट्य

डॉ. नूरजाहान रहमातुल्लाह
सहकारी अध्यापक, हिन्दी विभाग
कॉटन विश्वविद्यालय, गुवाहाटी

असम में नृत्य कला 500 से अधिक वर्षों से चली आ रही है। इस नाट्य नृत्य परम्परा को स्थापना श्रीमंत शंकरदेव ने किया। असम के अंकिय नाट्य परम्परा में नृत्य की परम्परा बहुत पौराणिक है। यह नृत्य नाटक मुख्य रूप से असम के वैष्णव धर्म के प्रवर्तक संत और समाज सुधार श्रीमंत शंकरदेव और उनके शिष्य माधवदेव द्वारा लिखा गया था और नाट्य का प्रदर्शन भी किया करता था। वे 16वीं शताब्दी में यह नाट्य कला सिर्फ पुरुषों द्वारा ही प्रदर्शन किया जाता था मगर समय के गतिविधियों के साथ अब इसको महिलाओं द्वारा भी प्रदर्शित होने लगा है। कहा जाता है 'असम' शब्द संस्कृत के 'असोमा' शब्द से निकला है। असम में आहोम राजाओं ने शासन किया था। असम में विभिन्न जाति-जनजातियाँ का भी निवास स्थल है। प्राचीन काल से द्राविड़, अष्ट्रिक, मंगोलयिन और जैन से विभिन्न मनुष्य असम आकर निवास करने लगे। असम की संस्कृति और परम्परा सभ्यता सबसे अंगूठी रहे हैं। असम राज्यों की रीति-रिवाज, भेष-भूषा, रहन-सहन भारतवर्ष के वाकी राज्यों से अलग है। श्रीमंत शंकरदेव ने पहले सत्रों का निर्माण किया। विश्व के सबसे बड़ी नदी द्वीप माजूली में सत्रों का निर्माण किया गया। धीरे-धीरे सत्र असम अन्य जगहों पर निर्माण हुई। सत्रों निर्माण के उद्देश्य था शंकरदेव का असम में नव-वैष्णव मत का प्रचार-प्रसार करना और उसके प्रचार्राध्यं में सत्रों में माध्यम से अंकिय नाट्य के द्वारा असम को लोगों में एकता के भाव पैदा करना और समज सुधार करना। श्रीमंत शंकरदेव के बाद इस परम्परा को पालने उनके शिष्य माधवदेव आगे बढ़ाया बल्कि विकसित करने में भी एक महत्त्वपूर्ण योगदन दिया। श्रीमंत माधवदेव के नाटक परम्परा को झूमरा भी कहा जाता है।

विशिष्ट आलोचक कालीराम मेधि 'अकावली' की भूमिका में असमिया नाट्य परम्परा के बारे में कहते हैं– ''असमिया नाट्य परम्परा संस्कृत नाटकों से अत्याधिक प्रभावित है। यह भी संभव है कि असमिया नाट्य उमापति कृत संस्कृत मैथली नाट्य से भी अनेक स्तरों पर भी परोक्ष रूप से संबंध हो। लेकिन इसकी उत्पत्ति का मूल स्त्रोत असमिया ओजपालि लोक नाट्य ही है। यह ओजापालि की सामूहिक प्रस्तुतीकरण की विशेषताओं से विकसित हुई है।''[1]

श्रीमंत शंकरदेव ने अपने शिष्य सहित ब्रजमंडल की यात्रा की। वहाँ उन्होंने कृष्ण के जीवन पर आधारित लीलाओं को देख पूरे भारतवर्ष की यात्रा करके असम लौटने के बाद अपने अनुभव से ब्रजबूली की रचना की। शंकरी काल में असम की राजनैतिक व्यवस्था में असुरक्षा अमर्यादित, आक्रमण की मनोवृत्ति इत्यादि। उस समय की विखंडित अशांति पूर्ण वातावरण से जनमानस को शान्ति और सुरक्षा के लिए मानवतावादी वातावरण शंकरदेव ने वैष्णव मत के द्वारा दी। उन्होंने त्रस्त जनता को एक मार्ग दिखाया। जनसाधारणों में जातिवाद रुढ़िवाद तंत्र साधना से व्याप्त था। शंकरदेव

ने कृष्ण को अपना नायक बनाकर लोक नाट्य के माध्यम लोगों में एकता पैदा की। श्रीशंकरदेव ने धर्म संस्कार की भावना से मनुष्य के नैतिक चरित्र निर्माण हेतु अंकिया नाटक लिखा।अंकिया नाटों विशेषताएं इस तरह से है– सूत्रधार की प्रधानता या महत्वपूर्ण भूमिका हैं, काव्यधर्मी गीतों को गाना, श्लोक या पयार की अधिकता होता हैं, ब्रजावली भाषा का प्रयोग करना, लयात्मक गद्य का प्रयोग करना, संगीत नृत्य के भरपूर मात्रा का प्रयोग करना ईत्यादि। अंकिया नाटक का सूत्रधार की महत्यपूर्ण भूमिका होती हैं। नाटको में सूत्रधार की परिकल्पना संस्कृत नातकों से ली गई हैं फिर भी शंकर देव ने इसमों अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय देते हुए उसे स्थानीय रूप दिया हैं। सूत्रधार का कार्य संस्कृत नाटक में आरम्भ में ही खतम हो जाता हैं मगर अंकिय नाट में सूत्रधार नांदी गीत गाकर नाटक की शुरूआत करता है और पूरे नाटक में अपनी उपस्थिति दर्ज कराता हुआ मुक्ति मंगल गाकर नाटक की समाप्ति तक अपना काम आदा करता हैं। अंकिया नाट का सूत्रधार गायक, नर्तक, परिस्थिति व्याख्याकार, निर्देशक आदि सभी की भूमिका निभाता हैं। शंकरदेव के प्रमुख अंकिया नाट है- चिह्नयात्रा, कलिया दमन, पत्नी प्रसाद, केलि गोपल, रुक्मिणी हरण, पारिजात हरण, राम विजय आजि। शंकर देव शिष्य प्रधान देव ने नयी शैली से झूमरा लिखे और इसमें नृत्य गीतों बहुत ज्यादा महत्व दिया गया है। माधवदेव जी के बाद गोपाल आता, द्विजभूषण, रामचरण ठाकुर, दैत्यदि ठाकुर आदि अनेक वैष्णव नाटककारों ने धर्म प्रचार और नृत्य दर्शाने के लिए अनेक नाटकों की रचना की सभी नाटकों की भाषा ब्रजावली थी। अंकिया नाटकों का अभिनय राज दरवारों में भी होने लगा। माधवदेव ने पाँच नाटकों की रचना की है। अर्जन भंजन, चोर धरा, पिम्परा गचुवा और भोजन विहार। श्रीमाधवदेव पूरा जीवन ब्रह्मचारी रहे। इसी कारण से इनके नाटकों का विषय सिर्फ कृष्ण के बाल लीला से सम्बन्धित रहे। जैसे सूरदास, जी को कृष्ण के बाललीलाओं इस तरह लिखा कि लगता है सूर के हृदय में एक मातृ का हृदय विराजमान है। उन्हें वात्सल्य रस का सम्राट कहा जाता है। उसी तरह से पूर्वोत्तर भारत में वात्सल्य रस के सम्राट माधवदेव को माना जाता है। उन्होंने अपने गीतों में और नाटकों में कृष्ण का बाल्यपन को ही लिया है। अंकिया नाटक का विषय सिर्फ कृष्ण लीलाओं के विषय तक सीमित नहीं रहे। अनेक अलग-अलग नटककारों ने शिव और कृष्ण दोनों के लीलाओं का भी वर्णन करते हुए नाटक रचे। इन सभी में से कृष्णलीला युक्त अंकिया नाटक का महत्व अधिक है। असम प्रदेश में जीवंत नृत्य के रूप में सत्रिया नृत्य को माना जाता। श्री शंकरेदव ने अंकिय भओना को रचना की उसके साथ सत्रिया नृत्य की भी रचना की। उन्होंने व्यक्ति के प्रचार के लिए एक मनोरंजन के माध्यम से इसका विकास किया। अंकिया नाट में नृत्य का प्रदर्शन एक महत्व पूर्ण अंश है। नव वैष्णव धर्म की पुनरुत्थान के दौरान नृत्यों के दो समूहों में वे जो नाट्य प्रस्तुतियों से प्राप्त हुए और वे नाटक को स्वतंत्र रूप से ली। प्राचीन असम की मूर्तिया असम में लोक नाटक की संगीत के मान्यता और मूल्य बहुत है।

''असम के मूर्तिकला हमें नृत्य, संगीत और लोक नाटकों के हमारे प्रारंभिक अभ्यास के बारे में बहुमूल्य जानकारी देती है। प्रारंभिक मूर्तियों में शिवसागर में पाया गया। नटराज चिह्न और असम राज्य में संरक्षित नृत्य आकृतियाँ, कोल पार्क, तेजपुर नृत्य आकृतियों, देव पर्वत, नूमली गढ़,नृत्य गोनेसा, कामाख्या मंदिर, उल्लेखनीय।''[2]

नाट्य नाटकीय तत्त्व को विशिष्टता प्रदान करता है। नृत्य अनिवार्यतः अभिव्यक्ति रूप में प्रस्तुत होता है और विषय वस्तु को स्पष्ट करना ही अकिया भाओना का उद्देश्य रहा। ललित्यपूर्ण, उत्साह, तेजस्विता नृत्य, अंकिया नाट का एक विस्तृत रंगपटल बनाता है। असम के सत्रिया परम्परा दो विशेष धाराएँ होती है- गायन-बायनार नाच से सत्रधारी नाच गोसाई प्रेवश और गोपी प्रवेश नाच से आरम्भ नाटकीय प्रस्तुतियों से युक्त भाओना और दूसरे नृत्य स्वतंत्र है

जैसे- कृष्ण भंगी, अप्सर नृत्य, रास नृत्य, बेहार नाच, राजधरिया चाली और झुमूरा। सत्रिया नृत्य अंकिया नाट के चरित्रों से जुड़े हुए होते हैं वे बहुत प्रभावशाली, वाचिक, अभिनय को प्रदर्शित करते हैं। अंकिया भाओना असमिया भाषा का एक जातीय शब्द है जिसका अर्थ है एक अभिनय में नाटकीय रचना होता। वे वैष्णव सिद्धान्त को प्रदर्शित करती है। शंकरेदव ने स्वयं अपनी नाटकी रचनाओं को नाट, नाटक और नृत्य के साथ दर्शाया है। उन्होंने अभिनेताओं, को नटवा कहा था। असम के कुछ हिस्सों में हेजरिया या बरे चहरिया भाओना और धूरा भाओना प्रस्तुत करने की एक आकर्षक परम्परा है। हेजरिया (एक हजार) संस्करण का नाम रखा गया क्योंकि इसमें एक से अधिक नाटकीय प्रदर्शन एक साथ होते है। धरा भाओना मुख्य रूप से ब्रिटिश काल के दौरान आपार असम में होता था। अंकिया नाट या भाओना का मंचन नामधरा में किया जाता था। श्री माधवदेव ने बरपेटा के मठ में उन्होंने अपने नाटकों भोजन-व्यवहार और दधि-मथाना के मंचन के लिए एक अलग से घर बनाया था। वैष्णव नाट्य परम्परा के दो प्रकार अंकिया नाटक है। अंकिया भाओनाजो शंकरदेव और उनके प्रिय माधवदेव द्वारा रचे गए थे जो संगीतों के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता था और दूसरा जो मातृभाषा नाटक जो माधवदेव के बाद उनके महन्तों ने लिखा था जिसकी भाषा असमिया है और संगीत तत्वों से भी परिपूर्ण है। शंकरी युग में अंकिया नाट सिर्फ पुरुषों द्वारा ही किया जाता था, महिलाओं का किरदार भी पुरुष ही किया करते थे। अभी समय के परिवर्तन के साथ महिलाओं के बिना नाटक का प्रदर्शन करना सम्भव नहीं है। 1950 से पूर्व महिलाओं का भूमिका पुरुषों द्वारा किया जाता था। जितने भी आधुनिकीकरण क्यों न हो मगर आज भी अंकिया नाटक का मुख्य उद्देश्य वही है। आधुनिकीकरण के कारण भाओना को अति सहज पद्धति से प्रदर्शित करने लगे, जो पहले वही दृश्य करने में बहुत कष्ट होती थी। 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में बर्मी आक्रमण के कारण आहोम साम्राज्य का पतन हुआ और अंग्रेजों ने बर्मी लोगों को असम से भगाने के लिए आहोमों की मदद की तब से जनसाधारण की जिन्दगी बदल गयी। भाओना के मंचन की प्रथा पर भी समय का प्रभाव पड़ा। समय के अनुरुप ही भाओना का स्वरूप और परिस्थिति चलने लगी।

पूरानी नाट्य विधाओं में भारी गण एक विशिष्ट स्थान रखता है। यह भी असम की राभा जनजति की एक संगीत नाटक है। यह भी असम की राभा जनजाति की एक संगीत नाटक है। जिसमें कलाकारों का एक समूह कुछ नाटकीय प्रस्तुतियों के साथ गाने सुनाता है। जिसमें सिर्फ महाभारत और रामायण के प्रसंगों को ही वर्णन किया जाता है। भारी गण करने के लिए लगभग 35 सदस्य की जरुरत है। इस लोक शैली को मूल नामक मुख्य कलाकार की उपस्थिति और वही मुख्य भूमिका निभाता है। बल्कि नाटक के पूरे पाठ्यक्रमों को नियंत्रित और पर्यवेक्षण भी करता है। भारी गण मुख्य रूप उसी समय किया जाता जब राभा जनजातीय का पारंपरिक पूजा अनुष्ठान और कई समारोह होते उसी समय यह नाटक किया जाता है। भारी गाण की उत्पत्ति किस काल मे हुई यह बताना कठिन होग। कहा जाता है भारी गान शब्द का प्रयोग इसीलिए हुआ कि पहले दिनों में मंडलियो को अपने प्रदर्शन के लिए एक जगह से दूसरी जगह जाना पड़ता था। अपने आन्दोलन के दौरान, मंडली के सदस्यों को भारी मुखोटे और नाटक के अन्य सहायक समान को भार नामक एक विशिष्ट प्रणाली में ले जाना पड़ता थ। भारी गान मंडलियाँ अपने नाटकों के लिए हस्तलिखित लिपियों का उपयोग करती है। यह हस्तलिखित लिपियाँ संरक्षित है और कुछ लिपियाँ पुस्तकों के रूप में प्रकाशित हुई है। भारी गान नाटक की भाषा पहाड़ी और बंगली मिश्रित है। इसकी भाषा से पड़ोसी राज्य की भाषा का प्रभाव बहुत दिखाई देती है। भारी गान नाटकों की भाषा अंकिया नाटक में प्रयुक्त कृत्रिम भाषा ब्रजबुली की

तरह एक अलग मिश्रण भाषा है। भारी गान केवल पुरुषों द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। और नाटक के महिला पात्रों का अभिनय भी पुरुषों द्वारा ही किया जाता है। भारी गान का प्रदर्शन करने के लिए किसी विशिष्ट मंच की जरुरत नहीं है। इसे करने के लिए एक उँचे मंच की आवश्यकता नहीं होती है। इसे किसी खुली जगह पर किया जा सकता है। भारी गान की परम्परा अपने आप में एक अनूठी है। जो राभा जनजाती के धार्मिक अनुष्ठानों में संगीतमय नाटक बहुत ही शान से प्रस्तुत करती है।

ओजापाली असम का एक स्वदेशी अर्ध-नाटकीय लोक नृत्य है। इसकी एक विशिष्टता है इसका प्रदर्शन पुरुषों द्वारा ही किया जाता है। ओजापाली प्राचीन भारत की 'कटकाटा' परम्परा के भाति कलाकारों का एक समूह लोगों के सामने पुराण की पौराणिक कहानियों के ऊपर नृत्य नाटक संगीतके साथ प्रदर्शन करते हैं। ओजापाली में कालाकार चांदी का आभूषण और सफेद लम्ब कपड़े पहनकर नृत्य नाटक करते हैं और उनके एकंमात्र वाद्ययंत्र खुटीताल बजाते हैं। ओजापाली महाकाव्य और पुराणों की कहानियों पर आधारित पूजा से जुड़ा हुआ होता है और इसके आरम्भ ने कलाकारगण 333 कोटि देवताओं का भजन गाकर शुरू करते हैं। स्वतंत्रता आन्दोलन के बाद इसका स्वरूप बदल गया है, आन्दोलन के समय लोगों जागरुकता को बढ़ाने के लिए गीती नाटकों का प्रयोग करने लगे थे और समयानुसार इसका रूप भी बदल गया है। ओजापालीका कला रूप लचीलापनऔर अनुकूलनीय है,किसी भी विषय को शामिल करके किया जाता है।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि लोक नाटक स्थानीय पहचान और मूल संस्कृति को जोड़ने का काम नृत्य संगीत है। असम में प्राचीन काल से नृत्य नाटक और संगीत के परम्परा विशेष रूप से उल्लेखनीय है। श्रीमंत शंकरदेव और श्रीमाधव देव ने नव-वैष्णव पुनरुत्थान के लिए अंकिया नाटकों में नृत्य संगीत के साथ एक स्वतंत्र रूप प्रस्तुत किया। असम के भक्ति आन्दोलन के सुत्रघात में श्रीमंत शंकरदेव ने वैष्णववाद के आदर्श को फैलाने और समग्र धार्मिक पुनजागरण के लिए एक स्थायी वातावरण बनाने के लिए एक वाहन के रूप में काम किया। असम में जब भाषायी आन्दोलन हुआ उस दौरान सह-अभिनय से अंकिया नाट्य दृश्यों में रहे थे। आज वैश्विक स्तरपर देखते हैं असम की समृद्ध सांस्कृतिक विरासत के माध्यम से देश के अन्य जगहों में भी अंकिया भाओना परिचित है। यह अंकिया भाओना असम के जन मानस से जुड़े रहने के लिए हमेशा जीवंत रहना आवश्यक है। अंकिया भाओना असम का पारम्परिक गौरवशाली नाटक है। इस परम्परा को असम के साथ साथ पूरे विश्व में अंकिया नाट की प्रस्तुति करने चाहिए। एकता का संदेश भी फैलाने की आवश्यकता है।

संदर्भ ग्रन्थ :

1. भारती, ओमप्रकाश, 'पूर्वोत्तर भारत के पारंपरिक नाट्य, धरोहर, साहित्यबाद', 2011
2. बरुआ बी. के. असम का सांस्कृतिक इतिहास, बीना लाईब्रेरी, गुवाहाटी, 2003, पृ. - 19, 24, 34, 39, 57
3. शर्मा, श्यामबाबू, पूर्वोत्तर की लोक संस्कृति, अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली, 2017
4. शर्मा, नबीन चन्द्र, भारतर उत्तर-पूर्वांचलर परिवेश्य कला, बनलता, पानबाजार, गुवाहाटी, 2009, पृ. 211
5. पाटगिरी, जे. आधुनिक असमीया सामाजिक नाटक के माध्यम से प्रतिबिंबित लोकगीत और लोकजीवन, अप्रकाशित थीसिस, लोकगीत विभाग, गौहाटी विश्वविद्यालय।

भारतीय रंगमंच की संगीत परंपरा एवं प्रयोग के अन्तर्गत रंगमंच पर मराठी नाट्य संगीत

श्रीमती श्वेता पुराणिक जोशी
शास्त्रीय संगीत गायिका
5 पायो., परांजपे कॉलोनी, कैम्प, अमरावती, महाराष्ट्र-444602

संगीत नृत्य और नाट्य इस तीनों के अपूर्व संगम से निर्माण हुई संस्कृती, अर्थात रंगमंच/ मराठी नाट्य संगीत रंगमंच की ऐसी गायनविद्या है जो ''भारतीय शास्त्रीय संगीत'' की देन है। यद्यपि कालीदास भवभूती आदि प्राचीन नाट्याचार्यों के गद्य एवं पद्यात्मक नाटकों से ही मराठी नाटकों का आविष्कार हुआ। फिर भी मराठी रंगमंच पर नाट्य संगीत का विकास व स्वरूप कुछ नवीनता लिए मोहक रूप में सामने आया है और यही कारण है कि नाट्य विद्या की परंपरा में मराठी नाटक सबसे अग्रणी है।

मराठी भाषा में संगीत नाटक का शाब्दिक अर्थ है - संगीतमय नाटक। जैसा कि नाम से ही पता चलता है कि नाटक का यह रूप कहानी को व्यक्त करने के लिए गीतों के रूप में गद्य के साथ-साथ कविता को भी जोड़ता है।

1. मराठी थियेटर का इतिहास :

मराठी नाटकों की प्रस्तुति की शुरुआत हुई :

सन्	नाटक का नाम	निर्माता
1843	''सीता स्वयंवर''	विष्णुदास भावे (पहल मराठी नाटक)
1879	''नल दमयंती''	त्रिलोकेकर (मंच पर पहला संगीत नाटक)
1880	''शाकुंतल''	यह नाटक अन्नासाहेब किर्ल्लोस्कर ने कालिदास के प्रसिद्ध संस्कृत ग्रंथ ''अभिज्ञान शाकुंतलम'' के पहले चार कृत्यों का मराठी में अनुवाद करके उसे संगीत नाटक के रूप में प्रस्तुत किया।
1882	''संगीत सौभद्र''	इस संगीत नाटक में 100 से अधिक रचनाएँ थी आज से लगभग 150 साल पहले इस नाटक का प्रीमियर हुआ था वह बाद में इस नाटक के असंख्य प्रदर्शन हुए।

2. मराठी रंगमंच पर नाट्य संगत की कम्पनियाँ (मंडली) के नाम :

	कम्पनी का नाम	सन्	निर्माता
1	किर्लोस्कर नाटक मंडली	1880-1935	अन्नासाहेब किर्ल्लोस्कर सन् 1913 में अन्ना साहेब के मृत्यु के पश्चात गोविंद वल्लाल एवं श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर ने इस कंपनी को आगे बढ़ाया और इस कंपनी में कई दिग्गज कलाकार जैसे- बालगंधर्व, गोविंदराव इत्यादि नौकरी पर थे। 1935 तक नाटक मंडली ने कई प्रदर्शन किए।
2	गंधर्व नाटक मंडली		बाल गंधर्व
3	डोंगरे मंडली		विष्णुराव डोंगरे
4	वायकर मंडली		पांडोबा गौरव
5	स्वदेश हितचिंतक मंडल		पांडोबा गौरव, जाजुभाऊ निमकर, केशवराव भोसले

स्वदेशी हितचिंकत मंडली में आगे दो भाग हुए जिसमें -

1) कला दर्शक मंडल

2) बलवंत कला मण्डल (मास्टर दीनानाथ मंगेशकर)

अभी तक भी नाटक कम्पनियों के नाम हमने जाने उनमें किर्ल्लोस्कर नाटक मंडली की योगदान अभूतपूर्व है क्योंकि इन्होंने ही संगीत नाटक अर्थात् नाट्य संगीत की स्थापना करके अनेक वर्षों तक सफल प्रदर्शन किए एवं एक इतिहास रचा है। इसके बाद बालगन्धर्व नाटक मंडली बहुत प्रसिद्ध हुई। कहा जाता है कि इसी बाल गन्धर्व नाटक मंडली में प्रसिद्ध फिल्म निर्देशक व्ही. शांतारामजी पर्दा खीचने का काम करते थे। भारतरत्न स्वर कोकिला लता मंगेशकरजी के पिताजी पं॰ दीनानाथ मंगेशकर ने अपनी स्वतंत्र नाटक कम्पनी स्थापत कि, जिसका नाम उन्होंने बलवंत नाटक कम्पनी रखा। पहले इन्होंने लोकमान्य तिलकजी से प्रभावित होकर, लोकमान्य तिलक संगीत मंडली नाम रखा था लेकिन तिलक जी गरम दल के नेता थे अतः कुछ कलाकारों ने सर्व सम्मति से यह तय किया कि इस नाटक मंडली का नाम हटाकर बलवंत संगीत मंडली रखा जाए। इस नाटक कम्पनी ने कई सुप्रसिद्ध नाटक दिए जैसे- एकच प्याला, मानअपमान।

3) संगीत नाटकों का प्रायोगिक स्वरूप :

रंगमंच पर अनेक विद्याओं की प्रस्तुतियाँ होती हैं, जैसे लोकसंगीत, शास्त्रीय गायन, भजन, फिल्मी संगीत, परन्तु इसमें से किसी भी विद्या में रंगमंच की पूजा नहीं की जाती। अब जिस प्रकार हमारी सनातनी परम्परा है कि हम प्रातःकाल धरती पर पैर रखने सेपहले, धरती का वंदन करते हुए करते हैं -

''समुद्र वसने देवी, पर्वत स्तन मंडले,
विष्णुपत्नी नोस्तुभयम् पादस्पर्श श्रमस्व में।''

इसी भावना को मन में रखकर नाटक के कलाकार रंगमंच के कलाकार पर्दे पर फूलमाला चढ़ाते हैं एवं रंगमंच की पूजा करते हैं। नाटक प्रारम्भ करने के पूर्व घंटानाद किया जाता है साथ ही पर्दा उठते ही नांदी गायन की प्रस्तुति दी जाती है। मराठी नाटकों में शुरुआत में भगवान नाटराज की स्तुति की जाती थी जिसे नांदी या मंगलाचरण कहते हैं। अनेक प्रयोगों के बाद इसमें बदलाव हुआ और गणेश वंदना गायी जाने लगी।

31 अक्टूबर, 1980 के दिन जब संगीत नाटक की पहली प्रस्तुति हुई। रंगमंच की निःशब्द शांतता, मंत्रमुग्ध करने वाला वातावरण, वातावरण में पड़ने वाला मंद मंद प्रकाश मखमली पर्दा और धूप गंध की महक के साथ आर्गन पर गाया जाने वाला नांदी गायन- वक्रतुण्ड गणनाथ गजानन शंकर तनया भव हरणाः

नाटक संगीत में प्रयुक्त पद शास्त्रीय संगीत में शास्त्रों को ध्यान में रखकर ही प्रयुक्त किये जाते हैं। नाटकों में शब्दों के माध्यम से भवनाविष्कार होते समय यदि संगीत का समावेश हो तो भावनाओं को व्यक्त करने में अधिकगती मिलती है। शब्दों के माध्यम की अपेक्षा ध्वनि का माध्यम अधिक व्यापक और गंभीर होता है। संगीत कला का मुख्य कार्य, लय और नाद के द्वारा रसोत्कर्ष का निर्माण करना है। नाट्य संगीत में गीत, रसिक श्रोताओं के लिए किसी शाही दावत से कम नहीं होते थे। ये गीत मधुर, रस युक्त और आध्यात्मिकता से परिपूर्ण होते थे जैसे- मराठी का यह पद देखें- वद जाऊ कुणाला शरण ग, करिल जो हरण संकटांचे, अगं मी धरीन चरण त्याचे अगं सखये ए, ए बाई ग, वद जाऊ कुणाला शरण ग।

इस प्रकार मराठी रंगमंच की विशेषता दो अर्थों में असाधारण है। पहला (1) शास्त्रीय संगीत की प्रकृति को हानि न पहुँचाते हुए नाटक के अनुकूल संगीत नियोजना करना। (2) प्राचीन नाट्याचार्यों द्वारा रचित पद्य प्रकारों का रूपांतरण करके उस पर संगीतरूपी साज चढ़ाया जाता, जो नाटक के लिए हर प्रकार से रसपोषक हो।

मराठी नाट्य संगीत में शास्त्रीय संगीत के अनेक रागों का एवं तालों का प्रयोग देखने को मिलता है। जैसे -

1) वद जाऊ कुणाला शरण : जोगिया राग : ताल : कहरता
2) प्रिये पहा : देसकार राग : ताल : दादरा
3) मृग नयना रसिक : दरबारी : ताल : लीनाताल

नाटक का समापन पर सभी कलाकार मंच पर आकर श्रोताओं का अभिवादन करते हैं।

4) मराठी नाट्य संगीत के लिए शास्त्रीय संगीत ही क्यों?

यह प्रश्न अवश्य मन में उठता है कि नाटकों में शास्त्रीय संगीत (रागों) को ही क्यों स्थान दिया गया, अन्य लोकसंगीत या भक्तिसंगीत को क्यों नहीं लिया गया। तब इस प्रश्न का उत्तर यह है कि कभी एकाध जगह पर लावणी या ठुमरी का उपयोग भी मराठी नाटकों में किया गया है, परन्तु शास्त्रीय संगीत में जो राग है वे, प्रत्येक राग एक विशिष्ट भावाभिव्यक्ति करता है इस नौ रसों की अभिव्यक्ति करने में राग अत्याधिक उपयोगी है और यह कारण है कि मराठी नाटकों के लिए जो गीत लिखे गए उनके लिए शास्त्री रागों को चुना, गाया और नाटकों में अभिनय के साथ ध्वनि के माध्यम से भी भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए उत्तम प्रकार से समावित किया गया। इस प्रकार शब्दों के माध्यम से भावनाविष्कार होते समय यदि संगीत का समावेश हो तो भावनाओं को व्यक्ति करने में अधिक गति मिलती है।

वैसे तो काव्य सम्पूर्ण शास्त्रों में श्रेष्ठ माना जाता है शब्दों के माध्यम से ध्वनि का माध्यम अधिक व्यापक व गंभीर होता है क्योंकि मन की उत्कृष्ठ भावनाओं को ध्वनि के माध्यम से जिस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है, उस प्रकार सिर्फ शब्दों के द्वारा उसे अभिव्यक्ति नहीं मिलती है। लय ओर नाद के साथ कोई भी रचना अब श्रोता सुनते है तो झूम उठते है इसी प्रकार संगीत कला का मुख्य कार्य लय और नाद के साथ रसोत्कर्ष निर्माण करना है। जिससे अभिव्यक्ति को भी साथ मिलता है। इस उदाहरण देकर समझाने के लिए एक नाट्य गीत प्रस्तुत है -

हे सुरांनो चंद्र व्हा
चांदण्यांचे कोष माझ्या
प्रियकराला पोचवा

उत्तराखंड की हिलजात्रा की संगीत परम्परा एवं प्रयोग

श्रीमती दीपा नन्दा
असिस्टेंट प्रोफेसर (संगीत)
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, रानीखेत (अल्मोड़ा) उत्तराखंड।

उत्तराखण्ड की कला एवं संस्कृति की परम्परा अत्यन्त विस्तृत मानी गयी है। देवभूमि के नाम से विख्यात इस राज्य में गीत-संगीत, लोक कला एवं लोकनाट्य आदि का अपना विशेष्ट महत्व माना गया है। सामान्यतः लोक कला किसी स्थान विशेष की कला, संस्कृति, रीति रिवाजों, खान-पान आदि से सम्बन्धित है। स्थानीय परम्पाओं एवं लोकरीतियों का अनुसरण करना यहाँ की मुख्य विशेषता है जो हमारी प्राचीन सभ्यता, संस्कृति एवं कला को जीवंतता प्रदान करती है।

उत्तराखण्ड के कुमाऊँ में हिलजात्रा नामक नाट्य परम्परा प्रचलित है जो यहाँ की एतिहासिक सम्पन्नता को दर्शाती है। कुमाऊँ क्षेत्र के सोर घाटी में मनाया जाने वाला यह महत्वपूर्ण नाट्य उत्सव है। यह उत्सव मुख्य रूप से पिथौरागढ़ जिले (सोर घाटी) में मनाया जाता है। पिथौरागढ़ जिले की सीमाएं नेपाल से भी लगी है, इसी कारण यहाँ नेपाली संस्कृति का प्रभाव भी देखने को मिलता है। इस उत्सव का आरम्भ बिन्दु पश्चिम नेपाल से सोर घाटी तक माना जाता है।

सर्वप्रथम इस नाट्य परम्परा का मंचन पिथौरागढ़ के कुमौड़ क्षेत्र में माना जाता है। तत्पश्चात् यहाँ के अन्य क्षेत्रो जैसे- अस्कोट, कनालीछीला, देवतथल, सिनखोला, खातीगांव, बजेटी, आदि में भी इसे मनाया जाने लगा। हिलजात्रा के इतिहास के सम्बन्ध में अनेक किवदंतियां प्रचलित है। ऐसा माना जाता है कि राजा पिथौराशाही के समय में महर वंश के चार वीर पुरुष इस आयोजन को नेपाल से सोर घाटी में लाये थे। नेपाल में यह हिल जात्रा इन्द्रजात्रा के नाम से प्रचलित थी।

लोकमान्यताओं के अनुसार पिथौरागढ़ क्षेत्र में कालीकुमाऊँ के चार भाई रुके थे जिन्हें प्रसिद्ध योद्धा माना जाता था। एक नरभक्षी शेर के आतंक से पीड़ित राजा द्वारा अपनी राज्य की रक्षा हेतु इनाम की घोषणा की गयी। तब इन चारों भईयों द्वारा एन्चोली नामक क्षेत्र में इसे मारा गया। राजा द्वारा इन्हें सम्मानित कर मुहं मांगा पारितोषिक माँगने के लिए कहा गया। सबसे बड़े भाई कुरमौर द्वारा चंडाक नामक क्षेत्र में खड़ा होकर कहा गया कि यहाँ से जितनी भूमि मुझे दिखाई देती है वह मुझे दे दी जाय। इस प्रकार बड़े भाई कुरमौर द्वारा वड्डा, नैनीसैनी, बिण तथा कुमौड़ आदि गाँव राजा से मांग लिए गए।

कुमौड़ क्षेत्र का नामकरण बड़े भाई कुरमौर, चहज सिंह के नाम पर चैंसर, जगसिंह के नाम पर जाखनी तथा बड़सिंह के नाम पर विण का नामकरण हुआ। इसी क्रम में महर बन्धु को नेपाल यात्रा के दौरान इन्द्रजात्रा के समय भैंसे की बलिदान का किस्सा भी प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि वैसे के सींग गर्दन के पीछे तक के जिससे उसकी गर्दन काटने में दिक्कत आ रही थी। अपने शौर्य एवं चातुर्य से महर बंधुओं ने एक ऊँचे स्थान पर घास का लालच दिखाया। जैसे ही घास खाने के लिए भैंसे ने गर्दन उठायी उन्होंने नीचे से उसकी गर्दन उड़ा दी। इस

प्रकार बिना सींग काटे भैंसे का बलिदान हो गया। महर बंधुओं के इस चातुर्य से प्रसन्न होकर राजा ने इंद्रयात्रा में प्रयोग होने खैर लकड़ी के बने मुखौटे इन्हें सौगात में दिये साथ ही महर बंधुओं के अनुरोध पर इन्द्रयात्रा को कुमाऊँ में लाने को स्वीकृति भी प्रदान की। इस प्रकार यह हिलयात्रा नेपाल के इंद्रयात्रा का ही स्वरूप माना जाता है।

सर्वप्रथम हिलयात्रा का आयोजन कुमौड़ में हुआ। उसी वर्ष से प्रतिवर्ष सातू-आन्ठू लोक पर्व पर यह हिलजात्रा आयोजित की जाती है। पिथौरागढ़ जिले में इस नाट्य परंपरा की शुरुआत भाद्रपद की सप्तमी-अष्टमी (सातू-आन्ठू)से होती है और समापन के अवसर पर कृषि-जीवन का जीवंत दृश्य हिल-जात्रा, हलजातरा आदि नामों से प्रस्तुत किया जाता है।

कुमाऊं में भादों का महीना धान की कटाई से सम्बंधित माना गया है। निराई-गुड़ाई के बाद धान की बालियों में ढूढ़ भरने लगता है,साथ ही तेज धूप के कारण फसल पक जाती है। ऐसे समय में खेतों में पानी भर जाता है तथा मेलों एवं उत्सवों का आगाज भी हो जाता है। हिलजात्रा शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है। हिल शब्द कीचड के लिए प्रयुक्त होता है जबकि जात्रा का अर्थ है यात्रा। वर्षा के दिनों में जबकि खेतों में इतना अधिक पानी होता है कि खेतों में कीचड हो जाती है यह आयोजन होता है। पुराने समय में इस यात्रा को हिल पानी कहा जाता था। इसके आयोजन के लिए आयोजनकर्ता को शासन को कर देना होता था।

मुख्य रूप से यह पर्व आदिम खेतीहर समाज का प्रतिबिम्ब है। इसमें ग्रामीण अंचल की विभिन्न सामाजिक और धार्मिक छवियां दृष्टिगोचर होती है। पर्वतीय अंचलों में लोक देवी-देवताओं का विशेष महत्व होता है। ग्रामीण अंचलों में इस लोकपर्व की आराध्या गौरा (गमरा) और महेश (शिव) को पूजा जाता है। ग्रामीण समाज गौरा और महेश को बेटी और जमाई के रूप में मानते हैं। भाद्रपद मास में पुत्री स्वरूपा गौरा जब आपने पीहर आती है तो गमारा (गौरा) से मिलने के लिए सभी विवाहित स्त्रियां भी आपने मायके आती है। इस समय विवाहित बेटियाँ अपने मायके में लोकोत्सव को मनाने के लिए जाती है तथा हिल जात्रा के समापन के बाद ही अपने ससुराल जाती है। ऐसा माना जाता है कि गमारा (गौरा) एवं शिव की विदाई के साथ ही इन बेटियों की भी विदाई की जाती है। जिसमें बेटियां अपने परिवार की सुख-समृद्धि हेतु इष्ट देव से आशीर्वाद प्राप्त करती है।

इसका प्रारंभ परम्परागत विधान से किया जाता है। ग्रामीण अंचल की महिलाएं परम्परागत परिधानो व आभूषणो जैसे- रंग्याली पिछौड़ी (शुभ अवसरों पर पहनी जाने वाली चुनरी), नथ, गुलोबन्द (गले में पहना जाने वाला आभूषण), पौची (हाथों में पहना जानेवाल आभूषण) आदि से सज-संवर कर इस दिन व्रत-उपवास करती है। इस दिन पांच प्रकार के अनाज, जिन्हें विरुड़ कहा जाता है, बोये जाते हैं। इसी कारण यह अष्टमी तिथि बिरुडाष्ट्मी के नाम से जानी जाती है।

अमुक्ता भव भरण सप्तमी को सांतू के दिन गमारा (शिव-गौरा) के विग्रहू स्वरूप की स्थापना की जाती है और दूर्वाष्टमी को आंठू का लोकपर्व मना कर गौरा और महेश के विग्रहों की विवाह की रस्में निभायी जाती है। बेटी व दामाद के रूप में उनकी पूजा-अर्चना की जाती है। इस समय विवाहित बेटियाँ अपने मायके में लोकोत्सव को मानाने के लिए जाती है तथा हिल जात्रा के समापन के बाद ही अपने ससुराल जाती है। ऐसा माना जाता है कि गमारा (गौरा) एवं शिव की विदाई के साथ ही इन बेटियों की भी विदाई की जाती है। जिसमें बेटियां अपने परिवार की सुख-समृद्धि हेतु इष्ट देव से आशीर्वाद प्राप्त करती है।

हिल जात्रा के एतिहासिक क्रम पर दृष्टि डाली जाई तो इसका इतिहास लगभग 500 साल पुराना माना जाता है। इस लोक नाट्य परम्परा को देखने के

लिए दूर-दूर से लोग पहुँचते हैं। इसका आयोजन कई मंचो पर भी किया जा चुका है। इसी कारण इसकी लोकप्रियत भी बढ़ गयी है। प्राचीन समय में ग्रामीण क्षेत्रों में मनोंरंजन के साधन न होने के कारण इन लोक नाट्य उत्सवो का आयोजन किया जाता रहा साथ ही पारंपरिक रीति-रिवाजो आदि का निर्वहन भी किया जाता है। समय एवं काल के परिवर्तन के साथ- साथ हिल जात्रा के स्वरुप में भी परिवर्तन आया है। समय के साथ इस नाट्य विधा में प्रयोग की जाने वाली सामग्री, साज-सज्जा के आदि में परिवर्तन जरूर देखने को मिलता है। आज भी इसके कलेवर में पौराणिक कथाओं का अनावरण देखने को मिल ही जाता है।

हिलयात्रा का प्रारम्भ नृत्य से किया जाता है। इस दिन लकड़ी से विभिन्न प्रकार के रंगीन मुखौटे बनाकर मंचन किया जाता है। मुख्य रूप से इसे महादेव शिव की बारात के रूप में भी देखा जाता है। लोक मान्यताओं के अनुसार महादेव शिव ने इस सृष्टि के समस्त जीव-जंतुओं को अपनी बारात में सम्मिलित करने की इच्छा की थी। इसी कारण इस हिल जात्रा में पशुओं आदि का मंचन अवश्य किया जाता है। इसमें मुख्य पात्रों द्वारा नाट्य परम्परा का मंचन किया जाता है। जिसमें 'लखिया भूत' प्रमुख पात्र है, जिसे शिव के 12वें गण वीरभद्र का रुप माना गया है। इसी के साथ झाड़ू लगाने वाला, दही वाला, नेपाली बैलों की जोड़ी, हल चलाने वाला, मछुआरा, घस्यारी (घास काटने वाली) आदि सभी पात्रों का मंचन किया जाता है। बैलों की जोड़ी को नंदी स्वरुप मानकर मंचन होता है जिनकी कृषि कार्य में मुख्य भूमिका रहती है। ऐसा माना जाता है कि शंकर भगवान् अलग-अलग रूप धारण कर सुख एवं समृद्धि का आशीर्वाद प्रदान करते हैं। ये सभी पात्र खैर की लकड़ी से बने मुखौटों का प्रयोग कर विभिन्न ताल एवं वाद्य यंत्रों की धुनों पर नृत्य नाटिका प्रस्तुत करते हैं। यह नाट्य परम्परा अत्याधिक रोमांचित करने वाली होती है।

इस नाट्य परम्परा का मुख्या आकर्षण मुखौटे ही हैं। इन मुखौटो को सुख समृद्धि का प्रतीक मानकर इनकी पूजा अर्चना की जाती है। इसके बाद ही इन्हें कलाकारों द्वारा प्रयोग में लाया जाता है। इनमें नेपाली बैल,लखिया भूत एवं हिरन-चित्तल के मुखौटों के साथ अन्य छोटे-बड़े और भी मुखौटों का प्रयोग किया जाता है। इसमें अभिनय करने वाले मुख्य पात्रों में लखिया भूत एवं बैलो की जोड़ी मुख्य है। कुछ स्थानों पर माँ कालिका के पात्र का मंचन भी देखने को मिलता है। इसके अतिरिक्त चौकीदार, दही वाला, मछुआरा, धान के पौध रोपने वाली स्त्रियाँ, छोटे बच्चों की जोड़ी तथा गीत गाती हुई बालिकाएं मुख्य है। ये सभी पारंपरिक पोशाकों में इस नाट्य का मंचन करते हैं।

प्रायः ग्रामीण जीवन की घटनाओं का जीवंत चित्रण इसमें किया जाता है। इसके अतिरिक्त रामायण एवं महाभारत के मुख्य अंशों जैसे सीता विवाह, स्वयंवर आदि का मंचन भी इसमें किया जाता है। सबसे पहले मैदान में झाड़ू लगाने वाले पात्र द्वारा मैदान की सफाई का मंचन किया जाता है। सामान्यतः यह दैवीय पात्र के आने से पूर्व मंच का शुद्धिकरण माना जाता है। इसके बाद हुक्के के साथ मछुवारे तथा बैलों की जोड़ी का प्रवेश होता है। इसमें बैलों का मुखोटा लगाकर बैलों का मंचन होता है। ये सभी पात्र पुरुषों द्वारा ही निभाए जाते हैं। हालिया (हल चलाने वाला) बैलों से खेतों में काम करवाता है।

हिल जात्रा की इस नाट्य परम्परा में सांगीतिक तत्वों का भी अपना महत्त्व है। इसका प्रारंभ सामान्यतः ठुल खेल से किया जाता है। 'ठुल' लोक शब्द है जिसका अर्थ है बड़ा तथा 'खेल' झोडा लोक नृत्य के लिए प्रयोग किया जाता है। इसमें एक बड़ा गोल घेरा बनाकर पुरुषों द्वारा विभिन्न पदों एवं रचनाओं का गायन किया जाता है। बीच में मुख्य गायक द्वारा गायन किया जाता है जिसमें अभिनय के साथ अन्य सभी उसे पुनः गाते हैं। एक बड़े ढोल द्वारा इसमें लय का समावेश किया जाता है। इसमें प्रयोग होने

वाले पदों के शब्दों जैसे- धनुष, गदा आदि को अभिनय के माध्यम से दर्शाया जाता है।

हिल जात्रा में संगीत में प्रयोग होने वाली विलंबित एवं मध्य लय का प्रयोग भी होता है। अलग-अलग कथानकों के अनुसार विभिन्न भावों की निष्पत्ति होती है। इन भावों की अभिव्यक्ति विभिन्न लयों के माध्यम से भी दिखाई जाती है; जैसे- सीता स्वयंवर के समय श्रृंगार रस के साथ मध्य लय का प्रयोग, धनुष तोड़ने के प्रसंग में वीर रस के साथ लय की गति बढ़ा दी जाती है। इसी प्रकार सीता हरण के प्रसंग में गंभीर भावों के साथ विलंबित लय का प्रयोग किया जाता है जिसे चारी कहा जाता है। इसी लय में झूमते हुए ठुलखेल का मंचन किया जाता है। अति द्रुत लय का प्रयोग इसमें नहीं किया जाता है किन्तु युद्ध अथवा बैलों की उछल-कूद आदि के मंचन में धमारी लय का प्रयोग अवश्य होता है जिसे मध्य लय से थोड़ा तेज माना जा सकता है।

इसी प्रकार बैलों एवं अन्य सभी लोक पात्र विभिन्न लोकवाद्यों जैसे- हुड़का, ढोल एवं दमाऊं की थाप के साथ ही लयबद्ध तरीके से मंच पर मंचन करते हैं। प्रारम्भ में धीरे-धीरे तथा क्रमशः यह गति भी बढ़ती जाती है। पदों का सञ्चालन भी इन लोकवाद्यों के तालगति के अनुसार घटती-बढ़ती रहती है।

अंत में लाखिया भूत का मंचन किया जाता है। यह पात्र लोक मान्यताओं एवं आस्था से जुड़ा हुआ है। ऐसा कहा जाता है कि इस पात्र का मंचन करने वाले व्यक्ति पर पूजा-अर्चना के साथ लखिया भूत का अवतरण होता है। पारंपरिक पूजा एवं विधि-विधान के साथ लखिया भूत का स्वागत ढोल, दमाऊं तथा मसक बीन के वादन के साथ किया जाता है। लखिया भूत का पात्र इतना शक्तिशाली माना गया है कि यह मोटी जंजीरों से कमर से बंधा रहता है जिसे दो गण पकड़े रहते हैं। दोल, दमाऊं की ध्वनि के साथ-साथ लखिया भूत का वेग भी बढ़ता जाता है। दर्शक दीर्घा में बैठे स्थानीय जनता द्वारा भक्तिभाव से पुष्प एवं अक्षत (चावल) लखिया भूत पर चढ़ाये जाते है तथा घर, परिवार एवं कुटुंब हेतु आशीर्वाद माँगा जाता है।

कृषि प्रधान होने के कारण इस समय अच्छी फसल के उत्पादन एवं प्राकृतिक आपदाओं से बचाव हेतु भी प्रार्थना की जाती है। इसी क्रम में गौरा एवं महेश के स्वरूप को गाँव में अवस्थित धारों या नौलों में विसर्जित किया जाता है। साथ ही गौरा एवं महेश के नाम पर 5-5 पौधों को भी लगाया जाता है। इसे गौरा माता की विदाई के रूप में देखा जाता है। इस के समापन के बाद ही सभी विवाहित बेटियाँ अपने-अपने ससुराल को प्रस्थान करती हैं।

यह लोक नाट्य परम्परा स्थानीय विश्वास एवं आस्था का प्रतीक है। कुमाऊं अंचल में इन लोक पर्वों एवं नाट्य परम्पराओं के माध्यम से प्राकृतिक संसाधनों को बचाने का प्रयास भी किया जाता है। पेड़-पौधों, पर्वतों, भूमि, गाड-गधेरों (प्राकृतिक जल स्त्रोत) आदि को दैवीय आशीर्वाद मानकर इनको दूषित होने से बचाने की यह परम्परा स्वयं में एक मिसाल है। वर्तमान समय में जहाँ सरकार द्वारा शहरी क्षेत्रों में इन संसाधनों के संरक्षण हेतु अनेक मुहीम चलाई जा रही है वहीं ग्रामीण अंचलों में आज भी संस्कृति एवं संस्कारों के माध्यम से इनका संरक्षण किया जा रहा है। इन लोक पर्वों एवं नाट्य परम्पराओं के महत्त्व को स्वीकारते हुए इनका संरक्षण अति आवश्यक है। संगीत एवं लोक नाट्य प्रकृति एवं वातावरण के संरक्षण में भी सहायक हो सकते है।

संदर्भ सूची :

1. हिमवान,कुमाऊं कला,शिल्प एवं संस्कृति पृष्ठ -215
2. उपरोक्त ,पृष्ट-214

तेलुगु भाषा में चित्रित लोक साहित्य के विविध आयाम

डॉ. एम. अब्दुल रज़ाक
सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग,
क्रिस्तु जयंती महाविद्यालय (स्वायत्त),
के॰ नारायणपुर, कोतनूर पोस्ट, बेंगलूरु- 560077

आंध्र प्रदेश, भारत के दक्षिण-पूर्वी तट पर स्थित राज्य है। तेलुगु भाषा में लोक साहित्य को जानपद साहित्य कहते है। यहाँ अनेक तरह के लोक कलाएँ और लोक गीतों का आज के समकालीन दौर में भी प्रचलित हैं। वास्तव आंध्र प्रदेश को दो भागों में विभाजित किया गया हैं उसमें एक कोस्ता आंध्र और दूसरा रायलसीमा आदि। यहाँ पर सर्वधिक बोली जानीवाला भाषा तेलुगु है। यहाँ के एक मशहूर शासक श्रीकृष्ण देवराया ने तेलुगु भाषा को 'देशा भाषालेंदु तेलुगु लेस्सा कहा था', अर्थात् देश की भाषाओं में तेलुगु भाषा भी एक महान भाषा है। तेलुगु भाषा को 'इटालियन ऑफ द ईस्ट' भी कहा जाता है। अलग-अलग क्षेत्रों के अनुसार तेलुगु भाषा के विविध रूप देखने को मिलते है। वास्तव में तेलुगु भाषा की शुद्धता सबसे ज्यादा कोस्ता आंध्र में देखने को मिलता है।

लोक साहित्य में लोक मानव का सहृदय बोलता है। प्रकृति स्वयं गाती गुनगुनाती है। लोक जीवन में पग-पग पर लोक संस्कृति के दर्शन होते हैं। लोक साहित्य की परिभाषा पर विचार किया जाए तो हिंदी के डॉ. सत्येन्द्र के अनुसार- 'लोक मनुष्य समाज का वह वर्ग है जो आभिजात्य संस्कार शास्त्रीयता और पांडित्य की चेतना अथवा अहंकार से शून्य है और जो एक परंपरा के प्रवाह में जीवित रहता है।'[1]

तेलुगु में लोक साहित्य को जानपद साहित्य कहते है। इस की उत्पत्ति एवं परंपरा पर विचार किया जाए तो- 'लोक साहित्य की उत्पत्ति का पता लगाना आसान नहीं है तेलुगु लोक साहित्य, उस बात के लिए कोई भी लोक साहित्य। किसी भाषा की उत्पत्ति का पता लगाना उतना ही मुश्किल है। दूसरे शब्दों में, कोई भी तर्क दे सकता है कि किसी भी लोक साहित्य की उत्पत्ति और अस्तित्व उस भाषा के साथ एक समानांतर घटना हो सकती है, क्योंकि किसी भी जातीय समूह की लोक अभिव्यंजक परंपराएँ उस विशेष जातीय समूह की भाषा से बहुत पहले की हैं। विकसित के बारे में नहीं कहना चाहिए साहित्य लिखित परंपरा में। गुफाओं में चित्र और रेखा चित्र अलग-अलग पाए जाते हैं पुरातत्व स्थल की रचनात्मक अभिव्यक्तियों की क्षमता साबित करते हैं प्रागैतिहासिक इंसान पहले भी बोल नहीं पाता था। बाद की अवधि में मौखिक रचनात्मकता के अलावा अनेक लोक अभिव्यंजक परंपरा को एक और माध्यम में व्यापक किया है, जो मौखिक लोक कला या लोक साहित्य है। इसलिए किसी भी लोक साहित्य का अस्तित्व दिए गए भाषा के समय के अनुसार वापस जा सकता है।'[2]

दरअसल लोक साहित्य के अनेक प्रकार होते हैं लेकिन लोक साहित्य के मानदंडों पर आलोचना किया जाए तो इस प्रकार नजर आता है। 'लोक-

साहित्य के मुख्यतः चार भेद कहे जाते हैं; लोक-गीत, लोक-गाथा, लोक-कथा और लोक-नाट्य। लोक-गाथा और लोक-कथा में भेद इतना ही है कि लोक-गाथा एक लम्बे आख्यान-गीत के रूप में चलती है और इसमें प्रबन्ध-योजना गाथा-प्रधान न होकर रस-प्रधान होती है, जबकि लोक-कथा गद्यात्मक होने के साथ-साथ कथा प्रधान या दूसरे शब्दों में घटना-प्रधान हुआ करती है। लोक-नाट्य जनसुलभ रंगमंच को दृष्टि में रखकर आंगिक और वाचिक अभिनय पर आधृत स्वांग या लीला तक सीमित रहता है। इसमें सामायिकता का विशेष ध्यान रहने के कारण स्थायी प्रभाव डालने की क्षमता नहीं होती है। लोक-कथाओं और लोक-गाथाओं में कथा-शिल्प ही प्रमुख रहता है, केवल लोक-गान ऐसा प्रकार है, जिसमें अपने समग्र रूप में शिल्प-विधान विकसित हो सकता है, इन चारों प्रकार के रूपों में शिल्प-विधान के ये अंग समान रूप से अपेक्षित हैं।'[3]

वास्तव में लोक साहित्य के विविध रूपों पर अधिक विस्तार से प्रकाश डाला जाए तो जाहिर होता है कि यहाँ के तेलुगु क्षेत्र के अपनी एक अस्तित्व देखने को मिलता है। तेलुगु लोक साहित्य के इतिहास में विद्यमान विभिन्न लोक साहित्य के विविध रूप हैं, उस में तीन रूपों में उल्लेख हुए हैं।

I. तेलुगु लोक साहित्य के कथाएँ
II. तेलुगु लोक कलाएँ और
III. तेलुगु लोक गीतों आदि में उपलब्ध हैं।

I. तेलुगु लोक साहित्य के कथाएँ :

वास्तव में तेलुगु लोक साहित्य इतना समृद्ध है कि विश्व लोक साहित्य की कथाएँ नजर आती है। लोक साहित्यिक श्रेणियाँ, जिन्हें दुनिया भर के विद्वानों द्वारा विभिन्न भाषाओं में वर्गीकृत किया गया था, उन्हें तेलुगु लोक साहित्य में पाया जा है।

1. जाति मिथक की कथाएँ

समाज में लोक साहित्य के समान जाति मिथक की कथाएँ सुस्पष्ट माध्यम है। इसके अनुसार मिथक को लोक-कथाओं के समान प्रधानतः औपन्यासिक कहानियाँ ही माना गया है, इन दोनों में मूलभूत अन्तर यह बताया गया है कि मिथक आलौकिक संसार की कहानियाँ हैं और इस प्रकार उनमें स्वभावतः धार्मिक तत्वों का समावेश होता है। दरअसल एक जाति मिथक का मूल रूप वहाँ की लोक प्रचलिक कथाएँ होती हैं। वही अपनी पवित्र जाति मिथक कथा के रूप में प्रचलित होती है। और यह इसकी संरचना और कार्य द्वारा कुल पुराण या जाति पुराण। इन मिथकों के नाम और जाति के नाम के साथ बनते हैं, जैसे पांड़ों की जाति के लिए पांडु पुराण, राजकाज के लिए रजाका पुराणाम आदि। जाति मिथक एक मिथक या जाति का आख्यान है जो जाति की उत्पत्ति और स्थापना की व्याख्या करता है। यह किसी दिए गए जाति को सामाजिक व्यवस्था में सबसे ऊँचे के रूप में स्थापित करने की कोशिश करता है। जाति मिथक उनके सामाजिक कार्य के संदर्भ में बहुत महत्वपूर्ण लोक साहित्यिक रूप हैं। जाति मिथक लोक साहित्य पर प्रकाशडाला जाए तो अपना एक अगल पहचान देखने को मिलता है।- 'प्रत्येक जाति का अपना मिथक होता है और इसके कथन का समय तीन घंटे से लेकर चार तक हो सकता हैं। की अधिकांश जातियाँ आंध्र प्रदेश प्रत्येक संरक्षक परिवार में साल में एक बार अपनी जाति के मिथकों को बयान करने या प्रदर्शन करने के लिए उनकी अपनी आश्रित जातियाँ होती हैं। उन्हें आरती कुल्लू या अश्रिता कुल्लू कहा जाता है। 50 से अधिक आश्रित प्रदर्शन करने वाली जातियाँ अभी भी विद्यमान हैं और आंध्र प्रदेश में कार्य करना एक जाति मिथक है मूल कथा एक दी गई जाति और यह किसी भी जाति के प्रत्येक सदस्य का गौरव है। यह एक पवित्र कथा है।'[4]

2. अनुष्ठान कथाएँ :

वास्तव में अनुष्ठान कथा एक गाथा होती है और यह गाया भी जाता है। अनुष्ठान, उस अनुष्ठान के एक अविभाज्य अंग के रूप में स्वीकार करते है।

ये कथाएँ देवी और देवताओं के आख्यान के अलावा और कुछ नहीं हैं। इस क्षेत्र में देवी की मातृ कथाएँ एक प्रमुख सामाजिक प्रासंगिकता का आनंद लेती हैं। वे मातृ देवी और पेरंटालु या देवी देवताओं के मेलों में गाए जाते हैं। देवी माँ के नाम हैं कि अंकम्मा, मरेम्मा, पोलेरम्मा, पेड्डम्मा, अटलाम्मा, एलाम्मा, पोचम्मा आदि होते हैं। इसे रोगों की देवी माना जाता हैं। वे विनाशकारी देवी हैं। वे सुरक्षात्मक या संरक्षक देवता भी हैं। उन्हें समय-समय पर या वार्षिक रूप से प्रकट होना पड़ता है, अन्यथा वे अपना क्रोध दिखा कर महामारी का रूप धारण कर लेती है। इन देवी को प्रसन्न करने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि संबंधित देवी की कथा का गायन किया जाए और उनकी प्रशंसा और बलि दिया जाता है। कथा करना या पुराणम् सुनाना आदि का कार्य करते हैं। यह देवी अनुष्ठान कथा सप्ताह तक चलाते है। ये मिथक बहुत लंबे हैं और एक रात से लेकर सात रातों तक निभाए जाते हैं। दर्शक उन्हें न केवल श्रद्धा के साथ सुनते हैं, बल्कि भय और आज्ञाकारिता के साथ सुनते हैं।

3. पौराणिक आधार कथाएँ :

आंध्र प्रदेश में पौराणिक आधार कथाएँ बहुत लोकप्रिय हैं। वे क्षेत्र के इतिहास और लोक जीवन से जुड़े हैं। यहाँ तक कि महाभारत और रामायण की कहानियों और विभिन्न लोक कलाओं में ऐतिहासिक और अर्धसामयिक कथाओं की अधिकता ने व्यापक लोकप्रियता अर्जित की और ग्रामीण गैर साक्षर लोगों को शिक्षित किया। वे मुख्य रूप से लोक कथाओं और दृश्य माध्यम से देवी देवताओं और राजाओं और रानियों को कथा का चित्रित किया हैं, जैसे विद्या नाटकम (नुक्कड़ नाटक) तोलुबोमलता (छाया कठपुतली थियेटर) पाटम कथा (स्क्रॉल कथा)। उदाहरण के रूप में पलनीति वीरा चरित्र है, यह महाभारत की कहानी से मिलता जुलता है, इसमें भाइयों और करीबी रिश्तेदारों के बीच एक क्रूर युद्ध भी शामिल है। यह एक तेलगु का वीर महाकाव्य है। यह हय वंश की कहानी है और इसका संबंध बारहवीं शताब्दी में प्रचलित था। इस में चित्रित कथा सिर्फ भाइयों की लड़ाई मात्र नही बल्कि सिंहासन एवं क्षेत्र के लिए भी किया गया है।

4. कहावतों का महत्व :

कहावत को तेलुगु भाषा में 'सामेता' कहते है। रोजमर्रा के जीवन से जुड़कर ही कहावतें बनते है। लेकिन कहावतें दिन-प्रतिदिन के जीवन का हिस्सा हैं। देशी वक्ताओं के लिए कहावत उनकी संचारी आवश्यकताओं के लिए एक आवश्यक उपकरण है और यह एक लोक साहित्यिक शैली है। तेलुगु लोक साहित्य में कहावतों का एक शानदार समृद्ध खजाना है। लोग उन्हें अपनी अभिव्यक्ति के किसी भी मोड में उपयोग करते हैं।

II. तेलुगु लोक कलाएँ :

लोक साहित्य के विविध रूप है, उसमें चेंचु भागोतम, भामाकलापम, बुर्रकथा, वीरनाट्यम, बुट्ट बोम्मलु, डप्पु, तप्पेट गुल्लु, लंबाडी, बोनालु, धीम्सा, कोलाट्टम और चिंदु आदि प्रमुख हैं।

1. चेंचु भागवतम :

चेंचू भागवतम कलाकार की हास्य की भावना के अनुसार प्रदर्शन की जाने वाली धुनों की एक श्रृंखला है। यह ज्यादातर विजयनगरम और विशाखापत्तनम जिलों में फैला हुआ है। बम्मरे पोतना द्वारा लिखित 'भागवतम' के अनुसार इस विषय को चेंचू भागवतम में लिया गया था। हालांकि भागवतम में कलाकारों के लिए अपना कौशल दिखाने का हर अवसर मिलता है। चेन्चु भागवतम में संगीत का बहुत महत्व है। स्त्री पात्र पुरुषों द्वारा निभाए जाते हैं। नृत्य सज्जित ढंग से किया गया है, मृदंग तांडव शैली में है।

2. भामा कलापम :

भामा कलापम कुचिपुड़ी नृत्य की तरह एक प्रसिद्ध नृत्य रूप है। भामा कलापम के नाम पर, 'भामा' का अर्थ कृष्ण की सुंदर और ईर्ष्यालु पत्नी सत्यभामा से है, जबकि 'कलापम' का अर्थ 'टकराव'

है। यह 17 वीं शताब्दी में कुचिपुड़ी कथाकारों के लिए सिद्धेंद्र योगी द्वारा बनाई गई थी।

3. बुर्रकथा :

बुर्रकथा एक कला रूप है, जो अभी भी तेलुगु लोक मनोरंजन प्रक्रियाओं में प्रचार और प्रसार के लिए व्यापक रूप से उपयोग किया जाता है। यह कथाकार की करतूत है। प्रस्तुति में आसानी के कारण, नायकों और बलिदानों की कहानियों को बुर्राकथा के विषयों के रूप में सुनाया जाता है। प्रचार उपकरण के रूप में यह प्रक्रिया बहुत उपयोगी है। परिवार नियोजन, राजनीतिक प्रचार और ज्ञानोदय में इसका व्यापक रूप से उपयोग किया गया है। जंगकथा, पंबलकथा, जमुकुलकथा, पिचुकुंतला कथा आदि प्रमुख है।

4. वीरनाट्यम :

नटराज रामकृष्ण ने लोक कला के एक विशेष अंक में बताया है कि उन दिनों में इस नृत्य को वीरा नाट्य कहाला जाता हैं। उनके द्वारा किए जाने वाले सभी नृत्यों में, उर्धा थंडवम सबसे महत्वपूर्ण है। यह नृत्य शैव परंपरा में सबसे महत्वपूर्ण नृत्यों में से एक है। पलनती के युद्ध में शहीद हुए योद्धाओं की स्मृति में थंडव शैली में पूजा नृत्य भी किया जाता है। नृत्य महबूबाबाद जिले के कोरवी और कोठाकोंडा क्षेत्रों में वीरभद्र मंदिरों में किया जाता है। भक्त इस नृत्य को एक हाथ में तलवार और दूसरे हाथ में ढोल पकड़कर वीराना के बड़े ढोल जैसे चमड़े के वाद्य यंत्र को बजाते हुए करते हैं। वीरनाट्य प्रदर्शन आमतौर पर शिव मंदिर के सामने सड़कों के बीच में आयोजित किए जाते हैं।

5. बुट्ट बोम्मलु :

बुट्ट बोम्मलु को गुड़ियाँ कहते हैं, आंध्र प्रदेश में विवाह के समारोहों, बड़े त्यौहारों और मेलों के दौरान मनोरंजन के लिए प्रदर्शित किया जाता है। गुड़िया भीड़ के बीच लंबी खड़ी होती हैं और सभी को इस तरह आकर्षित करती हैं, जो सभी को दिखाई देती है। ये खिलौने पुरुषों द्वारा खेले जाते हैं। इन गुड़ियों में पति-पत्नी उनके प्रेम प्रसंग का वर्णन होता है। गुड़ियाँ का प्रदर्शन जारी रहता है क्योंकि पति दुष्ट चरित्र का पीछा करता है। उसके बाद पत्नी होती है और महिला माफी मांगती है। यह एक खिलौना पहने हुए, अपने पैरों को अपनी टखनों से बांधकर चलता है।

III. तेलुगु लोक गीतों :

वास्तव में लोकगीतों का एक महत्वपूर्ण स्थान है, लोकसाहित्य के अंतर्गत लोकगीत का उल्लेख सर्वप्रथम किया जाता है। लोकगीत भावुक और संवेदनशील मानव के हृदय के स्वभाविक आविर्भाव के रूप में प्रगट होते है। लोकगीत वस्तुतः रागात्मक अभिव्यक्ति से भरा रहते हैं जिसमें जीवन के यथार्थ रूप का प्रगट होता है। मानव की प्राचीन प्रवृतियाँ (प्रेम वात्सल्य, करुण, हास्य) एक समान होने के कारण सभी क्षेत्रों और जातियों के गीतों में समानता देखी जा सकती है। क्षेत्र के अनुसार लोकगीत विभिन्न संस्कारों, विभिन्न ऋतुओं तथा विभिन्न त्यौहारों के अवसर पर गाए जाते है। खेतों और घरों में काम करते समय परिश्रमजनित थकावट को दूर करने के लिए भी इनका उपयोग होता हैं। प्राचीन काल से आज तक भी लोक गीतों का जीवन में व्यापक प्रचार देखने को मिलता है। तेलुगु भाषा में उपलब्ध लोकगीतों के अध्ययन पर प्रकाशडाला जाए तो विषय वस्तु के आधार पर निम्न प्रकार के लोकगीत देखने को मिलते है। तेलुगु भाषा में उपलब्ध लोकगीतों में निम्न प्रकार रूप है-1.पौराणिक गीत, 2.ऐतिहासिक गीत, 3.धार्मिक गीत, 4.स्त्रियों के गीत और 5.श्रम गीत आदि।

1. पौराणिक गीत :

वास्तव में पौराणिक गीतों से अभिप्राय यह है कि जो किसी प्राचीन पौराणिक कथा या किंवदंती को लेकर जनता में प्रचलित है। वैसे तो अधिकांश लोकगीतों की कथावस्तु पुराणों से संबद्ध है। पौराणिक कथाओं एवं किंवदंतियों के प्रति लोक की रुचि अधिक होने के कारण वे अपने भावनाओं के अनुकूल इन गीतों को गढ़ लिया है। जैसे-महाभारत, रामायण एवं भागवत-पुराण आदि में प्रचलित कथाओं के आधार पर अनगिनत

पौराणिक गीतों को देखा जा सकता है। सभ्य साहित्य में 'रामायण' ग्रंथों की रचना जिन कथा वस्तुओं को आधार बनाकर लिखी गई है उससे भी अधिक कथाओं एवं किंवदंतियों की अभिव्यक्ति लोकगीतों में मिलती है। ग्रामीण स्त्रियाँ 'सीता' के जीवनी को आधार बनाकर अनेक प्रकार के लोकगीत गाती हैं। जैसे सीता के जन्म, विवाह, ससुराल भेजने की प्रक्रिया को लेकर, सीता के रूठने व अग्नि परीक्षा देने को लेकर आदि गीत गाए जाते हैं। अयोध्या लौट आने के बाद सीता का नगर की स्त्रियों से बातचीत करने की प्रक्रिया को बड़ी शिद्दत के सात लोकगीतों में अभिव्यक्त किया गया हैं। यहाँ एक उदाहरण के रूप में देख सकते है-

तेलुगु में –

'अम्मलरा! मिरंदारू नन्नु तलतुर मरतुर कानललोनु

कांतरों ! नि कड़सारपु कूतुरू चिन्नदि गद ने वेल्लेडिनाडु

मुग्गुरू बिड्डला कन्नादटवे वेपइना तोडुकु रम्मेनेनु।

वेलदिरो ! नी पेद्द कोडु किप्पुडु वेरु बासेना नीतोनइना

कोम्मरो ! नी कोडलिगुणमुलु विंटिनिगदने वेडुकतोनु

शांताचेप्पगा चोद्यमुलायेनु ...

(दानि) कोरी तेस्तिवे अककारो निवु,
अनुभविस्तिवेमक्कुवदीर।'[6]

हिंदी में उसका अनुवाद -

(हे माताओं ! जब मैं वनों में थी तो तुम लोग मुझे याद करती रहीं या भूल गई

ओ कांता ! जब मैं जंगलों में गई तब तक तुम्हारी छोटी लड़की बच्ची ही थी

अब तीन बच्चों की माँ बनी ! कल तो उसे साथ में लेते आओ न !

हे ललना ! तुम्हारा बड़ा लड़का अब तुम से अलग रहने लगा

ओ बहन ! तुम्हारी बहू के गुणों को सुना है शौक से

शांता कह रही थी अचरज हुआ सुनकर ...

उसे तो बड़ी इच्छा से लाई थी अब तो भुगत रही हो न !

2. ऐतिहासिक गीत :

लोक में प्रचलित, लोक द्वारा रचित एवं संरक्षित गीतों को लोकगीत कहा जाता है। लोकगीतों का रचनाकार अपने लेखन को लोक-समर्पित कर देता है। लोकगीत किसी एक व्यक्ति की नहीं, बल्कि पूरे समाज की थाती होते हैं। शास्त्र के किसी नियम की बाध्यता नहीं, मनुष्य के सुख-दुःख की तरंग में जो छंदोबद्ध वाणी सहज उत्पन्न करे, वही लोकगीत है। लोकगीतों में ऐतिहासिक गीतों का विशिष्ट स्थान है क्योंकि इन गीतों के द्वारा विलुप्त व विस्मृत इतिहास पर प्रकाश डाला जा सकता है तथा बिखरी हुई इतिहास की अनेक कड़ियों को जोड़ा जा सकता है। इन गीतों में वीर रस की प्रधानता होने के कारण अधिकतर विद्वानों ने इसे 'वीररसात्मक गीत' या 'वीर गीत' की संज्ञा दी हैं। इसमें उन वीरों की वास्तविक घटनाओं को देख या सुनकर लोक अपनी भावाभिव्यक्ति को लयात्मक रूप में प्रस्तुत करता है। तेलुगु लोकगीतों में ऐतिहासिक एवं अर्ध ऐतिहासिक गीतों का विपुल भंडार उपलब्ध है। ऐतिहासिक वीर गीतों में पलनाटि वीर चरित्र, काटमराजु कथा, कुमार राम की कथा, बोब्बिलि कथा, अल्लुरी सीताराम राजू कथा आदि प्रमुख हैं। अल्लुरि सीतारामराजु की कथा भी लोक में अत्यंत प्रचलित एवं प्रसिद्ध है। करीब दो सौ वर्ष तक भारत पर शासन करने वाले ब्रिटिश साम्राज्य की नींव को हिला कर रख देने वाले अल्लुरि सीतारामराजु की मृत्यु पर आंध्र जनता की आत्माभिव्यक्ति को लोकगीतों में देखा जा सकता है-

'रालिनादोक नक्षत्रम्बवानिकि रामराजु ओरिगे तलचिराजु ना मन्यसोदरूलु वलवल एडिचारु जलजल कन्नीरोलक बोसे मन तेलुगु देशमंता।'[7]

रामराजु धराशायी हो गए मानों एक नक्षत्र टूट गिरा हो। उन्हें याद कर उस प्रांत के लोग बिलख-बिलख कर रोने लगे। सारा तेलुगु देश आँसूओं की धारा बहाने लगा।

3. धार्मिक गीत :

तेलुगु क्षेत्र की जनता पर धर्म, धार्मिक आंदोलनों का प्रभाव रहा है। इन धार्मिक आंदोलनों से प्रभावित तेलुगु भाषी जनता ने अपनी मनोभावनाओं की अभिव्यक्ति गीतों के रूप में किया है। तेलुगु में इस प्रकार के लोकगीतों का प्रचलन शैव एवं वैष्णव भक्ति परंपरा में देखने को मिलता हैं। शैव संबंधित लोकगीतों में तुम्मेदा, प्रभात, बालेशु, गोब्बि पद मुख्या हैं। इनके अतिरिक्त 'लक्ष्मी-पार्वती संवाद' की इन पंक्तियों में देखा जा सकता है-

'लक्ष्मी – गौरी देवी नी शंभुनी गलमुना
नलुपेमिटि ओ यम्मा! नलुपेमिटे ओ कोयम्मा!
पार्वती नारीमणि नी विष्णुदेवुडु नालुपुगाडटे
कोमम्मा ! नलुपु गाडटे
लक्ष्मी बिरुडुलेक निमगडु
जगमूलोभिक्षमेतुटेमम्मा भिक्षमेतुटेमम्मा
पार्वती बालमुलेकनू बलिचक्रवर्तिनी
अडुगलेदटे कोम्मा अडुगलेदटे कोम्मा।'[8]

ओ गौरी ! तुम्हारे शंभु का गला काला क्यों है? तो पार्वती कहती हैं कि तुम्हारे विष्णु का सारा शरीर ही काला है ! फिर लक्ष्मी कहती हैं बिना मान के तुम्हारा पति जग में भीख मांगता फिरता है। तो पार्वती कहती हैं तुम्हारे पति ने बलि के सामने हाथ नहीं फैलाए।

4. स्त्रियों के गीत :

लोकगीतों का जब हम अध्ययन करते हैं तो यह पता चलता है कि इनमें से अधिकांश गीत स्त्रियों के द्वारा रचे एवं गाए हैं। न केवल रचे गये हैं बल्कि लोकगीतों की परंपरा को सुरक्षित रखा भी गया है। अर्थात स्त्रियों ने मौखिक रूप में लोकगीतों का प्रचलन समाज में किया है। आंध्र क्षेत्र के इन गीतों में नारी से संबंधित गीतों का समागम रहता है जो निम्न प्रकार से हैं- ऋतुओं के गीत, तीर्थों के गीत, व्रत-उपवास, त्यौहारों के गीत, विवाह के गीत, प्रेम के गीत, वियोगी गीत, वैधव्य गीत आदि।

दरअसल स्त्रियों के गीतों में विवाह गीत अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। विवाह गीतों की रचना वैवाहिक कार्यक्रमों के आधार पर किया जाता है जिनकी संख्या अन्य गीतों से कम नहीं है। विवाह से संबंधित विभिन्न विधियों के समय गाए जाने वाले गीतों में दहेज के गीत, हल्दी के गीत, द्वार-पूजा के गीत, गृहस्थी के गीत, विवाह के गीत, परिहास के गीत, बारात विदाई के गीत आदि। विवाह के पश्चात ससुराल जाने वाली वधू को उपदेश देने वाले गीत भी गाए जाते हैं जिनमें सास-ससुर, ननद-जेठ, देवर, पड़ोस इत्यादि से समुचित रूप से पेश आने की शिक्षा दी जाती है। इनके अतिरिक्त बहु के प्रति सास एवं ननद के कठोर व्यवहार, निर्दयता, घातक कृत्य आदि का वर्णन इन गीतों में किया गया है जिसमें करुण रस की झलक दिखाई देती हैं। जैसे सास और बहू से संबंधित यह गीत देखिए-

'सास;- कोडला ! कोडला ! कोडुकु
पेल्लामाए पच्चिपाल मीदि मिगड़ालेवी
वेड़िपाल मीदि वेन्नेलु येवी नूने मुब्न्तलमीदि
नुरुगुल्लु येवी
बहु ;- अत्तरो ओ यत्तआरल्लयत्त पच्चिपाल
मीद मीगडुन्दुंदा
वेडिपाल मीद वेन्नेल्लुंटायाए नूने मुंतल मीद
नुरगलुंटाया।'[9]

(सास कहती है ओ बहू! मेरे लड़के की औरत! कच्चे दूध पर की मलाई कहाँ गई, गरम दूध पर का माखन कहाँ गया, तेल के घड़े में फेन कहाँ है इन सवालों के उत्तर में बहू कहती है ओ सास ! पीड़ित करने वाली सास ! कच्चे दूध में कहीं मलाई होती है, गरम दूध में कहीं माखन होता है, तेल के घड़े में कहीं फेन होता है।

5. श्रम गीत :

आज समकालीन दौर में गाँवों में खेत और खलिहानों में काम करते समय स्त्रियाँ लोकगीत गाया जाता है। मनुष्य अपनी शारीरिक थकावट को दूर करने के लिए या कार्यभार को हल्का करने के लिए लोकगीत गाता है या गुनगुनाने लगते है। इस गाने व गुनगुनाने वाली प्रवृति को 'श्रम गीत' कहा जा सकता है। ऐसे गीतों को काम के अनुरूप गाया जाता है। जैसे- धान रोपते समय जो गीत गए जाते हैं वे 'रोपनी के गीत' कहलाते हैं। ठीक उसी प्रकार चरखे के गीत, अनाज कूटते समय के गीत, पानी निकालते समय के गीत, खेत निराते समय के गीत, हल चलाते समय के गीत, नाव चलाते समय के गीत आदि। अक्सर हम देख सकते है कि श्रम गीतों में श्रृगार, करुणा, भक्ति आदि भावनाएँ ही नहीं बल्कि गाली-गलौज, शिकायत, आशा, निराशा आदि भावनाओं से संबंधित गीत भी पाए जाते हैं जिनमें स्त्रियाँ प्रत्यक्ष रूप से अपनी आशा, निराशा एवं शिकायतों का वर्णन करती हैं। पति को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए पत्नी बड़ी चतुराई से अपनी मनोभावनाओं को गीत के माध्यम से अभिव्यक्त करती है। जिसे निम्न गीत में देखा जा सकता है-

'ओकारिकी चेतुलिच्चन्ओकारिकी काल्लिनिच्चान्
ओकारिकी चेतोवट्टि कूकुन्नानोई बावा! कूकुन्नानोई।
गाजुलकि चेतुलिच्चन् कडियालकि काल्लिनिच्चान्
डब्बुलिन चेतबट्टि कूकुन्नानोई बावा! कूकुन्नानोई! '[10]

किसी को हाथ दिए और किसी को पैर दिए और किसी को हाथ में लिए बैठी रही। ग ग ग चूड़ियों के लिए हाथ दिए और नूपुरों के लिए पैर। हाथ में पैर लेकर तेरी राह देखती बैठी रही।

निष्कर्ष :

अंततः उपसंहार के रूप में तेलुगु भाषा में चित्रित लोक साहित्य (जानपद साहित्य) के विविध आयाम पर प्रकाश डाला जाए तो हर एक क्षेत्र में लोक साहित्य की अपनी एक अस्तित्व होती है। उस क्षेत्र की संपत्ति कहलाया जाता है। उस क्षेत्र की हर चीज की जानकारी प्राप्त होती है। लोक साहित्य में गाँव, गली एवं वहाँ की मुहावरों एवं लोकोक्तियों में अभिहित किया जाता है। लोक-संस्कृति जब सामाजिक-सांस्कृतिक स्रोतों से संबद्ध होती है तो उसके विविध अंग साहित्यिक कृतियों से प्रभावित होते हैं। वास्तव में लोक साहित्य को लोक संस्कृति का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग माना जा सकता है क्योंकि इसमें लोक संस्कृति के सभी अंगों की झलक मिलती है। किसी भी समाज की मान्यताएँ, अंधविश्वास, त्यौहार, रीति-रिवाज, गीत, गाथा, क़िस्से-कहानियाँ, कहावतें, मुहावरें आदि का परिचय हमें लोक साहित्य के द्वारा ही मिल सकते हैं। भारत के लिए लोक साहित्य के जितने भी आयाम हैं वे सभी विरासत में मिले धन के बराबर हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1. डॉ. सत्येन्द्र- लोक साहित्य विज्ञान, लोक भारती प्रकाशन नई दिल्ली-2017, पृष्ठ-03
2. https://hi.wikiqube.net/wiki/Telugu_folk_literature
3. https://hi.wikipedia.org/wiki/
4. https://hi.wikiqube.net/wiki/Telugu_folk_literature
5. डॉ. मक्किलिनेनी राधा कृष्ण मूर्ति–तेलुगु वारी जानपदा कला रूपालु, प्रकाशन पोट्टि श्रीरामुलु तेलुगु विश्वविद्यालय, हैदराबाद, वर्ष-1992
6. https://www.sahchar.com
7. https://www.sahchar.com
8. https://www.sahchar.com
9. https://www.sahchar.com
10. https://www.sahchar.com

बंजारा लोक साहित्य का एक रूप 'वाज़ा'

डॉ. कृष्णा डी लमाणि
सहायक प्राध्यापक, हिंदी अध्ययन विभाग,
क्रिस्तू जयंति कॉलेज (स्वायत्त)
कोत्तनूरु पोस्ट, के नारायणपुरा, बेंगलूरु, कर्नाटक- 560077

बंजारा समुदाय स्थिर समाज व्यवस्था में ना रहकर घुमंतु जनजाती के वर्ग में आता है। वैसे तो बंजारा समाज को राजस्थान के रजपूतों के तालूकात मानते हैं। 'बंजारे मूलतः राजस्थान के निवासी थे। उत्पत्ति के संबंध में उनकी धारणा, उनकी लोकसाहित्य की भाषा, लोक साहित्य के वीर पुरुष, देवी देवता तथा स्थानों के नाम उन्हें मूलतः राजस्थान का निवासी सिद्ध कराती है।'[1] यह समुदाय राजस्थान से पूरे देश में फैला हुआ है। मारवाडी और बंजारा की भाषा और पहनाव बहुत-सी करीब मालूम पड़ती है। मारवाड़ी समाज एक स्थिर स्थान पर रह कर व्यापार करते थे और बंजारा के लोग अपने जानवरों पर सामान लाद कर दूर देशों को पहुंचाने का काम करते थे। बंजारा समाज लदेणी (जानवरों पर सामग्री लादकर जुलूस में जाना) लादकर एक देश से दूसरे देश को पहुँचाया करते थे। इस कारण बंजारों को 'लदेनिया' भी कहा जाता है। 'बैलों की पीठ पर माल ले जाने के कारण मालवा में बंजारों को 'लादेणिया' भी कहा जाता है। लदेणी व्यवसाय के लिए भौगोलिक ज्ञान का होना अत्यंत आवश्यक है जो सर्वाधिक बंजारा समाज के पास ही था।[2] और युद्ध के सामग्रियों को अपने बैलों से खिंचवाकर युद्ध भूमि तक ले जाने का काम भी किया करते थे। इस समय ज्यादातर बंजारा आदमी अपने परिवार समेत लदेणी में चला जाता था। जब रात हो गई तो वही पर डेरा डालकर विश्राम करता था और आगे की जमीन दूसरे सूर्योदय को नापता था। विश्राम के समय में अपने देवी-देवताओं को याद करते हुए गीतों को गाते हुए रात बिताते थे। बंजारा समुदाय श्री भीमा नायक और श्रीमती धर्मिणी माता के जेष्ठ पुत्र संत श्री सेवालाल (15-02-1739) को अपना मूल पुरुष(गुरू या भगवान) मानते हैं। जैसे सिक्खों के लिए गुरू नानक है वैसे ही बंजारा समुदाय के लिए संत सेवालाल। संत सेवालाल बंजारा समुदाय के परम गुरू एवं देव है।

संत सेवालाल के साथ साथ मुख्यतः देवी मारिकाम्बा और सात बहनों के नाम से प्रसिद्ध अरळीदेवी, माता दुर्गा, कंकाळी देवी, इंगळा देवी, माता तुळजा भवानी, मतराल देवी और माता जगदंबा देवियों की बडे ही भक्ति भाव से आराधना करते हैं। साथ ही हिंदू धर्म के तमाम देवी देवताओं को पूजा कारते हैं। सामान्यतः वाज़ा (भजन) में केवल पुरुष ही होते हैं। वाज़ा में नगाडा, तबला, कांस की थाली, झुंझुना, झांझर, घुंघरू, करताल (कठताल) मंजिरा, तालवाध्य आदि वाध्यों का उपयोग किया जाता है। जब सभी अपना अपना काम समाप्त करके शाम को घर वापस आते हैं तो गांव के सारे पुरुष मंदिर में इखट्टा होकर वाज़ा करते हैं। सभी लोग अपनी अपनी कांस की थाली ले आते है और वाज़ा में शामिल होते हैं। स्वयं मैं बंजारा समुदाय से जुडा हुआ हूँ। मेरा ताऊ कारबारी है जो बंजारा समुदाय के मुखियाओं में तीसरे स्थान पर आते हैं। नायक तथा डाव बंजारा

समुदाय के मुखियाओं में क्रमशः प्रथम और द्वितीय स्थान पर होते हैं। मेरे परिवार के सभी पुरुष वाज़ा के गीत गाते हैं। मैं भी कभी कभी वाज़ा में शामिल होता आया हूँ। मुझे जो वाज़ा के कुछ गीत ज्ञात है उन गीतों को और मेरे ताऊ देवप्पा, मेरा नाना रेखप्पा और मेरा मामा रविराज का साक्षात्कार कर वाज़ा के गीतों को मैं इस आलेख मैं उल्लेख कर रहा हूँ।

वाज़ा में देवस्तुती, रामायन एवं महाभारत कथा, बंजारा संस्कृति, हास्या, नैतिक और मौलिक विचारों को गाया करते हैं। बंजारा समाज का वाज़ा बंजारा समुदाय के पुरुषों का मनोरंजन का माध्यम है। साथ ही वाज़ा के गानों के माध्यम से अपने समाज में नैतिक और मानवीय गुणों का प्रसारण किया करते हैं।

बंजारा समाज में एक मान्यता है कि संत सेवालाल ने नगाडा का शुरूआत किया था। संत सेवालाल एक चरवाहा था। वह अपने गायों को चराते चराते अपने दोस्तों को गोलाकार में बिठाकर पत्थर को नगाडा बनाकर उसे बजाया करता था और अपने मन में आए विचारों को गा-गाकर सुनाया करता था और उसके दोस्त उसका अनुसरण करते थे। गोलाकार में बैठे सभी मित्र एक-एक करके गाया करते थे। बंजारा के वाज़ा गीत में इसका उल्लेख है जो संत सेवालाल जी ने नगाडा को बजाने के संदर्भ को पुष्टी देता है-

'सेवलजेर सीळी वेळा चालोरे राम
वडेलार ठोली नगारा घोररोच

जोडाती गावण बेटे वाज़ा खलरोच
डावेती जमण बोल लेलोरे राम

वडेलार ठोली नगारा घोररोच
जोडाती गावण बेटे वाज़ा खलरोच॥'[3]

जब एक व्यक्ति गाता रहता है तो वह अपने गाने को रोक कर दूसरे को अवकाश देता है। ऐसे समय में वह 'मार गावणरे तारसाउँ आउँ केरीच, मार हुँसिरे बोलन लेलोर' कहकर अपने गीत को रोकता है और उसके दाए ओर बैठा हुआ व्यक्ति गीत गाना शुरु करता है। ऐसे ही रात भर वाज़ा चलता रहता है।

सेवलाल की स्तुती और कीर्तन के गीतों को बंजारा समाज के सभी तरह के गीतों में पाये जाते हैं। 'वाज़ा' में भी संत सेवालाल का स्मरण सबसे पहले किया जाता है। उपरांत बाकी सभी देवी-देवताओं को याद किया जाता है। गीत के माध्यम से संत सेवालाल को नमन करते है और अपने वाज़ा को आगे बढाते है जैसे -

'सेवालालेरो धपडा कनोमनोरे(श्रंगारित) धपडा कनोमनेरो धपडाओ रेंगो चेंगोर

सेवालालेरो धपडा कनोमनोरे राहे...
लेवार घडो रे धपडा ढेढ कसोरे।'[4]

इसी तरह वाज़ा बोलने वाले अपने गीतों में अनेक देवताओं का नाम एक के बाद एक का नाम लेते रहते है। पूरा गाना एक ही तरह रहता है किंतु देवी देवताओं के नाम के स्थान पर नाम बदलता जाता है। उपर्युक्त इसी गाने में दूसरे देवताओं का नाम लेकर यही गीत को दोहराया जाता है।

वाज़ा में पौराणिक घटनाओं का जिक्र किया करते हैं। अपने देवी देवताओं का जिक्र और उनकी लीलाओं का उल्लेख इन लोक सांस्कृतिक गीतों में मिलते है। बंजारा(लमाणि) वाज़ा के गीतों में मंत्रालय में माता गंगा का दर्शन देने का जिक्र हुआ है जैसे-

'मतराले माया
भजनेम मायेन-बाप झूरे (खुशी) राम
काशी केरे बुटा (पहाड़) हेटे

गंगा दरशण देगिरे मतराले माया
मार देवी दरशन देगीरे मतराले माया।
बंदेडिरी आड़ि-तेड़ी लकड़ी*।

बंदेडिरी आड़ि-तेड़ी लकड़ी।
समुदराम होळाये मतराले माया।
मार मायेन-बाप जोडाये मतराले माय॥'[5]

(*बंदेडिरी आड़ि-तेड़ी लकड़ी = ऋशी के हाथ में रहने वाला टेडा मेडा डंडा।)

इस गीत में युग्म जोडाओं के बारे में बताया गया है। हम देख सकते है कि इस गीत के अंतिम पंक्ति में माँ और बाप के युग्म का उल्लेख हुआ है। ऐसे पूजनीय युग्म जोड़ाओं का उल्लेख करते हुए इस गाने को आगे बढाया जाता है जैसे -

'काशी केरे बुटा (पहाड़) हेटे।

गंगा दरशण देगिरे मतराले माया।

मार देवी दरशन देगीरे मतराले माया।

बंदेडिरी आड़ितेड़ी लकड़ी।

समुदराम होळाये मतराले माया।

चांदा-सुरिया जोड़ा रे मतराले माया।।'[6]

इसी गीत में चांदा-सूरिया के जगह पर और भी युग्म जोड़ों का नाम जोड़कर गीत को आगे बढ़ाया जाता है। जैसे कि राम-लक्षमण, लव-कुश आदि।

रामायण के कई प्रसंगों को वाज़ा के गीतों में गाया करते हैं। इसमें से एक प्रसंग जो प्रातः काल के पूजा-पाठ के लिए जानकी देवी श्री राम से कमल के फूल तोड़ लाने की विनती करने पर श्री राम जी तालाब के गहराई के बारे में बताने का एक दृष्य को बड़े ही सुंदर रूप से इस गीत में पुरोया गया है। उसका एक रूप इस प्रकार है -

''जानकान केरो तळवान पाणि आरो ।।2।।
फुलतोडला बाई केरीरे शिवज्ञानी
शिवज्ञानीरे गुरू ज्ञानी
गुरू ज्ञानीरे आंगणेम बळ ओरी धूणीर

जानकान केरो गोडेन पाणि आरो ।।2।।
फुलतोडला बाई केरीरे शिवज्ञानी
शिवज्ञानीरे गुरू ज्ञानी
गुरू ज्ञानीरे आंगणेम बळ ओरी धूणीर

जानकान केरो कडेन पाणि आरो ।।2।।

जानकान केरो छात्तिन पाणि आरो ।।2।।

जानकान केरो लल्डिन पाणि आरो ।।2।।

जानकान केरो नाकेन पाणि आरो ।।2।।

जानकान केरो तळेन पाणि आरो ।।2।।
फुलतोडला बाई केरीरे शिवज्ञानी
शिवज्ञानीरे गुरू ज्ञानी
गुरू ज्ञानीरे आंगणेम बळ ओरी धूणीर।'[7]

बंजारा समाज का सांस्कृतिक पोषाक बहुत ही आकर्शणीय है। खास कर के स्त्री का पोषाक और आभुषण अन्य पोषाकों से भी अत्यधिक आकर्षणीय है। यह समुदाय अपने अभूतपूर्व और विषेश पहनावे से ही पहचाना जाता है। आज के दिन में बंजारा समुदाय का सांस्कृतिक पहनावा बहुत ही कम देखने को मिलता है, किंतु विशेष संदर्भ में जैसे- शादी, तीज-त्योहारों में पूरा बंजारा समुदाय अपने सांस्कृतिक साज-सज्जा के साथ दिखाई देता है। विषेश संदर्भों में स्त्री, फेटिया (घाघरा), कांचळी (कांछ से बनी चोली), छांटिया (घुंघटो), चोटला-घुघरी (विशेष प्रकार का बाल बनाना), भुर्या (नथनी), झूमर, बल्या (एक प्रकार का सफेद कड़ा), बऊटे (चाँदी के रंग का एक कड़ा), चूड़ी-बंगडी (कंगन), कमरबंद, पावला (सिक्के से बने अंघुटी) कोल्डा, सडकेर डोर (Cowrie or cowry) आदि से श्रृंगारित रहती है और पुरुष धोति, झिगला (कमीज), कडगा (कड़ा), पागडी (साफा), विंटी (सिक्के से बने अंघूटी) रिंगा (बाली), कांचेर पट्टी (छाति पर काँच से बना एक पट्टी) कडगा, बंदी आदि से श्रृंगारित रहता है। ऐसे श्रंगारित होने की इच्छा बंजारा के प्रत्येक स्त्री को होती है। स्त्री के इन आभुषण और पोषाक से संबंधित एक गीत वाज़ा के समय गाते हैं जिसमें कल्पना की गई है की गोपिका अपने कन्हैया से इन आभुषणों को दिलाने की और उन्हें पहनकर नाचने - गाने की इच्छा को प्रकट करती हुई नजर आती है -

'आंगुटान अंगुतला दरारे कनैया
ये लाल कनैया..... कनैया.....

आंगुटान आंगुतला दरारे कनैया.....राहे
वोन घालन हिंडये गुंजारणि पणिहारेणी.... य

टांगेन चैने दरारे कनैया
ये लाल कनैया..... कनैया.....
वोन घालन हिंडये गुजारणि पणिहारेणी.... य

टांगेन गरतनी दरारे कनैया
ये लाल कनैया..... कनैया.....
वोन घालन हिंडये गुजारणि पणिहारेणी.... य

पिंडलिय गोळिया दरारे कनैया
ये लाल कनैया..... कनैया.....
वोन घालन हिंडये गुजारणि पणिहारेणी.... य

फेटियान सडके दरारे कनैया
ये लाल कनैया..... कनैया.....
वोन भांदन हिंडये गुजारणि पणिहारेणी.... य

गळेन हसलो दरारे कनैया
ये लाल कनैया..... कनैया.....
वोन घालन हिंडये गुजारणि पणिहारेणी.... य

नाकेन भुरिया दरारे कनैया
ये लाल कनैया..... कनैया.....
वोन घालन हिंडये गुजारणि पणिहारेणी.... य

कांचळीन बुड्डी दरारे कनैया
ये लाल कनैया..... कनैया.....
वोन पेरन हिंडये गुजारणि पणिहारेणी.... य

ताळेन घुंघटो दरारे कनैया
ये लाल कनैया..... कनैया.....
वोन ओडन हिंडये गुजारणि पणिहारेणी.... य'[४]

इसी तरह वाज़ा का और एक गीत है जो कूये से पानी भरने आई हुई एक स्त्री के आभूषणों का वर्णन करते है। घुंघट, कांचळी (छोली), फेटिया (घाघरा), फुलिया, कडगा आदि से श्रंगारित बंजारा महिला के आभुषण और वस्त्रों का उल्लेख वाज़ा के गीतों में इस प्रकार होता है। -

'पगेलान पिंजण येडी घुघेरा रे
घमालन पिंजण एडी घुघेरा... घुगेरा.....य

पांचे हातेरो तार चांटिया ये
घमालन पांचे हातेरो तारो चांटिया.... चांटिता.....य

साते हातेरो तारो फेटिया ये
घमालम साते हातेरो तारो फेटिया.... फेटिया.....य

तीन छिंटेर तार कांचळी ये
घमालम तीन छिंटेरी तार कांचळी.... कांचळी.....य

सवा हातेरो तार घुंघटो ये
घमालन सवा हातेरो तर घुंघटो.... घुंघटो....य

नौसे कोडीर तर फुलिया ये
घमालन नौसे कोडीरो तार फुलिया....फुलिया.....य

सोने रूपेरो तारो बिडलो ये
घमालन सोने रूपेरो तार बिडलो...बिडलो... य

जारी जकोण पाणिया भरलये
घमालन जारी जकोण पाणिया भरल.... भरल....य
हे घमालन घुघेरा डुआरी दांडी दस घुघेरा....
घुघेरा....य'[१]

बंजारा के लोकगीत सामाजिक मूल्यों के पदों से भरा हुआ है। अपने समाज के लोगों के मन में सांस्कृतिक सीख प्रदान करनेवाले अनेक पद वाज़ा में गाये जाते हैं। ये पद पथभ्रष्ट हुए युवकों के लिए पथप्रदर्शक के रूप में काम करते हैं। वाज़ा गा रहे और सुन रहे सभी लोगों के मन में मानवीय और नैतिक मूल्यों को भर देने का काम होता है। जो युवकों के मन में बडों के बारे में सम्मान नहीं होता या आदर नहीं करते और अज्ञान के कारण अपनी बढाई करते है उनको अपने अस्तित्व को पहचानने का और ऐसे अनुचित व्यवहार को छोड़कर सही तरह से आदर और स्नेह भरे भाव से बात करने का पाठ किया करते हैं। जो लोग अहंकारी होता है उन्हें अहं के भाव को छोड़कर समाज में कैसे जीना है वह वाज़ा के पदों के साथ बताते हैं। यहाँ अहंकारी, घमंडी व्यक्ति को सीख देनेवाला एक पद है। यहाँ दूसरी पंक्ति को प्रत्येक पंक्ति के बाद गाया जाता है वह इस प्रकार है-

'वाटेरी हुडी वाटेरी हुडी मारमतरे रुडी (गुलाटी मारना)
हे गोर भाई रे परख लाग तारी धाटीर लेको काइं करियाँ ।।2।।

वाडेरो कोळा वाडेरो कोळा काडमतर डोळा
वाडेर तुम्बडी वाडेर तुम्बडी मारमतर बुम्बडी
जाडेरो गुल्लर झाडेरो गुल्लर भेळमतर झुल्लर
खेतेरो सांटा खेतेरो सांटा मारमतर भाटा
वाडेरी तोरी वाडेरी तोरी काडमतर छोरी।'[10]

इसी प्रकार सत्संग और सही मार्ग का प्रदर्शन करने का काम ये वाज़ा के गीत करती हैं। कर्म और फल का संबंध से अंजान लोगों को ईश्वर की शरण में जाने का सीख दिया जाता है। कळेनीर मनक्या कळेनीर मनक्या कहकर बताते हैं की तुम्हारी समझ में नहीं आता कर्म की लेखनी क्या है। इसीलिए सब कोछ भूल कर बस अपना काम करते जाओ कहते हैं। और किसको सम्मन देना है अर किसको नहीं देना है तथा किसकी शरण में जाना है और किसके शरण में नहीं जाना इस बात को बहुत ही स्पष्ट रूप से निम्नलिखित पद से समझाते हैं। (इस पद में प्रत्येक पंक्ति के बाद 'कळेनीर मनक्या कळेनिर तार करमेरी लकणी टळेनिर' पद को गाया जाता है।-

'कळेनीर मनक्या कळेनिर तार करमेरी लकणी टळेनिर
आदीशेष सोयेनिर हातेमाईर लोटा छोडेनिर।
कळेनीर मनक्या कळेनिर तार करमेरी लकणी टळेनिर।

बसवार पूजा भेंसान करतो किंचेम वल्टेरो छोडेनिर
हनुमानेर पूजा मंग्यान करतो पालो खायेरो छोडेनिर
सर्पेर पूज गोईन करतो दल्डाम धरसेरो छोडेनिर
कुतरान लान कुर्ची पर बेसारतो हडका फोडेरो छोडेनिर।'[11]

इस प्रकार से बंजारा समुदाय का एक विशेष गायन पद्धति 'वाज़ा' के गीतों में बंजारा समुदाय के आराध्य देवी-देवताओं की स्थुती, बंजारा संस्कृति, खानपान, मानवीय एवं नैतिक मूल्य, वेशभूषा आदि का जिक्र हुआ है। साथ में ये गीत अज्ञानी एवं घमंडी लोगों को मार्ग दिखाने का साधन है। 'वाज़ा' बंजारा समुदाय के लोगों के लिए मनोरंजन का एक समय है जिसमें गायन, वादन और हास्य आदि का सम्मिलित है। लोकगीत लिखा नहीं जाता ये गीत जुबान से जुबान तक ही हस्तांतर होते रहे हैं। आज के दिन इस तरह के वाज़ा के गीतों में भाग लेने के लिए लोगों के पास ना ही समय है और ना ही रुची है। आधुनिक जीवन शैली में इस तरह के लोकगीतों का स्थान बहुत ही क्षीण हो चुका है। पढ़ाई-लिखाई, नौकरी आदि के कारण लोग अपने परिवार एवं गाँव से दूर रहते हैं। लोकगीतों की मूल स्थान गाँव है किंतु यहाँ से युवकों का जीवन शहर के तरफ स्थानांतर हो जाता है। प्रायः गाँव में आयोजित होने वाले कार्यक्रम एवं उत्सवों में लोकगीतों का प्रयोग हुआ करते हैं किंतु आधुनिक जीवन शली के कारण आज के युवक गण बहुत ही कम शामिल हो पाता है जिसके कारण लोकगीतों से अपरिचित रह जाता है। इसी लिए लोकगीतों को लिपिबद्ध करने की अनिवार्यता आन पड़ी है। लोकगीतों को जिंदा रखना है तो अक्षरस्थ इन लोकगीतों से अवगत हो कर इन्हें लिपिबद्ध करने का प्रयास करना होगा या संशोधन करके लोकगीतों का संकलन करना होगा। इस दिशा में मेरा यह एक छोटासा प्रयास है।

संदर्भ ग्रंथ :

1. बंजारा साहित्य एवं संस्कृति - डॉ., जाधव इंदलसिंह - गीता प्रकाशन - 2015 - पृ. सं - 29
2. बंजारा लोक साहित्य (गीत व पहेलियों के संदर्भ में) - डॉ. चांदावत विजया - गीता पुस्तक केंद्र - 2018 - पृ. सं - 57
3. देवप्पा थावरप्पा लमाणी, उम्र 55 - अरशिनगेरी, मुंडगोड तालुका, उत्तर कन्नड़ जिला, कर्नाटक - 2022
4. देवप्पा थावरप्पा लमाणी, उम्र 55 - अरशिनगेरी, मुंडगोड तालुका, उत्तर कन्नड़ जिला, कर्नाटक - 2022

5. देवप्पा थावरप्पा लमाणी, उम्र 55 - अरशिनगेरी, मुंडगोड तालुका, उत्तर कन्नड़ जिला, कर्नाटक - 2022
6. रेखप्पा नीलप्पा लमाणी, उम्र 47 - अगडी, मुंडगोड तालुका, उत्तर कन्नड़ जिला, कर्नाटक - 2022
7. रेखप्पा नीलप्पा लमाणी, उम्र 47 - अगडी, मुंडगोड तालुका, उत्तर कन्नड़ जिला, कर्नाटक - 2022
8. देवप्पा थावरप्पा लमाणी, उम्र 55 - अरशिनगेरी, मुंडगोड तालुका, उत्तर कन्नड़ जिला, कर्नाटक - 2022
9. रविराज बी दोड्डमनी, उम्र 27 - अगडी, मुंडगोड तालुका, उत्तर कन्नड़ जिला, कर्नाटक - 2022
10. रेखप्पा नीलप्पा लमाणी, उम्र 47 - अगडी, मुंडगोड तालुका, उत्तर कन्नड़ जिला, कर्नाटक - 2022
11. रविराज बी दोड्डमनी, उम्र 27 - अगडी, मुंडगोड तालुका, उत्तर कन्नड़ जिला, कर्नाटक - 2022

कन्नड़ लोक साहित्य में महादेश्वर और नारी परिकल्पना

डॉ. महमद नयाज पाशा
सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग
क्रिस्त जयंति महाविद्यालय (स्वायत्त)
के- नारायणापुरा, बेंगलूरु-560077

माले महादेश्वरा कर्नाटक हिल्स राज्य का एक प्रसिद्ध तीर्थस्थल है। यह हनूर तालुक में स्थित एक पहाड़ी श्रृंखला है और समुद्र तल से 3,200 फीट ऊपर है। बताया जाता है कि एम. एम. हिल्स सात पहाड़ियों 'एलु माले' से मिलकर बना है, जिनके नाम हैं अनमेले, जेनुमले, कडुमाले, कनुमाले, पोन्नाचिमाले, पवलमाले और पचचेमाले। इसका कन्नड लोकसाहित्य में बहुत ही पौराणिक महत्व है।

भगवान शिव को समर्पित प्राचीन और पवित्र मंदिर एक बहुत लोकप्रिय शैव तीर्थस्थल है। मंदिर के देवता एक लिंग के रूप में हैं। अभिलेखों के अनुसार, एक वीरशैव संत, महादेश्वर, जो 14वीं-15वीं शताब्दी के दौरान रहते थे, इस पहाड़ी की चोटी पर बस गए और समाधि (मोक्ष) प्राप्त की। उनके पास बड़ी संख्या में भक्त थे और इस प्रकार यह क्षेत्र एक पवित्र स्थान बन गया। उनके सम्मान में, यहां मंदिर का निर्माण किया गया था।

यहां नंदी (भगवान शिव के वाहन) की काफी बड़ी प्रतिमा के साथ-साथ जगह के आसपास कई अन्य मंदिर भी हैं। शिवरात्रि, उगादि, गौरी उत्सव, महालया अमावस्या और दीपावली के त्योहारों के दौरान आयोजित कार महोत्सव के लिए दक्षिण भारत से लगभग एक लाख श्रद्धालु यहां एकत्रित होते हैं। कन्नड़ में कई लोक गीत हैं जो नर महादेश्वर पहाड़ियों/ मंदिर की प्रशंसा गाते हैं।

कन्नड़ लोक साहित्य परंपरा में 'मादेश्वर' महाकाव्य के लिए बहुत ऊंचा स्थान है। आज भी 'मले मादेश्वर' महाकाव्य को गानेवाले एक वर्ग भी है। यह वर्ग इस बात पर विश्वास करते हुए कहते है कि हम मादेश्वर से ही दीक्षा लिए है और उनके प्रति हमें अभिमान भी है यह इस वर्ग का मानना है। इन गायकों के साथ-साथ बहुत अन्य अभिमानी समुदाय हैं। मादेश्वर से संबंधित या उनके गुणगान के संदर्भ में एक लोक गीत बहुत मशहूर है। इसका उदाहरण यहाँ प्रस्तुत है-

''चेल्लिदरो मल्लिगेया
बाणा सु रेरी म्याले
अंदादा चंदादा मायगारा मादेग्गे
चेल्लिदरू मल्लिगेया''[1]

इस पंक्तियों के माद्यम से भक्त बताते है कि महादेश्वर की कृपा से ही हम जी रहे हैं। उनका आशीर्वाद सदा के लिए हमें मिल रहा है। ऐसे देव को हम उनका रास्ते में विविध फूलों को बिछाते हुए स्वागत करते है।

इस तरह के गीतों के माध्यम से कन्नड़ लोक साहित्य में मले मादेश्वर का गुणगान सबसे पहले कंसाले वालों (यह एक कन्नड में विशेष वर्ग है।) को यह श्रेय जाता है कि वे अपने आप को 'गुड्डरू' नाम से पुकारते हैं। 'गुड्डरू' का अर्थ है मादेश्वर के प्रिय भक्त लोग जो पहाड़ी इलाके में रहकर भक्ति साधना करने वाले। यह लोग भक्ति करते समय पीतल से

बनाए गए संगीत साधन को बजाते हुए इस भगवान का गुणगान करते हैं।

मादेश्वर का उगम - कैलास में ब्रह्म, विष्णू, महेश्वर बातचीत करते हुए ईश्वर से कहने लगे 'कलियुग' में 'भू लोक' में धर्म पतन की ओर बड़ रहा है। दुष्ट कर्म ज्यादा हो रहा है। वहाँ कोई श्रद्धा युक्त हाथ उठाने वाला नहीं है। तूम्हारी ही जरूरत है। आओ यहीं जन्म लेलो इस आवाज की बदौलत ईश्वर का नौवा अवतार ही मादेश्वर है।

चारित्रिक रूप से मले मादेश्वर करीब 14वीं सदी में उनका जीवनकाल बताया जाता है। कन्नड़ साहित्य के काव्यों में समग्र चित्र दिखाई देता है। इस सदी में राष्ट्रीय बुनादी के वैदिक, जैन, शैव धर्म के अलावा अनेक प्रांतीय और स्थानीय धर्म क्रियाशील थे। इस प्रकार के अनेक देवाताओं से धर्मों, पंथों से भरा समाज में नया धार्मिक पंथ अपना अस्तित्व के लिए उठने वाले सवाल ऐसे बहुत सारे विचार लोक साहित्य में देखने को मिल जाते हैं।

लोक साहित्य वह मौखिक अभिव्यक्ति है, जो भले ही किसी व्यक्ति ने गढ़ि हो पर जिसे सामान्य लोक समूह अपना मानता है और जिसमें लोक ही युग-युग की वाणी-साधना समाहित रहित है, जिसमें लोक मानस प्रतिबिंबित रहता है जिसका प्रत्येक शब्द, प्रत्येक स्वर, प्रत्येक लय और प्रत्येक लहजा लोक का अपना होता है और उसके लिए अत्यंत सहज और स्वाभाविक होता है। मादेश्वर स्वामी की भक्ति इस गीत से स्पष्ट होती है।

''सोजुगादा सूजु मल्लिगे मादेवा निम्मा
मंडे मयाले धुंडु मल्लिगे...
सोजुगादा सूजु मल्लिगे मादेवा निम्मा
मंडे मयाले धुंडु मल्लिगे''

इस गीत में महादेव के सर पर फूल किस प्रकार शोभित है इस बात का उल्लेख है। इसी के साथ-साथ किस प्रकार माला के रूप में तुलसी दल और बिलपत्ते भी पूजा के लिए भक्त लाए हुए है।

''अंदावरी मुंदावरी मत्ते तावरी पुस्पा
अंदावरी मुंदावरी मत्ते तावरी पुस्पा
चन्दककी माले बिलपत्रे मादेवा निंगे
चन्दककी माले बिलपत्रे तुलसी दलवा
मादपना पूजेगे बंदु ... मादेवा निम्मा
सोजुगादा सूजु मल्लिगे मादेवा निम्मा
मंडे मयाले धुंडु मल्लिगे...''

पूजा के लिए घी, नारंगी और अनेक प्रकार के फल लाए हुए है। उसका उल्लेख निन्मलिखित पंक्तियों में कर सकते है। जैसे -

''तपपाले बेलगीवनी तुप्पावा कासिवनी
तपपाले बेलगीवनी तुप्पावा कासिवनी
कित्ताले हान्नु तंदीवनी मादेवा निंगे
कित्ताले हन्ना तंदीवनी मादप्पा
कित्ताडी बरुवा परसेगे मादेवा निम्गे
हैच्चाला गारा मादेवा मादेवा निम्मा
मंडे म्याले मंडे म्याले धुंडु मल्लिगे
सोजुगादा सूजु मल्लिगे मादेवा निम्मा
मंडे मयाले धुंडु मल्लिगे''
उच्चेल्लु हुविनहांगे हेच्छ्यावो निम्मा परोसे
उच्चेल्लु हुविनहांगे हेच्छ्यावो निम्मा परोसे
हैच्चालगरा मादेवा हैच्चालगरा मादप्पा बरुवागा
हट्टी हंबलावा मरथयारो मादेवा निम्मा
मंडे म्याले मंडे म्याले धुंडु मल्लिगे
सोजुगादा सूजु मल्लिगे मादेवा निम्मा
मंडे मयाले धुंडु मल्लिगे
बेट हथकंडु होगोरगे हट्टी हंबलावयका
बेट्टद मादेवा नीवे गति एंधु मादेवा नीवे...
बेट्टद मादेवा नीवे गति एंधु अवारीन्दु
हट्टी हंबलावा मरित्यारो महदेवा निम्मा
सोजुगादा सूजु मल्लिगे मादेवा निम्मा
मंडे मयाले धुंडु मल्लिगे

पहाड़ पर स्थित मादेश्वर हीं भक्तों का रक्षक है। जिससे हर एक भक्त का विघ्न बाधा दूर होती है और घर की रक्षा होती है। इस उपरोक्त पंक्तियों के माध्यम से भक्त अपने स्वामी मादेश्वर का गुणगान अलग-अलग विधि नुसार किस तरह करते है। और महादेश्वर देव ने भक्तों के प्रति कितनी लगाव है इसको आप देख सकते है।

लोक साहित्य में नारी परिकल्पना : आधुनिकता के काल में किसी भी नियमों के बंधन के छुट से समय संदर्भ के अनुसार जीवन यापन करने वाले लोकजन, लिखावट की छाँव से दूर होते है इनकी मौखिक अभिव्यक्ति ही उनकी ताकत है। उस मौखिक अभिव्यक्ति में ही सब कुछ भरा हुआ है। जैसे उनके आचार-विचार, सुख-दुःख यह सब उनसे जुडा हुआ है। लोक साहित्य के अंतर्गत संस्कृति के दायरे में स्त्री-पुरूष दोनों समानरूप से दिखाई देने पर भी उनका श्रम विभाजन के अनुसार दोनों का भेदभाव अलग-अलग है।

प्राचीन काल से हम देख सकते है कि लोक साहित्य का आरंभ प्रारंभ ही महिला कर चुकी है। धीरे धीरे पुरूष का आगमन हुआ है लेकिन इस में खासकर महिला पात्र ही अधिक है। क्योंकि लोक साहित्य महिलाओं से ही बचा हुआ है। इसमें कोई दो राय नहीं है। दैंनंदिन कामों के बीच उसके मूँह से लोक साहित्य का निर्माण हुआ ऐसा भी कहा जाता है। क्योंकि अपने मन मे जो आया उसे बिना हिचक से सीधे अभिव्यक्ति करने की कला उसमें है। इस प्रकार से हर काव्य के लिए लोक साहित्य ही मूल कहा जाता है। जनपद महिला भारतीय संस्कृति का नायकत्व निभाति है। भारतीय संस्कृति विविधता से भरी हुई है प्यार, त्याग, स्नेह, ममता जैसे मौलिक गुणों का प्रतिक माना जाता है।

लोक साहित्य महाकाव्य : पुराण-लोक साहित्य महाकाव्य को 'पुराण' के नाम से जाना जाता है। आज के कन्नड़ साहित्य में अनेक लोक साहित्य को काव्य के नाम से पुकारे जाना जाता है। फिर भी कई लोगों की वाणी में आज भी वहीं पौराणीक पुराण ही है। कुरुबों का बीरप्पा को लेकर विद्वांसों ने 'हालुमता पुराण' नाम से पुकारा जाता है। पुराणों में देवि-देवताएँ अति मानुष व्यक्तियों के साथ-साथ क्या-क्या किया है उसका उल्लेख मिलता है।

लोक साहित्य की कथावस्तु, एक दृष्टि से किसी भी एक विषय पर केंद्रित नहीं रहती है। वह विविध दृष्टिकोण पर उसकी छाप है। उसका मुख्य अंश है लोक जीवन, लोककथा, सांस्कृतिक, पौराणिक पद्ती आदि है। जैसे नायक या नायिकाओं का साहस और महान कार्य साधना से कैसे वह नायक पद पर आसीन रहा। जिसकी कार्य साधना पुराण कथाओं में उल्लेख है। अर्थात जन्म से लेकर अंत तक वर्णनात्मक प्रगति इस लोक साहित्य में मिल जाति है इन वीरों की साहसगाथा, महिमा को बखान करते समय सहज रूप से उपमा और प्रतिकात्मक गुण दिखाई देता है।

लोक साहित्य की संगतियाँ - लोक साहित्य मौखिक अभिव्यक्ति है प्राचीन काल से आज भी जैविक स्वरूप है। ऐसे लोक साहित्य अनेक समुदाय में आज भी जिंदा है चाहे वह आदिवासी समुदाय क्यों न हो- मनुष्य के लिए बातें ही बहु मुख्य है। उस बात की शैली के लिए कितना भी पत्थर दिलवाला क्यों न हो पिघल जाता है ऐसी शक्ति गाँव की महिला में होती है। उसके गंभीर शब्द किसी के दिल को जीतने वाली है। पति-पत्नी में कितना भी मनमुटाव क्यों न हो वह झगडा बस थोडी देर के लिए होता है इस बात का जिक्र इस गीत में देख सकते है।

गंडा हेंडिरा जगला गंधा तीढिधांगा
निंगक नीरू एरेदांगा। हिरी होलेया
गंगव्वा सागि हदिंगा (गरतिया हाडू पु 78)

मर्द-औरत का झगडा सहज है दोनों के बीच भिन्नता होति ही है लेकिन यह बात एक दायरे में होति है। दोनों में भिन्नता गंगा के पानी जैसे बह जाति है लेकिन दोनों का मनमुटाव नहीं होना चाहिए अर्थात गंगा जैसे बहकर मन को हलका करना चाहिए

दोनों एक दूसरे को समझकर जीवन की गाडी को चलाना उनकी सोच है ऐसी भावना गाँव की एक सामान्य स्त्री में भी देख सकते है।

मर्द किसी गैर औरत से संबंध जोडना किसी महिला के लिए बडी दुःख की बात है। 'सवतियंदरे सायुवा हेणवू एद् कूतितंते' ऐसी कहावत उसके लिए पूरक है अपना पति किसी दूसरी गैर औरत से संबंध जोडदिया है ऐसा विषय जाननेवाली महिला की सोच है-

राया बरुतारंता रात्रीली नीरिट्टा
रन्न बच्चलके मणी हाकि केलेना
सण्वला म्याला संवत्याका
अंगीय म्यालंगी छंदनों ननराया
रंबी म्याला रंबी प्रतिरंबी बंदरा/
छंदनों राया मनियागा
गरतीय हाडू पृ. 81

इस प्रकार प्यार से अपने पति को प्यार से प्रश्न करती है साथ ही साथ उसे सहीं रास्ते पर लाने की कोशिश करती है ऐसी जन सामान्य की गाँव की महिला को मनोवैज्ञानिक रूप से देखने के संदर्भ में बहुत ही सूक्ष्म अंश हमारे सामने आते है एक स्त्री अपने अंदर के दर्द को झगडे के द्वारा हल नहीं निकालती बल्कि अपनी मीठी वाणी से जीतने वाली है उसका सूक्ष्म मन मुग्धता का प्रतीक है अपना पति दूसरी गैर औरत को चाहने के संदर्भ में उसकी बातें किसी भी मर्द समाज को हिलाए बिना नहीं छोड़ेगा उसकी बातें देखिए अंगीया म्याला अंगीय तोडुवुदू छंदनो ननराया उस वाक्य में तुम मेरे पति हो और मेरे लिए ही सीमित हो।

अपने पति को प्यार से सवाल करने वाली औरत सौतन के साथ सीधे बातों में उतर जाति है।

सवति सवतेरा जगला, पट्टे मंचदा म्याले
होन्नसरू हरिदू बलिवोडेदु। ननसवति
वालि कोत्तोयतू बिडा सेरगा
कन्नड़ा जानपदा गीतेगलू पृ. 106

मर्द औरत का झगडा सामान्य है कभी कभी पति कहलानेवाला पत्नी के साथ प्यार से बातें भी करता है और गुस्सा आने पर उसे डराता भी है ऐसा वातावरण एक संयुक्त पविार में रहनेवाली माँ जब अपनी बेटी की पीडा को देखती है उसका जी मचलता है और बडा दुःख होता है इस संदर्भ में पत्नी को पीटते समय माँ अपनी प्रतिक्रिया इस प्रकार देति है।

कन्नेय बडिब्याडा कै बलि बडिदावू
सण्णंचेनाल्वे मुरिदावू। ननमगना
नन्नाणी मडदी बडिब्याडा (कन्नड़ा जानपदागीतेगलू पृ. 98)

ऐसे ही गुस्से से पीटरहा बेटे को रोकती है यहाँ सास- बहु की संवेदना दृष्टि देख सकते है यहाँ बहू कहलानेवाली औरत मै भी एक स्त्री ऐसा समझते हुए सास की ध्वनी होति है। इसका दूसरा रूप देखिए।

छी एला छीमारी नाचिके इल्लदा नारी
गंडना बैय्या गैय्याली। गंडागा
अंवा इवनेंदु करेदाला (कन्नड़ा जानपदागीतेगलू पृ. 99)

एसे ही डांट-फटकार करके उसकी गलती का एहसास करा देती है इस प्रकार मर्द और औरत दोनों अपनी- अपनी गलती का एहसास होने के लिए एक औरत ही कारणीभूत है। एक स्त्री के लिए घर बनाने का और तोड़ने का संदर्भ बहुत बार आते है। उस अवसर को कैसे इस्तेमाल करती है उस पर संसार जैसे सागर चलता रहता है।

लोक साहित्य की औरत अपनी जिंदगी भर किसी अन्य दूसरी शक्ति पर विश्वास रखते हुए उसी विश्वास को लेकर पुरुष प्रधान व्यवस्था के खिलाफ लढ़ने में कमजोर हो चुकी है। उस शक्ति के विरुद्ध लढ़ने से अपने नुकसान के साथ साथ परिवार के लिए भी अच्छा नही है ऐसा सोचते हुए एक डर के वातावरण में जीनेवाली अच्छा-बुरा, अमीरी-गरीबी के लिए परोक्ष शक्ति की महिमा पर भरोसा रखते हुए शक्ति देवता से डरती है।

असाहायक स्त्री :

'मौन का रजत सोना है' इस कहावत के साथ जीने के सूत्र को लेकर चलनेवाली लोक साहित्य की महिला अपने आस-पास जो घटित होने वाले घटनाओं का ज्ञान होते हुए भी उस पर किसी प्रकार से प्रतिक्रिया न देते हुए अपनी सीमा के दायरे में ही जिद्गी गुज़ारती है। आधुनिक समाज में भी ऐसी ही परिस्थिति को देख सकते है।

कन्नड़ साहित्य में 'केरेगे हारा' नाम का कथन गीत में मुग्ध लड़की को कैसे तालाब में बलि दिया जाता है इस बात का चित्रण है। उस संदर्भ में वह अपनी प्रतिक्रिया देकर उसके खिलाफ आवाज़ उठा सकती थी लेकिन उसका तरीका ही अलग है अपने माँ-बाँप सहेली के घर से आने बाद भागीरथी कहीं भी उसे संवेदना या अनुकंपा न मिलने पर मौन होकर तालाब को अपनी ही बली चढ़ा देति है। यहाँ समष्?टि के हित के लिए ही बली हुई थी।

अंजी हेलली गेलति अलुकी हेलली गेलति
अंजबेडा गेलति अलुका बेडा गेलति
नम्मत्ति नम्मावा केरेगेहारा कोडुतारंते
कोट्टरे कोडलेलू ईट्हांगा इरबेकु।1

इन शब्दों से उसे स्पष्ट है कि मै बली होने जा रही हूँ साथ ही मौत का डर भी सता रहा है। 'बचने के सारे मार्ग बंद होते देख हताश होकर तालाब के लिए बली होने की असहायक स्थिति क्या थी '

बड़े लोग शादी होने वाली लड़की के लिए हितवचन देना सहज बात है अपने पति के यहाँ कैसे व्यवहार करना चाहिए, सास ससुर को कैसे देखभाली करना चाहिए ऐसे ही अनेक विषयों पर समझाते है उनको डर है कि कहीं पति के घर में ऐसा-वैसा गलत बर्ताव न करें।

मात्गंटी मगलल्ला ताट्गत्ति सोसेयल्ला
तू परद चक्के वलेगल्ला तौरिगे
माता तंदोलू मगलल्ला। जनपद गीतेगलू पृ.73

ऐसे ही शब्दों से उसके हाथ-पाँव बाँध दिया जाता है कितनी विकट स्थिति है माँ-बाँप का अच्छा आशय होने पर भी लडकी को पति के बंधन में मिलने के लिए राज़ी किया जाता है। माँ-बाप का घर कितना प्रमुख है उतना ही सास-ससुर के घर का गौरव मुख्य है।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1. पी. के. राजशेखर -मादेश्वरा के ऐतिहासिकता - मलेमादेश्वर काव्य की प्रस्तावन में से- मैसूर वर्ष-1998
2. गायत्री नावडा- करावली जनपद साहित्यदल्ली स्त्रीवादी नेलेगलू, बेंगलूरु, पृ.-94, वर्ष-1993
3. संपा. अनुकृ- कन्नड़ साहित्य जनपद, जनपद साहित्य अकाडेमी, मैसूर, पृ.-5, वर्ष-2012
4. हलसंगी चेन्नमल्लप्पा- गरतीय हाडू, त्रिपदी, प्रकाशक समाज पुस्तकालय, शिवाजी गली-धारवाड, पृ.-28, वर्ष-2005
5. मलेया मादेश्वरा -जनपद महाकाव्या, दामिनी साहित्य अकादमी प्रकाशक, बेंगलूरु- पृ-56, वर्ष-2015

लोकसाहित्य और मन्नेरवारलू आदिवासी समुदाय

डॉ. गणशेटवार साईनाथ नागनाथ
सहायक प्राध्यापक, हिन्दी विभाग
क्रिस्तु जंयती स्वायत्त महाविद्यालय, कोतानुर बेंगलुरू, कर्नाटक-560077

साहित्य शब्द के पूर्व लोक कथन लगाने के बाद उसका अर्थ होता है 'लोक साहित्य'। 'लोक' का अर्थ सीधा-सीधा जनता से जुड़ता हैं। इसलिए लोक साहित्य का बोध ऐसे साहित्य से होता है, जिसकी रचना जनता से की जाती हो। एक विशिष्ट जनसमुह द्वारा किया गया सहित्य को ही 'लोक साहित्य' कहा जाता है। जिसमें उन जन-समुह की भावनाएँ जो हर्ष, विषाद, भय, प्रेम, शोक आदि होती हैं। इसमें उनकी सामुहिक अलिखित, मौखिक अभिव्यक्ति को गीत एवं कथा द्वारा की जाती हैं। आदिम जीवन का तो लोक साहित्य से घनिष्ठ संबंध है। यदि यह कहा जाए कि आदिम जीवन लोक साहित्य का संस्कार विधाता है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। पूर्ण सभ्य, सुसंस्कृत जातियों के जीवन में संस्कारों को सम्पन्न करने में जो भूमिका वैदिक मंत्रों की होती है, आदिम जातियों में लोकगीतों की भी वही भूमिका होती है। वास्तव में लोक-जीवन के लिए लोकगीत, लोककथा ही बहुत बड़ा मंत्र है। जन्म से लेकर विवाह, मरण आदि तक के विधविधि के अवसरों पर लोकगीत गाने की परंपरा है। सिर्फ इतना ही नहीं पूरे वर्ष के सभी ऋतुओं में जीवन के विविध क्रिया-कलापों के अवसर पर लोकगीतों को गाने की परंपरा है। इसी प्रकार बाल्यकाल से ही दादा-दादी, नाना-नानी की कहानियों से लेकर वृत्तों, त्यौहारों, पर्वों, उत्सवों, मेलों, तीर्थों, धार्मिक, सामाजिक क्रिया-कलापों के अवसर पर लोकगीतों को गाया जाता है।

आज लोक साहित्य अलिखित एवं लिखित दोनों रूपों में उपलब्ध होता है। वैसे तो लोक साहित्य सामान्यतः मौखिक ही रहा है तथा वह मौखिक परंपरा द्वारा ही अनवरत चलता रहता है। परंतु अब शिक्षा, मुद्रण एवं प्रचार-प्रसार के कारण लोक साहित्य के रूप में बहुत कुछ बदलाव आया है। आज का लोक कवि जो भी नये साहित्य की रचना करता है, वह सब लिपिबद्ध या लिखित होता है। इसके अतिरिक्त लोक साहित्य के संकलन एवं संग्रह तथा शोध में प्रगति होने के फलस्वरूप बहुत-सा लोक साहित्य लिपिबद्ध किया जा रहा है, तथा उसको ग्रंथ रूप में प्रकाशित किया जाने लगा है।

हजारों वर्षों बाद भी आदिवासी जल, जंगल और जमीन में सामूहिक और सामुदायिक रूप में रहकर अपनी संस्कृति और सभ्यता के बीच जीवन यापन कर रहे हैं। आदिवासी समुदाय को एक विशेष संस्कृति में जीने वाला, प्रकृति में रहने वाला, एक-सी बोली-बोलने वाला, अपने जीवन से जुड़े एक सांस्कृतिक देवी-देवता को मानने वाले समूह के रूप में परिभाषित करके देखा जा सकता है। आदिवासी लोकगीतों में लोक जीवन के सारे तत्व मौजूद होते हैं। इस समुदाय की लोक-आस्था और लोक श्रद्धा प्रचलित हो जाती है। लोकगीतों में सामान्यतः लक्षण स्वतः ही उभरकर हमारे सामने आते हैं। इसी तरह महाराष्ट्र के मन्नेरवारलू आदिवासी समुदाय के लोग भी अपने देवी पोच्चमा के प्रति पूरी श्रद्धा और

आस्था रखते हैं। इस समुदाय में लोग अपनी पोच्चमा देवी को अपना सर्वस्व मानते हुए उसकी सेवा पूजा करते हैं। अपनी भावनाओं को लोकगीतों के माध्यम से दिखाते हैं। जैसे -

'पोशव्वा तल्ली की पोरण्डायला आयना पोका
चेठु येशिच्चा पोतलिगंन्ना।

पोशव्वा तल्ली की पोरण्डायला आयना पोका
चेठु येशिच्चा पोतलिगंन्ना।।

महिशवा तली की मारयण्डाआयला आयना
मल्याचेठु येशिचा मदल्या कामुडे।

येलवा तल्ली की येराण्डायला आयना येलकी
चेठु येशिच्या व्यंकटेशुडे।।

व्येकटेशुलया येमचुडवया येमानी निलशाहू
हिगटला नडमा।

गटूला गावम्मा गंटकाशिरकाडा ओन्टीनी निचना
हि धर्मा शाला।

धर्माशालाला हुन्हा गडग्या पोसानी हेमू हेमू
कावाला वडगु पोसानी।।

वडलोडु चेशिना वन्याला बोम्मा शालोडु चेशिना
सनमपूवूला सिर्या।

मेरडू कुटिना मेरूपला रेयक्या मादरोडु आलिन्ना
सनामपुलाला गुला।

कमरोडु आलिन्ना वजराला तोटल्या।।'[1]

यह गीत मन्नेरवारलू आदिवासी समुदाय के देवी-देवता पोचम्मा, महिशव्वा, येलव्वा, गटूला गावम्मा देवियों जो बहनें हैं उनके लिए गाया जाता है। इन देवी-देवताओं की पूजा करते समय किन-किन चीजों के साथ पूजा किया जाता है। और पोचम्मा देवी के लिए कौन-कौन क्या करते है इसका उल्लेख इस लोकगीत में मिलता है। चूँकि इस समुदाय के लोग यह मानते हैं कि अपने कुल देवता पोचम्मा और दूसरी बहनों की पूजा करते समय कोई भी चीज न छूटे, नहीं तो देवी माँ उनके ऊपर कुपित हो जाएँगीं और जब पूरी चीजों के साथ पूजा की जायेगी, तो वे अपने समुदाय को खुश रखेगीं। इसलिए इस समुदाय के लोग अपने-अपने गाँवों में या गाँव के सीमा के पास देवी-देवताओं के मंदिर बनाते हैं। जब उनकी पूजा होती है तब ये लोग पहले बडियाँ के घर जाकर वहाँ मेड़ी नाम के पेड़ की लकड़ियों की गुड़िया बनाते हैं और बाद में दर्जी के घर से सिलायी हुई छोटे-छोटे फूलों वाली साड़ी, बना-बनाया हुआ चमकने वाला ब्लाउज, मँदरोडु (बाँस वाला) बनाया हुआ छोटे-छोटे बाँस के टुकड़ों की सुंदर टोकरी और कमरोडु बनाया हीरों का झूला आदि लेकर उसकी पूजा करने के लिए जाते हैं। इसमें यह भी कहा गया है कि देवियों के भाई भी उनके दर्शन के लिए किस तरह फूलों के पेड़, बेल के पेड़ उनके पास लगाते हैं, उन पेड़ों के फूल और बेल से उनकी पूजा करते हैं। पूजा करते समय लोकगीत के माध्यम से इस समुदाय के स्त्रियाँ पूछते हैं कि और आपको क्या-क्या चाहिए। हमें जो पता है वह सारे वस्तु लेकर आये जो भी छूट गया उसके लिए हमें माप कर देना ओ हमारी देवी माँ। इस तरह इस गीत में वर्णन किया गया है।

'आडेल्ली आडेल्ली आयना मिदा।
पेरूआयेना आडेल्ली मिदा।।
गजुलाटा गुमंड्डी अटा।
गावूही पिल्लालू अटा।।
नलकटल्ला गोरूल्लू अटा।
यापाही दडाल्लू अटा।।
यापाही कोलल्लू अटा।
कुलाला मँदरोडू।।
कडपाना वेटा की अस्ते।
निजमुन्टी पेन्लमू वुन्टे।।
भूमूल्लू येल्लूतून्टी।
राज्यालू येल्लूतून्टी।।
येदरू वंगू येदरू वटी।
येडपा पादम मिदा वटी।।

सस्तीवरा मँदरोडा।

तल्ली अन्टा यादी चेशुको।।

तनरी अन्टा यादी चेशुको।

वल्कुपुता चेशेदी गुन्लादे सन्तमू आया।।

बट्टा कोका उतूकेदी।

साकलदी सन्तमू आया।।

कोनरूला पैशालू येशी।

कापूओडू सन्तमू आया।।'[2]

इस लोकगीत में यह उल्लेख किया गया है कि इस समुदाय के लोग प्रत्येक वर्ष अपने पूरे परिवार के साथ अपने कुल देवता आडेल्ली पोचम्मा के दर्शन करने जाते हैं। यह परंपरा उनके पूर्वज़ों के समय से ही है। पहले लोग बैल गाड़ियों में जाते थे। लेकिन आजकल वे वाहन मोटर पर जाते हैं। बैल गाडियों में जाते समय यह लोग इस गीत को गाते है। इस गीत के माध्यम से आडेल्ली देवी की कथा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि- आडेल्ली पोच्चमा एक घना जंगल में बसी हुई है। लोग शाम को वहाँ जाने के लिए डरते हैं। सामान्यतः लोग दवी माँ के दर्शन के लिए रविवार के दिन जाते हैं। उसी दिन वहाँ बहुत बड़ा मेला भी लगता है। कुछ लोग वहाँ बहुत सारे भेड़ बकरियों को लाते हैं। इन भेड़ बकरीयों को खरीदकर भक्त लोग देवी माँ को बली चढ़ाते हैं। बलीचढ़ाते समय डपली (हलगी बजाने वाला), नींबू की माला, साका कल्लू (देशीशराब) और बकरी के गले में नीम के पेड़ की पत्तियों की माला आदि ले जाते हैं। पुजा के बाद शाम को सभी लोग अपने अपने घर वापस आ जाते हैं।

देवी माँ के पास रात को कोई नहीं ठहरते हैं। इस गीत में कहा गया हैं कि एक दिन अचानक एक आदमी शिकार करते-करते उस घने जंगल में चला जाता है। उस समय देवी माँ को वह देख लेता है। उस शिकारी ने देवी माँ की सुन्दरता को देखकर कोई जंगल में भटकी हुई सुन्दर स्त्री समझकर वह उसे कहता है कि आप इतनी सुन्दर हो की मैं आज तक इस समाज में इतनी सुंदर स्त्री को नहीं देखा। मैं आपसे शादी करना चाहता हुँ। उस समय देवी माँ उसे समझाती है मैं एक देवी हूँ। लेकिन वह नहीं समझ पाता इसी कारण गुस्से में आकर वह उसे बली चढ़ाती है। उसका भी वर्णन इस गीत में सुन्दर तरीके से किया हैं। इसके साथ-साथ इस गीत में यह भी उल्लेख किया है कि देवी माँ को किन-किन लोगों ने सेवा किया तथा कौन-कौन उनकी शरण में गये हैं। जैसे- बाँस वालों ने छाँव के लिए बाँस की लकड़ियों का मंडप बनाया, धोबी कपड़े साफ किये, मछवारी मंदिर के सामने गोबर के साथ लिपाई करके और जनजाति देवी माँ रहने वाली जगह के पास के जंगल तथा नदी के पानी को साफ करके देवी माँ की भक्ति में डूब गये हैं। देवी माँ इनके काम को देखकर उन लोगों पर प्रसन्न हो जाती है। इन सारी घटनाओं को इस गीत में समझाते है।

मन्नेरवारलू समुदाय में देवी पोच्चमा के साथ-साथ उनके संस्कृति, परंपरा के ऊपर भी लोकगीत प्रसिद्ध हैं। विवाह यह हर समुदाय में ही नहीं बल्कि हर एक मनुष्य के जीवन में महत्वपूर्ण होता है। इसी तरह इस समुदाय में भी विवाह को महत्व दिया जाता है। इस समुदाय में विवाह पाँच दिन का होता है। पाँच दिन यह लोग अलग-अलग कार्यक्रम करते हैं। बहुत सारे रीतिरिवाज और परंपरा को निभाते हैं। विवाह का मडंप बहुत ही महत्वपुर्ण होता है। वह कैसे तैयार किया जाता है, उस मंडप में क्या-क्या किया जाता है, उसका वर्णन निम्नलिखित लोकगीत में किया है।

'पादारा गुन्जाला पन्दीरी येशी पन्दीरी येशी।

पादारा गुन्जाला पन्दीरी येशी पन्दीरी येशी।।

पन्दीरी किन्दा ने पोलू जगल्या ने पोलु जगल्या ने।

पोलु जगल्याला मीदा श्रीअलकु पोशी श्री अलकु पोशी।।

पोलु जगल्याला मीदा श्रीअलकु पोशी श्री अलकु पोशी।

श्री अलकुला मीदा श्री मोगुल्ले पोशी श्री मोगुल्ले पोशी।।

श्री अलकुला मीदा श्री मोगुल्ले पोशी श्री मोगुल्ले पोशी।

श्री मोगुल्ला मीदा श्री शापाले येशी श्री शापाले येशी।।
श्री शापाला मीदा पोलु पीट्याले पोलु पीट्याले।
श्री शापाला मीदा पोलु पीट्याले पोलु पीट्याले।।
पोलू पीठ्याला मीदा बालालू ईदारे बालालू ईदारे।
पोलू पीठ्याला मीदा बालालू ईदारे बालालू ईदारे।।
बालुडु पेरू येमे आ बाला पेरू येमे बाला पेरू येमे।
बालुडु पेरू येमे आ बाला पेरू येमे बाला पेरू येमे।।
बालाडु पेरूशंकर बाला पेरू पार्वती।
बालुडु, बाला कन्हा तल्ली पेरू येमे कन्हा तन्नी पेरू येमे।।
बालुडु तल्ली पेरू शंकर बाला तल्ली पेरू पार्वती।।'[3]

उपरोक्त गीत में मन्नेरवारलू समुदाय के विवाह के लिए बनाए जाने वाले मंडप का वर्णन किया गया है। इस समुदाय में विवाह पाँच दिन चलने वाला एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक विधि होता है। विवाह के दो दिन पहले मंडप तैयार किया जाता है। विवाह-मंडप तैयार करते समय किन-किन चीजों की जरूरत होती है और उन चीजों को किस तरह मंडप में लगाया जाता है, इसका उल्लेख इस गीत के माध्यम से किया गया है। जैसे- मंडप के लिए (पादारू गुन्जालू) सोलह लकड़ी के खंबे, (पोलू जगल्या) मिट्टी की दीवार चौपट जैसी वाली, (श्री अलकु) गोबर से लीपना, (श्री मोंग्गुलू) रंगोली, (श्री चापालू) चटई, (पोलू पिट्यालू) बैठने के लिए लकड़ी का चौपट आदि। इस गीत में यह वर्णन है कि सोलह लकड़ीयों का मंडप तैयार करके उस मंडप में एक मिट्टी की दीवार जो चौपट वाली बना कर, उस बनाये हुए चौपट दीवार को गोबर से लीपकर वह सूखने के बाद उसके ऊपर विविध आकृति की रंगोली निकालकर वहाँ एक बाँस से तैयार की गयी चटाई बिछाकर उस चटाई में दो लकड़ी के दो चौपट लगाये जाते हैं। उस चौपट के ऊपर दूल्हा और दुल्हन को बैठाकर दोनों का विवाह किया जाता है। इस तरह इस गीत के माध्यम से मन्नेरवारलू समुदाय का विवाह का मंडप का वर्णन गीत के माध्यम से किया गया है। यह गीत अपनी विवाह पद्धतियों को कलात्मक रूप में एक पीढ़ी की स्मृतियों से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाने का माध्यम बना हुआ है।

मन्नेरवारलू समुदाय में स्त्री को बहुत सम्मान दिया जाता है। इस समुदायों में स्त्री और पुरुष दोनों समान रूप से श्रम करते हैं। स्त्री घर और बाहर के कामों में बराबर भागीदारी करती है। लेकिन माता और पिता अपनी बेटी को बचपन से फूलों में रखकर पालते हैं। जब वह बड़ी हो जाती है तो उसकी शादी करवाके उसे ससुराल को भेजते है। उस समय माता-पिता लोकगीत के माध्यम से अपना प्रेम, दुःख और डर को प्रस्तुत करते हैं।

'कन्नानाडू संदी गर्वागा नेनू पेन्ची।
खटकोडीकी अपगीस्तीम्या मा बिड्म्मा कू।।
पुट्टीना नाडू संदी पूव्वूल्लो नेनू पेंची।
पुली चेतूकू अपगीस्तीमा मा बिड्म्मा कू।।
नुन्या मुंता योला नुन्नुंगा नेनू पेन्ची।
नुरू मंदीला अपगीस्तीमा मा बिड्म्मा कू।।
पाला मूंतायोला पोदूंगा नेनू पेंची।
पदी मंदीला अपगीस्तीम्या मा बिड्म्मा कू।।
कन्नानाडू संदी गर्वागा नेनू पेन्ची।'[4]

इस उपरोक्त गीत में जब किसी भी समुदाय में लड़की की शादी के समय अपने माँ और पिता को बहुत दुख होता है और डर भी होता है कि इतने दिन मेरे घर में मेरी बेटी कितनी खुश रहती थी, लेकिन अब क्या पता अपने ससुराल में वह खुशी मिलेगी या नहीं? इस दुःख को मन्नेरवारलू आदिवासी समुदाय में गीत के माध्यम से वधू की माँ और पिता प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि जिस दिन से बिटिया का जन्म (कन्नानाडु) हुआ है उस दिन से आजतक यह गर्व के साथ हमारे घर में रही, लेकिन आज हमको लग रहा है की इसको कसाई के हाथ में दे रहे हैं। बेटी को जन्म (पुट्टीनानाडु) के दिन से फूलों में रखकर पाला-पोसा और आज पुली (जंगली शेर) के हाथों में सौप रहे हैं। आजतक हमने इस बेटी को हीरे के समान देखभाल की है, लेकिन आज दस लोगों के सामने

आप को सौंप रहे हैं। आज तक इतने अच्छे से हमने तुम्हारा पालन-पोषण किया, किन्तु आज तुम्हें दूसरों के घर भेज रहे हैं, हमें डर है कि आप को कुछ हो न जाए। इस तरह इस गीत में अपना डर और दुखों का वर्णन मिलता है।

मन्नेरवारलू समुदाय को खेती करने वाले समुदाय के नाम से जाना जाता है। इनका मुख्य व्यवसाय भी खेती है। इस गीत के माध्यम से वे अपना किसान जीवन का दर्द को प्रस्तुत करते है। जैसे-

'मनम येवसमन्ना चेदाम अन्ना।
मनम येनीहेन्लू बतीकीना हेमू लेदन्ना।।
हेमू लेदन्ना येवसमन्ना चेदाम अन्ना।
मोपू बदलू चेट्टू कोटी।।
दानी मुलू कयना कम्पा दुरा के पेट्टी।
कयकीली पोयी कट्टी पेट्टी।।
हेमू लेदना मना बतकुलो।
इला येनीहेन्लू बतीकीना हेमू लेदन्ना।।
येवसमन्ना चेदाम अन्ना।
हेमू लेदन्ना येवसमन्ना चेदाम अन्ना।।
योडू जानला कान्डी कट्टी।
नेनू येडमा कू ना येद्दु कुडीके कट्टी।
वेक्की गुटुक सालु कोट्टी।।
आन्ता वेर्थम में अन्ना।
येनीहेन्लू बतीकीना हेमू लेदन्ना।।
येवसमन्ना चेदाम अन्ना।।
मुरकी तुम्मन्ना कुर्या कट्टी।
आरमुला वानालू आरमुला तेच्ची।।
आरना के कट्टी कोट्टी।
हेमू लेदन्ना आन्ता वेर्थम में अन्ना।।
येनीहेन्लू बतीकीना हेमू लेदन्ना।
येवसमन्ना चेदाम अन्ना।।'[5]

मन्नेरवारलू का मुख्य व्यवसाय खेती है। क्योंकि इनका जीवन पहले से ही खेती के ऊपर निर्भर था। लेकिन आज इनके पास खुद की जमीन नहीं है। वे लोग दूसरे के पास मजदूरी करने जाते हैं। उस मजदूरी से इनके और इनके परिवार का पेट भरना बहुत मुश्किल है। इसी वजह से इस उपरोक्त गीत में वे कहते हैं कि (मनम येवसमन्ना चेदाम अन्ना, मनम येनीहेन्लू बतीकीना हेमू लेदन्ना) दूसरों के खेती में मजदूरी कितने दिन भी कर लो उससे कोई अपने परिवार का पेट भर नहीं पायेगा। इसलिए कहता हूँ कि मजदूरी छोड़कर अपनी खेती कर लेना बहुत अच्छा है। क्योंकि हर दिन मजदूरी करके कितना पैसा पाओगे। अपनी खुद की थोड़ा-सा जमीन क्यों न हो उतने में ही एक बाजू में हम और दूसरे बाजू में बैल लेकर अपना खेत जोतने से ही मन को बहुत अच्छा लगता है। एक मुट्ठी धान अपने खेत में बोनेसे उसकी जो फसल आयेगी ना, उससे अपना परिवार साल भर पेट भर खाएगा। लेकिन मजदूरी करने से एक दिन भी पेट भर नहीं खा पायेंगें। इसलिए कहता हूँ कि मजदूरी छोडकर अपनी खुद की खेती करना बहुत अच्छा रहेगा।

एक आदिवासी समुदाय के किसान को खेती करने के लिए बरसात की कितनी जरूरी होती है? जब बरसात होती है तो वह कितना खुश होता है। उसका वर्णन यहाँ मन्नेरवारलू समुदाय के लोग इस गीत के माध्यम से करते है।

'झोना शेनुला मीदा झोपी झोपी कोट्याने।
हेम सकनी वाणा ने हेम सक्का वाणा ने।।
पत्ती शेनुला मीदा पारी पारी कोट्याने।
पारी कोट्याने हेम सकानी वाणाने।।
शर्कु शेनुला मीदा शर्तु कोट्याने वाणाने।
हेम सकनी वाणा ने हेम सक्का वाणा ने।।
मोगडी तोटा मीदा मोपी कोट्या वाणा ने।
मोपी कोट्या वाणा ने हेमु सक्कानी वाणा ने।।'[6]

यह लोकगीत बरसात के दिनों में बरसात होते समय या धान रोपाई करते समय गाया जाता है। इस गीत में बरसात का वर्णन किया गया है। कितना अच्छा लग रहा है कि कपास के लिए जिस बरसात की जरूरत थी आज वह जोर-जोर से कपास के खेतों में हुई। कितनी अच्छी वर्षा है। ज्वार के खेतों में वर्षा हुई है कितना अच्छा है। गन्ने के खेतों में बरसात हुई कितना अच्छा हुआ है। इस समुदाय वाले हर साल हुई बरसातों के दिनों में भगवान से प्रार्थना करते हैं कि बरसात अच्छी हो। इससे जंगल में रहने वाले पशु-पक्षी और इनके खेतों में फसल होने से लोग सब सुख से रहगें। बरसात अच्छी होने के कारण इस लोकगीत में वर्षा की प्रशंसा की जाती है।

इसी तरह उपरोक्त गीतों से मन्नेरवारलू आदिवासी समुदाय में लोकगीतों का महत्व दिखाई देता है। हर एक संस्कार, पर्व-त्योहार, देवी-देवता, विवाह और खेती आदि पर अलग-अलग लोकगीत पाये जाते हैं। इनकी लोकगीतों की परंपरा अत्यंत प्राचीन है। इन उपरोक्त लोकगीतों के माध्यम से इस समुदाय के जीवन की सच्ची झांकी देखने को मिलती है। इन लोकगीतों में इस मन्नेरवारलू समुदाय का सौंदर्य बोध झलकता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1. यमुनाबाई ठक्करवाड, उम्र-40, गोविंदबाई पुपल्लवार, उम्र - 55, पोसानीबाई पुप्पलवार, उम्र-52, लक्ष्मीबाई ठक्करवाड, उम्र-45, अनिता ठक्करवाड, उम्र-36 इनका समुह, गाँव, कोडलवाडी, ता-बिलोली, जिला-नांदेड, महाराष्ट्र, वर्ष–2015.
2. राजमणी लिंबन्ना बिरमवाड, उम्र-60, समुनबाई बिरमवाड, उम्र-50, गंगामणी बाबू बिरमवाड उम्र-35, लक्ष्मीबाई सुरेश गटुवार, उम्र-30, सावित्राबाई रामलु बिरमवाड, उम्र-40, ललीताबाई सायुलु बिरमवाड, उम्र-45 आदि, गाँव. कोडलवाडी, ता- बिलोली, जिला-नांदेड, महाराष्ट्र, वर्ष-2016.
3. यमुनाबाई ठक्करवाड, उम्र-40, गोविंदबाई पुपल्लवार, उम्र-55, पोसानीबाई पुप्पलवार, उम्र-52, लक्ष्मीबाई ठक्करवाड, उम्र-45, और समुह, गाँव. कोडलवाडी, ता. बिलोली, जिला. नांदेड, महाराष्ट्र, वर्ष–2015.
4. चंद्राबाई मदीकुंटावार, उम्र–60, गाँव-कोंडलवाडी, तालुका- बिलोली, जिला-नांदेड, महाराष्ट्र, वर्ष–2016.
5. शंकर मुकरवार, उम्र–38, कोंडलवाडी, तालुका बिलोली, जिला-नांदेड, महाराष्ट्र, वर्ष-2015.
6. गोदावरीबाई उपोड, उम्र-40, मुक्ताबाई गणशेटवार, उम्र-63, अनुसयाबाई लोलापोड, उम्र-58, शंकुतलाबाई गोपुवाड, उम्र-60, नागाबाई गणशेटवार, उम्र-40, अंजनाबाई गोपुवाड, उम्र-55, और समुह, गाँव. इलेगांव, मं भैन्सा, ता मुधोल, जिला. आदिलाबाद, तेलगांना, वर्ष-2017.

कन्नड़ 'लावणी' जनपद लोकगीतों का एक विश्लेषण

डॉ॰ श्रीधर पी॰ डी॰
विभागाध्यक्ष्य – हिन्दी अध्ययन विभाग
क्रिस्तु जयन्ती कालेज, के॰ नारायणपुर, कोत्तनूर, बेंगलूरु-560077

सरल शब्दों में समाज के प्रत्येक क्षण एवं भावनाओं की अभिव्यक्ति को 'लोक साहित्य' की उपादि दी गई है। भारतीय सांस्कृतिक परिवेश में वेद, उपनिषदों के साथ ही भारतीय लोक साहित्य के मूल तंतुओं को हम पहचान सकते हैं। भारतीय सारस्वत लोक में पल्लवित संपूर्ण साहित्य में लोक साहित्यिक प्रकारों को हम पहचान सकते हैं। लोक शब्द का सामान्य अर्थ समाज के सभी अंगों से संबन्धित होता है। लोक पुराण, लोक गीत, लोक कथा, लोक सभ्यता, लोकवार्ता इस तरह साहित्य के सभी क्षेत्रों में 'लोक' का प्रत्यय लगाकर उस साहित्य को एक विशेष प्रकार के रूप में विशेष दृष्टि से देखा जाता है। समाज, क्षेत्र के प्रभाव में लोक साहित्य की अभिव्यक्ति को हम देख सकते हैं। शिष्ट या शास्त्रीय साहित्य तथा लोक साहित्य में अधिक अंतर नहीं होता है। किसी धर्म, परंपरा, नीति, नियम, पूजा विधान, संप्रदाय, धरोहरों से जानपदीय अथवा लोक रूढिग़त प्रकारों में सूचित तत्व विचार ही आगे वेद, उपनिषदों में वर्णित हुए हैं। इसी को हम लोक साहित्य कहते हैं। यह लोक साहित्य सामान्य मानवीय बोलचाल की भाषा में प्रस्तुत होता है। उसका जन्म किसी गुरुकुल या विद्वानों की संगोष्ठियों में नहीं होती है। लोक साहित्य के विभिन्न प्रकार समाज के सामान्य परिवार, गलि मुहल्लों में, गांव और कस्बों में होनेवाले वार्तालाप में संदर्भानुसार अत्यंत प्रभावी ढ़ग से प्रस्तुत होते हैं। लोक साहित्य समाज का एक सशक्त प्रभावी अभिव्यक्ति का साधन है। इस अभिव्यक्ति में रस अलंकारों के नियमों की आवश्यकता नहीं होती। लोक साहित्य में शास्त्रीय विचारों की प्रस्तुतीकरण के साथ विचारों का परिसंवाद या संघर्ष की आवश्यकता नहीं होती है। लोक साहित्य का सृजन और उसके प्रचार-प्रसार की जिम्मेदारी किसी को भी सौंपी नहीं जाती। लोक साहित्य की अभिव्यक्ति स्वार्थ रहित एवं प्रामाणिक होती है, जिसमें लेशमात्र भी अहंकार नहीं होता। आगत संदर्भ में शून्य को देखकर एक अपनत्व की प्रवाह में लोक साहित्य की रचना होती है। इस प्रकार के सामान्य जनों के अभिव्यक्ति में जो तत्व मिलते हैं, उनको लोक साहित्य का दर्जा दिया जाता है।

सामान्यतः लोक साहित्य का प्रचार और प्रसार मौखिक परंपराओं से होती है। समाज में निहित परंपराओं से निकली हुई जनपदीय साहित्यिक सामग्री ज्यादातर मौखिक परंपराओं में ही सम्मिलित और परिचालित रहती है। सामान्य रूप में लोक साहित्य समाज में निहित नीति-नियम, विश्वास और प्रथा-परंपराओं से भरपूर रहता है। उस क्षेत्र के लोक संस्कृति का पूर्ण रूप लोक साहित्य होता है। लोक साहित्य की भाषा अत्यंत सरल, साधारण और क्षेत्रीय आकर्षक बोलचाल की भाषा में होती है। सामान्य रूप में लोक साहित्य की प्रस्तुति गीत गायनों के रूप में ही होती है। लोक साहित्य की व्याप्ति विशाल होती है, इसमें समाज-संस्कृति, नीति-नियम, संबंध-संस्कार, पर्व-त्यौहार, रूढिग़त परंपरा आदि का मिश्रण होता है।

किसी भी परंपरा का उगम, प्रचार और उसके श्रेष्ठ गुणों की अमरता उस समाज के श्रव्य परंपरा का आधार होता है। लोकसाहित्य अपनी युग की सभ्यता और संस्कृतियों को लेकर आगे बढ़ता है। लोक साहित्य का रचनाकार सरल–सामान्य और सहज वास्तविक स्थिति में विश्वास रखकर अपनी अभिव्यक्ति करता है। नैतिक भावनाओं का प्रचार-प्रसार होना लोक साहित्य का प्राण तत्व है। भारतीय संस्कृति में धर्म का स्थान सर्वोपरी है। लोक साहित्य का जन्म प्रकृति और समाज के कण-कण में होता है। लोक साहित्य का रचनाकार धार्मिक भावनाओं से अनुशासित संस्कृति वाला होता है। धार्मिक भावनाओं के कारण उसका जीवनानुशासित रहता है और आजीवन वह उन नीति नियमों का पालन करता है। लोक साहित्य की रचना किसी विद्वानों, साहित्यकारों अथवा किसी अध्ययन के इच्छा रखने वालों को खुश करने के लिए नहीं होता है। लोक साहित्य उस कलाकार की हृदय की पवित्र भावना होती है जो मानवीय मूल्यों का पुरस्कार होता है। इसी दिशा में कन्नड़ लोक साहित्य के एक विशिष्ठ लोक काव्य प्रकार लावणी का परिचय यहाँ किया गया है।

कन्नड़ लावणी गीतों का इतिहास :

कन्नड़ लोक साहित्य को 'जनपद' या 'जानपद' साहित्य नाम से जाना जाता है। कन्नड़ जानपद साहित्य को भी सामान्य लोक साहित्य के समान ही लोक गीत, लोक नृत्य, लोक कथा, लोक गाथा, लोकनाट्य, लोक संगीत के रूप में विभाजित किया गया है। इसी कन्नड़ जनपद साहित्य में कथा, गीत, कहावत, लोकोक्ति, पहेलियाँ आदि रूपों में भी विभक्त किया गया हैं। कन्नड़ जनपद पद्य या गीत साहित्य प्रकारों में 'लावणी' नामक गीत उपलब्ध होते हैं। साधारणतः लोक साहित्य में गीत या गायन प्रकारों को जिस प्रकार प्रमुखता प्रदान की जाती है उस प्रकार कथा या गद्य साहित्य को नहीं दिया जाता। कहा जाता है कि पश्चिम बंगाल में प्रथम बार लावणी गीतों का संग्रह हुआ था, मगर उस प्रकार का जानपद गीतों का संग्रह अन्य भारतीय राज्यों में नहीं हुआ। लावणी गीतों को कथन गीत के वर्ग में रखा गया है। इन्हीं कथन गीतों को अंग्रेजी के 'ब्यालेड' के रूप में देखा गया है। कन्नड़ साहित्य के एक विशेष गीत प्रकार के रूप में लावणी के कुछ विशेष अंशों को यहाँ उजागर करने का प्रयत्न किया गया है।

जनपद साहित्य के संवाहक जो होते हैं, उन्हीं लोगों ने लोक साहित्य की महत्ता को अमर बनाए रखें हैं। जब मानव अपनी भावनाओं को गीतात्मक पदों में अभिव्यक्त करने लगा, तब से ही शायद जानपद गीतों का जन्म हुआ होगा। क्रमानुसार कथा या कथनकाव्य जैसे प्रकारों का उगम हुआ होगा। कन्नड़ जनपद साहित्य का एक छोटा सा रूप 'लावणी' है। प्रारम्भ के समय अनेकों विद्वान जनपद गीत और लावणी प्रकारों में निहित अंतरों को समझ नहीं पाए। पहले काव्य और नृत्य दोनों को अलग देखना नहीं चाहते थे। फिर भी हम लावणी प्रकार के मूल को आदिवासी चित्रकारिता, समाज, गाँव, संवाद, चर्चा, धार्मिक नीति-नियम, आचरण, परंपराओं को मान सकते हैं। इन लावणी पदों को संदर्भों के अनुकूल सृजित सामूहिक सृष्टि कह सकते हैं। मगर हर रचना के पीछे एक रचनाकार होता ही है। इस मान्यता को अपनाकर लावणी गीतों को व्यक्ति सृष्टि भी माना गया है। लावणी गीतों को गानेवाले को लावणीकार कहा गया है। लावणीकार इन गीतों को जब गाता है, तब वह गीत व्यक्ति सृष्टि और सामूहिक सृष्टि से आग बढ़कर सामाज की सृष्टि बन जाती है। लावणी गीत जब समाज और सामूहिक सृष्टि बन जाती है तब उसका संदर्भानुसार परिवर्तन होना स्वाभाविक हो जाता है। कन्नड़ लोक साहित्य के विद्वान डॉ. जी.एस. परमशिवय्या चार स्तरों में लावणी गीतों के सृजन प्रक्रिया को विभाजित करते हैं।

1) मूल रचना

2) जनपद मूल रचना की स्वीकृति

3) मूल रचना जनपद गीत के रूप में परिवर्तित होना।

4) जनपद गीतों का सामाज में मान्यता प्राप्त करना।[1]

लावणी एक विशिष्ट पद्य प्रकार से संबन्धित कविता है, जिसमें कथानक की प्रधानता रहती है। उत्तर कर्नाटक प्रदेश में लोग इसे डप्पिनपद, गीगीपद, बीबीपद, शाविरकीपद, आदि नामों से पहचानते हैं। लावणी पद को अकेला या साथियों के साथ मिलकर भी गाया जाता है जिनको कन्नड़ में 'मेळलावणीपद' कहा जाता है। लावणी पद का मूल अर्थ संस्कृत भाषा के 'लावण्य' पद से मानते हैं, लावण्य शब्द का अर्थ है सुन्दरता। श्रृंगारपूर्ण लावणी गीतों को गाते समय रस एवं भावनाओं को मिलाकर आंगिक अभिनयों के साथ गाया जाता है। लावणी पदों को सुनते समय एक दृश्य काव्य आस्वादन आनन्द प्राप्त होता है। 'लवण' अर्थ है सुन्दर, उसका भाववाचक शब्द ही कन्नड़ जनपद 'लावणी' है।[2] कन्नड़ भाषा के किट्टल शब्दकोश में 'लावणी' शब्द के लिए संस्कृत में 'लवण' शब्द से निकला हुआ और 'लापिनिका' शब्द का भी प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ है संवाद या वार्तालाप करना होता है। शिल्पदृष्टि से लावणी गीत को छंदोशिल्प, संगीतशिल्प पहलुओं से भी देख सकते हैं। लावणी छंदस्स और संगीत के विशिष्ट प्रकार है, वह वस्तु विशिष्ट साहित्य प्रकार नहीं है।[3] मराठी भाषा में लावणी गीतों का भाव श्रृंगार और वीर दोनों रसों के किया गया है। महारष्ट्र में वीरों का बलिदान और शौर्य प्रदर्शन के संदर्भों में रचित लावणी गीतों का प्रभाव उत्तर कर्नाटक प्रदेश में गीगीपद, कल्गी–तुरायी के गीतों के रूप में प्रचलन में आए गीत ही दक्षिण कर्नाटक में वीरगीतों के रूप में प्रचलित हुए होंगे।[4] लावणी साहित्य को 200 वर्षों से अधिक इतिहास नहीं है। लावणी साहित्य उत्तर कर्नाटक में जन्म लेकर उन्नती पाकर धीरे-धीरे दक्षिण की ओर आई है। अन्य जगहों में इसका परिचय और व्याप्ति बहुत ही कम है। उत्तर कर्नाटक में लावणी प्रचुर मात्रा में होने पर भी वह हमारी नहीं है। हमारे बगल के महाराष्ट्र से लाकर बोया गया पौदा हमारे यहाँ फल फूल रहा है। महाराष्ट्र में 17 सदी के अंतिम भाग में लावणियों की रचना प्रारंभ हुई थी।[5]

कन्नड़ साहित्य में अनेक विद्वान कन्नड़ लावणी गीतों के मूल को मध्यकालीन कन्नड़ रचनाओं से जोड़कर देखते हैं। सभी वीरगीतों में लावणी के लक्षणों को देखकर लावणी के मूल को देखना चाहते हैं। डॉ. शिवराम कारंत अपनी 'यक्षगान बयलाट' ग्रंथ में प्राचीन रागों में लावणी भी एक थी–विषय पर अपना अभिप्राय व्यक्त करते हैं। यक्षगान प्रसंगों के रचनाकार विष्णु, सुब्ब, नागप्पय्य और देवीदास आदि ने अपने यक्षगानों में प्रयोगित रागों में 'लावणी' शब्द का प्रयोग होना इसकी प्राचीनता को बल देता है। कर्नाटक के लोक महाकाव्य साधारणतया धार्मिक मूल के हैं। यहाँ प्रमुख रूप से तीन महाकाव्यों का उल्लेख होता है–मलेय महादेश्वर काव्य, मंटेस्वामी काव्य, जुंजप्पन काव्य। इसके साथ यल्लम्मा, मैलार लिंग के लोक काव्य प्रसिद्ध हैं। इन काव्यों में भी लावाणी गीतों की छलक मिलती है।[6]

लावणी गीतों के प्रकार :

कर्नाटक के लावणी गीतों को कथात्मक लावणी पदगळु और बिना प्रधान कथा के लावणी के दो विभागों में देखा जाता है। उत्तर कर्नाटक में लावणियों में एक विशिष्ट काव्य रूप को देख सकते हैं। उसका छंद, गाने की गति, कथा का निरूपण विशेष शैली का होता है। संगीत, ताल, गति, गेयता, अंश तथा मात्रा गणों का प्रयोग, अनुप्रास, यमक अलंकारों से परिपूर्ण लावणी गीतों का रचना कौशल अपनी विशेषता के लिए प्रसिद्ध है।[7] उत्तर कर्नाटक के प्रसिद्ध लावणी संप्रदाय को विषय और रूप के अनुसार दो प्रकारों में देखते हैं –

ओंटी लावणी या बयलु लावणी :

ओंटी लावणी को 'बैलगत्तिन लावणी' नाम से जानते हैं, जिसमें पैरों में घुंघुरू, धोती या रंगीन पट्टी

बांधकर लावणीकार गाते हैं। जात्रा महोत्सव, शादी, शुभ संदर्भों में ताल, लय, संगीत के साथ लावणियों को गाया जाता है। लावणी समाप्त होने पर लावणीकार को धन, धान्य या वस्त्रादियों को पुरस्कार के रूप में दिया जाता है। बयलु या ओंटी लावणी गानेवाले वीर गीतों को ही गाते हैं, जिसमें कित्तूर चेन्नम्मा, सिंधूर लक्ष्मण जैसे विर पुरुषों की विरगाता पराक्रमों को गेय रूप में प्रस्तुत करते हैं। सदर्भानुसार पुराण, भक्ति, अध्यात्म, नीतिपरख, सामाजिक विषयों से संबन्धित लावणी गीतों को भी गाया जाता है। ओंटी लावणी गाने वाले गायक 'चिटगी' नामक विशेष उपकरण का उपयोग करते हैं।

मेळ लावणी :

ओंटी लावणी गीतों के जैसे ही मेळ लावणियों को खुले जगह में गाते हैं। ज्यादातर मेळ लावणी गीतों को गानेवाले तीन ही होते हैं। प्रमुख गायक 'दप्प' नामक वाद्य को बजाते हुए आगे खड़ा होकर संवाद शैली में आंगिक अभिनय के साथ गाता रहता है। प्रमुख गायक को सहकारी होते हुए हिम्मेळ में दोनों गायक गाते रहते हैं। हिम्मेळ में गानेवाले लावणिकारों में एक ताल और दूसरा श्रुति पकड़कर गाते हैं। मेळ लावणी गीतों को सिर्फ पुरुष ही नहीं महिलाएँ भी गाती हैं। गानेवाले महिला हो या पुरुष दोनों सामान्य वेशभूषा में ही रहते हैं। मेळ लावणी में साथ गानेवालों को 'जीजी' पकड़नेवाले' कहते हैं। कभी कभी वे 'गी गी' कहते कभी कभी 'जी जी' कहते हैं। इनकी वेशभूषा कच्चे पंचे (धोती), जुब्बा, सिर पर पगडी या टोपी पहनते हैं। पहले पैर और कोहनी को घुंघुरु बाँधते थे। उत्तर कर्नाटक के लावणीकार और गीगी पद गानेवालों में कोई अंतर नहीं बचा है। गीतों से संबन्धित विषय वस्तु में भी एकरूपता दिखाई देती है। गाते समय कुछ गायक गीगी पद गाने वाले 'गीय गीयग' कहते हैं अथवा 'जी जी जी' कहते हैं। प्रमुख लावणी कार के पदोच्छारण के साथ पिछे गानेवाले उन्हीं पदों का पुनरुच्छारण करते हैं।[8] मेळ लावाणी की सुन्दंरता एवं आकर्षक गायन शैली ओंटी लावणी में देख नहीं सकते। ओंटी लावणी में गायक के गाने की शैली पर आकर्षन एवं सुंदरता रहती है। मगर मेळ लावणी में गीगी पद गानेवाले खडे .रहते की काव्य गीतों का सृजन कर सुननेवाले के अभिवादन स्वीकार करते हैं। जीवन के विविध आयामों को अपने गीतों में फिरों कर प्रश्नोत्तर शैली में प्रस्तुत करने की शक्ति इन सृजनशील लावणीकारों में होती है। मेळ लावणीकार प्रतिभा के घनी होते हैं।

मेळ लावणी में महिला लावणी और पुरुष लावणी नामक दो प्रकार हैं। पुरुष पर लावणी को 'हरदेसी' या 'तुरा' कहते हैं और स्त्री पर लावणी को 'नागेसी' या 'कलगी' नाम से पुकारते हैं। सवालजवाब्, शाहिरके, शावरिके, गीगी नामों से लावणी गीतों को विभाजित करते हैं। इन लावणी गीतों में शिव–शक्ति, पुरुष–प्रकृति विषयों का प्रतिपादन रहता है। इन लावणियों को लिखते समय कोई लिंग भेद नहीं है। पुरुष लावणी को सिर्फ पुरुष, महिला लावणी को सिर्फ स्त्री ही गाये, ऐसा कोई नियम नहीं है। इसी प्रकार लावणी गीतों को सृजन में भी स्त्री पुरुषों के प्रति गीत रचना कर सकते हैं या पुरुष के प्रति महिलाएँ गीत रचना कर सकती है। लावणी गानेवालों को 'कल्गि तुरा' संप्रदाय के मानते हैं। इस संप्रदाय के लावणीकार पूजा करते समय तथा भिक्षाटन करते समय अपनी देवताओं की गुणगान करते हुए लावणी गीतों को गाते हैं। यहाँ 'कल्गि' संप्रदाय के लोगों को 'नागेशी' और 'तुरा' संप्रदाय के लोगों को 'हरदेशी' नाम से जानते हैं। 'कल्गि' संप्रदाय में श्रृंगार वर्णन ही प्रधान होता है। कल्गि महिलाओं का श्रृंगार एवं अलंकारिक वस्तु होता है तो तुरायी पुरुष का संकेत होता है। मराठी विद्वान पी. के. भागोजी लावणी गीतों को चार विभागों में विभाजित करते हैं -कल्गि तुरायी लावणी, कथासार लावणी, नीतिसार लावणी, तत्वसार लावणी।

कर्नाटक के लावणी गीतों में विभिन्न संप्रदाय अथवा परंपराएँ प्राप्त होती हैं। इन लावणियों को हम कथनगीत, लावणी और खंडकाव्य, धार्मिक और

लौकिक परंपरा से संबन्धित लावणी, लौकिक वृत्तिगायकों के लावणी नाम से जानते हैं। इन लावणियों में सामान्य मनुष्य और समाज के विभिन्न विषयों का विश्लेषण किया गया है। संतान रहित स्त्री का दुःख, सास और बहु संघर्ष एवं क्रूरता, पतिवृता गुण की परीक्षा, अनैतिकता एवं मुक्त प्रणय, घृणा, ईर्षा, पारिवारिक तनावों का विश्लेषण, अस्पृष्यता और मुक्त जीवन, सांस्कृतिक संदर्भ, विडम्बना, व्यंग्य, हास्य, विनोद, नीति, धर्म, कर्म, कर्तव्य, काला जादू, वामाचार, तंत्र मंत्रादि विषयों को इन लावणी गीतों में देख सकते हैं।

उपसंहार :

इस आलेख में कर्नाटक राज्य के लावणी गीतों के परंपरा, जनपद यानी कन्नड़ लोक साहित्य में लावणी प्रभेद की विशेषता, अन्य काव्य प्रकारों के साथ लावणी प्रकार का तुलनात्मक विश्लेषण, कर्नाटक में लावणी प्रकारों की प्रादेशिक विभिन्नता, लावणि गीतों के विषय-वस्तु आशय, संस्कृति एवं साहित्यिक मौल्यों के प्रति चर्चा करने का प्रयत्न किया गया है। लोक साहित्य, लोक संस्कृति, जनपदीय जीवन मूल्यों को समझने के लिए लावणी गीतों का अध्ययन अत्यंत प्रभावकारी सिद्ध होता है। इस आलेख में लावणी पद की अर्थ विश्लेषण का प्रयत्न किया गया है, जिससे मराठी और कन्नड़ भाषाओं में लावणी शब्द अर्थ विस्तार की चर्चा की गई है। लावणी एक ऐसा काव्य प्रकार है जो समाज और क्षेत्रीय जड़ों को उज़ागर करता है। कर्नाटक लोकसाहित्य में पौराणिक और सामाजिक लावणी गीत अधिक मात्रा में उपलब्ध नहीं हैं। प्रेम, प्रणय, हास्य, विनोद के लावणी भी कम संख्या में उपलब्ध हैं। मगर प्राप्त लावणी गीतों में कन्नड़ जनपदीय मूल्यों की श्रेष्ठता एवं मौलिकता उज़ागर होती है।

सन्दर्भ ग्रंथ सूचि :

1. कन्नड़ लावणीगळु, डॉ. श्रीकंठ कोडिगे, 1999, पृ.-6
2. जनपद जीवन मत्तु कले, श्री हेगडे एल. आर., 1977, पृ.-275
3. बाळगोपाळन लावणीगळु, श्री निंगण्ण सण्णक्कि, 1974, प्रस्तावना, पृ.-8
4. जनपद अध्ययन, दे. जवरेगौड, 1976, प्रस्तावना, पृ.-118
5. जनपद साहित्य भंडार, गीतेगळु, दे. जवरेगौड, 1975, पृ.-11
6. कर्नाटक लोक साहित्य, डॉ. लक्ष्मीनारायण, उमा सरस्वती, पृ.-87
7. लावणी : जानपद साहित्यदर्शन, भागोजी पी. के., पृ.-219
8. दप्प मत्तु लावणिगळु, जानपद साहित्य दर्शन, सोमशेखर इम्रापुर, भाग-4., पृ.-24

A Figurative Explication of Psychosomatic Predicament in Arun Joshi's *The Foreigner*

Dr.S.Poornima
Guest Lecturer in English
NKR Government College for Women
Namakkal-637001

Dr.T.Alagarasan
Associate Professor of English
Government Arts College (A)
Salem-7

As a novelist revealing human quandary, Joshi envisages the central catastrophe of the contemporary man and discovers and obtains persuaded that the most besetting trouble that man countenances now are the evils of the self, like isolation, distinctiveness predicament, sense of emptiness and existential quandary. These tribulations are so persistent that they make threats to consume into each sphere of human movement. As a consequence, man fails to discriminate against the extreme function behind life and the significance of existence in an aggressive world. When he knobs these fail troubles of the personality, Joshi is cautious enough not to offer goodbye to our artistic, cultural tradition and enduring moral ethics. His narrative discovers self and transport to a vital spotlight how the identity tries to review its participation in the isolation from the folks and society. Joshi's characters are emotionally distressed and packed with hopelessness, self-hatred and self-indulgence, for they observe themselves as a foreigner in the substantial world.

Inaccessible from the personality as well as the people and relations, Joshi's characters are pitiful and tear themselves away from the downy cuddle of their society and survive like strangers. The great effort of the protagonist against the communal reunion and internal quarrel between what he is and what the world anticipates him to find a fundamental place in Joshi's artistic world. For Joshi's leading roles, the society of the second half of the twentieth century has misplaced its importance. They comprise no logic of feeling right to the social order in which they exist. They live in their world, judging their opinions, talking to their own character disenchanted and dejected.

Arun Joshi is worried about the quandary of contemporary man and is sympathetically animate to the different scopes of forces applied by the multifarious character and loads of the society in which modern man is intended to live. The central characters of his fictional world are matters outsiders and bleak strangers. The consciousness of man's impatience and weirdness and the significant expedition for a consequential self is crucial to Joshi's novels. It is the inside disaster of the modern man that has engaged Arun Joshi's chief curiosity in his novels that are constructed approximately the dark and dreary understanding of the spirit.

Although Arun Joshi's effort has fascinated serious awareness, no particular critical loom can be enough in examining the multi-faceted of an unusual mastermind. His endeavor is a self-effacing one, because in his mechanism he investigates the pits of individual understanding to depict the consequences of human divergence on the central lives of his protagonists, on the one hand, their psychosomatic and societal and spiritual belongings on the other in a delicate mode. It also accomplishes to picture the unpleasantness of individual loneliness and hostility by studying them at the ancestral and public levels and goes profound into the causes for estrangement from one's possess self, the public and relations.

Arun Joshi's primary work *The Foreigner* (1968) is the compelling majority effort of a novel that recognized him as an alleged novelist in his chief endeavor in the land of the novel. It illustrates Joshi's dedicated discernment of his culture of occasion in cross-cultural backgrounds because the subject expands among the East and the West. It portrays the account of a human being who is estranged from his distinctiveness, culture and background. In this work, Arun Joshi investigates profound to shady alcove of intelligence and bestows an autobiographical stroke to the novel. In an interview with Purabi Banerjee, he confesses, "It is largely autobiographical am I am… a somewhat alienated man myself… some parts of *The Foreigner,* my first book, were written when I was a student in America. I gave it up then and completed it later in 1966" (*A Winner's Secret,* 4).

The narrative relays the tale of Surrinder Oberoi, henceforth called Sindi, an orphan lad who is unaided in this world and "wants to do something meaningful" (14) and is in the hunt for support and the right connotation of his survival. He locates himself a stranger anywhere he leaves Kenya, Uganda, London, America and lastly to India. He struggles in aloofness, tenure and association. At the conclusion, his existence attaches in India when he discovers to exist not for himself and his constricted self-centeredness but for folks who truly want him and thus he obtains assertion throughout disconnected strokes which has been pushed by Lord Krishna in the Gita below his hypothesis of anasakti-karmyoga which ways isolated dealings.

Sindi did on no account be fond of any mercy from the public outside and he loathed such sort of work set to him out of sympathy and furthermore. Mr. Khemka's commerce was like "carving out a little niche" (15) for him, yet he could not disallow joining his company because he was probing for a position where he can recognize his very personality, doing somewhat consequential in his life. Through his stay in Delhi, Sindi countenances the mockery questions from Mr.Khemka's daughter Sheila about the conditions that ground her brother's death. Sindi made the finest efforts to keep away from her queries since he did need his throbbing history but the history never leaves him on his own.

> I liked her but I tried to avoid questions as much I could. I didn't want to talk about Babu. To do so, I would have had to talk about myself, and that would have been painful. I evaded her questions about Babu the best I could, but it was all a losing battle. Helplessly, I watched my past overtake me. I had travelled half the world to escape Babu's ghost and still it stalked me from behind those bronze statues. (17)

Sindi informs Sheila how he arrived in America continuously penetrating for a place in array to be familiar with his ancestry and his self. His life shifts him from Kenya to London and then to Boston. He was fed-up with uninteresting class-room talks throughout his engineering classes in London as these were inadequate to gratify his internal support and offer any sense in life. He works as a dishwasher at a bistro in sort to get hold of an unusual kind of experience and here approach in contact with Anna, a divorcee minor-artist. She required making a portrayal of him and this closeness developed into love. She loved him from the hub of her spirit and he was too concerned by her unhappiness. "In my mind's eyes, I could see Anna bending over me…as I had it then, that Anna was not yearning for me or anybody, but her lost youth". (143)

After knowing that Anna needs to have him, he insolvent the relationship as he did not stay to be infatuated and then he bends over to Kathy, a wedded woman. This issue also showed to be strong in sexual action. It is not Sindi but Kathy who left him because she comprehended her inconstancy and the truth that "marriage was sacred and had to maintain at all costs" (144). This made Sindi depressed for some days and he found no way out. These two relations wrought the spirit of his life. He records: "the essence of my life in London lay in what I had learnt from Anna and Kathy" (144).

Sindi's unawareness vanished and he expanded the approach to observe into actuality that the whole thing stuck between birth and death is illusory and delusion. Sindi tells June later, "Suddenly I felt a great lightening, as if someone had lifted a burden from my chest and if all come through in a flash. Love begets greed and attachment and it laid to possession" (145). All love whether of things, of persons, of oneself, was an illusion. Later on, Sindi left for Boston to find doctorial grade in mechanical engineering. He met June Blyth at an international students Association. She looks like Kathy in numerous aspects; therefore it was usual for Sindi to get concerned with her. According to the facts got from the Catholic priest in London. Sindi was "afraid of getting involved with June" (53) because he "could not pay the price of being loved" (121).

Sindi feels like an alien wherever he goes, even his words, behavior let down the sense of alienation. As a consequence, he never wanted to have any link with this girl but reluctantly, he began to take concern in her companionship. June instigated mercy and empathy for him during his asthmatic attack. He had conceptual requirements for her but did not wish to materialize this. He was scared with ownership and contribution but wedding was not feasible without these reciprocated responsibilities and so, he always discarded to marry June saying that "I am not the right kind of man of you" (91). He had no faith in marriage and his experiences so far have also indicated that "marriage was no more often a lust for possession than anything else" (60).

Inspite of his required lack of involvement, a normal affiliation between him and June was captivating. He says, "our hands would soon give place to our bodies and then the worst will come, our souls will get involved" (63). Yet he failed to understand that in the company of this girl, he says, "I forget my strangeness, my loneliness, even my search for detachment"

(66). That provisional tie of love flanked by June and Sindi attained to the level that June wanted to get married. Sindi has his kids, but the hallucinatory disinterest in the mentality of Sindi discarded even the call of his own heart. Later on, all these actions came to be accurate, and Babu's playing with June ruined into a sad depression.

Babu met up June at Sindi's apartment and in his first sight, he understood that Sindi and June were lovers. On his initial gathering, he was overwhelmed with June's gorgeousness and began to daydream of his nuptials with her. June, grasping the pessimistic approach of Sindi, determined to favor Babu who really desired her. She was a kind, compassionate and concerned girl. She had care and help for those who need her. June demanded to marry but Sindi always avoids saying it was a fright and solitude of June.

On the contrary, he always felt shaky when he comes to identify that June was out to Babu. Gradually an odd distraction produced upon Sindi and his care for the extended abhorrence and fury. Finally June determined to marry Babu and declined to meet Sindi as he directed Babu to provide awareness to his unfortunate intellectual presentation, but he snubbed to pay attention to Sindi that "I have not come but for a season Sindi. I know I am getting married" (131).

There is a long argument between Sindi and June concerning different features of love and wedding. After the discussion, the natural world played its part and both get occupied into each other. When June revisit home, Babu inquired where she had existed. She told him the whole anecdote. He was stunned and drove blindly and thus murdered in a car accident. Sindi went to be familiar with him and informed his father Mr.Khemka about this miss-happening. Now Sindi resolute to go back to India to solve the remaining questions of his subsistence.

When Sindi got hold of his visa for India, he created a letter from June demanding him to have a call, and she exposed in the letter that she was bearing Babu's baby with her. Sindi went to Boston after one week but it was too delayed. June was reported she expired in a cracked abortion. Sindi was guilty of realization that he was the cause at the back of the death of Babu as well as June. So, he has left in dimness again. His arrival to India is a getaway from its terrible past. He has obtained a job in Mr.Khemka's business but ruined to lend a hand in his unlawful performances of money-gathering and as a result was disqualified from his business. He firmed to go away from Delhi for Bombay but the situation of Muthu and other employees of Khemka's solid provoked pity in him and he decided that "sometimes detachment lies in actually getting involved" (189).

The novel ends with Sindi's acceptance to jog the office in the nonexistence of Mr. Khemka who was incarcerated for corrupting income tax department. The conclusion of the novel is the key to Sindi's existential tribulations that to survive for other's wellbeing is the valid subsistence and real implication of disinterest. The story discloses that Sindi's life is a description of his exploration for his origin and the therapy for his foreignness which put down inside him.

During his kick for self-understanding, he finds himself unaided in the crowd. This solitude is not from out but

inside. He is a kid of miscellaneous parentage. His father was Kenyan-Indian and his mother was English. His parents died in an air hurtle when he was only four years old. He was brought up by his uncle but his uncle also expired leaving him alone, peripatetic and insecure. He remembers;

> I hadn't felt like that when my uncle was living. It wasn't that I loved him very much or anything, as a matter of fact, we rarely exchanged letters but the thought that he moved about in the small house on the outskirts of Nairobi, gave me a feeling of having an anchor. After his death, the security was destroyed. Now I suppose I existed only for dying. (65)

This defeat of own history, civilization and nationalized identity punctures him, as he is into the function of a secluded observer and narrator of the whole drama of his life. The lack of residence, nation, and societal individuality has resulted in touching anxiety; as a result of giving birth to foreignness in him. His deficiency of parental love bursts his heart. This consciousness of loneliness in the complete societal setup reasons his breakdown to uncover any idea at the back of his survival. He says;

> Perhaps felt that I was a foreigner in America. However, then what difference would it have made if I lived in Kenya or India or any other place for that matter! It seemed to me that I would still be a foreigner. My foreignness lay within me and I couldn't leave myself behind wherever I went. (55)

Daydreaming is the stream of awareness that separates from existing exterior tasks when awareness flows to a more individual and inner route. This experience is ordinary in people on a daily basis life exposed by a large-scale study in which members spend 47% of their awakening time on regular on daydreaming. There is a mixture of forenames of this phenomenon counting psyche nomadic, hope, unprompted judgments, and so on. The id, ego, and super-ego are the three differences, interrelate mediators in the spiritual equipment cleared in Sigmund Freud's structural representation of Psyche. The three mediators are hypothetical builds that portray the actions and connections of the psychological life of a person.

Sindi's sense of despair is because of the absence of love from his childhood, insecure feeling and incorrect explanation of the viewpoint of exploitations and he erroneously follows the path of in force. He has no one to care him. He assumes to find his way from a balanced elucidation and inactive aloofness. His stoppage in affairs is due to his self-centeredness. In Anna's and Kathy's case, Sindi observations are not capable of convincing his soul, of getting personal silence. His understanding with the two girls is a long-lasting consequence on his apparition of life. He says, "It marked a new beginning in my thinking" (145). He further argues :

> That was the first time I came face to face with my pain…All that I had thought pleasurable had ended in pain, and after all this I was as far from finding the purpose of my life as I had been to start with. It all puzzled me. And I spent a whole year wandering through the maze of my existence looking for an answer. (144)

Sense of aloofness never allows him to mingle with anyone at anywhere that is denial of his parental love. Sense of displacement in Nairobi, death of his uncle makes him feel so isolated. This isolation and sense of dislocation becomes the character Sindi. So he questions for his

existence. This makes him unable to mingle, communicate. Whoever ever comes to contact him, suffers with disarticulation and lack of involvement. He has no bonding with anybody. He cannot understand love of a woman and also he does not know to love a woman. He fails to place himself anywhere. So there is always a sense of displacement.

Arun Joshi's existential distress in this novel builds this exceptional work of fine art. It has induced a variety of reactions from many researchers and reviewers. A profound study of this novel illustrates that distant from Western existentialists, Arun Joshi appears to have trust in the Indian way of life that is why his protagonists gaze towards India for their clarification and deliverance. The narrative of human subsistence initiates from his awareness that he exists. Practically, the individual subsists with this realization.

In *Existentialism is a Humanism*, Jean Paul Sartre quotes that "Man is nothing else but that which he makes of himself" (2). That is the first standard of existentialism. Sindi uncovers himself in circumstances where he lives with his folks like Babu and June as well as all others and all these relationships settles on the progress of his uniqueness. These relations have all concerns on his life. The common relation of Sindi with these persons independently and jointly and the belongings about him resolve his realization of survival. Among this understanding, his individual advancement gets place.

The first opinion of Sindi's life is that of the self only and there is solitude that is he finds himself unaided or a foreigner in the throng. He admits, "It seemed to me that I would still be a foreigner. My foreignness lay within me and I couldn't leave myself behind wherever I went" (65). This very recognition is the first footstep to biased fruition which is a consequence of his eccentricity liberty of preference because like Babu, he is not pawned in any other hands and as a result only he is in charge for what he has prepared of himself. "He did not create himself, yet is nevertheless at liberty, and from the moment that he is thrown into his world he is responsible for everything he does" (353).

The disposition of lonesomeness cultivates in him, and hence he sporadically runs into the multitude of isolation. He grows unapproachable so much that he sees the indistinct faces in a contemptible mirror behind a bar. Even the packed room does not give him any intelligence of belongingness. He confesses himself as a foreigner. Being conveyed in a loveless world, he docks in him a deep logic of uncertainty and pointlessness. Things seem to have a short-lived subsistence for him.

Sindi needs to be a saint, but he believes that it is tricky to be a saint. He is a broken-down echo who clutch over the ions of his aloofness, their gain, and losses. Throughout the novel, he exceeds through multicolored tempers and outlooks. Even he is scared of wedding and all familial ties. Due to the panic, he remains a stranger everywhere. He belongs to no ground. His estranged troubles represent the anguish of the modern man, his melancholy and imprisonment.

A man of no property and no culture, he leads a bohemian life. His getaway from one country to an additional is just altering of sights. His expedition for individuality is the representation of the

insincerity of modern culture. He is an outsider to himself than to society. Throughout the novel, it is easy to find spoiling an endless and go through the conversation with his nature to determine the existential knots and binds of life. Man in the contemporary world is overwhelmed by dimness and finds himself in the grasp of a tremendous twinge of invasive purposelessness. This absolutely unique attitude of objectivity and impatience would facilitate him to resolve profound injuries and confronts his life is fighting with and absolutely assures to cure the unattractive blemishes worrying his individuality. To flee this sentiment of intolerable agitation, Arun Joshi's protagonists build persistent hard works.

The individual who searches for self-determination is also learning how to achieve individual worldwide dependability and exists his living genuinely. The super-vision of this liberty and conscientiousness establishes the route of an individual's real or unreal survival. In Sindi's case, he desires individual liberty but does not deal with responsibility. He is unconscious of the truth that disinterest is not freedom but bereavement. Action remains up the series of world and it is the responsibility of every personality to help it. He is unsuccessful to perform so and looks for enjoyment in the break out from ownership. He roves in the hunt of silence, individuality and idea of his existence and at the conclusion, he attempts to run away from the world but abrupt comprehension of his error leads him to reside for others.

The Foreigner is an apt illustration of the existential percept as depicted by the Western philosophers and its mixture as itemized in the oriental contemplation chiefly, in the Gita, Sindi's dilemma is that he explores freedom devoid of liability and consequently freedom becomes a figure of delusion to him. Sindi is perplexed concerning what type of creed to accept and what type of life to lead. He remains on leaping from one to an extra set of regulations and discovers zero. His proceedings are that of a hypocrite in the real sense of the Gita.

Thus Sindi has virtually realized that to flee is not a medicine for existential troubles but that is accurate stroke and the life of a real karma yogi only can guide to a genuine survival. This was what he had been probing for on wrong places. Sindi was drifting at wrong places but he attained this obsession in India only. His entire life can be viewed as an expedition from purposelessness to affirmation through true facts. This journey was a sort of progression from unawareness to awareness.

Arun Joshi's *The Foreigner* is an existential pursuit to find importance out of insignificance and illogicality of life. Sindi is a representation of every man to whom this human race is full of torment and hurt. Like present man, he fails to have managed over his physical satisfaction and looks for aloofness as an alternative. Such form of man is called fraud in the Gita. Sindi's voyage from Boston to Delhi has been a journey from alienation to arrival, from selfishness to sacrifice, from an anomic responsible to himself a member of mankind, from being to becoming. He has exposed the factual trail to content-ment and the requirements, to have is restored by the longing, to be, to give, to sacrifice, and to share love with others. The total case of Sindi twists into his ethical lift.

Right through the story, the thought of foreignness is reserved in all his works. Arun Joshi appears to express that a man be obligated a great deal to the people into which he is instinctive for having acquainted him. Crookedness and distraction by no means costume a sincere individual like Sindi. One ought to provide his armed forces to this world in all probable and sensible conducts in sort to reimburse the duty to the world. To toil without accessory in the world is the appropriate way of aloofness and repudiation as well as a potential way to real survival.

Arun Joshi has shaped a confounding situation of postmodern early stages who is always independent and a foreigner all over. He wants to induce that persons tolerate in his world since of their mistaken indulgent of convinced attitudes and also because of their personality what they know is the genuine way of existing. Joshi recognizes that the novel is a revision in isolation, and is footed on surveillance and individual understanding. He has believed, "My novels are essentially attempts towards a better understanding to the world and towards myself" (Dhawan: *Exploration in Modern Indo-English Fiction,* 18).

Alienation, rootlessness, indifference are the three essential issues that engages in the works of Arun Joshi. He makes clear about the great effort of an individual who has his desire to discover his own individuality in the general public. Finally he succeeds in his endeavor and knows the worth of his life. Thus Arun Joshi has depicted the anguishes of a common man in this Westernized society to know the authentic implication of life and value of his people. To put it in a nutshell, Joshi's novels are in way psychological novels in which diffusion into the psyche of the characters is made through the stream of consciousness method. This novelist makes a steady attempt to give an optimistic attitude to the entire difficulty by finding some resolution to the tribulations that are faced by the personality. Arun Joshi excels in conversing the problems of the self in the modern Indian context, how deeply they have made a psychosomatic consequence on his characters who symbolize the modern invention and what explanation does the novelist explore to lessen its harshness shall be the subject in this part of the study.

References :

1. Bannerjee, Purabi. "A Winner's Secrets", *The Sunday Statesman,* Calcutta, 1983.
2. Dhawan R.. K. (ed.) *Exploration in Modern Indo-English Fiction.* New Delhi: Bahri
3. Joshi, Arun. *The Foreigner.* New Delhi: Orient Paperbacks, 1972.
4. *The Last Labyrinth*. New Delhi: Orient Paperbacks, 1981.
5. Kekar, Sudhir. *Identity And Adulthood.* New Delhi: Oxford University Press, 1992.
6. Sartre, Jean Paul. *Existentialism is a Humanism*. France: Les Editions Nagel, Methuen & Co, 1946.

वाल्मीकि रामायण में वर्णित संगीत का अनुशीलन

अतुल खजूरिया
शोधछात्र
संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू

''सम्यक् प्रकारेण यद गीयते तत्संगीतम्'' सम्यक् प्रकार से अर्थात् स्वर, ताल, शुद्ध आचरण व मुद्रा और हाव-भाव सहित जो गाया जाए, वही संगीत है। विश्व का प्राचीनतम साहित्य जैसे भारत की वेद संहिता है वैसे ही विश्व का प्राचीनतम संगीत सामगान है जो कि वैदिक ऋचाओं का उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित आदि स्वरों का मंत्रगान है। संगीत की परम्परा भारत में बहुत प्राचीन है। इसका उद्गम वेद से हुआ है। यज्ञ आदि अवसरों पर सामगान की अत्यधिक प्रथा थी। जो कालान्तर में धार्मिक परिधि से निकलकर संगीत ने एक मुक्त वातावरण में प्रवेश किया। गीत के साथ-साथ वाद्यों के प्रयोग का प्रचलन शुरू हुआ और फिर नृत्य का भी विकास होने लगा और अन्त में नाट्य भी उसमें आ मिला। परन्तु इन सब में गीत अग्रसर रहा अन्य वाद्य, नृत्य आदि इसके अनुगामी ही रहे। गीत, वाद्य व नृत्य आदि का मूलतः आधार स्वर तथा लय है। स्वर तथा लय नाद के ही परिष्कृत रूप हैं।

संगीत की उत्पत्ति व महत्ता :

संगीत शब्द की व्युत्पति सम् उपसर्ग पूर्वक गै (गाय्) धातु में क्त प्रत्यय के योग से हुई है जिसका अर्थ है मधुर ध्वनियों व स्वरों का कुछ विशिष्ट लय में होने वाला प्रस्फुटन। संस्कृत वांमय में संगीत का व्युत्पत्तिपरक अर्थ सम्यक्गीतम् है। जिसका प्रमाण वाराहोपनिद् की इस उक्ति द्वारा प्रमाणित होता है- **''संगीततालललयवाद्यवंशगतापि मौलिस्थ-कुंभपरिरक्षणधीर्नटीव''।**

भारतीय परम्परानुसार संगीत का सम्बन्ध वेदों से मान्य है। वेद का मूल बीज ओम् मन्त्र है जिसमें अ अक्षर ब्रह्मा की शक्ति, उ अक्षर विष्णु की शक्ति तथा म अक्षर शिव की शक्ति का द्योतक है। तीनों अक्षरों का ग्रहण ऋग्वेद, सामवेद व यजुर्वेद से किया गया है। इन्हीं अक्षरों के संयोग से ओम् शब्द निर्मित हुआ है और संगीत के सप्त स्वर षड्ज, ऋषभ आदि ओम् के ही अन्तर्विभाग हैं। शब्द और स्वरों की उत्पत्ति ओम् के गर्भ से हुई है। ताल, लय स्वर आदि का समावेश भी इसके परिणत माना केवल गया है। जो ओम् की साधना करने में समर्थ होते हैं केवल वे ही संगीत का यथार्थ रूप ग्रहण करने में सफल होते हैं। वेदों ने समस्त जीवन को ही संगीत माना है। वैदिक वाङ्मय में मन्त्र संहिताओं, वेदांगों, आरण्यकों, उपनिषदों तथा सूत्र ग्रन्थों का अंतर्भाव माना गया है। मंत्रद्रष्टा ऋषियों का आर्षकाव्य ऋग्वेद है, सामवेद ऋग्वेदीय ऋचाओं का संगीतबद्ध संग्रह है। यजुर्वेद प्रायः गद्यात्मक तथा अथर्ववेद मांगल्यप्रद और अभिचार विषयक मन्त्रों का संकलन है। पंचम वेद कहलाने वाले गांधर्ववेद को सामवेद का उपवेद कहा गया है जो कि उस महत्वपूर्ण संगीत का आधार तो है जो उस देवार्चन से पृथक् था, जिसका उद्देश्य लोकरंजन था।

प्राचीनकाल में संगीत के दो रूप प्रचलित हुए मार्गी और देशी। कालान्तर में मार्गी संगीत का लोप हो गया तथा देशी संगीत पुनः दो रूपों में विकसित हुआ। प्रथम देशी संगीत वह था जो शास्त्रों पर आधारित था, जो विद्वान व गुणी कलाकारों के अध्ययन

तथा साधना का विषय बना जिसे आज हम शास्त्रीय संगीत कहते हैं, दूसरा वह जो काल व देश के अनुरूप प्रकृति के स्वच्छन्द वातवरण में स्वाभाविक रूपेण विकसित होता रहा और वो आज लोक-संगीत के नाम से विख्यात है। संसार की समस्त ललित कलाओं में संगीत को सर्वश्रेष्ठ और अति प्राचीन माना जाता है। संगीत का आधार स्वर हैं और स्वर का आधारभूत तत्व नाद है। नाद या शब्द आकाश का गुण है शब्द गुणकमाकाश। शब्द सर्वव्यापक है। ज्ञान व कर्म की परिसमाप्ति या पूर्णता संगीत में ही होती है। यहाँ तक की भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी दिव्य विभूतियों का वर्णन करते हुए स्वयं को 'वेदानां सामवेदोऽस्मि' कहा अर्थात् वेदों में संगीत रूपी 'सामवेद' मेरा ही स्वरूप है। पं. शारंगदेव ने सगीतरत्नाकर ग्रन्थ में संगीत को धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष को प्राप्त करने का सुलभ साधन वर्णित किया है।

अतः संगीत में आनन्द देने की शक्ति है। ब्रह्मानन्द सहोदर आनन्द प्रदान करने की शक्ति संगीत में है। आनन्द की चरम सीमा अर्थात आनन्द की चरमावस्था तक पहुंचना चाहते हैं तो वह संगीत के द्वारा प्राप्त कर सकते हैं, क्योंकि हृदय को स्पर्श करने का सामर्थ्य संगीत में है। संगीत का प्रभाव सीधा हृदय पर पड़ता है। शोपन हावर कहते हैं- केवल संगीत ही ऐसी कला है जो श्रोताओं से सीधा संबन्ध रखती है। उसके लिए किसी माध्यम की आवश्यकता नहीं होती है।

आदिकवि वाल्मीकि रचित महाकाव्य रामायण में वर्णित संगीत की महत्ता को रामायण का यह श्लोक प्रदर्शित करता है-

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकम् अवधीः काममोहितम्।

संस्कृत लौकिक साहित्य के प्रथम श्लोक में कवि का उद्‌गार संगीतमयी वाणी में प्रस्फुटित यह पद्य संगीतात्मक है। जिसका स्फुरण अनुष्टुप् छन्द में हुआ है।

रामायण काल में संगीत के अन्तर्गत गायन, वादन तथा नृत्य आदि का समावेश था। महाकाव्य में बहुत से स्थलों पर संगीत तथा उसके विभिन्न वाद्यों लय, ताल, मात्रा अक्षर, सम और संगीतमय दृश्यों का प्रचुर मात्रा में उल्लेख मिलता है। साम संगीत अपने पूर्ण उत्कर्ष पर था। रामायण काल में संगीत कला के लिए 'गान्धर्व' संज्ञा प्रचलित थी क्योंकि प्रत्येक वेद का एक उपवेद विहित था और सामवेद का उपवेद गान्धर्ववेद कहा गया है। गान्धर्व का अर्थ यज्ञ-यागों में यज्ञविधि से बाहर तथा अन्य लौकिक प्रसंगों पर किया जाने वाला लौकिक संगीत था। संगीतकला के मर्मज्ञ कृ. ग. मुलें का कहना है कि वेद पूर्ण रूप से आध्यात्मिक ज्ञान का भण्डार तथा साक्षात् ब्रह्म स्वरूप होने के कारण जनमनोरंजन के लिए अभिहित नहीं था। अतः आम जनमानस के हेतु जिस शैली का विकास हुआ उसे गन्धर्व संगीत कहा गया। पठन- पाठन में वेदों उपवेदों एवं गन्धर्ववेद का प्रचलन था यहां तक की षड् वेदागों में छन्द के रूप में पांचवें वेदांग के रूप में संगीत का समावेश था। तत्कालीन सामगायकों को वेदपाठियों की ही तरह सम्मान व दक्षिणा आदि देकर उनको गृहीत किया जाता था।

रामायण के अनेकों स्थलों में गान्धर्व के दिव्य और अपौरूषेय कलाकारों में गन्धर्व, किन्नर एवं अप्सराओं आदि का उल्लेख किया गया है। राम के जन्म व विवाह जैसे उत्सवों पर गन्धर्वों के गान और अप्सराओं के नृत्य का वर्णन मिलता है। यहां तक की अन्त्येष्टि जैसे लौकिक अवसरों पर भी सामगायन का विधान था। महाराजा दशरथ की अन्त्येष्टि के समय सामवेदियों द्वारा शास्त्रोक्त पद्धति से सामगायन करने का उल्लेख प्राप्त होता है। लंकाधिपति रावण साम स्तोत्रों के माध्यम से शिव की अर्चना किया करते थे यथा-

तुष्टाव वृषभध्वजम् सामभिर्विविधैः स्तोत्रे
प्रणम्यसदशाननः।

गान्धर्वगान की मुख्यतः दो शैलियों प्रचलित थीं। मार्गी और देशी। मार्गी शैली उच्च व अभिजातवर्गीय थी। रामायण काल के मार्गी संगीत को बहुत उच्च

स्थान प्राप्त हुआ था। बालकाण्ड के चौथे सर्ग में देखने को मिलता है कि-

ततस्तु तौ रामवचः प्रचोदितावगायातां मार्गविधानसंपदा।

स चापि रामः परिषद्गत शनैर्बुभूषयासत्वमना बभूव॥

इसी शैली को अपनाकर रामचंद्र के पुत्रों ने रामायण का गान किया था। जिससे सभा में उपस्थित सभी जन गान की ओर आकृष्ट हो गये थे। बहुत से स्थलों पर गायन, वादन तथा नृत्य आदि की चर्चा की गई है। किष्किन्धाकाण्ड में बहुत से उदाहरण दृष्टिगत होते हैं। एक प्रसंग में भगवान् राम किष्किन्धावन का वर्णन करते हुए लक्ष्मण से कहते हैं कि देखो इस भ्रमरों का गुंजार वीणा के मधुर स्वर जैसा है। मेघ का गर्जन मृदंग के नाद जैसा सुनाई पडता है। मेंढक मानो अपने कंठ से ताल के बोल बोल रहे हों और ये मयूर संगीत का दृश्य दिखलाते हुए कुछ लम्बी-लम्बी चोटियों वाले मयूर नाच रहे हैं और कुछ तो वृक्षों के अग्रभाग में बैठे हुए इस नृत्य और गान का आनन्द ले रहे हैं। ऐसा प्रतीत हो रहा है कि वन में ही संगीतोत्सव चल रहा है।

इसके अतिरिक्त कवि ने स्वरपक्ष के अन्तर्गत स्थान, श्रुति, स्वर, मूर्छना जाति व कण जैसे पारिभाषिक शब्दों का भी उल्लेख किया है।

यथा **पाठ्येगेये च मधुरं प्रमाणैस्त्रिभिरन्वितम्। जातिभिः सपृभियुक्तं तन्त्री लयसमन्वितम्॥**

गायकाः श्रुतिशीलाश्च निगदन्तः पृथक् पृथक्। शुश्रावरुचिरं गीतं त्रिस्थानस्वरभूषितम्॥

गेय के लिए आवश्यक गुण मधुर, व्यक्त विश्रुतार्थः स्वयंचित्तायतनिः स्वनः का उल्लेख भी रामायण में वर्णित है। तालविधि की परिभाषाओं में मात्रा, ताल, कला लय प्रमाण मार्ग शभ्या गीति तथा अक्षरसम की भी चर्चा मिलती है। यहां तक कि लास्य नृत्य संबंधी अंगहार शब्द का भी उल्लेख सुन्दरकाण्ड में मिलता है। लय व ताल का जान रामायण काल में उन्नत अवस्था को प्राप्त था। ताल सम्बन्धी बहुत से पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया गया था। पूर्व में वर्णित 'प्रमाण' शब्द का प्रयोग तो 'लय' के अर्थ में हुआ था। अतः प्रमाण और मान संगीतशास्त्र में ताल के अर्थ में भी आया है। टीकाकारों ने तो कहीं-कहीं पर लय का अर्थ मृदंग, वेणु, तन्त्री, गान का एक साथ मिलना और कहीं-कहिं पर द्रुत-मध्य-बिलम्बित वृत्ति को लिया है। प्राचीन काल में पंच ह्रस्व अक्षरों का उच्चारण लघु अथवा मात्रा कहलाता है। यही गुरू या मात्रा ताल की इकाई था। 'कला' शब्द प्राचीन संगीत में तीन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। गुरु-ताल-भाग व निशब्द अथवा सशब्द क्रिया हेतु। इसी के अन्तर्गत ताल के संदर्भ में एक महत्वपूर्ण शब्द 'शभ्या' का भी प्रयुक्त हुआ है। जिसका संकेत अयोध्या-काण्ड के 91 सर्ग के 49 वें श्लोक में मिलता है जब भरत भगवान् राम की खोज में अपनी सेना के साथ भरद्वाज मूनि में के आश्रम में पहुंचते हैं।

निष्कर्ष - रामायण में वर्णित संगीतकला के सौन्दर्य के अध्ययन से यह ज्ञात होता हैं कि उस काल में सार्वजनिक की प्रतिष्ठा उपलब्ध करके संगीत की मर्यादा की रक्षा का प्रशस्त संबल स्वीकृत हुआ। सामगान केवल सन्तों व यागादि कार्यो तक सीमित न रहकर कतिपय लौकिक प्रसंगों पर भी किया जाने लगा। गन्धर्व कला अत्यधिक प्रचलित थी, जिसमें गायन के साथ-साथ वादन तथा नृत्य का भी समाहार था। गायन की दो शैलियाँ उत्कृष्ट रूप में प्रतिष्ठित थी- मार्गी व देशी। जिसमें मार्गी शैली उच्च अभिजातवर्गीय शास्त्रीय एवं अलंकृत शैली मानी जाती थी, तथा देशी शैली जनसाधारण के लिए सहज बोधगम्य व सरल शैली थी। नृत्य कला भोग-विलास और श्रृंगार रस की अभिवृद्धि हेतु प्रयुक्त की जाती थी।

सन्दर्भ सूची :

1. मानक हिन्दी कोश, खण्ड-5, पृ. 213, संपादक-आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।

2. ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद्- निर्णयसागर प्रेस, पृ. 529
3. काव्य और संगीत का परस्पर सम्बन्ध, पृ. 109, डा. उमा मिश्र
4. भारतीय संगीत, वैज्यनिक विश्लेषण, पृ. 3
5. श्रीमद्भगवद्गीता 10/22
6. तस्य गीतस्य माहात्म्यं कः प्रशंसितुमाशते।
धर्मार्थकाममोक्षाणामिदमेवेक साधनम्, संगीतरत्नाकर।
7. भारतीय संगीत और मनोविज्यान- वसुधा कुलकर्णी- पृ. 22
8. वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड 2/15, गीताप्रेस गोरखपुर।
9. भारतीय संगीत- वाद्य- लालमणि मिश्र, पृ. 22
10. पाणिनीय शिक्षा
11. वा.रा.बा.का, 14/44
12. वा.रा. बालकाण्ड, 17/16-17, 73/38-39
13. जगुश्चते यथाशास्त्रं तत्र सामानि सामगाः। वा.रा. अयोध्याकाण्ड- 86/17
14. वा.रा. उत्तरकाण्ड- 16/33-34
15. वा.रा.बा.का., 4/36
16. वा.रा.कि.का., 28/36-37
17. वा.रा., बालकाण्ड, 4/8-10
18. अयोध्याकाण्ड 65/2
19. वा.रा., सुन्दरकाण्ड, 4/10
20. विचित्रार्थपदं सभ्यगायकौ समचोदयत।
21. तौ चापिमधुरं रक्तं स्वचित्तायतानिःस्वनम्।। तन्त्रीलयवदत्यर्थं विश्रुतार्थमगायताम्। वा. रा. बा. का., 4/33-34
   क) प्रमाणैर्बहुभिर्बध्दां तन्त्रीलयसमन्विताम्। वा. रा. उ. का., 94/3
   ख) पादाक्षरः समाससंज्याश्च्छन्दः सु परिनिष्ठिताम्।
   कलामात्रविशेषज्यां ज्यौतिषे चपरं गतान्।।
   वा. रा. उ. का., 94/32
   ग) शुश्राव तत्तालल्योपन्नं, सर्गान्वितं सुस्वरशब्दयुक्तम्।
   वा.रा.उ.का., 94/32
   वा.रा., सुन्दरकाण्ड, 10/36

नौटंकी की संगीत परम्परा एवं प्रयोग

आलोक कुमार
शोध छात्र (संगीत)
दयानन्द गर्ल्स पी0जी0 कॉलेज, कानपुर (उ॰प्र॰)
सम्बद्ध-छत्रपति शाहू जी महाराज विश्वविद्यालय, कानपुर

प्रो॰ (डॉ॰) रूचिमिता पाण्डे
शोध निर्देशिका (संगीत विभाग)
दयानन्द गर्ल्स पी0जी0 कॉलेज, कानपुर (उ॰प्र॰)
सम्बद्ध-छत्रपति शाहू जी महाराज विश्वविद्यालय, कानपुर

नौटंकी लोककला उत्तर प्रदेश का सुप्रसिद्ध लोक नाट्य शैली है जिसमें संवाद एवं संगीतमय कथानक का मुख्य रूप से प्रयोग होता है। इसमें गद्यात्मक कथानक के साथ-साथ पद्यात्मक संवादों का प्रयोग एवं वीर रस, करूण रस, श्रृंगार रस के साथ-साथ हास्य रस की भी प्रधानता होती है।

हमें नौटंकी के बारे में जानने से पहले नाट्य कला क्या है, इस पर दृष्टिपात कर लेना अतिआवश्यक है। भरतमुनि के अनुसार 'नाट्य' शब्द की उत्पत्ति नट् धातु से हुई जिसका अर्थ है, साहित्यिक भावनाओं को प्रदर्शित करना। भरतमुनि ही सर्वप्रथम नाटक के सम्बन्ध में अपने ग्रन्थ नाट्यशास्त्र में उल्लेख किया। इसमें इन्होंने बताया है कि स्वभावतः लोक-भावों के सुख-दुःख आदि का अभिनय द्वारा प्रदर्शित करना नाटक कहलाता है।

संस्कृत के विद्वान धनंजय जी के अनुसार- ''अवस्थानुकृतनाट्यं'' अर्थात् अवस्था के अनुकरण को नाटक कहते हैं।''[1]

सिद्धान्त कौमुदीकार के अनुसार- ''वाक्यार्थाभिनयोर्नाट्य'' अर्थात् वाक्य के अर्थ का अभिनय नाटक कहलाता है।''[2]

भारतेन्दु जी ने नट लोगों की क्रिया को नाटक कहा है। भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में यह उल्लेख किया है कि नाट्य के मूल तत्व पाठ्य, गीत/गेयता, अभिनय तथा रस हैं। जो चारों वेदों से लिए गये हैं। पं0 सीताराम चतुर्वेदी कहते हैं कि नाट्य परम्परा का प्रयोग हमारे देश में प्राचीनकाल से ही चला आ रहा है जो कभी विलुप्त नहीं हुआ।

नाट्यशास्त्र में भरतमुनि ने एक शब्द 'सट्टक' का उल्लेख किया है जो नाट्य के समान है या प्रकार है किन्तु इस शब्द की परिभाषा नहीं बतायी है। इसी 'सट्टक' लोकनाट्य से 'स्वांग' लोक नाट्य शैली की उत्पत्ति हुई, ऐसा विद्वानों का मानना है। स्वांग लोकनाट्य में व्यक्ति किसी रूप को स्वयं में स्थापित कर उसे प्रस्तुत करता है। स्वांग लोक नाट्य में किसी ऐतिहासिक, पौराणिक, लोक समाज के प्रसिद्ध चरित्र, देवी-देवताओं के चरित्र का नकल कर उसी वेश-भूषा को धारण करके उसी के अनुरूप अभिनय प्रदर्शन करता है।

नौटंकी लोक नाट्य शैली प्राचीन काल से चली आ रही है जो स्वांग लोकनाट्य परम्परा की एक शाखा है। अधिकतर विद्वानों का मानना है कि नौटंकी स्वांग शैली का ही विकसित रूप है।

नौटंकी लोकनाट्य शैली का नाम नौटंकी ही क्यों पड़ा? इसके बारे के लोगों के अलग-अलग मत हैं। पहले मत के अनुसार इस नाट्य शैली में नौ टंक (नगाड़ा) का प्रयोग होता है, इसलिए इसका नाम नौटंकी पड़ गया।

दूसरे मत के अनुसार मुल्तान (जो पाकिस्तान में पंजब है) की ऐतिहासिक 'नौटंकी' नामक राजकुमारी जिसके जीवन पर आधारित 'शहज़ादी नौटंकी' नामक प्रसिद्ध नृत्य नाटक है, के नाम पर पड़ा। कुछ विद्वान यह मानते हैं कि नौटंकी की शुरूआत 'पंजाब' प्रान्त से हुआ जो धीरे-धीरे पूरे उत्तर भारत में लोकप्रिय हो गई किन्तु कुछ विद्वानों का मानना है कि नौटंकी की जन्मस्थली उत्तर प्रदेश है जो उत्तर प्रदेश की सुप्रसिद्ध लोक नाट्य शैली में गिनी जाती है। मेरा भी यही मानना है कि नौटंकी की उत्पत्ति उत्तर प्रदेश में ही हुई है क्योंकि इसमें जिस तरीके से संवाद, भाषा, गीत, छन्द आदि का प्रयोग होता है वो पूर्ण रूप से उत्तर प्रदेश की लोक भाषा शैली से मिलती जुलती है।

स्वांग शैली और नौटंकी शैली में एक मुख्य अन्तर यह है कि स्वांग अधिकतर धार्मिक विषयों पर आधारित होता है एवं इसका प्रदर्शन गंभीरतापूर्वक किया जाता है, वहीं दूसरी तरफ नौटंकी सामाजिक, पौराणिक एवं व्यक्ति विशेष के विषयों पर आधारित रहता है जिसे व्यंग्य एवं तंज पूर्वक प्रदर्शित किया जाता है।

वर्तमान समय में नौटंकियों का प्रदर्शन, दहेज प्रथा, आतंकवाद, सामाजिक कुरीतियाँ, साम्प्रदायिक लड़ाई-झगड़े जैसे इत्यादि विषयों पर आधारित होते हैं। दर्शकों की रूचि को ध्यान में रखते हुये नौटंकियों में प्रायः प्रेम सम्बन्ध के भी तत्व होते हैं जिनका प्रयोग अश्लीलता को प्रदर्शित करने के लिए किया जाता है। लगभग 130 वर्षों से अश्लील नौटंकी प्रदर्शन की प्रथा चली आ रही है जिससे नौटंकी के मूल तत्वों की पवित्रता समाप्त होती जा रही है। शायद इसी कारण से वर्तमान समय में नौटंकी की लोकप्रियता घटती जा रही है।

नौटंकी में एक आम बातचीत तथा पद्य (गीत के बोल) को मिलाने की प्रथा शुरू से ही रही है, इसीलिए इसमें पात्र आपसी बातचीत को तुकबन्दी के जरिये प्रकट करते हैं। नौटंकी शैली में प्राचीनकाल से मध्यकाल तक सारंगी वाद्य का प्रयोग किया जाता था तथा इसके साथ नक्कारा (नगाड़ा) वाद्य का भी प्रयोग किया जाता था। वर्तमान समय में हार्मोनियम, तबला, ढोलक एवं नक्कारा (नगाड़ा) का मिश्रित प्रयोग देखने को मिलता है।

उत्तर प्रदेश की नौटंकी में 'सुल्ताना डाकू' एक प्रसिद्ध मंचन है जिसे उत्तर प्रदेश में जितने भी नौटंकी मण्डली हैं लगभग सभी द्वारा इसका मंच प्रदर्शन किया जाता है नौटंकी शैली में चौबोला, दोहा, गज़ल, बेलवरिया इत्यादि गीत शैलियों का प्रयोग किया जाता है।

नौटंकी लोकनाट्य शैली संगीत प्रधान है। ऐसा माना जाता है कि 'स्वांग और भगत' शैली का मिश्रित रूप नौटंकी है।

पं0 नत्थाराम शर्मा गौड़ स्वांग विधा के जनक माने जाते हैं जिनका जन्म 14 जनवरी 1874 ई0 को हाथरस के दरियापुर गाँव के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। ये बचपन से ही संगीत प्रेमी थे। इन्होंने देशभक्ति, वीर रस, ईश्वर भक्ति आदि विभिन्न विषयों पर अनेक कवित्वपूर्ण स्वागों की रचना की। पं0 नत्थाराम जी स्वांग के निर्देशन, मंचन आदि में महारत प्राप्त थे। ये लावनी, बहरे-तबील, छन्द, चौबोला, दुबोला, कव्वाली आदि नौटंकी के प्रचलित छन्दों को जब गाते थे तो दर्शक मन्त्रमुग्ध हो जाते थे। नौंटकी नाट्य शैली के आरम्भ में स्त्रियाँ भाग नहीं लेती थीं इसलिए स्त्री पात्रों की भूमिका भी पुरूष ही निभाते थे। सन् 1930 ई0 में सर्वप्रथम गुलाब बाई एक स्त्री कलाकार के रूप में त्रिमोहन सिंह लाल एण्ड कम्पनी में काम करना शुरू किया तत्पश्चात् 1930 ई0 में ही कृष्णा बाई भी त्रिमोहन लाल की कम्पनी में प्रवेश किया। गुलाब बाई को भारत सरकार द्वारा सन् 1990 ई0 में पद्मश्री पुरस्कार से सम्मानित किया गया। नौटंकी नाट्य शैली के दो रूप मिलते हैं।

1) हथरसी नौटंकी

2) कानपुरी नौटंकी

1. **हाथरसी नौटंकी -** हाथरसी नौटंकी शैली के जन्मदाता नत्थाराम शर्मा गौड़ माने जाते है। इस नौटंकी शैली में गायन और स्वांगीय अभिनय की प्रधानता है। इस नौटंकी को स्वांग या भगत के नाम से भी पुकारा जाता है। इस नौटंकी शैली में ब्रजभाषा, उर्दू तथा खड़ी बोली का मिश्रित रूप संवादों में मिलता है एवं चौबोला, लावणी, दोहा, दौड़, सोरठा आदि छन्दों का प्रयोग होता है।
2. **कानपुरी नौटंकी -** कानपुरी नौटंकी शैली के जन्मदाता श्री कृष्ण पहलवान जी को माना जाता है। कानपुर शैली में पात्रों के संवाद ज्यादातर पद्यात्मक होते हैं एवं नृत्य प्रधान नाट्य शैली है। कानपुरी शैली की नौटंकी को सिर्फ नौटंकी या तमाशा ही कहा जाता है। इस नाट्य शैली में भी हाथरसी नौटंकी की तरह चौबोला, लावणी, दोहा, सोरठा, दौड़ इत्यादि छंदों का प्रयोग किया जाता है। तथा इस शैली में कन्नौजी, उर्दू एवं खड़ी बोली के शब्द संवादों में प्रयोग किये जाते हैं।

दोनों शैलियों के कलाकार गायिका स्व0 कृष्णाबाई, गायक स्व0 सुहेल बाबा, नक्कारा वादक उस्ताद रशीद खाँ वारसी एवं गायिका पद्मश्री गुलाब बाई ने हाथरसी नौटंकी गायन को 'ठहराव की गायकी' तथा कानपुरी नौटंकी गायन को 'रंग की गायकी' बताया है। नत्थाराम कृत नौटंकी का आरम्भिक मंगलाचरण गीत का उदाहरण प्रस्तुत है-

दोहा -

अलख अमल अज अगोचर, अगम अनादि अनन्त।
अजर अमर अशरण शरण, त्राहि-त्राहि भगवन्त।

चौबोला -

त्राहि-ताहि भगवन्त, वारिजा कन्त सन्त सुखराशी।
विभुं ब्रह्म स्वच्छन्द स्वयं सच्चिदानन्द अविनाशी।
स्वयं विधाता स्वयं विष्णु, हौं स्वयं शंभु कैलासी।
त्रिगुण त्रिविक्रम, त्रिदिशालय पति त्रिदिश त्रिलोक प्रकाशी।

ग्रामीण क्षेत्रों में नौटंकी लोककला के माध्यम से सामाजिक कुरीतियों से सम्बन्धित विषयों के प्रति जागरूक करना एवं मनोरंजन करना, मुख्य साधन के रूप में प्रयुक्त होता है। आज भी उत्तर प्रदेश के ग्रामीण क्षेत्रों में नौटंकी नाट्य शैली का मंचन देखने को मिलता है किन्तु विचारणीय तथ्य यह है कि इसकी लोकप्रियता दिनों दिन कम होती जा रही है या यूँ कहे कि हमारे देश-प्रदेश की यह प्राचीन लोक कला विलुप्त होने के कगार पे है। जिसे बचाने एवं संवर्धन करने के लिए सरकार का हस्तक्षेप अतिआवश्यक है। यदि समय रहते ठोस कदम नहीं उठाये गये तो यह लोक नाट्य शैली विलुप्त हो जायेगी एवं सिर्फ किताबों में कहानी के रूप में पढ़ी जायेगी।

निष्कर्ष :

नौटंकी एक लोक नाट्य शैली है जिसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में ऐसा कहा जाता है कि यह 'भगत एवं स्वांग' का ही विकसित रूप है। इस शैली के प्रत्येक कलाकार की वेश-भूषा, साज-सज्जा पर विशेष ध्यान दिया जाता है एवं प्रत्येक कलाकार से यह अपेक्षा रहती है कि वह अपने संवाद गद्यात्मक एवं पद्यात्मक दोनों रूपों में व्यक्त करें। यह लोक नाट्य कला बिना किसी भेदभाव अर्थात धर्म, जाति से ऊपर उठकर विभिन्न सामाजिक कुरीतियों, धार्मिक अंधविश्वासों जैसे इत्यादि विषयों पर आधारित रहती है जिसका मंचन विभिन्न जातियों एवं समुदायों के व्यक्ति अपनी कला से प्रदर्शित करते हैं। जैसा कि विदित हो कि नौटंकी लोक कला के आरम्भ होते समय संगीतमय ईश्वर वंदना करते है तत्पश्चात् किसी विशेष विषय पर आधारित नौटंकी का मंचन किया जाता है। इसमें संगीत वाद्यों के रूप में हार्मोनियम, ढोलक, नक्कारा (नगाड़ा) मुख्यतः प्रयोग किये जाते हैं। इसलिए यह कहा जाता है कि यह संगीत प्रधान लोक नाट्य शैली है।

वर्तमान समय की नौटंकी शैली में गज़ल, भजन, चौबोला, छन्द आदि के साथ-साथ फिल्मी गीतों एवं भोजपुरी गीतों का भी इस्तेमाल अधिक मात्रा में किया जाता है। वैसे तो अब नौटंकी नाट्य

शैली ग्रामीण क्षेत्रों में ही देखने को मिलती है जिसकी लोकप्रियता दिनों दिन घटती जा रही है, ऐसा प्रतीत होता है कि नौटंकी लोक नाट्य शैली का अस्तित्व खतरे में है जिस पर समय रहते सरकार एवं लोक कला में रूचि रखने वाले व्यक्तियों को ध्यान देना अतिआवश्यक है।

सन्दर्भ सूची :

1. चावला, टीना. हिन्दी नाटक और संगीत-वर्तमान परिप्रेक्ष्य में, नई दिल्लीः संजय प्रकाशन, 2011 ई0
2. भारद्वाज, डा0 मदन मोहन. भारतीय नाट्य परम्परा एवं रंगभूमि, नई दिल्लीः नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 2001 ई0
3. शोध लेख- मंच से उजड़ी मन में बसीः नौटंकी, नारायण भक्त, 21 सितम्बर 2009
4. शोध लेख- नौटंकी कला, सिद्धेश्वरी अवस्थी, सांस्कृतिक कार्य विभाग उ0प्र0, मार्च 1994, प्रथम संस्करण
5. Internet Link:-
   (i) https://hi.m.wikipedia.org
   (ii) amp.bharatdiscovery.org

लोकनाट्य सांगीत परम्परा : नौटंकी

डॉ0 निष्ठा शर्मा
असिस्टेन्ट प्रोफेसर संगीत गायन
महात्मा गाँधी बालिका विद्यालय (पी0 जी0) कॉलेज, फिरोजाबाद
(सम्बद्धः डॉ0 बी0आर0 आम्बेडकर, विश्वविद्यालय, आगरा)

भूमिका :

झा झी झी झा, झा झी झी झा, ता तिन तिन ता, झा झी झी झा .....! प्रस्तुत लेख में नक्कारे की इस ध्वनि का सम्बंध ''था'' से है और कुछ ''है'' से है। बीते हुए कल से है और कुछ बीत रहे आज से है। स्त्रोतस्विनी गंगा कानपुर के किनारों से होकर बहती थी। यहां चौड़ी सड़के भी थीं और जगमग करते बाज़ार भी। रोशनी से जगमगाते बंगले थे और साथ मे खुशबुओं से सराबोर क्लबों में थिरकती जिंदगी भी थी। घनी बस्तियों की सकरी गलियों और सीलन की गन्ध भरे कमरों में बिछी चारपाईयों पर कल की नई सुबह के इंतजार में दिन भर के थके मांदे लोगों की करवट बदलती नींद भी थी। कल-कारखानों और मिलों की ऊँची धुआं उगलती चिमनियाँ कानपुर की पहचान थीं। कानपुर औद्योगिक षहर था। किन्तु इन सबसे अलग कानपुर लोक नाट्य विधा नौटंकी का शहर था। शाम को जब मिलों, कारखानों की चिमनियों का धुआं नीचे उतर आता और रात का धुंधलका शुरू होता, शहर के किसी चौराहे, गली-कूंचे की चौड़ी जगह, पार्क में, मैदान में अक्सर नौटंकी के मंच बन सज जाते और नक्कारा बजना शुरू हो जाता-झाना काता कत, झाना काता कत,झाना कत, तीना काता कत, तीना काता कत, झाना कत[1] और लोग नौटंकी देखने के लिए खिंचे चले आते थे सम्मोहित मंत्रमुग्ध।

स्वभावमावोपगतं शुद्धं त्वविकृतं तथा।
लोकवार्ताक्रियोपेतमंगलीलाविवजितम्।[2]

वस्तुतः आचार्य भरत ने नाट्य के प्रयोग का प्रमाण लोक जीवन को ही माना है।

लोकनाट्य की यह परम्परा चिरंतन काल से निरन्तर चलती आ रही है। विदेशी आक्रमणों एवं अन्यान्य विपरीत परिस्थितियों में नाट्धर्मी अथवा शास्त्रीय नाटकों में जड़ता भी आयी, व्यवधान आये, उनका विकास भी अवरूद्ध हुआ किन्तु लोकनाट्यों की परम्परा निरन्तर प्रवाहमान रही और अपनी लोकधर्मिता तथा ग्रहशीलता के कारण विदेशी एवं अन्तर्देशीय कलाओं और परिस्थितियों के प्रभावों को ग्रहण करती हुई नये रूपों में असम के अंकियानाट, बिहार के बिदेसिया, बंगाल के जात्रा, मध्य प्रदेश के माच, महाराष्ट्र के तमाशा, राजस्थान के ख्याल तथा उत्तर प्रदेश, हरियाणा आदि प्रदेशों मे स्वांग नाम से प्रकट होता है।

स्वांग से नौटंकी तक :

'स्वांग' प्राचीन लोकनाट्य परम्परा है और सदियों से लोकमानस का अनुरंजन करती आ रही है। अपने नाटक ''मालविकाग्निमित्रम्'' में कालिदास ने 'स्वांग' का उल्लेख किया है। महाराज अग्निमित्र परिव्राजिका से कहते हैं ''ननु स्वांग सोठई वातिराय मुमर्योष्टपति भगवती।''[3] कालिदास का समय प्रथम शताब्दी ई0

पूर्व अथवा चतुर्थ शताब्दी ईसवीं माना जाता है। आठवीं नौवीं शताब्दी के बौद्धसिद्ध कण्हया ने अपने एक चर्यापद में कहा है- आलो डोमी तोय संग करिवै सांग।''[4] यहाँ डोमी अर्थात डोमिनी आत्मा का प्रतीक है। इसके अतिरिक्त गोरखनाथ, कबीरदास, मलिक मुहम्मद जायसी, रसखान आदि कवियों ने भी उल्लेख किया है। इतने लम्बे कालचक्र में इस लोकनाट्य शैली में अनेक परिवर्तन भी हुए। अवध के नवाब वाजिद अलीशाह ने 'सालिगराम की इन्दर सभा' की ख्याति सुनकर उसका नाटक ''माहे मुनीर मारूफ'' देखा और उससे प्रभावित हुए।[5] नवाब वाजिदअली शाह के अनुपम, भव्य किन्तु मौलिक रंगकर्म के प्रयोग भी इसी समय हुए। नवाब वाजिद अलीशाह भारतीय नाट्यधर्मी तथा लोकधर्मी दोनों परम्पराओं से पूर्णतः परिचित थे। भरत के नाट्यशास्त्र में वर्णित नाट्य रासक तथा लोक नाट्य परम्परा के सामंजस्य से उन्होने अपनी नाट्य शैली का निर्माण किया था तथा उसको 'रहस' का नाम दिया। वाजिदअली शाह के रहस इतने लोकप्रिय हुए कि उसके बाद एक रहस परम्परा ही चल पड़ी। श्री रणबीर सिंह के अनुसार वाराणसी में रामनगर की रामलीला पर भी इस रहस शैली का प्रभाव है। पारसी रंगमंच में भी वाजिदअली शाह के रहस दर्या-ए-ताश्शुक के मुंशी मुहम्मद अली खान हबाब फतेहपुरी के रूपान्तर 'गज़ाला-माहरूफ' का मंचन हुआ।[6]

नवाब वाजिदअली शाह के सत्तावसान के पश्चात 'इन्दर सभाओं का समय प्रारम्भ हुआ। लखनऊ में 'इन्दरसभा' का प्रयोग स्वांग और रासलीला शैली पर पाश्चात्य ओपेरा शैली के आरोपण द्वारा किया गया।[7] आगा हसन 'अमानत' ने अपनी इस कृति को 'रहस' ही कहा है।अवध क्षेत्र में इन्दरसभा के प्रदर्शनों को जो लोकप्रियता प्राप्त हुई उसकी पृष्ठभूमि में औपनिवेशिक शासन और उसके द्वारा उपकृत राजे, जमीदारों तथा अभिजात्य वर्ग की बड़ी भूमिका थी।

पाश्चात्य रंगमंच से प्रभावित होकर पोस्तात्री फ्रामजी ने पहली व्यावसायिक पारसी कम्पनी स्थापित की। इसके पश्चात् तो रंगमंच को लाभ का व्यवसाय समझ कर अनेक पारसी व्यावसायियों ने अपनी कम्पनियां स्थापित कर लीं जिसके कारण इनका नाम ही पारसी थियेटर पड़ गया। रंगमंच तथा नेपथ्य हेतु जटिल यंत्र एवं तकनीक विदेश से ही आयातित थी। इन नाटकों के कथानक, आदर्शप्रियता मित्र धर्म, दयालुता, दानशीलता वीरकथा, धार्मिक एवं पौराणिक प्रसंगों से चलकर बेढंगे नृत्यों, अति श्रृंगारिकता और कभी-कभी समाज की सड़ी-गली रूढ़ियों के महिमामंडन की सड़ांध तक पहुंच गया था। ऐसे ही एक नाटक को देख कर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने लिखा- डॉ0 थिबो और बाबू प्रमदादास मित्र प्रभृति विद्वान यह कह कर उठ आये कि अब देखा नहीं जाता।[8] बदलते समय के साथ राष्ट्रीय परिदृश्य भी बदल रहा था जिसके कारण सभ्य और सुसंस्कृत समाज भी इससे कटता गया और नये पंथ की ओर निहारने लगा। ऐसे समय में लोकधर्मी नाट्य के क्षेत्र में दो विभूतियों का अवतरण हुआ- हाथरस के पं0 नथाराम षर्मा गौड़ तथा कानपुर के श्रीकृष्ण पहलवान।

नवयुग और नौटंकी :

पं0 नथाराम शर्मा भगत की अखाड़ा परम्परा से सम्बंधित थे तथा उत्कृष्ट गायक, कुशल अभिनेता और कलम के भी धनी थे। वे एक जन्मजात कलाकार थे और उन्होंने अपनी कला को अखाड़े के सीमित दायरों से बाहर निकाल कर आम जनता को उपलब्ध करा दिया तथा परम्परागत स्वांग परम्परा में नये प्रयोगों के द्वारा अधिक मनोहारी बना दिया। उन्होंने अपनी नथा- चिरंजी की मण्डली के द्वारा पूरे देश और विदेशों में भी अपने स्वांगों का प्रदर्शन कर धूम मचा दी। उन्होंने अपने जीवनकाल में लगभग 200 स्वांग लिखे। सन् 1909 ई0 में पं0 नथाराम जी अपना एक स्वांग लेकर कानपुर आये जिसे देख कर लोग रसाभिसिक्त भी हुए और चमत्कृत भी। इससे प्रेरित हो कानपुर के बन्दी खलीफा ने अपने सहयोगी मैकू उस्ताद और मुल्लाराय के सहयोग से मात्र एक वर्ष में सन् 1910 ई0 में उसी कोटि का स्वांग

प्रस्तुत कर दिया। बताया जाता है कि इसमें एक ही चीज को 17 धुनों में गाया गया था और बन्दी खलीफा ने नक्कारे पर एक नवीन प्रकार की टंकार का प्रयोग किया था। इसके पश्चात् ही सन् 1913 ई0 में श्री श्रीकृष्ण महरोत्रा प्रसिद्ध नाम श्रीकृष्ण पहलवान ने बंदी खलीफा और मुल्लाराय के कहने पर 'श्रीकृष्ण सांगीत कम्पनी' की स्थापना की, स्थान था रंजीतपुरवा। सौम्य स्वभाव के श्रीकृष्ण पहलवान एक सफल व्यवसायी, पारंगत ख्याल कलाकार, गजब के पहलवान साथ में कलम के धनी उर्जावान व्यक्ति थे। लोक साहित्य के प्रति उनका अनुराग अतुलनीय था तथा अपने बम्बई छापाखाना से अनेकानेक स्वांग, लोकगीतों, बारहमासों तथा लोक साहित्य की पुस्तकों का प्रकाशन किया। उन्होंने अपने जीवनकाल में लगभग 300 नाटकों की रचना की तथा उन्हें मंचित कर इस विधा को लोकप्रियता के शिखर तक पहुंचा दिया। सन् 1913 ई0 को उनकी प्रथम रचना 'वीर हकीकत राय' का प्रदर्शन हुआ जो अत्यधिक सफल रहा और इसके पश्चात् उनकी रचनाओं के प्रदर्शनों की श्रृंखला अनवरत सफलतापूर्वक चलती रही। इस सफलता से प्रभावित होकर अनेक नाट्य कम्पनियां मैदान में आ गयीं। नहरिया हूलागंज मंदिर के पास त्रिमोहन उस्ताद की त्रिमोहन-मन्नीलाल नौटंकी कम्पनी, गुलाबबाई की कम्पनी रेल बाजार पुल के आगे कुएं के पास स्थित थी। रेल बाजार पुल के पास ही कृष्णाबाई की कम्पनी थी, सफी लम्बरदार और लालमन नम्बरदार की नौटंकी कम्पनियां भी रेल बाजार में ही स्थित थीं। रेल बाजार, कानपुर तो नौटंकी कलाकारों का केन्द्र ही बन गया था और आज भी है। सबके नाम का यहाँ औचित्य नहीं है।

इस सम्बन्ध में त्रिमोहन उस्ताद का नाम बहुत महत्वपूर्ण है। बहुमुखी प्रतिभा के धनी त्रिमोहन उस्ताद मूलतः नक्कारावादक थे। छः चोबों को हवा में उछाल-उछाल कर सुर, लय और ताल के साथ नक्कारावादन करते तो लोग अचंभित हो जाते और एक अनूठा समा बंध जाता था। उन्होंने राजा हरिशचन्द्र, लैला मजनू, शीरी-फरहाद, हकीकतराय, बन्दा बैरागी, क्रांतिकारी आदि अनेक नौटंकियों का निर्देशन किया। उनकी नौटंकियों का आलेख कसा हुआ होता था। त्रिमोहन उस्ताद को ही नौटंकी में महिला कलाकारों को अवसर प्रदान करने का प्रथम श्रेय जाता है। सन् 1931ई0 में उन्होंने गुलाबबाई को अवसर प्रदान किया। उसके ही अगले वर्ष उन्होंने कृष्णाबाई को अवसर दिया और फिर कई अन्य को मंच पर उतारा। नौटंकी जगत की प्रथम महिला कलाकार पद्मश्री गुलाबबाई को जो कला की ऊँचाईयां, इज्जत और शोहरत हासिल हुई वह किसी अन्य को नसीब न हुई।

'नौटंकी' बदलते सामाजिक परिवेश के अनुरूप स्वांग का ही एक नया रूप है। पारम्परिक स्वांग तो आज भी खेले जाते हैं। स्वांग में मंच वर्तुलाकार होता है और दर्शक उसके चारों तरफ बैठकर स्वांग देखते है। स्वांग में अभिनेता मंच पर बैठकर ही वेश परिवर्तन करते हैं। स्वांग में नारी पात्रों की भूमिका भी पुरूष ही करते हैं,[9] महिलाओं की उपस्थिति मात्र दर्शक की होती है। नौटंकी में भी पहले स्त्री पात्रों की भूमिका पुरुष ही करते थे किन्तु बाद में सन् 1931ई0 से महिलाओं का प्रवेश प्रारम्भ हो गया जिसका उल्लेख किया जा चुका है। नौटंकी का मंच एक ओर दृश्यबंध के साथ बनाया जाता है और लोग उसके सामने बैठ कर देखते हैं। कहा जाता है कि पं0 नथाराम जी के सांगीत भी प्रारम्भ में स्वांग की भांति वर्तुलाकार मंच पर अभिनीत होते थे तथा नौटंकी में सामने से दर्शकों के देखने की व्यवस्था तथा संस्कृत नाटकों जैसी मंच के पीछे नेपथ्य की व्यवस्था श्रीकृष्ण पहलवान ने प्रारम्भ की। मंच पर पारसी नाटकों के प्रभाव से तलवार, ढाल एवं अन्य अस्त्र शस्त्रों का प्रयोग भी पहले-पहल श्रीकृष्ण पहलवान ने ही प्रारम्भ किया। पं0 नथाराम जी तथा श्रीकृष्ण पहलवान का नाम मात्र इसलिए स्मरणीय नहीं है कि उन्होंने इस विधा को एक सीमित दायरे से बाहर निकाल कर जनप्रिय बनाया अपितु उनका योगदान इसलिए महत्वपूर्ण है कि इन्होंने युगानुरूप इस विधा को परिभाषित कर इसे एक व्याकरण प्रदान किया और इसे समस्त सामाजिक जिम्मेदारियों के साथ एक संगठित व्यवसाय

में परिवर्तित कर दिया। कला की पवित्रता को बनाये रखने के लिए उन्होंने संघर्ष किया और अपने सिद्धांतों के साथ कभी समझौता नहीं किया। ये दोनों ही महानुभाव दो अलग-अलग क्षेत्रीय एवं सामाजिक पृष्ठभूमि से सम्बन्ध रखते थे अतः इनके प्रयोगों में भिन्नता के कारण नौटंकी की दो उपशैलियों का प्रचलन हुआ- हाथरस शैली और कानपुर शैली। वस्तुतः पं0 नथाराम शर्मा गौड़ तथा श्रीकृष्ण पहलवान का नौटंकी के क्षेत्र में वही स्थान है जो शास्त्रीय संगीत के क्षेत्र में विष्णुद्वय का है।

नौटंकी शब्द की उत्पत्ति :

इस बिन्दु पर आकर यह स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि स्वांग के इस नये रूप का नाम 'नौटंकी कैसे पड़ गया। पं0 नथारामजी ने इसे सांगीत की संज्ञा दी थी किन्तु हाथरस सहित पश्चिमी उत्तर प्रदेश की सामान्य जनता में अस्सी के पूरे दशक तक इस विधा हेतु 'स्वांग' शब्द ही प्रचलन में रहा। श्रीकृष्ण पहलवान ने भी इस शब्द का प्रयोग नहीं किया। उनकी नौटंकी कम्पनी का नाम ही 'श्रीकृष्ण सांगीत कम्पनी' था किन्तु अवध क्षेत्र के सर्वसामान्य में इसे सदैव नौटंकी ही कहा गया। कई विद्वानों का मत है कि पंजाब में मुल्तान की रुपसी राजकुमारी ''नौटंकी और स्यालकोट के राजकुमार फूलसिंह के प्रणय-प्रसंग पर आधारित जो नाटक खेला गया उसे नौटंकी कहा गया। श्री सिद्धेश्वर अवस्थी उसका सम्बंध राजस्थान में प्रचलित मुद्रा 'टंक' से जोड़ते थे।[10] एक मत नौ रसों के आधार पर नवटंकी से नौटंकी की व्युत्पत्ति का भी है और इसके अतिरिक्त कई अन्य मत हैं। कानपुर के नौटंकी कलाकारों के मध्य बहुप्रचलित मत के अनुसार जब पं0 नथारामजी की चुनौती को स्वीकार कर 'स्याहपोश' नाटक खेला उसमें संगीत हेतु नक्कारे के साथ विभिन्न पदार्थों से भरी नौ झील से अपनी चोब उछाल-उछाल कर जो नौ प्रकार की नवीन टंकार निकाली और इसकी सफलता ने निर्मित अनूठे समा से उत्साहित बन्दी खलीफा ने घोषणा की कि आज मंचित हुए इस प्रकार के नाटक को 'नौटंकी' कहा जायेगा। सभी प्रकार के मतों के पक्ष-विपक्ष में विद्वानों के अपने तर्क हैं और जब तक कोई सर्वमान्य मत स्थिर नहीं हो जाता, इसे बुद्धि प्रयास ही कहा जायेगा। हमारा इस सम्बंध में कोई खंडन-मंडन नहीं है।

हाथरस और कानपुर शैली :

'नौटंकी' संगीत प्रधान लोकनाट्य विधा है किन्तु एकरूपता के साथ हाथरस और कानपुर दोनों की नौंटकी शैली में क्षेत्रगत उर्जा उपकरणों के कारण भिन्नता है। हाथरस की शैली के ऊर्जा उपकरण रास परम्परा है। एक समय ऐसा भी था जब इस परम्परा में पहले रासलीला होती थी और उसके पश्चात ही नौटंकी प्रारम्भ होती थी। इस कारण यहाँ की नौटंकी की गायन शैली पर ध्रुपद की गम्भीर गायकी का प्रभाव है। शुद्ध शास्त्रीय रागों पर आधारित छन्दों में आलापचारी व तानों की बहुलता होती है जिसके कारण इसमें अभिनेयता कम होती है और कलाकार नक्कारा बजने के समय के शून्य को भरने के लिए मूकाभिनय द्वारा गाये गये छंद को स्पष्ट करते हैं। शुद्ध तथा सात्विक गायन द्वारा प्रभाव निर्मिति हेतु यह शैली बहुत सम्मान की दृष्टि से देखी जाती है। हाथरस शैली में मंचसज्जा और कथानक सीधे-सरल होते हैं तथा कलाकारों का उच्चारण स्थानीय बोली का पुट लिये होता है। कानपुर की नौटंकी का प्रारम्भ हाथरसी नौटंकी से प्रेरित होकर ही हुआ किन्तु उसने अपने ऊर्जा उपकरण अवध के उस समाज से ग्रहण किये जो घुलामिला था, जहां स्वांग-सपेरा था, पारसी थियेटर का प्रभाव था, ठुमरी, दादरा, ग़ज़ल, कव्वाली इत्यादि का अधिक प्रचलन था। कानपुर शैली में नाटकीयता की प्राधान्यता के कारण भावपक्ष दृढ़ होता है। कथानक घटना प्रधान और घुमावदार तथा संवादों में कसावट के साथ छन्दों में विविधता होती है जिसके कारण कलाकारों को भावाभिव्यक्ति के अधिक अवसर प्राप्त होते हैं। कथ्य और कथानक के भावानुसार आनुपातिक एवं सन्तुलित रूप से शुद्ध राग और स्वर का प्रयोग पात्रों के अभिनयात्मक छन्द गायन को प्रभावपूर्ण बनाते हैं। शब्दों का सुस्पष्ट उच्चारण तो अवध के समाज की स्वाभाविक प्रवृत्ति है ही। पारसी

नाटकों से प्रभावित मंच सज्जा, पात्रानुकूल रूपसज्जा तथा वेश विन्यास कथानक की रसात्मक अभिव्यक्ति में सहायक होते हैं जिससे दर्शक समुदाय सहजता से जुड़ जाता है।(11)

स्वतन्त्रता आन्दोलन और नौटंकी विधा :

यह उल्लेखनीय है कि जिन क्षेत्रों में सन् 1857 का प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम अधिक प्रभावी था, उन क्षेत्रों में रंगमंचीय आंदोलन भी उतना ही तीव्र था। 12 अनेक इतिहासकारों एवं लेखकों द्वारा 1857 के प्रथम स्वाधीनता संग्राम में विभिन्न वर्गों की भूमिका का विस्तृत विवेचन किया है किन्तु इस सम्बन्ध में कलाकारों की भूमिका पर विशेष प्रयत्न नहीं हुए हैं। यदि इस पर समुचित ध्यान दिया जाये तो पर्याप्त सामग्री सामने आने की सम्भावना रहेगी। हमारे स्वतन्त्रता आन्दोलन के नेतृत्व ने नौटंकी ऐसी जनप्रिय लोकनाट्य कला को देशप्रेम तथा स्वातन्त्रय मूल्यों के प्रचार हेतु प्रयुक्त करने का निर्णय लिया तथा पं0 मोतीलाल नेहरू के आहवान पर स्वतन्त्रता आन्दोलन में सक्रिय योगदान दिया। श्रीकृष्ण पहलवान और श्री रामराज त्रिपाठी ने न केवल अपनी नौटंकियों द्वारा स्वातन्त्रय अग्नि को प्रज्वलित किया अपितु स्वयं स्वतन्त्रता आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया। श्रीकृष्ण पहलवान की बलिया का शेर, आँख का जादू, जलियांवाला बाग पर आधारित खूने-नाहक को औपनिवेशिक शासन द्वारा प्रतिबन्धित कर दिया गया। भ्रष्टाचार, पूंजीवादी व्यवस्था और औपनिवेशिक शासन पर तीखा चुटीला व्यंग त्रिमोहन उस्ताद की विशेषता थी। उनकी नौटंकियों का जनता पर ऐसा प्रभाव पड़ रहा था कि अंग्रेज सरकार ने न केवल उनकी नौटंकी को कानपुर में प्रतिबंधित कर दिया बल्कि उन्हें कानपुर छोड़ने का भी आदेश दे दिया। स्वतन्त्रता की भावना इतनी प्रबल थी कि 'बहादुर लड़की' के प्रदर्शन के समय सुप्रसिद्ध गुलाबबाई अपने किरदार में इतना भावावेश में आ गयीं कि मंच से उतर कर सामने खड़े एक अंग्रेज को चांटा जड़ दिया, फलतः तीन वर्ष हेतु उन पर प्रतिबन्ध लग गया और जो सहन करना पड़ा होगा वह करना पड़ा होगा। कानपुर में अधिकांशता नौटंकी कलाकारों में रात को नौटंकी और दिन में रसिया गाने की परम्परा रही है। फीलखाना, कानपुर में जहाँ गणेशशंकर विद्यार्थी का प्रताप प्रेस कार्यालय हुआ करता था, उससे लगभग बीस कदम पर स्थित मंदिर के बगल में निवास करते थे नक्कारावादक हरिमोहन पाण्डे। ऊँचे, दमदार और सुरीले कंठ के हरिमोहन पाण्डे के रसिया गायन में ऐसा जादू था कि एक बड़ी भीड़ उनको सुनने को जमा हो जाती थी। कहा जाता है कि उनके प्रच्छन्न सम्बन्ध क्रांतिकारियों से थे तथा उनके रसिया गायन में सांकेतिक रूप से देश की स्वतन्त्रता हेतु सन्देश भी अन्तर्निहित रहता था। अन्ततः अंग्रेज सरकार ने उनके रसिया गायन पर ही प्रतिबन्ध लगा दिया। सुप्रसिद्ध नौटंकी विशेषज्ञ स्व सिद्धेश्वर अवस्थी ने गन्ना नामक एक महिला नौटंकी कलाकार का जिक्र किया था। एक नौटंकी में उसकी भूमिका और छन्द गायन पर अंग्रेज सरकार की ऐसी नजर टेढ़ी हुई कि उसका घर-बार तक ध्वस्त कर डाला तथा उसे भिक्षावृति हेतु विवश होना पड़ा किन्तु वह भिक्षा भी मांगती तो नौटंकी के उन्हीं विशेष छन्दों को गाकर मांगती थी। ऐसा था उसका देशप्रेम।(12) इलाहाबाद में प्रख्यात नौटंकी कलाकार जगेश्वर सैदाबाद में पुलिया उड़ाने के प्रयास में अंग्रेजों की गोली से शहीद हो गये।(13) स्वतन्त्रता की बलिवेदी पर अपना सर्वस्व त्यागने और प्राणोत्सर्ग करने वाले अमर वीर सदैव प्रणम्य है।

उपसंहार :

अत्यंत मनोहारी रसवन्ती लोक नाट्य कला आज कठिन संकट के दौर से गुज़र रही है। यह उस नौटंकी कला की दयनीय दशा है जो स्वतन्त्रता आन्दोलन काल में लोक चेतना का एक प्रमुख वाहक थी और अपनी लोकप्रियता के कारण उस समय प्रदेश में कुल नौटंकी कम्पनियों की संख्या लगभग 250 के ऊपर पहुंच गई थी। लोग बताते हैं कि सन् 1970 के आसपास एक ऐसा समय भी था जब हर 5-6 गांवों के बीच 2-4 नौटंकी मंडलियां सक्रिय रहती थीं और आज वो समय है कि प्रदेश भर में 10-12 नौटंकी मंडलियां ही सक्रिय हैं। नौटंकी

की इस दुर्दशा हेतु नौटंकी कलाकारों के अश्लील एवं फूहड़ प्रदर्शन को दोशारोपित किया जाता है। किन्तु नौटंकी में नृत्यांगना की कमर जब 22 बार बल खाये, तब आकर दर्शकों के दिल को ठंडक देने वाले दर्शक भी इसी समाज से ही आते हैं। समाज को इस आरोप से मुक्त कैसे किया जा सकता है? सन् 1990 के दशक से 'ग्लोबलाइजेशन', निजीकरण ने अनगिनत निजी टीवी चैनल्स, इंटरनेट जैसे सशक्त प्रसार माध्यमों ने सुविधाओं का असिमित संसार समाज के सामने लाकर रख दिया। तकनीक के अपने सकारात्मक-नकारात्मक पहलू होते हैं। नौटंकी कला हेतु इनका प्रभाव नकारात्मक ही रहा। इस नये वातावरण से उत्पन्न नव अभिजात्य वर्ग को पाश्चात्य अश्लीलता से परहेज नहीं किन्तु वह नौटंकी तथा अन्य भारतीय कलाओं को हेय मानने लगा। फलतः आर्थिक विपन्नता के कारण नौटंकी मण्डलियाँ धड़ाधड़ बन्द होती चली गयीं और प्रदर्शनों में फूहड़ता क्रमशः बढ़ती चली गयी। प्रतिबद्ध कलाकारों के लिए अवसर कमतर होते चले गये। दो-तीन मण्डलियों को छोड़ कर आज जो नौटंकी हो रही है, वह दरअसल नौटंकी है ही नहीं, नौटंकी की भौड़ी पैरोडी मात्र है। अस्सी के पूरे दशक नक्कारे की धमक जमकर कानपुर में सुनाई पड़ती रही किन्तु नब्बे के दशक से निरन्तर मन्द होती चली गयी। अब कानपुर के सीमान्त मौहल्लों और ग्रामीण क्षेत्रों में कभी-कभार नौटंकी प्रदर्शन की खबरें मिलती हैं किन्तु कानपुर नगर खास में पिछले आठ-नौ वर्षों से नक्कारे की आवाज सुनाई नहीं पड़ती। नौटंकी पर यह आलेख कानपुर के विशेष परिप्रेक्ष्य में नदी तट से लहरों का जायज़ा मात्र है। लहरों को कौन गिन सका है और लहरों की उछाल से गहराई की थाह किसने पाई है? पतितपावनी गंगा आज भी कानपुर के किनारों से होकर बहती है। मिलों-कारखानों की चिमनियाँ शान्त हैं परन्तु औद्योगिक शहर का विशेषण आज भी चस्पा है। बाजार-घरबार भी जगमगाते हैं और क्लबों में जिन्दगी भी थिरकती है। बन्द कमरों में इन्टरनेट के स्वछन्द संसार में क्षरती सांस्कृतिक चेतना है और मोबाइल में कैद सामाजिक सम्बन्ध भी हैं। तेज वाहनों पर दौड़ती देह है और भीड़ से सकरी होती सड़कों पर रेंगती जिन्दगी भी है। सकरी गलियों में सीलनगन्ध वाले कमरे भी हैं और उन्हीं में अपनी आशा-निराशा में वक्त के बदलने का इन्तजार करता नौटंकी कला का संघर्षशील प्रतिबद्ध कलाकार भी है। हमारी शुभकामनाऐं उनके साथ हैं।

सन्दर्भ सूची :

1. सुप्रसिद्ध नक्करावादक श्री हरीशचन्द जी (उ0प्र0 संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार से सम्मानित) से प्राप्त।
2. आचार्य भरत, नाट्यशास्त्रम (सं0 1985), चतुर्दशोध्याय-70 पृष्ठ-168, प्र0 चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, बनारस सिटी।
3. कालिदास, मालविकाग्निमित्रम् (सन् 1924), पृष्ठ-18, प्र॰ पाण्डुरंग जावाजी, बम्बई।
4. श्रीकृष्णदास, (प्रथम संस्करण 1956) हमारी नाट्य परम्परा पृष्ठ-194, प्र॰ साहित्यकार संसद, प्रयाग।
5. अग्रवाल, रामनारायण, (प्रथम संस्करण 1976) सांगीत-एक लोकनाट्य परम्परा, पृष्ठ-77, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली।
6. Singh, Ranbir, (Edit-2002) Wajid Ali Shah The Tragic King, Page-101, Pub- Ranbir Singh Pubication Scheme, Jaipur
7. माथुर जगदीश चन्द्र (सं॰ 1969), परम्पराशील नाट्य, पृष्ठ-35, प्र॰-बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना।
8. श्रीकृष्णदास, उपरोक्त, पृष्ठ-21
9. मिश्र डॉ॰ विश्वनाथ, भारतीय नाट्यशास्त्र और आज का रंगमंच, पृ॰ 84, उत्तर प्रदेशहिन्दी संस्थान, लखनऊ
10. स्व. सिध्देश्वर अवस्थी के साथ व्यक्तिगत वार्तालाप
11. अवस्थी सिद्धेश्वर, नौटंकी कला, सांस्कृतिक कार्य विभाग, उ॰ प्र॰
12. स्व॰ सिद्धेश्वर अवस्थी के साथ व्यक्तिगत संस्मरण
13. यदुवंशी अतुल, (अक्टूबर-दिसम्बर 2018) लेख-परम्पराशील नाट्य नौटंकी का उद्भव एवं विकास, पृष्ठ-21 कला वसुधा, नौटंकी (सांगीत) प्रसंग)

लोक नाट्य रामलीला में संगीत का प्रभाव

प्रो॰ सुनीता द्विवेदी
जुहारी देवी गर्ल्स पी॰ जी॰ कॉलेज, कानपुर

''योऽयं स्वभावो लोकस्य सुख-दुःख समन्वितः।
सोऽङ्गाद्याभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते॥''[1]

अर्थात सुख-दुःख मिश्रित लोकजीवन का जब आंगिक आदि अभिनयों के साथ अनुकीर्तन किया जाता है, तो वह नाट्य कहलाता है। आंगिक आदि से तात्पर्य अभिनय के 4 प्रकार- आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक से है। अभिनय का शाब्दिक अर्थ- ''प्रयोग को मुख्य प्रयोजन की ओर ले जाने वाला है।''[2] यहाँ स्पष्ट कर देना उचित होगा कि अभिनय तो नृत्य में भी होता है किन्तु नृत्य में घटना के किसी एक सूक्ष्म खण्ड का अभिनय होता है, जबकि नाट्य में घटना को अभिनय के द्वारा आद्योपान्त बताया जाता है। नृत्य में नाट्य की अपेक्षा आंगिक अभिनय की प्रधानता रहती है। नाटक में अभिनय के साथ सुख-दुःख के क्षणों में स्वाभाविक रूप से होने वाले गीत-संगीत की योजना अनिवार्य मानी गयी है। संगीत और नृत्य नाट्य का उपरंजन करते है। यूँ तो संगीत की तीनों विधाये अपने-अपने स्तर से आनन्द की अनुभूति कराती हैं किन्तु इन तीनों को स्वयं में समेटकर चलने वाला नाट्य अति प्राचीनकाल से मानव-मन को रस ब्रह्म की अवस्था तक पहुँचाने का उत्तम हेतु बना हुआ है, यानी कलाओं में उत्तम मानी जाने वाली काव्य कला के उत्कृष्टतम् रूप नाटक[3] में रस प्रदायिनी शक्ति विशेष रूप से होती है।

नाट्य की उत्पत्ति किस देश, काल अथवा परिस्थिति में हुई? अभी तक यह निश्चित रूप से नहीं बताया जा सका है किन्तु सुख-दुःख प्रवृत्तियों का अनुकरण करने वाली यह नाट्यकला मानव-जीवन के आरम्भ काल से चली आ रही होगी, ऐसा विचार है। डॉ॰ दशरथ ओझा ने संसार के प्राचीनतम् गिने जाने वाले ग्रन्थ ऋग्वेद में भी नाट्य के प्रसंगों को खोजने का प्रयास किया है।[4] भारतीय कला सम्बन्धी ग्रन्थ लेखन की यह विशेषता रही है कि इसमें समस्त कलाओं की उत्पत्ति को किसी न किसी पौराणिक घटना से जोड़ा जाता है। सम्भवतः इसीलिये नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में आदि ग्रन्थ भरत के नाट्यशास्त्र में बताया गया है कि नाटक की उत्पत्ति ब्रह्मा के द्वारा हुई है और नृत्य का जनक शिव को कहा गया है। अतः ग्रन्थ के प्रारम्भ में ब्रह्मा और शिव की स्तुति की गयी है।

नाट्य की मूल भूत आवश्यकताओं से जुड़ते हुये उल्लेखनीय है कि अभिनय के अलावा नाट्य की कथावस्तु से वृत्तियाँ भी सम्बद्ध रहती हैं। 'वृत्ति'- जिसका अर्थ कार्य-व्यापार और रचना शैली से लगाया जाता है। नाट्य में यही वृत्तियाँ चार प्रकार की मानी गयी हैं- भारती, सात्त्वकी, कैशिकी और आरभटी।[5] रूपकों के 10 भेदों का आधार वृत्तियाँ भी हैं। रूपकों में नाटक, प्रकरण, वीथी, समवकार, ईहामृग, अंक, व्यायोग, भाण, प्रहसन तथा डिम है।[6] रूपकों में नाटक को प्रमुख माना गया है। सामान्य रूप से प्रहसन, भाण आदि के लिये भी नाटक शब्द का प्रयोग किया जाता है। नाटक में विशेष रूप से इतिहास, पुराण से जुड़ी हुई घटनाओं का वर्णन होता है। नाटक में वर्षो से उन्हीं पौराणिक घटनाओं का

प्रस्तुतिकरण करते रहने के पीछे नाटककार का उद्देश्य कहानी को समझाना नहीं होता बल्कि घटना के वैयक्तिक विश्लेषण के आधार पर समाज के सामने आदर्श रखना और आनन्द प्रदान करना होता है। आचार्य मम्मट ने काव्य प्रकाश में काव्य के प्रयोजन बताये हैं-

''काव्यं यशषेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परिनिर्वृत्तये कान्तासम्मिततयोपदेश युजे।।''

काव्य नाटक की सहयोगिनी कला है। अतः आचार्य मम्मट के द्वारा बताये काव्य के प्रयोजन नाटक के भी प्रयोजन हुये। इस प्रकार नाटक का प्रमुख प्रयोजन परमानन्द की अनुभूति कराना है। धार्मिक भावना, आर्थिक लाभ एवं अन्य कार्य व्यवहार आदि गौण प्रयोजन के अन्तर्गत आते हैं। यही कारण है कि उक्त प्रयोजन की पूर्ति करने में सक्षम राम आदि चरित्र से सम्बन्ध रखने वाली कहानियाँ हजारों वर्ष बाद भी उसी प्रेम और भक्ति-भाव से ग्रहण की जाती है और सनातन भाव पूरित भारतीय मनसा को आनन्द पहुँचाती हैं।

16वीं, 17वीं शताब्दी में उत्तर भारत में हुये भक्ति- आन्दोलन में भक्तों ने भगवान के नाम, रूप, गुण, लीला, धाम को गान का विषय बनाया था। श्रीमद्भागवत में ईश्वर सेवा के 6 अंग बताये गये है-

''तत् तेऽर्हतम नमः स्तुति कर्म पूजाः,
कर्मस्मृतिश्च चरणयोः श्रवणं कथायाम्।
संसेवया त्वयि विनेति षडंग्या किं,
भक्तिं जनः परमहंस गतौ लभेत्।।''[7]

अर्थात- लीला, कथा, श्रवण भी ईश्वर सेवा के अन्तर्गत बताया गया है। अतः मध्य युग के भक्ति-आन्दोलकों ने ईश्वर सेवा की भावना के अलावा भक्ति के विकास और प्रचार की दृष्टि को केन्द्र में रखकर मात्र लीला कथा को श्रवण तक सीमित नहीं रखा बल्कि दर्शनीय भी बनाया। इसी समय में वैष्णव भक्ति राम और कृष्ण दोनों धाराओं में अपने-अपने आराध्यों की कल्पना और भक्ति के सिद्धान्तों के अनुसार लीला की योजना शुरू कर दी गयी। रामलीला के सम्बन्ध में एक किंवदन्ती इस प्रकार है- ''रामभक्त गोस्वामी तुलसीदास को चित्रकूट में भगवान राम ने साक्षात् दर्शन दिये किन्तु भावाविह्वल तुलसी उन्हें समझ नहीं पाये। बाद में पछतावा होने पर हनुमान जी ने स्वप्न में कहा कि कलियुग में भगवान का साक्षात् दर्शन सम्भव नहीं है। अतः रामलीलायें आयोजित करवाके स्वरूपों मे दर्शन लाभ करो। गोस्वामी तुलसीदास ने इस आज्ञा को मानकर काशी, अयोध्या आदि स्थानों पर रामलीला शुरू करवायी।[8] आज सभी को यह मान्य है कि काशी तथा अयोध्या में गोस्वामी तुलसीदास ने रामलीला की नींव डाली थी।''[9] किन्तु अयोध्या वास के दौरन कुछ तथ्य ऐसे पता चले कि रामलीला की नींव तुलसी के समकालीन मेधा भगत जी ने डाली थी। अयोध्या में प्राप्त हुई पुस्तक 'रसिक प्रकाश भक्तमाल' ग्रन्थ में निम्न पंक्तियाँ मिलती हैं-

''जैसे प्राणप्यारे श्री गोसांई जी हमारे,
तैसे तुमहुँ हमारे ताते काम एक कीजिये...।''
लेके धनुबाण जाओ निजथान तहाँ,
रामायण गायके प्रत्यक्ष सुख लीजिये।
लोक में प्रचुर रामलीला रस छाये,
उर आनन्द बढ़ाय औध धाम को सिधाय हैं।''[10]

रसिक प्रकाश भक्तमाल ग्रन्थ 18वीं शताब्दी का है। इस प्रकार मेधा भगत जी और युगलप्रिया जी में 100 वर्षो का अन्तर है। अतः स्पष्ट है कि युगल प्रिया जी से 100 वर्ष पूर्व भी राम लीला प्रचार में रही होगी।

अयोध्या में रामलीला परम्परा के रक्षक और प्रचारक पत्थर मन्दिर के महन्त स्वामी जयराम दास जी द्वारा बतायी गयी रामलीला प्रचारकों की परम्परा निम्नवत् हैः-

1. मेधाभगत जी
2. राघवदास जी
3. भगवानदास जी
4. हनुमानदास जी

5. रामप्रियादास जी 7. रामदेव दास जी
6. प्रेमदास जी 8. जयराम दास जी

स्वामी जयराम दास जी के अनुसार मेधाभगत जी काशी से अयोध्या आकर लीलाधार ग्रन्थ मानस का गान किया करते थे। इसी समय इनके सम्पर्क में राघवदास जी आये जिन्होंने काशी जाकर असी घाट में रामलीला की नींव डाली। अतः रामलीला संस्थापक के रूप में तुलसीदास जी के साथ-साथ उक्त दोनों नाम भी विचारणीय हैं। अयोध्या की रानी बच्ची साहिबा जी से मौखिक चर्चा के आधार पर यह जानकारी प्राप्त की गयी थी कि काशी के काफी समय बाद अयोगध्या में रामलीला की शुरूआत सर्वप्रथम तुलसी चौरा में हुई थी। तत्पश्चात अयोध्या नरेश महाराजा ददुआ (1856-1910) ने अपने यहाँ प्रतिवर्ष रामलीला का आयोजन करवाना शुरू किया। जिसमें अभिनय करने वाले अधिकांशतया संत-महात्मा ही हुआ करते थे। जो भावुक प्रसंगों को लेकर लीला किया करते थें लगभग 19वीं शताब्दी के अन्त में रामप्रिया दास जी ने अपने समय में पारसी शैली के नाटकों के ढंग से लीला का मंचन कार्य शुरू करवाया, जिसमें अधिकांश संवाद उर्दू में हुआ करते थे। यहाँ यह स्पष्ट करना अतिआवश्यक है कि पारसी नाटकों में गुजराती भाषा का प्रारम्भ में विशेष प्रभाव था किन्तु धीरे-धीरे उर्दू का चलन अधिक हो गया। एक कारण यह भी था कि उत्तर की तरफ पंजाब और उत्तर प्रदेश में उर्दू अच्छी तरह से समझी जाती थी।[11] अतः उत्तर प्रदेश में पारसी नाटकों से उर्दू भाषा और संवादों के बोलने के ढंग को मंचीय लीला में अपना लिया गया। रामप्रिया दास जी के प्रशिष्य रामदेव दास जी ने रामलीला को पुनः अवधी शैली में जागृत करने का प्रयास किया। इसका एक कारण यह भी रहा होगा कि लीला का मुख्य आधार ग्रन्थ मानस है- जो अवधी में है। अतः रामलीला में अवधी का विकास किया गया क्योंकि उर्दू, फारसी के शब्दों के द्वारा भावों का वैसा प्रेषण सम्भव नहीं रहा होगा जैसा कि उसी क्षेत्र की घटना होने के कारण अवधी में। हालाकि आज भी रामलीला में व्यास द्वारा बोली जाने वाली पंक्तियाँ एवं संगतकारों द्वारा गाये जाने वाले विषयानुरूप लोकगीत व संस्कार गीत ही अवधी में होते हैं तथा पात्रों द्वारा बोले जाने वाले संवाद सभी खड़ी बोली में होते हैं। तुकान्त पंक्तियों वाले इन संवादों के उतार-चढ़ाव, उच्चारण आदि के ढंग के साथ ही वेशभूषा में अभी भी कुछ तो पारसी नाटकों का प्रभाव शेष है और कुछ उत्तर प्रदेश की नौटंकियों का भी प्रभाव जान पड़ता है।

डॉ॰ चन्द्र प्रकाश सिंह ने अपने ग्रन्थ हिन्दी नाट्य साहित्य और रंगमंच की परम्परा में बताया है कि अयोध्या में सर्वप्रथम धनुष यज्ञ जैसे प्रसंगों पर लीलायें होती थीं। बाद में धीरे-धीरे अन्य प्रसंगों में भी लीलाओं का मंचन होने लगा। रामलीला में अभिनय करने वाले पात्रों को स्वरूप कहा जाता था, इन स्वरूपों के लिये ब्राह्मण जाति के किशोर रखे जाते थे, स्त्री स्वरूपों के लिये भी किशोर ही होते थें आज भी अधिकांशतया ऐसा ही देखा जाता है। रामलीला का सूत्रधार व्यास कहलाता है जो लीला का प्रारम्भ और समापन करता है। लीला प्रदर्शन के समय व्यास प्रसंग सूत्रों को आपस में जोड़ता चलता है। कभी मानस की चौपाइयों से, कभी प्रसंग से जुड़े लोकगीतों की तर्ज पर कुछ पंक्तियाँ गाकर अपनी बात को प्रवाह देता चलता है, साथ ही साथ मंच की अन्य व्यवस्थायें भी देखता चलता है। व्यास या उसके साथ कलाकार द्वारा गाये जाने वाली तुकान्त पंक्तियों में ऐसी कोई अनिवार्यता नहीं है कि ये पंक्तियाँ अवधी में ही होंगी। ये अवधी, उर्दू मिश्रित हिन्दी अथवा खडी बोली में भी लयताल बद्ध आकर्षक हो सकती हैं।

उल्लेखनीय है कि लीला का सम्बन्ध नाट्य परम्परा की धार्मिक शाखा में होने वाले नाट्य प्रयोग से है। नाट्य में प्रारम्भ से अन्त तक स्तुति पाठ, गान, वादन, नृत्य के रूप में संगीत व्याप्त रहता है। नाट्यशास्त्र में गीत को नाट्य की शय्या कहा गया है-

''गीते प्रयत्नः प्रथमस्तु कार्यः
शय्यां हि नाट्यस्य वदन्तिगीतम्।''[12]

नाटक का एक रूप वैष्णव भक्ति में लीला के रूप में विद्यमान है। अतः लीला में संगीत का किसी न किसी रूप में प्रारम्भ से अन्त तक महत्व बना ही रहता है। अयोध्या में होने वाली रामलीला के संगीत पक्ष की कुछ उल्लेखनीय बातें निम्नवत् हैं :

1. रामलीला में गाने-बजाने वालों का समूह सीमित होता है- एक व्यक्ति हारमोनियम बजाकर गाने वाला, (कभी-कभी वो व्यास ही होता है), एक तबला वादक या ढोलक वादक, साथ में एक मंजीरा या झाँझ लेकर बैठता है। यह समूह व्यास के साथ मंच के दायीं ओर बैठता है।
2. लीला का प्रारम्भ मांगलिक गीत या प्रभु की स्तुति से किया जाता है। ये मंगल गीत कभी तो व्यास अपने समूह के साथ गा लेते हैं ओर कभी अभिनय करने वाले पात्र मंच में खड़े होकर वृन्द समूह के साथ गीत गाते हैं अथव स्तुति पाठ करते है। जिसमें सुर नहीं भक्ति का भाव महत्वपूर्ण होता है।
3. प्रारम्भ में पर्दा उठने के पहले तथा बीच-बीच में मंच की व्यवस्था परिवर्तन के समय गाने-बजाने वालों का यह समूह हारमोनियम पर आकर्षक धुनें बजाकर अथवा प्रमुख गायक मानस की चौपाइयों को गाकर दर्शकों का ध्यान मंच अथवा लीला-प्रसंग की ओर आकृष्ट किये रहता है।
4. व्यास लीला के चल रहे प्रसंग वाली चौपाइयों का एक विशेष, ढंग से सस्वर पाठ करता है, जिसके अर्थ-भाव को पात्र संवाद में कहता है। यह क्रम लीला मंचन के समय बराबर चलता रहता है। पात्रों द्वारा अधिकांश रूप से तुकान्त पंक्तियों में बोले जाने वाले संवाद छन्दबद्धता का आभास देते हैं। सम्भवतः याद रखने में सरल होने के कारण इस ढंग के संवाद तैयार किये जाते होंगे।
5. रामलीला में मुख्य गेय सामग्री के रूप में रामचिरत मानस ही है किन्तु किन्ही खास प्रसंगों के समय रामचरित मानस के अलावा प्रसंग से मेल रखने वाले पद, कवित्त, गीत आदि गा लिये जाते हैं। बताया जाता है कि ये पद ज्ञानअली, करूणा सिन्धु जी, रामसखे जी, बिन्दु जी आदि संत कवियों के रचित हैं। भक्तों के इन पदों के अलावा किन्ही दो-चार प्रसंगों में लोकगीत तथा मानस की चौपाइयों को भी सामान्य लोकधुनों में गा लिया जाता है। उदाहरण स्वरूप पुष्प वाटिका की लीला प्रदर्शन के समय गाये जाने वाले लोक धुन आधारित प्रासंगिक गीत इस प्रकार होते हैंः-

''बताओ सखि कौन युगल धनुधारी।
सोभा असि कहुँ सुनि कहुँ नाहीं।।'' ताल दादरा

इस ढंग से प्रासंगिक गीतों की दो-तीन पंक्तियाँ ही गायी जाती हैं, जो दादरा, कहरवा तालों में बहुत ही सामान्य धुनों में होती हैं जिन प्रसंगों में मानस के अतिरिक्त गेय सामग्री ली जाती है, उनमें प्रायः हर्ष, उल्लास, प्रसन्नता वाले श्रृंगारिक प्रसंग होते हैं। करूण दृश्यों में भी यदाकदा आवश्यकतानुसार गीत गा लिये जाते हैं।

इस प्रकार अयोध्या की रामलीला में अन्यों से अलग जो विशेष बातें देखने में आयीं, वे हैं- विवाह लीला के प्रति विशेष लगाव, प्रसंग से जुड़ते हुये अयोध्या क्षेत्र के लोकगीतों का प्रयोग, हल्का नृत्य गान, भावपूर्ण अभिनय तथा पात्रों के चुनाव में विशेष नियम आदि। अन्त में भरत मुनि द्वारा नाट्य के संदर्भ में कही गई इन पंक्तियों का उल्लेख करना अत्यन्त आवश्यक हैः-

''यस्मिन्नातोद्य नाट्यस्य गीतवाद्य ध्वनिः शुभः।
भविष्यत्य शुभं नैव तस्मिन् कदाचन्।।''

अर्थात् जिस प्रदेश में गीत, वाद्य, वृन्द वादन या नाट्य प्रदर्शन हो रहा होगा या गीत-वाद्य-वपादन होता होगा वहाँ निश्चित रूप से किसी भी प्रकार की अशुभ घटना नहीं होगी। इससे स्पष्ट होता है कि

नाट्य, लोक नाट्य-रामलीला में भी संगीत- गान, वादन का अत्यधिक महत्व है। इति।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :

1. भरतमुनि, नाट्यशास्त्र, 01/121
2. भरतमुनि, नाट्यशास्त्र, 8/9
3. डॉ॰ कान्तिचन्द्र पाण्डेय, स्वतन्त्र कला शास्त्र, भाग-1, पृ॰-32
4. डॉ॰ दशरथ ओझा, हिन्दी नाटक उद्भव और विकास, पृ॰-42
5. भरतमुनि, नाट्यशास्त्र, 22/7, 12, 13, 14
6. भरतमुनि, नाट्यशास्त्र, 20/7-8
7. श्रीमद्भगवत, 4/9/50
8. डॉ॰ पुरू दाधीचि, कृथक नृत्य शिक्षा-भाग-2, पृ॰-53
9. डॉ॰ चन्द्रप्रकाश सिंह, हिन्दी नाट्य साहित्य और रंगमंच की परम्परा, पृ॰-137
10. रसिक प्रकाश भक्तमाल, पृ॰ 26-27
11. डॉ॰ सोमनाथ, पारसी थियेटर-उद्भव और विकास, पृ॰-246

Shakespearean Spirit in Malayalam Cinema : Adaptations and Transformation

Anagha Sreenivas
Ph.D. Scholar, Department of English
School of Arts, Humanities and Social Sciences
REVA University, Bangalore

Dr. Khushboo Gokani
Assistant Professor, Department of English
School of Arts, Humanities and Social Sciences
REVA University, Bangalore

William Shakespeare was introduced into the visual medium of Malayalam film through a series of adaptations that reflect the aesthetics and culture of Kerala. Films like *Kaliyattam, Karmayogi, Veeram, Kannaki* etc reinterpreted Shakespeare's themes in a legendary and folklorist style, creating indigenous tragedies that popular society sees as overly creative and symbolic. These adaptations witnessed the transformation of a Western Shakespeare into the malayali spirit by making the audience "familiar and strange at the same time; or one could call them familiarly strange." The Malayalam adaptations produced throughout the late 1990s and early 20th century have, as a whole, failed to accurately represent the current spatial and temporal aspects of the region. As an alternative, they chose to utilise a parallel story that honours a creative cinematic style with performances similar to regional theatre, by the use of Kerala's cultural and artistic rites. The filmmakers' refusal to adapt Shakespeare into a more modern setting and fear of losing the Shakespearean essence compelled them to maintain a cinematic style that combines a strange environment with familiar folk art. Also, the adaptations open up a space for the interaction and intersection of dominant (Shakespeare's plays) and marginalised (folk arts) forms of artistic expression.

Shakespeare and Malayalam Cinema :

In the work *Adaptation and Appropriation*, Julie Sanders (2005) defined adaptation as an "act of re-vision or a transpositional practice of converting a specific genre into another form". In the case of *Karmayogi* (*The Sacrificer*), the Malayalam re-interpretation of *Hamlet*, VK Prakash uproots the tale of vengeance and procrastination into the Yogi Community's culture of Northern Kerala. Set in the feudal era, the film integrates the artistic elements of *Poorakali, Kelipathram* and *Kalaripayattu* to unfold the story. In the film, Rudran Gurukkal of the Chathothu family assumes the role of Hamlet, and he pursues to kill Bhairavan (King Claudius) through *Kalaripayattu* (the martial art of Kerala). Prakash invokes Shakespearean narrative techniques such as dreams and ghost figures to reveal the mystery behind Rudran Valiya Gurukkal's (King Hamlet) death to showcase the

film's relationship with the source text. However, in the climax of the movie, instead of Rudran Gurukkal's (Prince Hamlet) death, the film depicts him performing *Kelipathram* (the ritual of renouncing the royal lifestyle and luxurious attire) to be a *Yogi* (monk). Here, rather than replicating the scene by scene version of *Hamlet*, the auteur appropriates the origin text to suit the target audience; as in Malayalam film culture, the film's hero should survive no matter what. In this way, the film "analogues or supplements to what is already available in the source text by drawing attention to its gaps and absences" (Sanders 2005, 60).

Likewise, in *Kaliyattam* (*The Play of Gods*) and *Veeram* (*Valour*), Jayaraj's adaptation of *Othello* and *Macbeth*, the mise-en-scène is transplanted to the North Malabar regions of Kerala. While coming to *Kaliyattam* in particular, Jayaraj infused the subaltern art form of *Theyyam* to explicate the intrinsic contradictions of Kannan Perumalayan/Othello. As the plot revolves around the romantic union between a supposedly low-caste *Theyyam* performer and a Brahmin girl, Jayaraj relocates the sexual jealousy of Othello and the impending racial concerns into the nexus of caste. In the film, Paniyan (Iago) succeeds in believing Perumalayan (Othello) that Thamara (Desdemona) is an unfaithful wife. Regarding the source text, the Malayalam transcreation of *Othello* employs a silk saree (instead of a handkerchief) as a signifier to "prove" that Thamara had a love affair with Kanthan (Cassio). Here, Jayaraj attempts "to make the text 'relevant' or easily comprehensible to new audiences and readerships via the processes of proximation and updating" (Sanders 2005, 19).

On the other hand, in *Veeram,* Jayaraj re-formulates the folklore called *Vadakkan Pattukal* (The Songs of Nothern Malabar) to tell the story of Macbeth. The Nothern ballads are about the life and valorous exploits of men and women from the warrior castes in the region, who were experts in *Kalaripayattu* and who fought in duels as mercenaries to settle scores between local landlords and chieftains (Venkiteswaran 2019, 78). In the film, the Mythical hero Chandu Chekavar of the Puthooram clan forms the counterpart to Macbeth. Just like in the popular version of the Ballad, Chandu's concealed hatred and envy towards his cousin Aromal Chekavar (King Duncan) urges him to commit a series of murders through deceit. Moreover, to establish a direct connection with the Shakespearean drama, here the protagonist encounters three witches to stimulate his desire for power, and the Shakespearean tools of magic and supernatural metaphors get a front yard when Chandu (Macbeth) gets hallucinated by the nightmare of Kelu (Banquo). Hence, in the modern re-creation of the folk tale, the plot of Macbeth aligns perfectly well. This retelling remains poignant because, to examine the deployment of folklore in the films, its link with the reception cannot be overlooked. For instance, Hutcheon (2006) asserts that "in the process of reception, adaptation is a form of intertextuality where we experience adaptations as 'palimpsests' through our memory of other works that resonate through repetition with variation". Overall, the cultural interaction of Shakespearean tragedies with the native ethos of Kerala unravels the complex dynamics of power embedded in the text.

In the film adaptations, the politics of text are exemplified through the framework of caste and folk arts. Hence, to decipher Jaya Raj's decision to place Othello in the complex world of *Theyyam*, it is imperative to understand the intricacies of the art form. As per TV Chandran (2006), the term ''*Theyyam*' is a corrupt form of Daivam/God, and thus, Theyyam is the *attam*/dance of Gods" (19). In the film *Kaliyattam*, the title itself takes its cue from *Theyyam*, which translates as "The Play of *Theyyams*" or "The Play of Dancing Gods." As a social and religious institution, *Theyyam* is known for its pro-female, subaltern stance. In the early years of feudalism, owing to rigid caste hierarchy and caste discrimination, the people of oppressed communities developed their temples and rituals (*Theyyam/Thira*) to challenge the dominant Brahminical ideology and Brahminical temple structures. In a way, as the customs and traditions of *Theyyam* are ingrained in the everyday lives of marginalised sections, only the so-called lower castes, such as *Malayar, Vannan* and *Parayan* of Northern Kerala, are entitled to perform this ritual. While performing, the artists assume the form of God with an elaborate painting of faces and even grander costumes. *Theyyam* performers are believed to often unite with Gods during this dance, almost achieving a form of divinity. In short, as a folk performance, *Theyyam* operates as a subaltern discourse to counter the elitist Brahminical hegemony.

In this context of subaltern agency, Jayaraj incorporates the conflicted Othello into the scene. In the film, the plot of Othello seamlessly merges with the ancient art form of Kerala, and Jayaraj brilliantly combines the duality of *Theyyam* to enunciate the inherent contradictions of Perumalayan. The central contradiction at the heart of the text is Permulayalan's (Othello) caste and class identity. He is a *Theyyam* artist who performs the *Kolam* (diety) *Kathivanoor Veeran* (*Kathivanoor Veeran* is widely recognised as one of the most renowned Theyyams, characterised by its captivating visual display with acrobatic manoeuvres and intimate engagement with fire.) When Perumalayan performs the ritual, he is the personification of the Goddess, and even the upper-caste people will have to worship the man who comes in the form of a *Theyyam*. In *Kaliyattam, Theyyam* marks the status of Perumalayan. In one scene, for example, Thampuran (Brabantio) confronts Perumalayan after learning of his daughter Desdemona's (Emilia) elopement. However, as Perumalayan was in his performative space; instead of confronting him for the 'treason' that he had committed, Thampuran merely bowed down in front of Perumalayan and asked for the blessings of the Goddess he was impersonating. Thus, in *Kaliyattam*, "rituals interrupt the flow of the action in the same moment as they bring into focus the characters' compulsions and anxieties" (Burnett 2016, 57).

Additionally, if Othello is a Moor, Perumalayan is the pockmarked lower-caste *Theyyam* performer who dared to elope with an upper-caste princess, Thamara (Desdemona). In Shakespeare's play, Othello is described as the "old black ram tupping Brabant io's white ewe" (1.1 97). Similarly, in *Kaliyattam* (1997), when Thamara starts to live with Perumalayan, Thampuran (Brabantio)

utters the following dialogue: "A eunuch, a characterless animal, has seduced my daughter." Here, Jayaraj's appropriation of *Othello* into the Indian narrative of caste remains pertinent as it offers the right mix of tensions to carry forward the anxieties and uncertainties of the Shakespearean tragedy. However, it is the art form of *Theyyam* that sets the tone for the unfolding of the conflict. Throughout the film, the image of *Kolam*/diety keeps revisiting Perumalayan's mind. The *Kolam*, the divine figure, conjures a moral code to verify whether he has done the right thing by believing Paniyan (Iago). The inferiority complex (ascertained by the Brahmin ideology) of being a member of an oppressed community divides his rationale as he believes that a fair-skinned, upper-caste woman can never love him; simultaneously, *Kolam's* interference summons him to feel the other way around. Thus, it is evident that within the socio-political milieu of the 20th century, Perumalayan asserts his status and power only in the sacred role of *Theyyam*. "Othello/Kannan Perumalayan is divine as long as he is in costume" (Loomba 2005, 130). In short, in *Kaliyattam*, Jayaraj evokes the folk art of *Theyyam* to express the split personality of Othello. Moreover, without the framework of *Theyyam* and caste, it would have been difficult for the auteur to convey the tragic flow (sexual jealousy) of Othello.

While coming to the re-envisioning of Macbeth, *Veeram* executes the plot of Northern Ballads to set the drama's ambience. In the intermix of Northern Ballads and Shakespeare, the Characters of the oral folklore remain the same in Jayaraj's rendition of *Veeram*. *Vadakkan Pattukal,* or the Songs of Northern Kerala, revolves around the fortunes of a family called Puthooram Tharavadu in Medieval Kerala. It narrates the story of Chandu Chekavar's (Macbeth) hatred towards his cousin Aromal Chekavar (Duncan) and his love towards Aromal's sister, Attumanamel Unniyaracha. Unlike *Macbeth*, in the adaptation, a love triangle is constructed between Chandu, Unniyarcha and Kuttimani (Lady Macbeth). In the film, keeping in line with the story of *Vadakkan Pattukal*, Chandu ensures Unniyarcha that he will protect Aromal till his last breath. On the other side, Kuttimani is also in love with Chandu, and he reciprocates her feelings, at least through his actions. This conflict of interest leads to an existential crisis in Chandu, which ultimately propels him to follow the orders of Kuttimani, who instigates Chandu to betray and kill Aromal. Regarding adaptation, *Veeram* elucidates the theme of envy and ambition efficiently to retell the saga of *Macbeth*. Apart from this, it also provides a new dimension to the existing folk narrative of Kerala.

However, substantial deviations in *Veeram* entirely vilify Northern Ballads' intention. In the article, *Shakespeare in Malayalam Cinema : Cultural and Mythic Interface, Narrative Negotiations*, the film critic CS Venkiteswaran has opined that in Veeram, "Jayaraj has made marginal departures from the original and has added only a few situations and characters to embellish the story to keep it in tune with the Shakespearean play" (Venkiteswaran 2019, 90). This statement is not only far from the truth, but it also destabilises the trope of *Vadakkan Pattukal* (Northern

Ballads). To better elaborate, *Vadakkan Pattukal* is the folk poetry of Malabar that celebrates the valour embodied by the members of the *Thiyya* caste, one of the oppressed communities in Kerala. It is one of those rare oral narratives that epitomise women's courage and determination and their martial arts expertise. More than men, the women stand tall in the ballad, with Unniyarcha and Kuttimani occupying the lead roles.

In Jayaraj's *Veeram*, the background takes a U-turn as it sidelines Kuttimani (Lady Macbeth) and Unniyarcha to mere caricatures whose sole purpose is seducing Chandu (Macbeth). This a substantial variation from both Macbeth and Northern ballads as in these texts, women's agency and self-sufficiency are prioritised to a large extent. On top of it, the entire cosmos of *Vadakkan Pattukal* is transported into the elitist realm of Kshatriyas. Although the characters represent the marginalised sections of society, they are portrayed as Brahmins and Kshatriyas in the film. If Jayaraj felt the need to adapt *Macbeth* into an environment of warriors, he could have prevailed in the standard version of the *Vadakkan Pattukal* without modifying the caste of the players. Furthermore, by switching the caste of characters, he projects the Nothern Ballads as an exclusive domain of Brahmins and upper castes. In the Ballads, the martial art of *Kalaripayattu* is also invoked as a crucial point to settle the disputes between Chandu Chekavar and Aromal. Nevertheless, in the film, the act of *Kalaripayattu* remains an 'act' itself. It is deployed as a part of giving a visual treat to the audience rather than having accorded any real meanings. Here, Jayaraj manages to construct Kerala into a "portable, mythical construct that confirms to the Orientalist ideals, and the rituals he portrays with meticulous attention to details, sometimes appear to be fabrications, shot merely to satisfy the fetishism of the dominant gaze" (Muraleedharan 2002, 38). Overall, in the film, the subaltern folk narrative and martial art of *Kalaripayattu* function as an agent to disseminate the Brahmin ideology. As Partha Chatterjee (1998) puts it, in contemporary India, "there is a renewed attempt to impose a particular brand of the modernised upper-caste Brahmanical culture as the authentic national culture because all indigenous customs and traditions were built through cultural homogenisation (1334).

Along these lines, in the re-creation of *Hamlet*, VK Prakash employs the motif of Lord Shiva and the folk art of *Poorakali* and *Kelipathram* to elucidate the narrative of procrastination. The film opens up with a hymn that unpacks to the martial sound of clashing swords where *Kalaripayattu* warriors train fiercely against each other in preparation for a battle. In the introductory scene itself, Prakash sets the floor rolling by putting forward the ritual of *Kelipathram* through a soliloquy: "*Once, to atone for killing a Brahmin, Shiva took birth on earth and wandered as a beggar, for twelve years. In remembrance of this highest penance is held the traditional Kelipathram ritual art*" (Karmayogi, 2011). In the context of the *Karmayogi* (*The Sacrificer*), the ritual art of *Kelipathram* is involved in projecting the ethereal qualities of Rudran Gurukkal (Hamlet) as the ritual concerns itself with the renouncement of worldly

pleasures. Hence, in the movie, the major purpose of *Kelipathram* is to manifest the self-sacrificing and benevolent nature of Rudran Gurukkal, as it, in one way or another, adds a layer of subtlety to Hamlet's counterpart. Additionally, the indigenous dance of *Poorakali* is summoned to demonstrate the courage and masculinity of Rudran Gurukkal and to draw parallels with Hamlet. In the film, whenever Rudran Gurukkal comes onto the screen, the dance of *Poorakali* will be enacted somewhere in the backdrop. In Kerala, the folk art of *Poorakali* is performed by men, and since it uses the performer's body in the act, it has a close connection with the martial art of *Kalaripayattu*. Generally, it is perceived as the epitome of manliness. In short, VK Prakash employs the folk arts of *Kelipathram* and *Poorakali* to illustrate the personal traits of the protagonist.

Conclusion :

By exploring all the aspects of folklore and caste, it becomes apparent that each film has a specific politics regarding why a particular art form(s) is invoked in the discourse. In *Kaliyattam*, the folk dance of *Theyyam* is evoked to signify the moral dilemmas of Perumayalan (Othello) and ground race concerns in the Indian context. On the other hand, in *Veeram*, rather than setting up the atmosphere of Malabar (Northern Kerala), the oral folktale of Northern Ballads serves as an instrument to propagate the doctrine of Brahminical hegemony. Moreover, through the cultural appropriation of Northern Ballads, the film depicts the auteur's inherent bias and stereotypes with respect to the notions of caste and valour. Apart from *Kaliyattam*, the film *Karmayogi* also employs folk art of *Kelipathram* and *Poorakali* to emphasise the personal qualities of the protagonist. Overall, it is safe to conclude that the Malayalam film adaptations of Shakespearean tragedians offer a fresh take to the dramas through folklore.

References :

1. Burnett, Mark Thornton. *Shakespeare and World Cinema*. 2012, doi:10.1017/cbo9780511760211.
2. Chandran, TV. *Ritual as Ideology: Text and Context in Teyyam*, New Delhi,
3. Indira Gandhi National Centre for the Arts, 2006.
4. Chatterjee, Partha. "Five Hundred Years of Fear and Love." *Economic and Political Weekly*, vol. 33, no. 22, Sameeksha Trust, May 1998, www.jstor.org/stable/4406835.
5. Freeman, John Richardson. "Formalised Possession Among the Tantris and Teyyams of Malabar." *South Asia Research*, vol. 18, no. 1, SAGE Publishing, Apr. 1998, pp. 73–98, doi:10.1177/026272809801800104.
6. Hutcheon, Linda. "A Theory of Adaptation." *Routledge eBooks*, 2006, doi:10.4324/9780203957721.
7. Loomba, Ania. "Shakespeare and the Possibilities of Postcolonial Performance." *A Companion to Shakespeare and Performance*, Blackwell Publishing, 2005, pp. 121–38, doi:10.1002/9780470996706.ch7.
8. Sanders, Julie. "Adaptation and Appropriation." *Routledge eBooks*, 2005, doi:10.4324/9780203087633.
9. Shakespeare, William. *Macbeth: William Shakespeare*. 2001, openlibrary.org/books/OL26566228M/Macbeth.
10. "The Tragedy of Othello, the Moor of Venice/: With New Dramatic Criticism and an Updated Bibliography." *Signet Classic, an Imprint of Dutton Signet eBooks*, 1986, ci.nii.ac.jp/ncid/BA2829008X.

11. T, Muraleedharan. 'Shakespearing the Orient: Western Gaze and the Technology of Otherness in Jayaraj Films.' Deep Focus, 2002, pp. 31-40.

11. Shakespeare, William, and W. J. Rolfe. "THE TRAGEDY OF HAMLET PRINCE OF DENMARK." *Cambridge University Press eBooks*, 2010, pp. 1–138, doi:10.1017/cbo9780511704130.005.

12. Venkiteswaran, C. S. "Shakespeare in Malayalam Cinema: Cultural and Mythic Interface, Narrative Negotiations." *Shakespeare and Indian Cinemas*, 1st ed., 2018, pp. 75–92, doi:10.4324/9781315670409-5.

Filmography :

1. *Kaliyattam*. Dir. Jayaraj. Surya Cine Arts. 1997. Film.

2. *Karmayogi*. Dir. VK Prakash. Entertainment Group Creative Land Pictures. 2012. Film.

3. *Veeram*. Dir. Jayaraj. Chandrakala Arts, 2016. Film.

'The Interplay of Music, Dance and Drama in Modern Indian Theatre

Ashitha. K.
Research Scholar (Part-time),
St. Aloysius College, Mangalore University
& Assistant Professor
School of Arts, Humanities and Social Sciences, REVA University, Bengaluru

Introduction :

Modern Indian theatre is characterized by its ability to blend multiple artistic forms. Music, dance, and drama often harmoniously coexist on stage. This interplay adds depth, vibrancy and cultural resonance to theatrical productions. This paper examines the integration of music, dance, and drama in modern Indian theatre, focusing on select examples that exemplify this synergy. The study also aims at understanding and analysing the key questions such as how does the inclusion of music and dance enrich the aesthetic dimensions of modern Indian theatre? What role does cultural authenticity play in the seamless amalgamation of music, dance, and drama, and how do audiences perceive it? Furthermore, this paper explores how contemporary practitioners of Indian theatre adapt and innovate with these artistic forms to engage with the pressing issues of our times, both social and political. Through an analysis of key theatrical works, historical developments, and cultural influences, this paper aims to shed light on the intricate relationship between music, dance and drama in the context of modern Indian theatre. Modern Indian theatre is a vibrant and dynamic art form that combines elements of music and drama to create powerful and emotionally charged performances. Indian theatre has a rich history dating back thousands of years, with various forms and styles evolving over time. In modern Indian theatre, the use of music and dance has become an integral part of the dramatic experience. Music and dance serves not only as a complementary element but also as a driving force in conveying emotions, setting the mood, and enhancing the narrative.

Historical Roots of Music and Dance in Modern Indian Theatre :

Modern theatre in India emerged in the 18th century after the advent of the British in India. Elizabethan and Victorian theatres were introduced with the arrival of East India Company. The British had a significant influence on Indian theatre. Calcutta in the east, Bombay and Surat in the west and Madras in the south which grew into prominent centres of trade and administration, it also developed as prominent cities for their entertainment. Although, the modern Indian drama was

greatly influenced by the west it was not merely an imitation of the western culture. Modern Indian theatrical production in the initial stage was based on the historical and the mythological themes, later the social and political themes were also given importance. This amalgamation resulted in numerous transformations within the realm of contemporary Indian theatre. For example, plays in the Parsi theatres gave remarkable importance to music and dance which was the inspiration of the traditional folk plays. To understand the interplay of music, dance and drama in modern Indian theatre, it is crucial to trace its historical origins.

The Natyashastra, the earliest known treatise on theatre and dance, was authored between the 2nd century BCE and the 2nd century CE by the sage Bharata and his assembly of 100 disciples. This venerable manuscript's ancient origins underscore the profound cultural importance of theatre and dance in India, serving as the bedrock upon which theatrical arts were built. As the Natyashastra found practical application, it underwent a series of transformations, giving birth to a multitude of theatrical forms. The evolution of theatre was shaped by a diverse array of performance settings, ranging from simple open arenas to expansive cave theatres and various wooden structures. Sage Bharata laid great emphasis on the pivotal role of music, encompassing both vocal and instrumental elements, in theatrical presentations. The very structure of the Natyashastra highlights the indispensable role of music in staging Sanskrit dramas, seamlessly weaving together speech, song and movement. The decade after the seventies witnessed an important development when theatre broke out of the auditoria and surfaced on the open streets and lanes. This heralded a significant change in the world of theatres by adding a new dimension. In emerging modern Indian theatre, music and dance plays a vital role in enhancing the emotional impact and also to elevate the aesthetic experience for both the performer and the audience. Play wrights like Badal Sarkar, Shambhu Mitra, Vijay Tendulcar, B.V. Karant, Ibrahim Alkazi, Girish Karnad, Mahesh Dattani,Manjula Padmanabhan and Utpal Dutt etc. made new experiments in the theatrical devices.

Musical Impact on India's Modern Theatrical Productions :

Music in modern Indian theatre serves as a versatile and powerful tool for story-telling, emotional expression, cultural representation, and audience rendezvous. Its ability to associate with spectators on a profound level while reflecting India's rich cultural diversity makes it an essential aspect of contemporary Indian theatre. As India is a land of diverse cultures and languages Music in theatrical productions serves as a bridge between these multi-plicities. It can incorporate elements from classical, folk, and contemporary music to reflect the cultural richness of the country. For instances, *Tughlaq* and *Hayavadana*, plays by Girish Karnad incorporate music to evoke the cultural and historical contexts of the narratives. Classical Indian music and folk tunes are often used to set the mood and convey the essence of the stories. The drums and folk music in the play Hayavadana intensify the emotions of characters and the audience. The character of Kapila, who is a story teller, is connected with the flute and his flute music perhaps epitomises his narration and adds on ethereal quality to

his character. The play also includes chants and ritualistic music that amplifies the mystical and spiritual aspects of the story. The whinnying of a horse or other acoustic environment can be represented through music. In Tuglaq, music is employed to create an authentic historical atmosphere and to help the audience to understand the cultural richness through instruments like table, sitar and flute. Infact, during moments of tension and conflict in the play, the music may become more intense and it is also used to move the narrative from one setting or time period to another like transitions.

The Symbiotic Relationship between Dance and Contemporary Indian Theatre :

The representation of dance in modern Indian plays is a tribute to the diversity and vitality of Indian theatre. It allows for a unique fusion of traditional and contemporary elements, serving as a means of preserving cultural heritage while pushing the boundaries of artistic expression. Through an analysis of exemplary works such as *Dance Like a Man* by Mahesh Dattani, *Nagamandala* and *The Fire and the Rain* by Girish Karnad, *Silent Steps* by Sujata Bhatt, *Post Box No.9* by Sri Lakshmipathi Kolar, translated by Tha Sri Gururaj and *Mira* by Gurcharan Das, it is apparent to comprehend how the integration of dance acts as a cultural and emotional connector. Further, in *Dance Like a Man* by Mahesh Dattani, dance is not just a form of entertainment but a vehicle for exploring complex themes related to identity, gender, tradition, and family. It serves as a powerful medium through which the characters express themselves and navigate the intricacies of their lives, making it a central element in the play's storytelling and character development. Dance is at the heart of the play's narrative. Both Jairaj and Ratna are skilled Bharatanatyam dancers who have devoted their lives to this art form. Their dedication to dance becomes a point of tension within their marriage and family dynamics, as they grapple with societal expectations and personal ambitions. In *Nagamandala* by Girish Karnad there is a ritualistic dance performed by the character Gowri, who is trapped in an unhappy marriage. This dance is central to the plot as it is used as a means to connect with the supernatural world and invoke the spirit of a serpent (naga) to resolve her marital issues. The dance represents a traditional folk ritual and is imbued with mysticism and spirituality. The dance in *Nagamandala* is symbolic of Gowri's longing for freedom and her desire for a better life. It also represents her transformation from a submissive, oppressed wife into a more empowered and assertive woman. Through dance, she finds a way to escape her reality and assert her desires. *The Fire and the Rain* by Girish Karnad not only enriches the cultural and historical context of the play but also adds depth and emotional resonance to the storytelling, making it an integral and captivating aspect of the theatrical production. Dance in *The Fire and the Rain* is integrated with dialogue and other dramatic elements, creating a seamless blend of spoken and physical communication. This interplay adds complexity to the characters and their relationships. The inclusion of Kathakali dance in *The Fire and the Rain* underscores the cultural richness and diversity of India. It allows the audience to connect with the characters and the narrative on a

deeper level by immersing them in the cultural and mythological context. *Silent Steps* by Sujata Bhatt utilizes dance as a powerful tool for storytelling and thematic exploration. It enables the character to connect with her cultural roots, express complex emotions, and convey her experiences of immigration and displacement. The integration of dance enriches the play's narrative and offers a unique and compelling way to engage with the themes of identity and cultural heritage. *Post Box No. 9* is a well-known Kannada play written by the Indian playwright and poet Laxmipathi Kolar, translated by Tha Sri Gururaj. This play is celebrated for its exploration of social and political themes, particularly in the context of rural India. It offers a powerful commentary on the human condition and societal issues. While dance may not be a central element in the play, it often incorporates various forms of artistic expression, including folk music and dance, to enhance its cultural and emotional depth. In "Mira" by Gurcharan Das, dance is not just a performance but a spiritual and emotional practice through which the character of Mira Bai connects with her deity, expresses her devotion, and undergoes personal transformation. It is an integral part of the play's portrayal of Mira Bai's life, spirituality, and her unique place in Indian history and culture. Mira Bai's dance in the play is devotional in nature. It is an offering to Lord Krishna and a means of expressing her love and longing for him. Her dance sequences are often accompanied by her devotional songs (bhajans) that convey her spiritual journey.

Drawing from the examples provided, delving into the realm of dance as a narrative tool has not only elevated the visual elements within theatre but has also emerged as a potent instrument for character evolution and advancing the storyline.

Conclusion :

In conclusion, the fusion of dance, music, and drama in Modern Indian plays serves as a vital platform for social and political commentary. Playwrights harness the power of drama to scrutinize societal conventions, tackle pressing issues, and challenge the established order. These plays often exalt India's pluralistic identity, spotlighting the harmonious coexistence of diverse languages, religions and traditions while also addressing matters of gender and identity. Consequently, Modern Indian plays stand as a dynamic and continually evolving genre, perpetually exploring new themes that mirror the intricate tapestry of contemporary Indian society. As we celebrate the rich legacy and current relevance of this captivating synergy, we are reminded of its enduring significance and the potential it holds for the future of Indian theatrical productions and the innovative collaborations among musicians, playwrights, and performers that have paved the way for groundbreaking productions.

References :

1. Chaturvedi, R. (2019). Modernization Re(ad)dressed in Indian Theatre. In *Springer eBooks* (pp. 115–125). https://doi.org/10.1007/978-981-13-6046-6_8
2. Deshpande, S., Gavas, R., & Mane, P. (2020, September). *Music: An Integral Element of Indian Theatre Form*. www.ijcrt.org. Retrieved September 15, 2023, from https://www.ijcrt.org/papers/IJCRT2009340.pdf
3. *Contemporary Indian Theatre: an overview*. (n.d.). Asia Society. https://asiasociety.org/contemporary-indian-theatre-overview

4. Kar, I. (2008). Relevance of folk theatres in modern times. *Orissa Review*, 39–42. http://odisha.gov.in/e-magazine/Orissareview/2008/jan-2008/engpdf/39-42.pdf

5. Hansen, K. (1983). Indian folk traditions and the modern theatre. *Asian Folklore Studies*, *42*(1), 77. https://doi.org/10.2307/1178367

6. Pandey, S., & Barua, F. (1994). New directions in Indian drama/: with special reference to the plays of Vijay Tendulkar, Badal Sircar, and Girish Karnad. *Prestige*. http://ci.nii.ac.jp/ncid/BA27840006?l=en

7. Karambir. (2018). Mira/: Exploring Feminine Psyche in a 'Total Theatrical Way'. *JETIR*, *5*(5). https://www.jetir.org/papers/JETIR1805607.pdf

8. Kolara, L. (2020). *Post Box No. 9 - A Play on a Palestinian Girl* (T. Gururaj, Trans.; 1st ed.). NiRMiTHi.

9. Sivaraman. (n.d.). *Metadrama In Girish Karnads Hayavadana Nagamandala And The Fire And The Rain*. http://hdl.handle.net/10603/225597

10. Louis, J. (2022, December 26). *Exploring The Similarities And Differences Between Theater Music And Dance In Performance*. julieannesanjose.com.

11. *INDIAN THEATRE*. (n.d.). https://egyankosh.ac.in/bitstream/123456789/16886/1/Unit-12.pdf

पारसी थिएटर और रंगमंचीय संगीत

अविनाश तिवारी
शोध छात्र (नाट्य),
विश्वविद्यालय संगीत एवं नाट्य विभाग
ल0 ना0 मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा

प्रो. लावण्य कीर्ति सिंह 'काव्या'
संकायाध्यक्ष
ललित कला संकाय
ल.ना.मि.वि., दरभंगा

जहाँ नाट्यगृह, नाटक, नाटककार, अभिनेता, रंगमंच, साज-सज्ज, अभिनय, नृत्य, निर्देशक एवं गीत-संगीत आदि सभी उपकरणों का समावेश होता है, प्रदर्शन के इस विशिष्ट स्थान को थिएटर कहते हैं। इन शब्दों का व्यवहार नाट्यगृह, प्रेक्षागृह, रंगमंच, थिएटर आदि कई अर्थों में होता आ रहा है। थिएटर शब्द को अलग-अलग भाषा एवं शैली के आधार पर भी जाना जाता है जैसे- अंग्रेजी थिएटर, फ्रेंच थिएटर, चाइना थिएटर, ग्रीक थिएटर, जपानी थिएटर आदि।[1]

पारसी थिएटर को पारसी जाति द्वारा चलाये और बनाये गये नाट्यगृह, पारसी नाटककार, पारसी नाट्यशाला, पारसी नाट्य मंडलियाँ, पारसी अभिनेता एवं निर्देशक आदि के अर्थों में लिया गया। सत्रहवीं शताब्दी की समाप्ति एवं अठारहवीं शताब्दी के प्रारंभ में बंबई की आबादी धीरे-धीरे देशी एवं विदेशी लोगों से बढ़ने लगी। अपने-अपने व्यवसाय को लेकर यहाँ लोगों की भीड़ जमती जा रही थी। विभिन्न प्रकार के व्यवसाय के साथ जनता आगे बढ़ रही थी। इन लोगों के मनोरंजन के लिए कोई साधन नहीं था। धीरे-धीरे विदेशी लोगों ने अपने मनोरंजन के लिए नाटक खेलना शुरू किया। ये नाटक अंग्रेजी भाषाओं में थे। नाटक खेलने के दौरान इन्हें रंगमंच की कमी महसूस हुई। इन्होंने आपसी चंदे से 1770 ई॰ में एक नाट्यगृह बनवाया जिसका नाम ''बंबई थिएटर'' रखा गया। 1835 ई॰ तक इस नाट्यगृह में नाटक मंचित होते रहे। धीरे-धीरे थिएटर की आर्थिक स्थिति खराब हो गई। कुछ सालों तक फार्बस कंपनी से कर्ज लेकर बंबई थिएटर की घाटे की पूर्ति की जाती थी। जब कर्ज की रकम तीस हजार से अधिक हो गयी तो सरकार के हस्तक्षेप से बंबई थिएटर नीलाम हो गया। नीलामी की रकम से सारा कर्ज चुकाया गया। सर जमशेद जी जीजी भाई ने पचास हजार रूपये में बबई थिएटर खरीदी और उसका उपयोग कपास गोदाम के रूप में करने लगे। उस समय वहाँ का सांस्कृतिक माहौल ऐसा नहीं था कि कलाकार किसी भी तरह थिएटर को बचा पाते। इस प्रकार बंबई थिएटर में लगभग पैंसठ वर्षों तक नाटक मंचित होते रहे। इसका असर वहाँ के शिक्षित पारसी लोगों पर पड़ा। जिसके फलस्वरूप पारसी नाट्य मंडलियों का जन्म हुआ।[2]

पारसी नाटक मंडली ही पारसियों द्वारा स्थापित पहली नाट्य मंडली थी जिसे पारसी जाति ने प्रोत्साहन दिया। साथ ही, पारसी नाटकों का मंचन भी किया। पारसियों द्वारा पहले अव्यावसायिक तथा बाद में व्यावसायिक रूप मे इसका विकास हुआ। नाटक में जब गीत-संगीत की बात सामने आती है तो पता चलता है कि संस्कृत नाटकों में आदि काल से ही गीत-संगीत के तत्व विद्यमान हैं जिसका वर्णन भरतमुनिकृत 'नाट्शास्त्र' के अट्ठाइसवें अध्याय में

विशेष रूप से मिलता है। नाटक में गीत एवं नृत्य का प्रयोग के संबंध में ऐसा वर्णन है- एक बार भरतमुनि, ब्रह्मा जी का आज्ञा पाकर ''अमृत मंथन'' और ''त्रिपुर दाह'' इन दो नाटकों को भगवान शिव को दिखाया जो स्वयं संगीत एवं नृत्य के देवता हैं उनहोंने नाटक देखने के बाद भरत से कहा कि नाटकों में गीत-संगीत के साथ नृत्य का प्रयोग भी करना चाहिए। इससे दृश्य मनोरम लगे। दर्शक इसे देख-सुन कर आनंद के रस में डूब जाए। नाटक मे गीत-संगीत एवं नृत्य के प्रयोग से प्रदर्शनों में गहराई और विस्तार आता है। उसी समय से नाटक में गीत-संगीत के साथ - साथ नृत्य का प्रयोग प्रारंभ हुआ।

डा॰ लक्ष्मी नारायण कहते हैं कि ''श्री जगदीश चन्द्र माथुर और डॉ॰ वी॰ राघवन ने अपने-अपने अध्ययनों में यह सिद्ध किया है कि संस्कृत नाटकों की बुनियाद में संगीत और नृत्य का तत्त्व महत्वपूर्ण था। डॉ॰ राघवन ने बताया कि संस्कृत नाटकों में गीत प्राकृत बोली में रखे जाते थे और इसे प्रतीकात्मक भाषा में गीत-तत्त्व की संरचना मंच के ऐसे संगीतकार करते थे, जिन्हें नाटक के भाव, रस और उसकी नाट्य प्रस्तुति से काफी परिचय रहता था। इस संदर्भ में कालिदास का प्रसिद्ध नाटक 'विक्रमोर्वशीयम्' का चौथा अंक एक महत्वपूर्ण उदाहरण है।''[3]

जब पारसी नाटक लिखे एवं खेले जाने लगे तो इन नाटकों में संगीत एवं नृत्य का प्रयोग विभिन्न तरह से होने लगा। पारसी थिएटर में गीत-संगीत का बहुत बड़ा महत्व था। जो भी कलाकार इस थिएटर में रखे जाते थे उनसे पहले पूछताछ की जाती थी। तुम्हें गाना आता है, नाटक में गा सकते हो आदि। जिस कालाकार में गाने-बजाने की रूचि दिखती थी उसे सबसे पहले संगीत शिक्षक के पास सीखने के लिए भेज दिया जाता था क्योंकि मनोरंजन का साधन संगीत तो था मगर संवाद में गीतों के माध्यम से दर्शकों को आसानी से समझाया जा सके। इसलिए यह बहुत जरूरी था कि जो कुछ गाकर कहा जा रहा है वो दर्शकों तक शायरी, गीत, गजल के जरिये ठीक तरह से पहुँचे ताकि उसका असर हो सके। उसी समय का गाना-बजाना नाटकीय अंदाज में ही मंच पर प्रस्तुत किया जाता था। पारसी थिएटर में दर्शकों के मनोरंजन का मुख्य आधार संगीत एवं नृत्य ही था। यहाँ तक कि उसकी धुनें ऐसी होती थीं कि दर्शकों को आसानी से समझ में आ जाता था। थिएटर की जरूरतों को देखते हुए दर्शकों के अनुरूप ही उसमें बदलाव किया जाता था। बड़े-बड़े मशहूर संगीतकार नाटक में भाग लेते, नाटक का प्रदर्शन देर रात तक चलता। यूँ कहें कि जैसे कोई संगीत समारोह हो रहा है।[4]

गायन-शैली का मूल आधार प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से शास्त्रीय शैली के रूप में विकसित होते हुए जनमानस में धुलती हुई लोक संगीत में बदल जाती है। पारसी रंगमंच का प्रथम चरण में संगीत इसी शैली पर पूर्णतः आधारित है। पारसी थिएटर में मुख्य रूप से ध्रुपद, ठुमरी और ख्याल गायकी इन तीनों गायन-शैलियों का अधिक प्रयोग हुआ है।

संगीत के अन्तर्गत आने वाली ठुमरी और ख्याल मंचीय भाषा के रूप में प्रयुक्त हुआ है। पारसी रंगमंच का उत्कर्ष काल 19वीं तथा 20वीं सदी के तीन दशकों तक माना जाता है। इसी दौरान नाटक को जीवंत और गत्यात्मक बनाते हुए गीत-संगीत का प्रयोग व्यापक स्तर पर हुआ। जिस रूप में राग एवं ताल का प्रयोग पारसी नाटकों में हुआ उसका मूल स्वरूप सभी जगह भारतीय संगीत के नियमानुसार ही पाया जाता है। इसमें ठुमरी को रंगमंचीय संगीत में महत्वपूर्ण एवं विशेष स्थान प्राप्त हुआ। पारसी रंगमंच में नाटक के संवाद के अनुरूप ही ठुमरी गायन को संगीतकारों और संगीत निर्देशकों ने कथा को प्रकट करने के लिए प्रमुख आधार माना था। मंच-प्रस्तुति में एक अंक से दूसरे अंक में प्रवेश के लिए संगीतकारों को यह ध्यान में रखना पड़ता था कि नाटक हमेशा गति में चलता रहे क्योंकि संगीत का प्रयोग थिएटर की भाषा के अनुरूप ही किया जाता था इसलिए इसका वाचिक और लिखित पक्ष अत्यंत प्रभावकारी होता था।[5]

नाटक या संगीत के किसी भी पक्ष में 'रस' को मूल आधार माना गया क्योंकि नाटक के दर्शक हों या संगीत के श्रोता, दोनों पक्षों को रसास्वादन चाहिए जिससे वे आनंदित होते रहें। देश, काल, स्थान के अनुसार संगीत में रागों का प्रयोग किया जाता है। गायन चाहे एक व्यक्ति द्वारा हो या सामूहिक रूप में गाया जाय, उसका उद्देश्य एक निश्चित भावात्मक परिस्थिति उत्पन्न करना होता है जिससे दर्शकों के बीच शांति एवं सामंजस्य बना रहे। बेशक राग और ताल का व्यवहार शास्त्रीय पद्धति के अनुसार होता था लेकिन दशकों के मनोरंजन के लिए एक राग और ताल में अन्य राग और ताल का मिश्रण भी किया जाने लगा। इतना ही नहीं, पारसी थिएटर के कलाकार ऐसे प्रयोग किये जो उनकी निजी उपलब्धि थी। ठुमरी और ख्याल के अतिरिक्त अन्य गायन शैलियाँ भी पारसी रंगमंच पर अत्यधिक लोकप्रिय हुईं जैसे- कजरी, होरी, ध्रुपद, गजल, दादरा, कहरवा, धमार इत्यादि।[6]

रंगमंच के संगीत-क्षेत्र में सुगमतापूर्वक ठुमरी, दादरा, ख्याल गायिकी को गाया-बजाया जाता है। इसे गायन के क्षेत्र में अत्यधिक सुगम माना गया है, क्योंकि यह शास्त्रीय संगीत के सुगम पक्ष को आगे ले जाने में सहज एवं सरल भाव प्रकट करता है। पारसी थिएटर में सुन्दरता को ध्यान में रखते हुए श्रृंगार पक्ष में ठुमरी पर विशेष स्थान दिया गया। इसलिए पारसी रंगमंच पर गायी जाने वाली विशेष प्रकार की ठुमरियाँ इतनी लोकप्रिय हुईं कि दर्शकों की निगाहें रंगमंच पर थमी रह जातीं और दर्शकों का समूह रंगमंचीय संगीत को सुनने के लिए बार-बार टिकट खरीदकर, नाटक देखने चला आता था। रंगमंच से बाहर पारसी थिएटर दूर-दूर जा कर दर्शकों के बीच ठुमरीयुक्त नाट्य, गीत-संगीत दिखाया करता था तो दर्शक महीनों तक नाटक देखा करते थे। उनके गीत-संगीत को ग्रामोफोन में रिकॉर्ड कर बेचे गये और जो खूब लोकप्रिय हुए।

चूँकि इन नाटकों में राष्ट्र के नवीनीकरण की भावना प्रबल थी, इसलिए राग और ताल की शुद्धता पर बारीकी से ध्यान दिया जाता था। पारसी थिएटर के संगीत को सुनने वाले ज्यादातर शास्त्रीय संगीत से ताल्लुक रखते थे। इसके अलावा ध्रुपद-गायन का भी प्रचलन था जो हिन्दू संस्कारों में बहुत प्रचलित था। पारसी रंगमंच में ध्रुपद के साथ-साथ ठुमरी का प्रयोग नाटकों में विशेष रूप से किया जाता था। नाटक में दृश्य परिवर्तन, (कोमलता, लचीलापन, प्रेम-प्रसंग, वीरता, क्रोध, आनंद आदि) लाने में राग-देश, बिहाग, बागेश्वरी, ललित, मालकोस, भैरवी, सहाना आदि को नये ढंग से रंगमंच पर प्रयोग किया जाता था।

पारसी थिएटर में चमत्कार लाने के लिए विशेष रूप से ख्याल गायिकी का प्रयोग किया जाता था क्योंकि अन्य राग और गायन शैली की तुलना में ख्याल गायिकी समय और विस्तार के अनुरूप है। इसलिए पारसी रंगमंच में ऐसे गीत तैयार किये जाते थे जो ख्याल गायिकी और उसके ताल के अनुरूप बैठता हो। इसके अन्तर्गत संगीतकारों ने आलाप और तान दोनों तत्वों को अपनी सुविधा को देखते हुए दर्शक के समक्ष रंगमंच पर प्रस्तुत करते थे। राज दरबार के कुछ दृश्य, जैसे- राजा, राजकुमार और राजकुमारी का चरित्र जो गायन में खुद पारंगत हो, उसे शास्त्रीय संगीत सुनने में दिलचस्पी हो, ऐसे पात्रों की भूमिका करने वाले अभिनेता या अभिनेत्री को पारसी कम्पनी के द्वारा संगीतकारों से ख्याल गायिकी के लिए प्रशिक्षण दिया जाता था। जब वो पात्र ख्याल गायिकी में पारंगत हो जाते थे तो उन्हें मंच पर लाया जाता था क्योंकि ख्याल गायिकी सम्पूर्ण भारत में अत्यधिक लोकप्रिय थी। इसलिए पारसी रंगमंच में ख्याल गायिकी को विशेष स्थान मिला।[7]

धीरे-धीरे रंगमंच में सुगम संगीत का प्रयोग ज्यादा होने लगा। गायक अभिनेता द्वारा सुगम संगीत गाते-गाते बीच-बीच में ख्याल आलाप का भी प्रयोग हो जाता था। पुनः ख्याल-आलाप को छोड़कर एक

निश्चित समय के भीतर गायक अभिनेता को अपने बुनियादी सुगम संगीत में वापस आना होता था। ऐसा इसलिए कि उन्हें बीच-बीच में चमत्कार पैदा कर दर्शक को अपनी ओर आकर्षित करना होता था। लोग वाह-वाह कर उठते थे। पुनः अभिनेता, अभिनेत्री एवं गायक अतिरिक्त चरित्रों को छोड़कर मूल चरित्र में वापस आ जाते थे।

निष्कर्ष :

निःसंदेह पारसी थियेटर तब शुद्ध व्यावसायिक रंगमंच था परन्तु आज उस पर हम भिन्न दृष्टि से चिंतन करते हैं। उसने अपनी एक अलग रंग शैली तलाश की। भारतीय लोक-रंगों और दर्शकों को जुटाने वाले तत्वों का भरपूर प्रयोग किया, जैसे-शेर-शायरी, उर्दू जुबान की अदायगी, अति नाटकीयता, बुलंद स्वर, संवाद अदायगी की ख़ासियत, गीत-संगीत-नृत्य आदि तो दर्शकों के आकर्षण का केन्द्र बन गये।

संदर्भ सूची :

1. गुप्त, सोमनाथ, पारसी थिएटरः उदभव और विकास, पृष्ठ-28
2. दूबे, डॉ॰ चन्दूलाल, हिन्दी रंगमंच का इतिहास, (पहला भाग), पृष्ठ-47
3. लाल, डॉ॰ लक्ष्मीनारायण, पारसी हिन्दी रंगमंच, पृष्ठ-139
4. सिंह, रणवीर, पारसी थिएटर, पृष्ठ-176
5. लाल, डॉ॰ लक्ष्मीनारायण, पारसी हिन्दी रंगमंच, पृष्ठ-142
6. वही, पृष्ठ-143
7. वही, पृष्ठ-144

कोशी क्षेत्रीय लोकनाट्य एवं उनमें प्रयुक्त लोकगीत

चन्द्र किरण रीणा
शोधार्थी (संगीत विभाग)
पटना विश्वविद्यालय, पटना

भारतीय संस्कृति में संगीत एवं नाटक का इतिहास अति प्राचीन रहा है। स्वयं नाट्यशास्त्र के रचियता भरतमुनि ने संगीत का प्रयोग नाट्यों में किया है। प्रायः देखा जाता है कि संगीत का प्रयोग जब नाटक के साथ किया जाता है तो यह दर्शकों के ऊपर अधिक प्रभाव छोड़ता है। नाटक जहाँ दर्शक के मनोभाव को उद्दीप्त, उत्सर्जित और विवश करता है वहीं संगीत नाटक के रंगमंचीय समस्त उद्देश्यों को अपने गीत एवं सुर लय ताल के माध्यम से दर्शक के हृदय पर वैचारिक प्रभाव को और अधिक गहराई में उतारने के लिए बाध्य कर देता है।

लोक संगीत का फलक हमेशा से विस्तारित रहा है। लोकगीत हमारे जीवन के विकास का इतिहास है जिसमें जीवन का सुख-दुख, सामाजिक स्थिति और जीवन के समस्त उतार चढ़ाव की भावनाएँ व्यक्त होती है। हमारे देश भारत में सांस्कृतिक धरोंहरों के रूप में लोक गीत का एक महत्वपूर्ण स्थान है। यह गीत का वह प्रकार है जो सदियों से समाज की रीती रिवाज, जीवन पद्धति, सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, मिलन-विरह आदि शाश्वत भावों को पीढ़ी दर पीढ़ी लोककंठों के माध्यम से व्यक्त करता रहा है।

कोशी अंचल के लोक नाटकों के अंतर्गत सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक विषयों का समावेश होता है। लोकनाट्य से अभिप्राय उन नाटकों से हैं जिनके अभिनय के लिए किसी प्रकार के रंगमंच की तैयारी की आवश्यकता नहीं होती है। ऐसे नाट्यों में हमें जन जीवन तथा लोक समाज के हर्ष एवं उल्लास की उचित अभिव्यक्ति मिलती है और साथ ही इनमें संगीत का भी प्राधान्य होता है। इस प्रकार लोकनाट्यों में हमें नृत्य संगीत और अभिनय ये तीन तत्व प्राप्त होते हैं जो जनमानस की प्रेरणाओं तथा कामनाओं की कलात्मक अभिव्यक्ति है।

''लोक नाट्य लोक रंजन का आडम्बरहीन साधन है जो नागरिको के मंच से अपेक्षाकृत निम्न स्तर का, पर विशालजन के हर्षोल्लास से संबंधित हैं। ग्रामीण जनता में इसकी परंपरा युगों से चली आ रही है। चुकी 'लोक' में ग्रामीण एवं नागरिक जन सम्मिलित है, अतः लोकनाट्य एक मिले जुले जन समाज का मंच है। परिष्कृत रुचि के लोक के लिये जिन नाटकों का विधान है उसकी आधारभूमि यही लोकनाट्य है''[1]। ईसा के पूर्व ही विकसित नाट्य परंपरा के मुख्य दो शैलियाँ विकसित हुई। एक शैली शिष्ट समर्थक लोगों के लिए हुई जिसे शास्त्रीय शैली कह सकते हैं, दूसरी साधनहीन ग्राम्य जनों के लिए हुई; जिसे लोक शैली कह सकते हैं। इस लोक नाट्य शैली के अंतर्गत ही मध्यकाल की जात्रा पार्टी है, जिसे बंगाल में चैतन्य महाप्रभु आदि ने लोकप्रिय बनाया तो कोशी क्षेत्रीय पूर्वांचल में विद्यापति के गीतों की भजन मंडली ने इस लोक नाट्य परंपरा को आगे बढ़ाया।

मिथिलांचल की कोशी क्षेत्र में लोक नाट्य की प्रस्तुति अनुष्ठानगत परंपरा द्वारा होती है। जिसके अंतर्गत लोक मंच के स्वरूप का वास्तविक दिग्दर्शन होता है यथा नारदी, सामा-चकेवा, जट जटिन, विदेशिया, डोमकछ, भगैत इत्यादि। कोशी अंचल की समकालीन लोक नाट्य शैलियों में भगैत एवं नारदी को विशिष्ट स्थान प्राप्त है यद्यपि दोनों ही नाट्य शैलियों का संबंध अध्यातम से है, दोनों में ही भक्ति परक गीतों का अभिनयपूर्ण गायन होता है, लेकिन भगैत का संबंध जहाँ लोक देवता के रूप में प्रतिष्ठित जन नायकों विभिन्न जाति के विभिन्न कालों में पैदा श्रेष्ठ चरित्रों से है, वहीँ नारदी विशुद्ध रूप से ईश्वरीय सत्ता से संबंधित है। नारदी लोकनाट्य मुख्यतः वैष्णव कृष्णापासकों के बीच प्रचलित है।

अब हम उपर्युक्त लोकनाटक एवं उनमें प्रयुक्त लोकगीतों से संबंधित दृष्टि विषय पर एक प्रस्तुति के संबंधों में अलग अलग विवेचन करेंगे-

नारदी : कोशी अंचलीय सामाजिक जीवन में नारदी के प्रचलन की सुदीर्घ परम्परा है। लोकोत्सव के कुछ एक आधार में नारदी का भी स्थान है। नारदी लोकनाट्य जीवन को आनन्दधारा में अवगाहन का एक स्वर्णिम अवसर प्रदान करता है। 'नारदी की उत्पत्ति ब्रजवासी कृष्ण की मनोरंजनार्थ हुई'[२]। नारदी नाट्य में नृत्याभिनय की प्रधानता है। यह नारदमुनि के द्वारा सिखाई गई कला है। नारदमुनि ने भगवान कृष्ण की उदासी दूर करने के लिए मनोरंजनार्थ हेतु गोपियों को यह कला सिखाई थी। नारदी नाटक में 10 से 15 कलाकार होते हैं जो केवल पुरुष ही हुआ करते हैं। मंच के रूप में किसी मंदिर का प्रांगण या गांव के किसी खास व्यक्ति का दरवाज़ा होता है। इस नाट्य में कृष्ण की बाल लीला की झांकियां में माखन चोरी का प्रसंग और रासलीला के अंतर्गत चिर हरण इत्यादि प्रसंग के प्रस्तुतिकरण हेतु ग्राम जीवन के सहज सुलभ साधनों को यथाप्रसंग प्रयुक्त किया जाता है।

प्रायः सभी कलाकारों के हाथ में पारंपरिक लोक वाद्य यंत्र जैसे हारमोनियम, ढोलक, झांझ, मंजीरा, घुंघरू, बाँसुरी, झाल आदि होते हैं। नारदी में चुकी सभी कलाकार सतत संचरण नर्तन की स्थिति में होते हैं अतः हारमोनियम एवं ढोलक आदि वाद्ययंत्रों को गमछा से बांधकर गले में लटकाकर वादन करते हैं तथा मुख्य गायक विद्यापति, सूरदास, लक्ष्मीनाथ गोसाई, ब्रह्मानंद आदि रचनाकारों के लीला पदों का गायन करते हैं। चुकी यह नारदी लोकनाट्य केवल 1-2 घंटे नहीं बल्कि रात रात भर चलता है इसीलिए इस लोक नाट्य के साथ कृष्ण लीला की अनगिनत पारंपरिक लोक गीतों के साथ साथ स्वयं लोक रचनाकारों के द्वारा उदभादित घटना मालाएँ होती हैं।

निष्कर्षतः - नारदी का संबंध अध्यात्म से है जिसकी उत्पत्ति नारायण मुनि से मानी जाती है। ये लोक नाट्य की एक खास शैली है जो केवल कोसी अंचल में ही विद्यमान है और विलुप्ति के कगार पर है।

भगैत : नारदी की तरह ही लोकनाट्य भगैत की भी कोशी अंचल के लोक जीवन में व्याप्त एवं महत्ता है। भगैत के कथानाकों में वो सारे तत्व मौजूद हैं, जो किसी गंभीर व श्रेष्ठ नाटक में होना चाहिए। यूँ तो नाटक का अभिप्राय वास्तविकता का भ्रम उत्पन्न करना है परन्तु भगैत में संबंधित व्यक्ति इसके नाटक को वास्तविक मानते हैं। भगैत का आयोजन अधिकांशतः खुशी के अवसर पर किया जाता है।

''भगैत में भगेतिया या आयोजक किसी पवित्र स्थल को कार्यक्रम के लिए चुनते हैं। भगतिया वहाँ गोल बनाकर या फिर समूह में बैठते हैं। पंजीयार गोलाई के भीतर या समूह के आगे बैठते हैं। भगैत गाने के दौरान उसमें वर्णित देवपुरुष मंडली के जिस व्यक्ति के देह में प्रवेश करते है वो 'भगता' कहलाता है। भगैत आरंभ होता है, बीच में गाते हुए मंडली कान में ऊंगली लेकर बहुत ऊंचा सुर लगाती हैं जिनसे एक विशेष प्रकार की मुद्रा की उत्पत्ति होती है''[३]।

भगत में चरित्र गायन होता है वहीं नारदी कृष्ण कथा संदर्भित प्रसंग ही होते हैं। भगत में मुख्यतः

ढोलक, झाल, मंजीरा, करताल इत्यादि लोक वादयों का प्रयोग किया जाता हैं साथ ही ऊंचे स्वर में इसका गायन किया जाता है।

''ज्ञातव्य हो कि भगैत के देवपुरुषों में यादव जाति के धर्मराज, ज्योति, कैल दास, खेदन आदि मुसहर जाति के दीनाभद्री, डोम जाति के हरिया डोम, मुसलमान जाति के मीरा साहब है, भगैत के भगता किसी भी देवपुरुष के उपासक होते ही है''[4]।

सामा-चकेवा : कोसी अंचल के लोक नाटकों के अंतर्गत सामा चकेवा का भी अहम स्थान है। इसकी प्राचीनता पौराणिक है। ये भाई बहन के प्रेम को व्यंजित करने वाला लोक नाटक है जो मुख्यतः गांव में बहनों के द्वारा मनाया जाता है। इस लोक नाट्य के मुख्य पात्र श्यामा और चकेवा है। श्यामा बहन है और चकेवा भाई। इसके अलावा इस खेल में अन्य पात्र होते हैं जैसे चुगला, सत भैया, वन तितर, कुत्ता, भमरा, वृन्दावन, इत्यादि।सामा चकेवा लोक नाट्य को स्त्रियाँ महोत्सव के रूप में मनाती है। स्त्रियाँ मिट्टी का सामा ,चकेवा, सत भैया, चुगला, वृन्दावन, कजरौटा, भमरा, पिटारी, कुत्ता, तीतर इत्यादि बनाती है तथा चावल को पीसकर उसके घोल से सारे मिट्टी के बने मूर्ति को पोता जाता है उसके बाद उन पर रंग बिरंगे रंगों से नक्काशी की जाती है। उन सारे मिट्टी के बने मूर्तियों को एक बांस के बने डालें में डालकर बहनें रात्रि के प्रथम प्रहर होते हीं झुंड बनाकर किसी खेत खलिहान की तरफ निकल पड़ती है जहाँ वे गोलाई बनाकर बैठ जाती है तथा तरह तरह के सामा चकेवा से संबंधित लोकगीत गाती है। लोकगीत गाते हुए उन मूर्तियों को काजल सेक कर लगाती है तथा मिट्टी के ढेलों तथा सरसों खिलाती है। सामा चकेवा का खेल संपूर्ण कोशी क्षेत्र में सभी जाति वर्ग के लोग खेलते हैं।

''यह खेल छठ की समाप्ति के बाद कार्तिक महीने के शुक्ल पक्ष की सप्तमी तिथि से आरंभ होकर कार्तिक पूर्णमासी तक खेली जाती है''[5]।

सामा चकेवा से संबंधित एक लोकगीत :

'सामा खेले गेलिये रे दहिबा चकेवा भैया केरा टोल
सामा हेराय गेले रे दहिबा दौरिया लाय गेल चोर
गौर तोरा लागिह हो हंसा भैया चोर पकड बड़ देय
मुठी एक खरहूँ ये सेमा बहिना करहो केंहें हो इयोंत
इयोंत में देखल हो बहिना चुगला रेया बारु चोर
हाथ गोर बान्हल हो भैया रेशमक हो डोर
मारे लागल करची हो हंसा भैया बेखारे लागल हो पीठ
कत्ते मारी मारब हो सारबे बोहनइयां हैबऽ हो तोर'[6]

जट जटिन : कोसी अंचल के लोक नाट्यों में जट जटिन भी एक प्रमुख लोकनाट्य है। जट जटिन में मानवीय जीवन के मुख्य अंग नर-नारी के मधुर संबंध का विभिन्न पक्ष मार्मिक ढंग से उद्घाटित है। इस लोकनाट्य में अभिनय, नृत्य, गीत, सह गान एवं संवाद गीत की प्रधानता है। अर्थोपार्जन के लिए निम्न वर्ग के पुरुषों को परदेश जाना पड़ता है इधर उनके वियोग में रह जाती है नारियां। ये नारियां अपने वियोग की पीड़ा को कम करने तथा इंतज़ार की व्यथा को बतलाने के लिए जत जटिन लोक नाटक का खेल रचती हैं। जट जटिन लोक नाट्य मे नारियाँ ही पतिरुपी जट की भूमिका निभाती है तथा पुरुष वेश में सजधज कर प्रेम लीला को सफल अंजाम देती हैं। इस लोक नाटक के लिए किसी मंच की आवश्यकता नहीं पड़ती बल्कि गांव के ही किसी आंगन को मंच बनाया जाता है तथा चांदनी रात में पति विहीन नारियां जट जटीन का रूप धर नाचती और गाती है। अपने वियोग को कम करने के लिए ये जट जटीन लोकनाट्य उनके मनोरंजन का उत्तम साधन है।

जट जटिन से संबंधित एक लोकगीत :

''जटीन – झुमका जब जब मंगलियों ररे जट्टा झुमका काहे ने लौले रे
मोरा बाली उमरिया रे जट्टा झुमका काहे ने लौले रे
जट – झुमका जब जब अनलियो गे जटिन झुमका काहे न पिन्हले गे
तोरा बाली उमरिया गे जटीन लैहरा काहे गमैले गे''[7]

डोमकछ : डोमकछ समाज के निचले पायदान पर खड़ी डोम व अन्य समान स्थितिवाली जातियों के दाम्पत्य जीवन का चित्रांकन है। इस लोकनाट्य में डोमीन मुख्य भूमिका में रहती है। डोमिन का पति जुआरी, शराबी होता है जिसे एक हवलदार चोरी के आरोप में फंसाकर जेल में बंद कर देता है। दूसरी तरफ वो हवलदार डोमीन के सौन्दर्य पर बुरी नजर रखता है। डोमीन अपने पति को छुड़ाने में निष्फल हो जाती है तो अपने रूप यौवन के मादक जाल में हवलदार को फंसाकर अपने पति को मुक्त करवा लेती है। इस नाटक में एक तरफ हवलदार की चरित्रहीनता है तो दूसरी तरफ निम्नवर्गीय लाचार डोमिन की चतुराई। इस नाटक के साथ डोमकछ गीत का गायन किया जाता है जो निम्न हैं –

'अनारवती डोमरी तोर डोम कतो गेलो
कत्तो जरो मरो मुहँझोसा कत्तो जुआ खेलो
भोरे उठ के हम्मर डोमरा सुगरे चरबे गेल रे
तारी पी के खसते परते परम भुत बैन गेल रे'।

विदेशिया : यह लोकगीत नारी की विरह्जनित पीरा की आंतरिक पुकार है। विदेशिया के जनक भिखारी ठाकुर है जो भोजपुरी साहित्य के शेक्सपियर के रूप में जाने जाते है। यह नाटक मूलतः आधुनिक युग की देन है। विदेशीया लोक नाटक में विदेश/प्रवास पर गए पति के बगैर घर में एकांकी जीवन बिता रही पत्नी के जीवनगत परिस्थितियों एवं त्रासद घटनाओं का एक चित्रांकन है। विदेशिया लोकनाटक में जहाँ एक ओर प्रेमजनित विरह की मार्मिकता है वही दूसरी ओर आत्म संयम और धैर्य का भी सन्देश है।

निष्कर्ष : इस प्रकार मिथिलांचल के कोशी क्षेत्र के बदरंग लोकजीवन में अल्पकालिक उमंग भरने का रंग विभिन्न अवसरों पर अभिनीत यहाँ के लोकनाटक ही करते है। यहाँ के नाटक भले ही कथित बुद्धिजीवियों और मूल छिन्न शहरातियों के लिए उपेक्षनीय लगे, किंतु आमजनों के लिए इसका महत्त्व और आकर्षण अब भी विद्यमान हैं। इन लोकनाट्यों में निहित लोकगीतों में भी ह्रदय के सहज उदगार अकृतिम एवं ह्रदय स्पर्शी ढंग से व्यक्त हुआ है।

सन्दर्भ :

1. परमार, श्याम, ''भारतीय लोक साहित्य'', पृष्ठ संख्या-173
2. चौधरी, विनय कुमार, ''कोशी अंचल का लोक साहित्य'', मुकुल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण प्रथम 2018, पृष्ठ-111
3. स्मारिका (भगैत पर केन्द्रित 96), राम बहादुर रेणु, पृष्ठ संख्या 8-9
4. स्मारिका (भगैत पर केन्द्रित 96), राम बहादुर रेणु, पृष्ठ संख्या-10
5. जैन, शांति, 'ऋतुगीत', पृष्ठ संख्या-172
6. सीता देवी से प्राप्त पारंपरिक सामा चकेवा गीत
7. स्नेहिल सरस्वती से प्राप्त पारम्परिक जट जटिन गीत
8. ग्रामीण जनश्रुति पर आधारित लोकगीत

महाराष्ट्र के नाटकों में संगीत की परंपरा एवं प्रयोग

चंद्रशेखर हि मेंडोले
सहायक प्राध्यापक
सु. रा. मोहता महिला महाविदयालय, खामगाव, जिला-बुलडाणा

मराठी रंगमंच के संगीत का अभ्यास करने से पहले संक्षेप में रंगमंच के इतिहास का अवलोकन करना आवश्यक हैं। रंगमंच पर प्रस्तुत होने वाली नाटक इस विधा को अत्यंत प्राचीन परंपरा प्राप्त हुई हैं। प्राचीन समय में प्रचलीत चौदह विदया और चौसट कलाएँ इनमें में से चित्र, शिल्प, वास्तु, संगित एवं नाटय इन पाँच कलाओं को ''ललीत कला'' यह संज्ञा हैं। परंपरा का अनुसरण करते हुए चारो वेदों से नाटक के विभिन्न अंग एकत्रित करके 'नाटयवेद' यह पाँचवा वेद निर्माण हुआ हैं ऐसा प्रतीत होता हैं। भरत मुनि ने अपने नाटयशास्त्र ग्रंथ में 'नाटय' शब्द की व्याख्या की हैं। साथ ही साथ नाटक के विभिन्न प्रकार, नाटक के आवश्यक सामग्री इ. के विषय में विस्तृत विवेचन किया है।

मनुष्य यह स्वभावतः समाजशील प्राणी है। अतः दैनंदिन जीवन में एक दुसरे के विचारों का आदान प्रदान होता हैं। इस दैनंदिन जीवन में जो घटनाएँ घटित होती हैं, उसी का प्रतिबिंब नाटकों में दिखाई देता हैं। बहुत समय पहले कटपुतलिओं के सहारे सूत्रधार के रंगमंच पर संचालन से नाटक प्रस्तुत किया जाता था। इसमे संगीत का समावेश भी होता था। इसके विषय सामान्यतः पौराणिक होते थे।

कवि कुलगुरू कालीदास के समय तक रंगमंच का बहुत विकास हुआ दिखाई देता है। नाटक यह विभिन्न रूची के लोगो के मनोरंजन का एकमात्र साधन हैं।

संस्कृत भाषा में फली फुली नाटय कला का प्रचार, प्रसार प्रादेशिक भाषाओं में होने तक बहुत बड़ा कालखंड लगा। मराठी नाटकों की परंपरा संत ज्ञानेश्वर समय से चली आ रही है। ललित दशावतारी खेल, तमाशा, भारूड, इ. लोककलायें समाज का रंजन कर रही थी। इनमें पूरी तरह से नाटक का दर्शन नही होता था, फिर भी नाटक के लिए उपयुक्त अधिकांश सामग्री इनमें दिखाई पड़ती है। मराठी रंगमंच की शुरूआत विष्णूदास भावेजी के ''सीता स्वयंवर'' इस नाटक से सांगली के राजदरबार में हुई। यह आरंभिक नाटक पौराणिक विषयों पर होते थे और कीर्तन के तरह होते थे। अतः उनमें स्वभाविक ही संगीत को खुला संचार करने का मौका होता था। इस तरह से रंगमंच पर बिल्कुल शुरूआत में ही संगीत की प्राण प्रतिष्ठा हुई।

मराठी रंगमंच पर संगीत के इतिहास के चार कालखंड :

1. किर्लोस्कर, देवल, कोल्हटकर इनके नाटको का कालखंड (सन् 1880-1910)
2. मानपमान नाटक से लेकर संगीत रंगमंच का चर्मोत्कर्ष काल अथवा खाडिलकर, वरेरकर, गडकरी, जोशी, देसाई, गुर्जर, टिपणीस, इ, लेखकों के काल (1911 से 1935) इसे 'खाडीलकर युग' भी कहा जाता हैं। वैसे ही इस समय मे बालगंधर्व का रंगमंच पर प्रभाव

ध्यान मे रखते हुए इसे 'गांधर्वयुग' भी कहा जा सकता है। इस कालखंड मे 1921 तक मराठी रंगमंच पर संगीत ने बहुत धूम मचाई इसलिए इसका उल्लेख संगीत रंगमंच का 'स्वर्णीम काल' ऐसे भी कहा जाता हैं।

3. अधःपतन का आघात सहय कर मराठी रंगमंच को उत्कर्ष की ओर ले जाने वाले कुछ चुनिंदा नाटक कलाकारो के नाटको का एवं कलाकारो का काल (सन् 1935 से 1955)

4. मराठी रंगमंच ऊर्जावान अवस्था मे आ रही है, इस विश्वास के साथ नाटय विषय, नाटक की रचना, संगीत का विभिन्न तरीको से किया प्रयोग, इस क्रम से मराठी रंगमंच को नवसंजीवन देने वाला काल (इ. स. 1955 ते वर्तमान काल तक काल)

किर्लोस्कर नाटक मंडली :

विष्णूदास भावे के बाद अनेक नाटक मंडलीयाँ अपनी-अपनी तरह से रसीकों रंजन कर रही थी, तभी मराठी रंगमंच के क्षितीज पर एक दैदीप्यमान तारे का उदय हुआ वह है ''बलवंत पांडुरंग'' उर्फ ''अण्णासाहेब किर्लोस्कर'' थे। (31 मार्च, 1843 से 2 नवंबर, 1885) उन्होंने 31 अक्टूबर, 1880 में कालीदास के ''अभिज्ञान शाकून्तल'' इस नाटक का मराठी रुपांतरण संगीत के आधार पर रंगमंच पर लाया। नाटयचार्य किर्लोस्कर को यह नाटक तैयार करने की प्रेरणा एक पारसी नाटक मंडली के संगीत प्रधान 'इंद्रसभा' नाटक का प्रयोग देखकर मिली थी। किर्लोस्कर के नाटक मे अलग ढंग के संगीत के कारण मराठी रंगमंच पर संगीत नाटक का युग प्रारंभ हुआ ऐसा कहा जा सकता है।

किर्लोस्कर नाटक मंडली की विशेषताएँ :

1. दर्शको को सहज समझ मे आए ऐसी संवाद की भाषा
2. भरपूर पदो की संख्या (शांकुतल मे 200 पद)
3. इन पदो से कथा भाग बताकर कथानक की गतिमानता कायम रखना।
4. उनके नाटको से विभिन्न किरदार, अपने-अपने गीत स्वयं रंगमंच पर गाने की परंपरा शुरु हुई। इस प्रकार पहले के नाटको मे केवल सूत्रधारो के मुख से गाना यह रिवाज बंद हुआ। फलस्वरुप अभिनय, कौशल्यपूर्ण शब्दोच्चार वैसे ही सुरेलीपण तथा कुशल गायक इ. गुणो से संपन्न नाटक कलाकार आगे आए।

1843 से 1879 तक जो सुधार धीमी गति से हो रहे थे ऐसा लगता है उन सबका विकसित और कलापूर्ण दर्शन किर्लोस्कर के शाकुंतल नाटक मे दर्शकों को हुआ और इसीलिए उन्हे मराठी रंगमंच का दैदीप्यमान तारा इस उपाधी से सम्मानित किया गया।

उन्होंने 1882 में सौभद्र तथा 1884 में वियोग ये दो नाटक लिखे। उनकी रसवर्धक सरल बंदिशे, खानदानी रागदारी, कर्नाटकी पदधती की बंदिशे और लावणी अंग की बंदिशे ऐसे चार तरह के मिश्रण से नाटय संगीत को एक अलग ही रंजक स्वरुप प्राप्त हुआ। इन संगीतकारों मे बालकोबा नाटेकरख् मोरोबा वाघोलीकर और भाउराव कोल्हटकर यह नायक नायिकाओं के अभिनय करने वाले गायक कलाकार थे। किर्लोस्कर के नाटकोंने 1880 से 1890 इस काल मे सही मायने मे धूम मचाई। किंतु इतनी कम अवधि मे भी मराठी संगीत रंगमंच को नये अनुशासन मे ढालने का युग प्रवर्तक कार्य इस नाटक मंडली के माध्यम से हुआ।

किर्लोस्कर की मृत्यु के बाद उनके शिष्य गोंविद बल्लाल देवल (सन् 13 नवंबर, 1855 से 14 जून, 1896) इन्होंने उनके कार्य की विरासत को आगे बढ़ाया। उन्होंने शापसंभ्रम, मृच्छकटीक तथा संशय कल्लोल यह रुंपातरित संगीत नाटक रंगमंच पर प्रस्तुत किये। ''संगीत शारदा''(1899) इस नाटक

के द्वारा उन्होने जरठ कुमारी विवाह की सामाजिक समस्या रंगमंचपर प्रस्तुत की। किर्लोस्कर के समान उन्होने भी नाटयगीत लिखे।

इस संगीत मे परिवर्तन लाने का प्रयास वाईकर संगीत मंडली, डोंगरे संगीत मंडली, पाटणकर संगीत मंडली आदि नाटयमंडलीयो ने किया। किंतु वह उतना सफल नही हुआ। 'श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर' जी ने (26 जून, 1871 से 1 जून, 1934) किर्लोस्कर परंपरा को अलग दिशा देकर नटी सूत्रधार के आगमन को समाप्त कर मंगलचरण से नाटक का प्रारंभ किया। उन्होंने अपने मूकनायक, गुप्तमंजुषा, मतीविकार, प्रेमशोधण और विरतनय इन नाटकों के माध्यम से अनेक सामाजिक प्रश्नों को उजागर किया। उन्होंने पारसी और गुजराती रंगमंच के संगीत तथा ऊर्दू नाटको में से द्रुत गती की धूनो का आधार लेकर अपने नाटकों का संगीत प्रस्तुत किया। दर्शकों ने कुछ समय तक इस बदलाव का स्वागत किया किंतु किर्लोस्कर की शब्द रचना क्लिष्ट और अनाकलनिय थी। इसलिए इन नाटय गीतों में से कुछ ही नाटयगीत लोकप्रिय हो पायें। नाटयसंगीत की ओर देखने का दर्शकों का नज़रिया भी बदलता गया। रंगमंच पर विस्तारपूर्वक गायन सुनने की दर्शकगण अभिलाषा रखने लगे। नया संगीत प्रस्थापित करने का कोल्हटकर जी का प्रयास भले ही सफल नहीं हुआ फिर भी नाटय संगीत के विषय में जो नये विचारों की दिशा उन्होने दी, उसका लाभ अगले नाटयसंगीत को मिला।

शाकुंतल नाटक का प्रयोग होने के पश्चात लगभग 30 वर्ष किर्लोस्करी संगीत का स्वामित्व रंगमंच पर रहा। किंतु यह संगीत भी श्रोताओं को पुराना लगने लगा। इस परिस्थिती में रंगमंच के संगीत मे एक क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ और संगीत के नए युग का प्रारंभ हुआ। इस परिवर्तन की प्रक्रिया मे नाटयाचार्य ''कृष्णाजी प्रभाकर खाडीलकर'' (23 नवंबर, 1872 से 26 अगस्त, 1948) इनका बहुमुल्य योगदान है।

12 मार्च, 1911 को मुंबई मे संगीत 'मानापमान' इस उनके नाटक का प्रयोग किर्लोस्कर नाटक मंडली द्वारा किया गया। तब से नाटयसंगीत को अलग ही दिशा मिली, ऐसा कहा जा सकता है। अब तक संगीत की योजना स्वयं नाटककार ही करते थे। किंतु खाडिलकर यह संगीतज्ञ न होने के कारण संगीत दिग्दर्शन का काम उन्होंने गोविंदराव टेंबे इस संगीतज्ञ को सौंपा। टेंबेजी ने नाटक के प्रसंगो के अनुरुप शास्त्रीय संगीत की रचनाओं का चयन किया। मौजुद्दीन, मोहरजान, मलकाजान, जोहारबाई आदि कलावंताओ की पुरब बाज की ठुमरी, कजरी, कव्वाली इस प्रकार के घरानेदार संगीत का उन्होंने मानापमान के पदों के लिए उपयोग किया। नाटक की कथाधारा और संवाद की लय कायम रखते हुए गीत के द्वारा भी भाव प्रदर्शित करने की परंपरा टेंबेजी ने प्रारंभ की। टेंबेजी केवल संगीत योजन करके ही नही रुके तो नाटयगीत किस तरह सजाकर गाया जाए इसकी तालीम उन्होंने गायक नटो को दी।

मनापमान नाटक के बाद विदयाहरण (1913) स्वयंवर (1916) और द्रौपदी (1920) वैसे ही सावित्री, मेनका, त्रिदंडीसंन्यास ये खाडीलकर जी के नाटक रंगमंच पर आए। खाडीलकर का समय यह मराठी रंगमंच के संगीत की दृष्टि से एकदम उन्नत था। नाटयसंगीत के स्वर्णकाल से नाटककार के नाते नाट्याचार्य खाडीलकर का नाम ज्यादा करीबी है, कारण जिस तरह गोंविदराव टेंबेजी की आकर्षक संगीत योजना वैसे ही 'नारायण श्रीपाद राजहंस' (बालगंधर्व) के जैसा गुणी गायक नट उनके नाटकों को प्राप्त हुआ, यह महत्व का कारण है। बालगंधर्व यह अत्यंत मधुर कंठवाले सिद्धहस्त गायक नट थे और उनकी अभिनय कला भी उच्च कोटि की थी। उस समय महिलाओं का रंगमंच पर काम करना निषिद्ध माना जाता था। उनका सुंदर रुप, सुरीली आवाज के कारण रंगमंच पर उनकी स्त्री भूमिका लंबे

समय तक दर्शकों को आकर्षित करती थी। खाडीलकर की वैभवशाली नाटयकला रंगमंच पर अजरामर करने का बहुत हद तक श्रेय बालगंधर्व की अलौकिक गायन कला को और अभिनय कौशल्य को हैं।

मानापमान के बाद इसी काल मे संगीत के दृष्टि से दूसरी क्रांती खाडीलकर के स्वयंवर नाटक ने की। गंधर्व नाटक मंडली ने 10 दिसंबर, 1916 को यह नाटक रंगमंच पर लाया। अभिजात संगीत के चतुरस्त्र कलाकार पं. भास्करबुवा बखले (17 अक्टूबर, 1869 से 8 अप्रैल, 1922) इन्होंने इस नाटक की संगीत योजना की थी। ग्वालियर, आगरा, जयपुर इन घरानों की तालीम पाने वाले बखलेजी ने पूरब ढंग के ललित संगीत मे परिवर्तन कर ख्याल गायक को रंगमंच पर स्थान दिया। इसके पहले ऐसा प्रयोग किसी ने भी नही किया था। स्वयंवर ने सच्ची क्रांति की वह रागदारी संगीत के धूनो के कारण। भिमपलास, बागेश्री, यमन, भुप, काफी, मांड, तिलक, कामोद, हमीर इन प्रचलित रागों की उन्होंने योजना की। इन रागों की प्रसिद्ध बंदिशो पर उन्होंने अपनी धुने बनाई इसके कारण नाटयपदों का गायन ख्याल अंग से होने लगा। गायकी अंग को प्रधानता मिलने के कारण नाटयसंगीत यह महफिल का गाना बनने लगा। अभिजात संगीत का मराठी रंगमंच ने उपयोग किया और उसके द्वारा अभिजात संगीत का पूरे महाराष्ट्र में और कुछ हद तक महाराष्ट्र के बाहर भी प्रसार हुआ।

रंगमंच के स्वर्णयुग के समय में अनेक नाटक मंडलियों का उदय हुआ। वैसे ही अनेक कलाकार भी रंगमंच आए। इसी समय वीर वामनराव जोशी जी ने राक्षसी महत्वकांक्षा ''रणदुंदुभी'' और ''धर्मसिंहासन'' ये नाटक रंगमंच पर लाए। इन नाटकों का संगीत लोकप्रिय करने मे केशवराव भोसले एवं मा. दीनानाथ इनका महत्तवपूर्ण योगदान है।

बोलपटो का नाटक पर परिणाम :

नाटयसृष्टी का इस तरह चारों दिशाओं मे फैलाव था तभी 1937 मे बोलपटो की नई मायासृष्टी अवतरित हुई और रंगमंच के विकास को इस कारण जबरदस्त धक्का लगा। नाटयसंस्थायें तेजी से समाप्त होने लगी। रंगमंच के आधार स्तंभ बोलपट सृष्टी में जाने लगे। सिनेमा जैसी सस्ते और नये मनोरंजन की ओर आम लोग आकर्षित हुए। तत्पश्चात् उसपर पाश्चात्य संगीत का प्रभाव पड़ा।

नाटयकला के क्षेत्र का पुरानापन निकालकर संगीत के साथ ही दूसरे अन्य विषयों के संदर्भ मे नयापन लाने की दृष्टि से ''नाटयमंतर'' इस नाटयसंस्था की स्थापना हुई। इस संस्था की ओर सन् 1933 में श्री वर्तक इनके 'अंधे की पाठशाला' इस नाटक का प्रयोग किया गया। नये नाटयविषय और नया नाटयतंत्र और महिलाओं की भूमिका के लिए शिक्षित महिलायें इसलिए इस नाटक के बारे मे बहुत चर्चा हुई। इस नाटक का संगीत नियोजन केशवराव मोलेजी ने किया। इस काल मे किर्लोस्करी पदों की संख्या बहुत कम हुई। 'अंधो की पाठशाला' इस नाटक मे केवल दो ही पद दिखाई देते हैं।

इसी काल मे रंगमंच को संभालने का प्रयास किया गया वो है आचार्य अत्रे और श्री. मो.ग.रांगणेकर।

विष्णूदास भावेजी ने सन् 1843 मे मराठी रंगमंच का विस्तार किया। सन् 1943 मे मराठी रंगमंच का शताब्दी महोत्सव जगह-जगह बड़े उल्लास के साथ मनाया गया। इस उपलक्ष्य मे पहले प्रस्तुत किये गये नाटक पुनः प्रस्तुत किये गये। दर्शको के मन मे संगीत नाटक का आकर्षण पुनः आरंभ हुआ। स्वतंत्रता प्राप्ती के बाद महाराष्ट्र सरकार ने प्रादेशिक, नाटय प्रतियोगिता प्रारंभ कर रंगमंच को नई चेतना दी। सन् 1943 मे 'कला विकास' नामक नाटक कंपनी शुरु हुई। इसी समय सौदागर नागनायर गोरे (छोटा गंधर्व) ये मराठी रंगमंच को प्राप्त हुए। किसी पद गायन करते हुए मूल आधार स्वर परिवर्तित कर दूसरे स्वर को आधार स्वर मानते हुए अलग राग का आविष्कार करना और पुनः कुशलतापूर्वक मूल पद को गाना इस कला मे वह निपुण थे।

सन् 1949 मे जयराम शिलेदार और जयमाला शिलेदार ने मराठी रंगमंच इस संस्था का निर्माण किया। इस संस्था ने नए पुराने ऐसे अनेक नाटको के प्रयोग सफलतापूर्वक प्रस्तुत किए। परंपरागत घरानेदार संगीत से नाता न तोड़ते हुए नाटयगीतों को नवीनतम संगीत देने का कार्य पं. जितेंद्र अभिषेकी (17 सितंबर, 1933 से 7 नवंबर, 1998) ने किया। 'दि गोवा हिंदू असोशिएशन' इस नाटयसंस्था ने उनके रुप मे मराठी रंगमंच को एक अनमोल रत्न दिया।

निष्कर्ष :

1. लोकरंजन।
2. शास्त्रीय, उपशास्त्रीय एवं ललित संगीत का श्रोताओं को परिचय।
3. प्रचलित-अप्रचलित रागों का श्रोत्यांको परिचय।
4. हिंदी भाषा को संगीत मराठी भाषा मे लाया इ.।

संदर्भ सूची :

1. संगीत विशारद
2. संगीत मैन्युअल

'चरणदास चोर' नाटक की प्रस्तुति और महाराष्ट्र के मराठवाड़ा क्षेत्र का संगीत

देवरे रामेश्वर गिरधर
शोधछात्र, (नाट्यशास्त्र विभाग)
डॉ. बाबासाहेब अंबेडकर मराठवाड़ा विश्वविद्यालय, औरंगाबाद.

डॉ. संदीप अ. बनसोडे
मार्गदर्शक (प्राध्यापक,मराठी विभाग)
र.भ.अट्टल महाविद्यालय, गेवराई, जि. बीड.

प्राचीन भारतीय संस्कृति के इतिहास में अनेक राजा-महाराजाओं के जमाने में नृत्य-गीत-संगीत मैंफीलों का आयोजन किया जाता था। जो सिर्फ राज्य के राज दरबारों में प्रस्तुत किया जाता था। रामायण में भी श्री राम के पुत्र- लवकुश द्वारा गीत-संगीत, काव्य का उपयोग दिखाई देता है। कालांतर से सामान्य दर्शकों के लिए राज दरबारों के बाहर गलियों, मैदानों में जनता के मनोरंजन हेतु अनेक काव्य, गीत, संगीत, नृत्य, नाट्य, वाद्य आदि मैंफीलों का आयोजन होने लगा जिससे दिन-पे-दिन दर्शकों के उत्साह और आनंद को देखकर कलाकारों में भी अधिकाधिक रुचि बढ़ती गई। इसी के आधार पर आगे संस्कृत नाटकों और संगीत नाटकों में इन सभी कलाओं का सामूहिक मंचन होने लगा।

नाट्यशास्त्र और अन्य पौराणिक ग्रंथों के अनुसार संगीत नाट्य का एक महत्वपूर्ण अंग है।

पंडित शारंगदेव उनकी 'संगीत रत्नाकर' इस ग्रंथ में कहते हैं कि -

'गीत, वाद्य तथा नृत्य त्रय संगीतमुच्यते'।

गीत, वाद्य एवं नृत्य इन तीनों कलाओं के समावेश को ही संगीत कहा जाता है तथा यह तीनों कलाएँ स्वतंत्र होते हुए भी परस्पर पूरक मानी जाती है। संगीत में मुख्यतः दो प्रकार पाए जाते हैं जिसमें एक भाव प्रधान संगीत और दूसरा शास्त्रीय संगीत है। शास्त्रीय संगीत में शास्त्र के अनुसार ही संगीत में स्वर, लय, ताल और रागों का गंभीरता पूर्वक विचार किया जाता है। लेकिन भाव प्रदान संगीत का उद्देश्य ही भक्तिभाव, आनंद, प्रेम, शोक, मनोरंजन हेतु किया जाता है। जो नाट्य, सिनेमा, गजल, भजन, लोकगीत, लोकधुनों जो भावों को प्रकट करने के लिए दर्शकों को जिससे रस-भावों की निष्पत्ति होती है। सरल संगीत की सहजता, आत्मीयता सभी क्षेत्र के दर्शकों के दिल को भाती है।

नाट्यशास्त्र के रचीयता भरतमुनि ने नाटकों में संगीत के प्रयोग का विस्तृत वर्णन किया है। उनका मत है की -

चित्रं शोभते न निवेशनम्।
यथा वर्णादृते
एवमेव विना गानं
नाट्यं रागं न गच्छति॥

भरत मुनि कहते हैं कि बड़ा मजबूत महल बिना रंगों के सुंदर नहीं दिखता, ठीक वैसे ही गीत-संगीत के बिना नाटकों द्वारा दर्शकों का मनोरंजन नहीं हो सकता। उन्हें नाटकों को प्रति दिलचस्पी पैदा करने में संगीत महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इसी भूमिका को लेकर 'चरणदास चोर' नाटक प्रस्तुति में संगीत के बारे में शोधछात्र ने लिखने का प्रयास किया है।

चरणदास चोर- कथानक :

चरणदास चोर यह नाटक शुरू से ही अधिक मनोरंजक और मजेदार लगता है जो दर्शकों को अपनी और एकाग्र करने पर मजबूर करता है। यह एक चोर की कहानी है जो अपने गुरु को मजबूरी में या यूं कहें हँसी-मजाक में पांच प्रण देता है और उन प्रणों के प्रति आजीवन एकनिष्ठ रहता है। चरणदास अपने शातिर दिमाग का उपयोग करके ऐसी बातों का वचन देता है जो एक सामान्य चोर के जिंदगी में कभी नहीं आ सकती। जिसमें चरणदास कहता है-

1) मैं कभी हाथी पर बैठकर जुलूस में नहीं जाऊंगा।

2) मैं कभी सोने की थाली में भोजन नहीं करूंगा।

3) किसी रानी से शादी नहीं करूंगा।

4) किसी देश का राजा नहीं बनूंगा।

यह चार वचन सुनने के बाद गुरुजी चरणदास के हुशारी को समझकर एक और वचन मांगते हैं। जो है-

5) जिंदगी में कभी झूठ नहीं बोलेगा।

इस वचन का स्वीकार करते हुए चरणदास गुरुजी को जीवन भर सच बोलने का पाँचवाँ वचन भी देता है।

इन पांच प्रणों के इर्द-गिर्द नाटक की कहानी हमें दिखाई देती है। नाटक में अधिक दिलचस्प घटनाएं हमें दिखाई देती है। सामान्य छोटी-मोटी चोरी करने वाला चोर सरकारी शाही खजाने में चोरी करता है और पकड़ा जाता है और उसे पूछने पर वह राज्य की रानी को चोरी की सच्चाई कबूल करता है। चरणदास के सच बोलने के कारण शाही खजाने की देख-रेख करने वाले मुनीम को हीरे की चोरी करने के आरोप में पकड़ा जाता है। जिससे एक धोखेबाज सरकारी अधिकारी की पोल रानी के सामने खुल जाती है। चरणदास एक चोर होते हुए भी उसकी सच्चाई से प्रसन्न होकर रानी उसे हाथी पर बिठाकर जुलूस के रूप में आमंत्रित करती है। तभी चरणदास को अपने गुरु को दिया हुआ पहला वचन याद आता है वह हाथी पर बैठकर जाने को मना करता है। लेकिन इधर रानी उसकी साधारणता से और भी प्रसन्न होती है और चरणदास को भोजन के लिए राजमहल बुलाकर सोने की थाली में भोजन लगाती है। यहां पर चरणदास को अपना दूसरा वचन याद आता है और वह भोजन करने को मना करता है। रानी एक सामान्य चोर की गुरु को दिए हुए प्रणों के प्रति निष्ठा देखकर हैरान हो जाती है। रानी उसकी एकनिष्ठता को देखकर खुद से शादी करने को कहती है। तभी चरणदास को अपना तीसरा प्रण याद आता है और चरण दास रानी के शादी के प्रस्ताव से इन्कार कर देता है। रानी चरणदास की निस्वार्थत्ता को देखकर राज्य का राजा बनने को कहती है। तब भी चरणदास अपने चौथे प्रण के रक्षा हेतु देश का राजा बनने के प्रस्ताव को भी नामंजूर कर देता है। चरणदास की गुरु को दिए हुए प्रणों के प्रति निष्ठा देखकर रानी एक-एक करके प्रस्ताव चरणदास के सामने रखती है, लेकिन अपने प्रणों से एकनिष्ठ होकर अपने दिल को कठोर बनाकर, कतई लालच में न आकर राज्य की रानी के सभी प्रस्तावों को चरणदास जैसा एक साधारण चोर ठुकरा देता है। अब रानी अपने मान, सम्मान को बचाए रखने के लिए दोनों के बीच हुई बातचीत को गुप्त रखने को कहती है। ताकि राज्य की प्रजा रानी की हँसी ना उड़ाये, विद्रोह ना करें। लेकिन चरणदास के गुरु ने गुरुदक्षिणा में लिए हुए पाँचवें वचन को याद करते हुए वह कहता है कि अगर मुझे कोई पूछे तो मैं झूठ नहीं बोल सकता। क्योंकि जीवन भर सच बोलने का वचन गुरु को दिया है। यह सुनकर रानी के होश उड़ जाते हैं और खुद की सत्ता और झूठी शान को बचाने के लिए चरणदास को झूठे आरोप में मृत्युदंड देने की घोषणा करती है। खुद के मृत्यु को सामने देखते हुए भी चरणदास गुरु को दिए हुए सच बोलने के प्रण से पीछे नहीं हटता और खुद की जान गवा देता है।

एक साधारण चोर की गुरु को दिए हुए प्रणों के प्रति निष्ठा, सच्चाई और निस्वार्थता का महत्व इस कथानक से सिद्ध होता है।

'चरणदास चोर' ये नाटक विजयदान देथा के राजस्थानी लोककथा पर आधारित है, जिसे नाट्य-रूपांतर करके हबीब तनवीर ने छत्तीसगढ़ी लोकभाषा में, वहां के लोक कलाकारो को लेकर 1975 में मंचित किया और 1982 में अन्तर्राष्ट्रीय फ्रिंज फेस्टिवल में प्रथम पुरस्कार प्राप्त करके, भारतीय रंगभूमी को विश्व उजागर किया। 'चरणदास चोर' एक मात्र नाटक है, जिस नाटक ने छत्तीसगढी 'नाचा' इस लोककला को भारतीय संस्कृती को वैश्विक स्तर पर उजागर किया।

छत्तीसगढ़ी लोकसंगीत, लोकनृत्य-पंडवानी, कर्मा, सुआ, पंथी, सोहर, राउत नाचा के साथ-साथ दफड़ा, टीमकी, ढोलक, सिंगबाजा, मोहरी इन वाद्य यंत्रों का उपयोग किया है। लालूराम, भुलवाराम, फिदाबाई, गोविंदराम निर्मलकार, ठाकुर राम जैसे आदि नाचा के लोक कलाकारों को लेकर हबीब तनवीर ने अपने निर्देशित नाटकों के जरिए छत्तीसगढ़ के नाचा लोकसंस्कृति, गीत-संगीत, को विश्व के रंगमंच पर अमरता प्रदान है।

आधुनिक भारतीय रंगमंच पर हबीब तनवीर ऐसे एकमात्र निर्देशक रहे हैं, जिन्होंने विदेश से नाट्यशास्त्र की पढ़ाई करके बड़े शहरों और सभागारों में सिमटने के बजाय अपने भारत देश लौटकर अपनी मातृभूमि छत्तीसगढ़ी लोक गीत-संगीत परंपरा को अपने निर्देशित नाटकों में स्थान देकर हिंदी रंगमंच को अधिक सक्षम बनाने में अपना योगदान दिया।

प्रसिद्ध नाट्यनिर्देशक बी. वी कारंथ मंचित नाटकों के लिए अपनी सृजनशील निर्देशक की दृष्टि से गीत-संगीत के महत्वता को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि-

रंग-संगीत अपने आप में कविता जैसा है, कविता में 'ध्वनि' जो कहते हैं, कहते हैं ना, शब्द की कई ध्वनियाँ हैं, नाटक में सबसे बड़ी ध्वनि जो है वह संगीत ही है- क्योंकि छोटी सी पंक्ति, वाद्य, संगीत हो सिर्फ गायन का आलाप ही क्यों ना हो, बहुत सी चीजें व्यक्त कर देती है- मायने एक लम्बे संवाद बोलने के बजाय हो सकता है 25-30 पंक्तियों की बजाय, उसकी सारी वेदना पीड़ा बताने के लिए एक संगीत की पंक्ति अगर आ जाए।

कारंथ जी का बहुमूल्य मत सराहनीय है। क्योंकि गीत-संगीत से प्रेक्षकों को कथानक आसानी से समझने लगता है और उनकी नाटक में रुचि बढ़ती है, साथ ही इस बढ़ते लगाव से नाट्य प्रयोग सफलता की ओर खड़ा उतरता है।

आधुनिक भारतीय रंगमंच पर बलराज साहनी, दिना पाठक, शंभू मित्रा, एम. के. रैना, बलवंत ठाकुर, बी. वी. कारंथ, के. एन. पन्निकर, हबीब तनवीर, रतन थियाम, बंसी कौल, वामन केंद्रे आदि भारत के प्रांतीय रंगकर्मियों ने नाटकों में लोक गीत-संगीत, नृत्य, वाद्य, इन सभी कलाओं के सामूहिक प्रस्तुति को महत्व दिया और उसे अपने निर्देशित मंचित नाटकों से निरंतर बनाए रखने का प्रयास किया।

सन् 1843 में 'सीता स्वयंवर' इस नाटक को नाटककार विष्णुदास भावे ने निर्देशित करके मराठी रंगमंच की शुरुआत की। निर्देशित नाटक का मंचन करने के लिए विष्णुदास भावे ने कर्नाटक की लोक नाट्य-गीत-संगीत यक्षगान इस लोक परंपरा आधार लिया था। कालांतर से मराठी में नाटककार अन्नासाहेब किर्लोस्कर, देवल, गड़करी, बालगंधर्व आदि की संगीत नाटक परंपरा काफी चर्चित रही है।

'चरणदास चोर' यह प्रसिद्ध नाटक है। जिसके द्वारा नाट्य निर्देशक हबीब तनवीर ने छत्तीसगढ़ी लोक गीत-संगीत विश्व उजागर किया। उनके सभी निर्देशित मंचित नाटकों में गीत संगीत की मुख्य रूप

से प्रस्तुति की जाती थी। 'आगरा बाजार' इस नाटक में फकीरों के अनेक गीत शामिल है। गीतों को रंगमंच पर हारमोनियम के साथ स्वर बद्ध करते हुए चिमटा और ढोलक से ताल का मिलन दर्शकों को मंत्रमुग्ध कर देता है। हबीब तनवीर के रंग विचारों को बरकरार रखने की कोशिश में शोधछात्र ने 'चरणदास चोर' इस नाटक का राजनाट्य प्रतियोगिता में नाट्य निर्देशन किया। कलाकारों और दर्शकों का विचार करते हुए नाटक में छत्तीसगढ़ी बोलीभाषा और छत्तीसगढ़ी लोक गीत-संगीत के अलावा महाराष्ट्र के मराठवाड़ा क्षेत्र की हिंदी जुबानी बोलीभाषा और लोक गीत-संगीत को शामिल करने का प्रयास किया गया है। जिसमें-

1. वारकरी संप्रदाय का भजन गीत संगीत
2. धनगर समाज का संगीत
3. दशावतारी सोंग परंपरा का संगीत
4. दिंडी नृत्य-गीत-संगीत, आदि शामिल है।

नाटक की शुरुआत वारकरी संप्रदाय का भजन गीत प्रस्तुत किया जाता है जिसमें गुरु, शिष्य, के सभी भाविक भक्ति भाव में तालीम भजन गीत गाते हुए नजर आते हैं। वारकरी संप्रदाय में भगवान की आराधना करने के लिए, भक्ति के मार्ग में यह भजन गीत संगीत महत्वपूर्ण है। गायक एवं भक्तों को आत्मिक समाधान देता है। रंगमंच पर यह संगीत कलाकारों और दर्शकों को प्रसन्नता के साथ उत्साह निर्माण करते हुए ईश्वरी भक्ति की अनुभूति देने में असरदार साबित होता है। गीत के कुछ बोल इस प्रकार है –

सत्यनाम सत्यनाम
सत्यनाम सार
गुरु महिमा अपार
बहा के अमृत धार
हो जाई बेड़ा पार

इस गीत के लिए संगीत निर्माण हेतु हारमोनियम, पखावज, विना, शंक, टाल आदि लोकवाद्यों का उपयोग किया गया है। वारकरी संप्रदाय और हिंदू संस्कृति में संत महंत गांव की गलियों में लोगों को उपदेश करने के लिए अभंग गीत संगीत गाते हैं। जैसे- आद्य कवि संत तुकाराम महाराज, संत गाडगे बाबा, संत नामदेव महाराज कीर्तन गीत अभंग गीत संगीत के द्वारा समाज में अंधश्रद्धा निर्मूलन, साक्षरता, ईश्वरी भक्ति मार्ग आदि समस्याओं पर सामाजिक प्रबोधन करने का कार्य करते थे। नाटक में अभंग गीत संगीत का समावेश करते हुए संगीत के साथ-साथ कथानक भी आगे बढ़ता है। गीत इस प्रकार है-

बाबा पधारे गलियों में
खुशियां मची है जन-जन में
राज छुपा है मन मन में .. ओ..
ईश्वर बस है कण कण में ..।
बाबा पधारे
धन्य भाग्य हमारे
सज्जन दुर्जन दौडो सारे
मिल के बाबा की सेवा करें..।

इस गीत को वारकरी संप्रदाय की अभंग गीत संगीत का आधार लेकर मंचित किया गया है। जिससे वारकरी संप्रदाय के प्रति गहरी आत्मीयता और लगाव के कारण कलाकारों के साथ दर्शक भाव विभोर हो जाते हैं। लोकसंस्कृति का मंचन देखते ही लोग अधिक उत्साहित होते हैं।

महाराष्ट्र के मराठवाड़ा क्षेत्र में धनगर समाज के लोग उनके धार्मिक त्योंहार, यात्रा में बड़ी जश्न के साथ सामूहिक गीत संगीत का मंचन करते हैं जिसका उद्देश्य धर्म परंपरा का प्रचार-प्रसार और लोक मनोरंजन होता है। उनके इस लोकगीत संगीत परंपरा को नाटक में शामिल किया गया है। ढोल, एकतारी, तुन-तुना, झांझ, टाल आदि वाद्यों का संगीत के निर्माण के लिए उपयोग किया जाता है। गीत के बोल इस प्रकार है-

कानों में गूंजे शोर हैं वों
जंगल में नाचे मोर हैं वों
सेठ साहूकार के लिए काल हैं वों
आम लोगों के लिए सत्यपाल है वों
कोई कहे चोर हैं वो
कोई कहे मोर है वो
तरा.. रा.. राराष्ठ राष्ठ !

वारकरी संप्रदाय में दिंडी नृत्य-गीत-संगीत इस सांस्कृतिक परंपरा में भगवान के नाम स्मरण का जयघोष करते हुए सामूहिक पावली तथा फुगड़ी नृत्य खेला जाता है। हारमोनियम, मृदंग, चिपली, टाल, वीना वाद्यों का इस्तेमाल करके संगीत उत्पन्न किया जाता है। सभी भक्त उत्साह, जोश में नाचते-गाते हुए दिंडी में तल्लीम हो जाते। हाथों में भगवा ध्वज, पताका लहराकर हिंदू धर्म संस्कृति का प्रचार-प्रसार करते हुए उद्धार किया जाता है।

महाराष्ट्र के लगभग सभी गांवों की यात्रा में दशावतारी सोंगो का आयोजन किया जाता है। उसमें कुलदैवत तथा ग्रामदैवत भगवान की विधिवत पूजा अर्चना की जाती हैं। विष्णु के विविध अवतार, श्री गणेश, हनुमान, पांच पांडव, शारदा, शिव-पार्वती, अर्जुन आदि के रूपों के आभूषण पहनकर रूप-देहसज्जा करके पारंपरिक लोक संस्कृति मंचन किया जाता है। इसमें हलगी, ढोलकी, घुंगरू, टाल, चिमटा आदि से गीत-संगीत प्रस्तुत किया जाता है। जिसे देखने के लिए हजारों की संख्या में गांव में दर्शक उपस्थित होते है। यह यात्रा उत्सव हर साल मनाया जाता है।

ऐसे अनेक पारंपरिक लोकगीत संगीत परंपरायें महाराष्ट्र के मराठावाड़ा क्षेत्र में सदियों से प्रस्तुत होती आ रही है, जिसमें कुछ कला लुप्त हो चुकी है और कुछ लुप्त होने की कगार पर खड़ी है। उन्हें लोक कलाकारों और नाट्य निर्देशकों द्वारा पुनर्जीवित किया जा सकता है। यह सांस्कृतिक समस्या सिर्फ महाराष्ट्र की नहीं बल्कि संपूर्ण हिंदुस्तान की है। उसे सुलझाने के लिए सरकार और कलाकारों को कुछ नए-नए प्रयोग करने की आवश्यकता है।

जैसे संगीत नाटक अकादमी, नई दिल्ली और मध्य प्रदेश शासन की ओर से आयोजित 'उत्कर्ष कला यात्रा' में भारत देश की सभी प्रादेशिक लोक वाद्य, गीत-संगीत, रूपसज्जा, देहसज्जा का प्रदर्शन देखने को मिला। ऐसे कार्यक्रमों का आयोजन हमेशा अलग-अलग राज्यों में होना चाहिए जिससे संस्कृति का आदान-प्रदान होते हुए जतन संवर्धन होता रहेगा। कलाकारों के लिए सरकार की ओर से रोजगार का निर्माण किया जाना चाहिए। जिससे आर्थिक समस्या से परेशान कलाकार तहे दिल से अपनी मातृभूमि के गीत संगीत निरंतर जीवित रखने के लिए कार्य कर सकेंगे।

इन दिनों उत्तराखंड में हरीश शर्मा अच्छे उपक्रम का आयोजन कर रहे हैं जिसमें युवा कलाकारों को लोक वाद्यों का प्रशिक्षण दिया जा रहा है। केंद्र तथा प्रादेशिक सरकार को ऐसे उपक्रमों का आयोजन करके लोकगीत संगीत का संवर्धन करना जरूरी है। कलाकार प्रशिक्षित होंगे तो अवश्य ही लोकगीत संगीत हमेशा पनपता रहेगा। स्कूली शिक्षा में लोक वाद्य, गीत-संगीत परंपराओं को शामिल करने की आवश्यकता है।

सारांश :

'चरणदास चोर' इस नाटक के माध्यम से शोधछात्र ने नाट्य निर्देशन करके महाराष्ट्र के मराठवाड़ा क्षेत्र की गीत-संगीत परंपरा को मंचित करने का प्रयास किया है। जिसमें स्थानिक लोक कलाकारों सम्मिलित किया गया था। देश के युवा रंगकर्मियों को प्रादेशिक लोकगीत संगीत का अध्ययन करके उसकी निरंतर प्रस्तुति करने की आवश्यकता है। जिससे गीत-संगीत की यह परंपरा भविष्य में आने वाली पीढ़ी को प्रोत्साहित करने के लिए आदर्श साबित होगी और हबीब तनवीर के रंग विचारों से प्रेरित रंगमंच अधिक सक्षम होगा।

संदर्भ सूची :

1. नाटक 'चरणदास चोर' हबीब तनवीर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली।
2. नया थिएटर 'चरणदास चोर' की नाट्य प्रस्तुति निर्देशक हबीब तनवीर।
3. हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत में वाद्यात्मक रस-भावाभिव्यक्ति, डॉ. ललित कुमार कौशल, कनिष्क पब्लिशर्स।
4. भरतमुनि का नाट्यशास्त्र, गोदावरी केतकर।
5. वैकल्पिक विन्यास, अमितेश कुमार, सेतु प्रकाशन प्र. सं. 2021, पृ. क्र. 303।
6. 'चरणदास चोर' नाटक शोधछात्र द्वारा निर्देशन प्रस्तुति पुणे, मराठवाड़ा, महाराष्ट्र।
7. उत्कर्ष कला यात्रा, रविंद्र भवन, भोपाल, मध्यप्रदेश, पत्रिका अखबार, 3 अगस्त 2023।
8. नवभारत टाइम्स,14 अगस्त 2023।

21 वीं सदी के हिन्दी उपन्यासों में महिला किसान का संघर्ष
(विशेष संदर्भ - जमीन, कंदील, काली चाट और फांस)

मधु बाला
शोधार्थी (हिन्दी विभाग)
हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय समरहिल शिमला।

भारत सदैव से ही एक कृषि प्रधान देश रहा है। ग्रामीण क्षेत्र में महिलाएं घर के कार्य के साथ-साथ फसल की बुआई, रोपाई, जल निकासी, सिंचाई, कटाई, घास हटाना, फसलों की देखभाल करना, दवाई के छिड़काव आदि के साथ-साथ जहां पर जुताई की जरूरत होती है, वह इन सब कार्यों के साथ जुताई का कार्य भी स्वयं करती हैं। पशुपालन और डेयरी संबंधित कार्यों में भी वे पुरूषों से आगे रहती है। फिर भी उन्हें किसान होने का दर्जा नहीं मिल पाता। वह गृहिणी ही रहती है। वह मुख्य किसान नहीं बन पाती और न ही जमीन का मालिकाना हक मिल पाता है। अंकिता जैन ने अपनी पुस्तक 'ओह रे! किसान' में ऑक्सफैम इंडिया के आंकड़ों का हवाला देते हुए लिखा है, 'खाद्य उत्पादन के लिए 60% से 80% तथा डेरी उत्पादन के लिए लगभग 90% महिलाएं जिम्मेदार है। कृषि जनगणना 2010-11 को आधार बनायें तो आंकड़े कहते हैं कि लगभग 118.7 मिलियन किसानों में से 30.3% महिलाएं थी। कृषि-मजदूरों में भी 144.3 मिलियन कृषि मजदूरों में से 42.6% महिलाएं थी। लेकिन इनका स्वामित्व देखा जाये तो वह कुल जोत की संख्या के आगे न के बराबर है। हालांकि कृषि जनगणना 2015-16 की रिपोर्ट कहती है कि पिछले पांच सालों में परिचालन संपत्ति पर महिलाओं का स्वामित्व बढ़ा है। 'एक प्रतिशत' ही सही लेकिन बड़ा है। 2010-11 में जो 12.79% था, 2015 में वह बढ़कर 13.87% हो गया है। यानी कुल 146 मिलियन परिचालन संपत्ति में से महिलाओं का हिस्सा अब 20.25 मिलियन है।'[1] कृषि क्षेत्र में महिलाओं की सहभागिता को सक्रिय बनाने के लिए कृषि एवं किसान कल्याण मंत्रालय द्वारा 'महिला दिवस किसान' दिवस मनाने का निर्णय 15 अक्टूबर 2020 को लिया गया। आज महिलाएं चूल्हे-चौके तक ही सीमित नहीं है, वो हर कार्य में पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर कार्य करती है। परंतु उन्हें जमीन का मालिकाना हक आज भी नहीं मिला है। विवाह से पूर्व अपने पिता के घर पर वह अपने पिता के साथ खेतों में कार्य करती है और शादी के बाद पति के साथ खेतों में कार्य करती है, परन्तु उसका मालिकाना हक़ कहीं पर नहीं है। महिलाएं फिर भी अपने कार्य को बखूबी से करती है। महिलाओं को पुरुषों की तुलना में कम मजदूरी दी जाती है। उनका कहीं आर्थिक शोषण तो कहीं शारीरिक शोषण होता है। साहित्य समाज का दर्पण होता है। साहित्यकार इसी को ध्यान में रखकर अपने साहित्य में महिला किसान के संघर्ष एवं उनकी स्थिति को अपने साहित्य की विषय वस्तु को आधार बनाता है। 21वीं सदी के किसान विमर्श पर आधारित प्रमुख उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में महिला किसान के संघर्ष को चित्रित किया है।

कृषि वैज्ञानिक डॉ॰ स्वामीनाथन ने लिखा है, 'विश्व में खेती का सूत्रपात और वैज्ञानिक विकास का प्रारंभ महिलाओं ने किया।'[2] ग्रामीण समाज में महिलाएं हमेशा से कृषि कार्यों में बढ़-चढ़कर अपनी भूमिका का निर्वहन करती है, लेकिन उन्हें आज तक किसान का दर्जा नहीं प्राप्त हुआ है। जबकि महिलाएं पुरुषों के साथ खेती-बाड़ी के प्रत्येक कार्य में हाथ बंटवाती हैं। बल्कि वह पुरुषों की अनुपस्थिति में घर एवं खेत के कार्य को अपनी मेहनत से बखूबी निभाती है। इसी प्रकार के संघर्ष को भीमसेन त्यागी ने अपने उपन्यास 'जमीन' में महिला किसान के संघर्ष को दर्शाया है। उपन्यास की पात्र चम्पा घर गृहस्थी के कार्य के साथ-साथ वह अपने पति के साथ खेती के कार्य में भी हाथ बंटवाती है। जमींदार ठाकुर चंदन सिंह चम्पा के पति को चोरी के झूठे आरोप में पकड़वा देता है। उसकी जेल हो जाती है। घर-गृहस्थी के कार्य के साथ-साथ अब चम्पा के कन्धों पर खेती के कार्यों का भार भी आ जाता है। पति की अनुपस्थिति में चम्पा अपने खेतों में खुद हल चलती है और फसल की बुआई व बीज खुद डालती है। गांव के जमींदार ठाकुर चंदन सिंह को चम्पा द्वारा ऐसे कार्य करना अच्छा नहीं लगता। वह गांव में एक पंचायत करता है और कहता है, 'पंचों, आज हमारे गांव में एक अधर्म का काम हुआ है। रतनू की बहू चम्पा सरेआम हल चलाते देखी गयी है। सारा गांव इसका गवाह है। हल चलाना धरती मां के पेट को फाड़ना है। पाप है। यह भले आदमियों का नहीं, चण्डालों का काम है। चम्पा हल चलाकर चाण्डालिनी बन गयी है। इसके पाप कर्म की सजा पूरे गांव को भुगतनी होगी।... इस सबकी जिम्मेदार सिर्फ चम्पा होगी। ऐसी चाण्डालिनी औरत को सजा जरूर मिलनी चाहिए। क्या सजा दी जाए, यह पंच तय करें।'[3] चम्पा प्रति उत्तर में जवाब देती हुई कहती है, 'हल चलाना पाप नहीं, पाप तो बिना मेहनत किये दूसरों की कमाई खाना है।' जमींदार ठाकुर चंदन सिंह कहता है, 'औरतें हल चलाने लगेंगी तो धरती उनकी हो जाएगी और मर्द गुलाम हो जाएंगे।' इस वार्तालाप से स्पष्ट होता है कि आज भी महिलाएं यदि अपने खेतों के कार्य स्वयं करती हैं तो समाज उन्हें सम्मान की दृष्टि से नहीं देखता है। प्रस्तुत उद्धरण में पुरूष प्रधान मानसिकता भी देखने को मिलती है। जमींदार ठाकुर चंदन सिंह ने चम्पा के पति को चोरी के झूठे आरोप में इसलिए भिजवाया था, ताकि उसके बच्चे व पत्नी भूखे मरे । परंतु चम्पा ने संघर्ष करके ठाकुर चंदन सिंह के मंसूबे पर पानी फेर दिया। वह अपने खेतों में गेहूं की फसल को लहलाती देखती है और अपनी फसल को स्वयं काटती है,गहाई और बरसाई भी करती है। चम्पा के खेत में इस साल फसल हर साल से डेढ़ गुना ज्यादा हुई है। पुरूषों की अनुपस्थिति में महिलाएं घर-गृहस्थी के कार्य के साथ-साथ खेती के कार्य को भी बखूबी संभालती है।

वर्तमान समय में महिलाएं खेती व घर के कार्यों के साथ-साथ राजनीति में भी रूचि लेने लगी हैं। वे समय की नब्ज को समझकर हर क्षेत्र में कार्य करती हैं। वह आज पुरूषों की तरह राजनीति की भी समझ रखती है। इसी प्रकार का उदाहरण 'कंदील' उपन्यास में देखने को मिलता है। 'कंदील' उपन्यास में राजकुमार राकेश पारवती नाम की महिला किसान को एक सशक्त महिला किसान के रूप में प्रस्तुत किया है। पारवती घर गृहस्थी के साथ-साथ खेती एवं बाहर के कार्यों को भी अच्छे से संभालती है। वह अपने पति रणसिंह के साथ खेती के कार्य से लेकर पशुओं के लिए चारा कटाई एवं निराई के कार्यों को कंधे से कंधा मिलाकर करवाती है। वह अपने पशुओं के दूध को खुद दुहती है। सरकार द्वारा मंदिर के आसपास की जमीन अधिग्रहण का आदेश दिया जाता है। तब पारवती इसके विरोध में किसानों का नेतृत्व करती हुई कहती है, 'म्हारी जघे जमीन पर कब्जा हो रया जो न बोलूं। ई न होगा। हम नई मानते ऐसी पंची पंचैत को। न हम मानते काशीनाथ की कारस्तानी को खुद काहे नई आता सामने। काहे को प्यादे भेजता हुआ। आके हमसे बात करे। अपने घर के अंदर बना ले जो उसको बनाना हो। हमने ईब इनकार किया उसको तो किया। ईब जो हो सो हो जाए, हम अपनी जमीन

नहीं देंगे। म्हारा तो येई फैसला हुआ। गरचे पंचैत काशीनाथ की चेरी बन जाए तो हम दरबदर हो लें। ई न होगा।'[4] इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि महिला किसानों में राजनीतिक समझ के साथ सामाजिक जागरूकता भी देखने को मिलती हैं और साथ ही अच्छे बूरे की समझ भी। हम अपनी जमीन नहीं देंगे तो नहीं देंगे। बस अब हमारा यही फैसला है। चाहे काशीनाथ के आदमी इधर आकर हमें भटकाने की कोशिश करें पर हमारा फैसला यही है। जमीन के लिए हम अपनी जान दे सकते हैं पर हम जमीन नहीं दे सकते। स्त्रियां आज घर के कार्यों के साथ-साथ खेती एवं बाहर के कार्य बखूबी से निभाती हैं।

'काली चाट' उपन्यास में सुनील चतुर्वेदी ने महिला किसान रेशमी के माध्यम से महिला किसानों के संघर्ष को उजागर किया है। उपन्यास का पात्र भीमा बा सामंतवादी परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है। वह बेगारी में लोगों से कार्य करवाता है। एक दिन साहिबु अपने खेतों में फसल की बुवाई के लिए जल्दी में था। भीमा बा ने उसे पानी के ड्रम घर छोड़कर आने के लिए कहा। साहिबु का पांव बैलगाड़ी के नीचे आ गया। पैसे के अभाव के कारण वह समय पर इलाज नहीं करवा पाता। इसी कारण उसका पांव कट जाता है। उसने इलाज के लिए कुछ पैसे भीमा बा के पास अपनी जमीन गिरवी रख कर लिये थे। अब साहिबु की पत्नी रेशमी पर घर और खेत की जिम्मेदारी आ गई थी। 'घर और खेती बाड़ी का पूरा काम रेशमी ने संभाल लिया था। वह सुबह से शाम तक घर और खेत के बीच के बीच चकघन्नी बनी रहती। इन सब कामों के बीच वह साहिबु हर छोटी-बड़ी जरूरत का ध्यान रखती। वह इस बात की पूरी कोशिश करती कि साहिबु को अपंग होने का अहसास न हो। रात को जरा सी आहट होते ही हड़बड़ा कर बैठती।'[5] साहिबु को अपनी गिरवी रखी जमीन की चिंता रहती है। तब रेशमी साहिबु को समझाते हुए कहती हैं, 'तम चिंता क्यों करो हो। अब्भी म्हारा हाथ-पाँव साबुत है। मैं मजूरी करके भीमा बा को एक-एक पैसो चुका दूँगी और हमारी जमीन छुड़ा लूँगी।'[6] इस तरह से साहिबु की पत्नी अपने व भीमा बा के खेतों में मजदूरी करके कर्ज को उतारने का प्रयास करती है। इसी बीच साहिबु एक दिन घर छोड़कर चला जाता है, किन्तु रेशमी अपनी जिम्मेदारियों को आसानी से निभाती है। धीरे-धीरे दिन बीतने लगे। रेशमी कभी किसी के घर मजदूरी करके, तो कभी पंचायत में खंती खोदकर अपना और अपने बेटे का पेट पालने लगी। अब रेशमी सोचती है कि, 'जमीन पर साहिबु के बाद अब सुरेश का हक है और सुरेश को उसका हक मिलना चाहिए। साहिबु का कर्जा चुकाना उसका फर्ज है और मेहनत मजूरी करके पाई-पाई चुका देगी।'[7] परंतु भीमा बा ने जमीन देने से इंकार कर दिया। रेशमी अपनी जमीन को भीमा बा के चुंगल से छुड़वाने के लिए कलेक्टर को शिकायत दर्ज करवा देती है। आज तक भीमा बा के सामने बोलने की हिम्मत किसी की भी नहीं हुई थी। उस दिन कलेक्टर के सामने रेशमी ने भीमा बा को आवेश में आकर कहा, 'या तो मैं अब तक इसे चुप थी कि म्हारा माथे थारो करजो है। पर आज सच्चाई सामने आ गई है। तू जो असल मरद हो तो आज का बाद म्हारी जमीन पे पांव धर के बता जे। काट के नी फेंक दूं तो मैं भी एक बाप की औलाद नी।'[8] इस प्रकार महिला किसान अपनी जमीन को बचाने के लिए कलेक्टर कार्यालय में शिकायत दर्ज करवाती है और सुनवाई न होने के कारण चक्कर लगाती रहती है। अंत में वह अपनी जमीन को भीमा बा के चुंगल से छुड़वा लेती है। इससे स्पष्ट होता है कि महिला किसानों को प्रशासन एवं प्रशासनिक अधिकारियों की भी समझ है। इस समझ का प्रयोग करते हुए रेशमी भीमा बा से अपनी जमीन छुटवा लेती है। भीमा बा से जमीन छुड़वाने के बाद रेशमी अपने खेतों में मन लगाकर मेहनत करती है। वह खेती-किसानी के कार्य में निपुण हो जाती है। वह मौसम को देखकर पूर्वानुमान लगा लेती थी कि कब फसल की बुआई करनी है। अन्य किसान भी फसल बुआई के लिए उसका इंतजार करते हैं। रेशमी अपनी जमीन को बचाने के लिए जीवन भर संघर्ष करती रहती है।

संजीव ने अपने उपन्यास 'फांस' में महिला किसान शकुन एवं आशा के संघर्ष के माध्यम से संपूर्ण भारतीय कृषक महिलाओं के संघर्ष को उजागर किया है। शकुन घर गृहस्थी के कार्य के साथ-साथ वह अपने परिवार के साथ खेती के कार्य को निपटा कर दूसरे के खेतों में मजदूरी करती है। ताकि वह अपनी पुत्रियों का विवाह अच्छे घर में कर सकें। पति की मृत्यु के पश्चात् वह खेती व मज़दूरी करके अपनी दोनों बेटियों का विवाह खुद ही करती है। वहीं इसी उपन्यास की दूसरी महिला किसान पात्र आशा है। आशा का नवरा शराबी है। उसकी दो पुत्रियां हैं। वह घर एवं खेती के कार्य को अच्छे से करती है। वह अपनी पुत्रियों को पढ़ाती हैं और अपनी पुत्रियों के विवाह के लिए पैसे भी इकट्ठे करती है। उसके पास पुश्तैनी खेत मात्र ढ़ाई एकड़ थे। वह सोचती है, 'इतने पैसे से क्या होगा? सो आशा ने पति को कोंच-कोंचकर, बैल-सी जुतकर एक-एक कर तीन एकड़ जमीन खरीद ली। इस बीच बीज, खाद, सिंचाई, हाट-बाजार और परिवार भी संभालती रहीं, बोले तो, एक-एक कर वे दायित्व अपने कन्धे पर उठाती गयी।'[9] पति के शराबी होने पर आशा खेती के कार्य को अच्छे से संभालती है। पिछले तीन -चार सालों से प्राकृतिक आपदा के कारण उसकी फसल नष्ट हो गई थी। वह कर्ज के बोझ तले दब गई। अचानक एक दिन कर्ज से परेशान होकर वह आत्महत्या कर लेती है। आशा का पति सुरेश पुलिस अधिकारी को कहता है, 'देखो सहाब, तुम उसकी मौत को 'पात्र' घोषित करो या 'अपात्र', तुम्हारी मर्जी, मगर तुम्हें कोई हक नहीं कि मेरी बायको को लांछित करो। वो मुझसे ज्यादा पढ़ी-लिखी, सच्ची किसान थी। निखट्टू मैं था,शराबी मैं था...वो देवी थीं, देवी।'[10]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि कृषि के क्षेत्र में महिला किसानों की पुरूष किसानों की तुलना में अधिक हिस्सेदारी है। फिर भी उन्हें किसान होने का दर्जा नहीं दिया गया है। उनकी मेहनत को पुरुषों की तुलना में कम आंका जाता है। उनको पुरूषों की तुलना में कम मजदूरी दी जाती है। कृषि क्षेत्र में महिला किसानों द्वारा खेती में प्रयुक्त करने के लिए प्रयुक्त आधुनिक तकनीकी मशीनों का आविष्कार करना चाहिए और महिला किसानों को प्रशिक्षित भी किया जाना चाहिए, ताकि वो सही समय पर अपनी फसलों पर उनका प्रयोग कर सकें। उनको किसी पर आश्रित नहीं रहना पड़ेगा । भीमसेन त्यागी, सुनील चतुर्वेदी और संजीव जैसे उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में महिला किसानों के संघर्ष को उजागर किया है। भारत में ग्रामीण क्षेत्र की अधिकतर महिलाएं इसी तरह का संघर्ष करते हुए अपने प्राणों को त्याग देती है। परन्तु उन्हें किसान का दर्जा तक नहीं दिया जाता। उन्हें दर्जा दिया जाता है तो गृहिणी का।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1. अंकिता जैन, ओह ये! किसान, वाणी प्रकाशन नयी दिल्ली, प्रथम संस्करणः2020, पृष्ठ संख्या -166
2. वहीं, पृष्ठ संख्या -167
3. भीमसेन त्यागी, जमीन, भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली,प्रथम संस्करणः2004, पृष्ठ संख्या -298
4. राजकुमार राकेश, कंदील, आधार प्रकाशन पंचकूला,प्रथम संस्करणः2015, पृष्ठ संख्या -220
5. सुनील चतुर्वेदी, काली चाट,अंतिका प्रकाशन, गाज़ियाबाद, प्रथम संस्करणः2015, पृष्ठ संख्या -10
6. वहीं, पृष्ठ संख्या -10
7. वहीं, पृष्ठ संख्या -65
8. वहीं, पृष्ठ संख्या -70
9. संजीव,फांस, वाणी प्रकाशन नयी दिल्ली, द्वितीय संस्करणः2016, पृष्ठ संख्या -57
10. वहीं, पृष्ठ संख्या -147

Role of Daruvu in Kûcipudi

P. Soundarya Lahari
Research Scholar, Department of Indian Music
University of Madras Chepauk, Chennai

Dr. M. Subhasree
Assistant Professor, Department of Indian Music
University of Madras Chepauk, Chennai

Introduction :

Kûcipudi is one of the classical dance styles of India, with a combination of both dance and drama, from the state of Andhra Pradesh. It is a tradition in Kûcipudi to perform both musical and dance compositions and they are divided mainly into three divisions namely Yaksaganam, Kalapam and Prabandham. Ushaparinyamu, Prahlada Caritramu are Yaksagana-s which are probably the early compositions. Bhamakalapam is one sort of musical composition (opera) written and composed by Siddhendra yôgi of 17th century, that consists of dialogues, story-telling, poetry, prosody etc. Prabandham is a musical presentation with an emphasis on the lyrics and rhythm. Pallaki seva prabandham of Sahaji and Naukacaritramu, Prahlada bhakti vijayamu of Tyagaraja etc., are the prabandha-s. These three different compositions consist of many musical forms like Kîrtana, Pada, Padya (poetry), Daruvu, Curnika, Vacanamu (Prose) and so on.

Traditional Kucipudi performance:

In a traditional Kûcipudi repertoire, the performance commences with a prayer to the guru followed by the consecration of the stage by the performers. Later, another artist enters the stage as Lord Ganesa and a Ganapati stuti is performed with a jati. Then the salutations are offered to Lord Úiva and Parvati (Amba paraku Devi paraku). From here, the sutradhari carries the story forward and narrates it. In between the narration, the artists perform to padya-s, daruvu-s, kandardha-s and other musical forms.

The current study is about the note of Daruvu-s, types of Daruvu-s in Kûcipudi and its musical aspects with reference to Yaksaganam, Kalapam, Prabandham.

Daruvu in Musical Treatises :

यथा वर्णाद्रते चित्रं शोभते न निवेशनम्।
एवमेवं विना गानं नाट्यं रागं न ग्च्छति ?

The Natyasastra of Bharata describes about the term 'Dhruva' in the 32nd chapter. According to Natyasastra there are five types of Dhruva gana-s such as Pravesiki, Aksepiki, Prasasaki, Antara, Naiskramiki Dhruva-s. Dhruva gana is one of the seven Salaga Suda songs mentioned in the Sangitaratnakara of Sarngadeva, which describes the four types of dhatu-s such as Udgraha, Melapaka, Dhruva and Abhoga, in which Dhruva gana is the important dhatu. The Dhruva and the content of its two verses found in 32nd chapter of Natyaúastra and Prabandha adhyaya of Sangitaratnakara are similar[1]. The Margi Paddhati (pattern)

of Dhruva gana in Natyasastra and Sangitaratnakara is equal to the Daruvu in Devi Paddhati. After the period of Sangitaratnakara i.e., 13th century the term Daruvu came into existence. Even though Siddhendra Yogi has conceptualized the story, conversations, songs in pure Margi paddhati but in parallel, he merged Desi paddhati following the manodharma of the Sutradhari and Madhavi, in his work Bhamakalapam.

Raga-s in Daruvu:

In Kucipudi tradition, Daruvu is a very important musical form and the raga-s that are used exclusively in Daruvu are, Huseni, Nata, Bhairavi, Mohana, Surastra, Khamas, Arabhi, Todi and Anandabhairavi, Khamas, Madhyamavati and some rakti raga-s like Mukhari, Dhanyasi, Anandabhairavi. The raga-s that are adopted for singing Daruvu include Savvri, Kambhoji, Athana and Purvi kalyani. Ahiri is the most popular raga in the Kucipudi style operas. the oral tradition is the prominent one than the textual tradition in Kucipudi. The dancer and sutradhari sings along with the vocalist while performing[2]. Every daruvu starts with Konnakol sabda-s like 'tadhigina tom, tattadhim tak takitataka and so on according to the character and also the tala is based on the character and the bhava.

Structure of a Daruvu in Kucipudi:

- A Daruvu generally consists of six to eight lines with equal letters in each and it may change according to the role of the character and the story.
- Pallavi anupallavi caraG a division is not seen in daruvu.
- Jati-s can be fit in between the lines, starting and ending.
- A same line or a set of the lines are repeated in madhyama kala and then end in sama kala according to the requirement.
- A raga and tala generally depend upon the emotions of the nayiki-s and nayaka-s and also the scene.
- The Daruvu composition in Kucipudi is divided into three parts; nrtta, nrtya, natya. Nrtta-s are composed of several Tirmana-s and jati-s whereas nrtya is composed of abhinaya.

Daruvu-s in Carnatic music:

Daruvu is a particular type of musical form (sabha ganam), which relates a historical or puranic incident or ancient story, expressing love or the greatness of a generous person. It is often in madhyama kala, with pallavi, anupallavi (not always), and more than one caranam. There are eight types of Daruvu-s in Carnatic music such as pravesika, varnanai, samvada, svagata, uttara pratiuttara, jakkini, konangi and kolatta daruvu. Tyagaraja has composed daruvu-s in his two operas Naukacaritramu and Prahlada bhakti vijayamu. Example: Vasudevayani in Kalyani raga set to Adi tala (introductory song in the dance drama Prahlada bhakti vijayamu and it introduces the character "Dauvarikudu, a gate-keeper who goes to visit Sri Krsna-patra pravesa daruvu). Gowri Sankara Pallaki seva prabandhamu of Úahaji consists of 19 daruvu-s. Example: Idi vinarade in Sankarabharana raga set to Triputa tala.

Apart from the eight types of daruvu-s Sahaji has composed other daruvu-s like Sallamu daruvu, Lila daruvu, Ragamalika daruvu etc.[3] From the period of Sahaji these daruvu-s are also implemented in Kucipudi.

The singing of Daruvu is less in Carnatic music than that of usage in Kucipudi Yakc agana-s, prabandha-s and kalapa-s.

Types of Daruvu-s in Kucipudi:

Daruvu is one of the types of musical compositions belonging to the applied music. It is general sung in Opera-s and Dance dramas such as Yaksagana-s, Bhamakalapam, Prabandham etc. According to Kucipudi tradition, the Daruvu-s are of five types such as Pravesa Daruvu, Samvada Daruvu, Niskramana Daruvu, Lekha, Aksepika that are evolved from Natyasastra.

- **Pravesa Daruvu:** Pravesa daruvu is the main daruvu-s that introduces the character with song and dance. Pravesa literally means the entry. This is sung generally by the character itself. The character talks about his/her significances which sets the tone for the rest of the dance. For example: Bhamane satya bhamane (Satya-bhama's entry in Bhamakalapam.)

  Kanaka kasipudanu danujendrudipudu ghanata toda tanadu sabhaku vaccenu (Hiranyakasipu's entry in Prahlada Yaksaganamu, Yaksaganam).

  Koluvaiyunnde deva devudu (Pallaki seva prabandhamu, Prabandham).

- **Samvada Daruvu:** Samvada daruvu is a conversation between two characters and it convey the emotions of the characters. It is basically a dialogue based daruvu and helps in narrating the story. For example: Vinara balaka ne delpina (conversation between Gurus and Prahlada in Prahlada Yaksaganamu, Yaksaganam).

- **Niskramana Daruvu:** Niskramana daruvu is used to conclude the performance. It is an indication that the dancer leaves the stage.

- **Lekha :** Lekha is a daruvu that is used mainly to convey a message or a moral according to the situation. It gives the information to the audience. For example: Srimad ratnakara putrika (Bhamakalapam, a letter by Satyabhama to Krsna).

- **Aksepika:** Aksepika is a daruvu that helps in expressing the emotions and feelings and are generally sung by the background artists/sutradhari (other than the lead artist/story-teller) with the verse, I prakarambuuga satyabhama (in this way).

- In addition to these daruvu-s there are other types of daruvu-s which have come into existence in the period of Sahaji, namely Svagata daruvu, Varnana daruvu, Kolatta daruvu, Tillana daruvu, Jakkini Daruvu,Oradi daruvu.[4]

Analysis of Daruvu in Yaksagana :

Yaksagana is an open air theatre of dance-drama, and is believed to have been performed originally by Yak-s or Jakkulu, a particular class of people. The term Yaksaganam is first seen in a telugu literary work Bhimesvara puranam by Srinatha Kavisarvabhauma a telugu poet. it is said that he popularized the prabandha style of composition. Later on many Yaksagana-s were composed such as Prahlada Yaksaganamu, Usa parinayamu, Sasirekha parinayamu etc..,. Padya-s, vacana-s, daruvu-s, jati-s and so on are the musical forms in Yaksagana.

Example: 'Kanaka kasipudanu danujendrudipudu ghanata toda tanadu sabhaku vaccenu' is a Pravesa daruvu from Prahlada Yaksaganamu (entry of Hiranyakasipu).

Notation :

ṡ ṡ ṡ n p d p m	P d d m	g r r s
Ka na ka ka śi pu ḍa nu	da nu jēn .	. . dru ḍu
ṡ ṡ ṡ ṡ n d, d d	p d ṡ , ṡ n d p	p m p d
gha na ta tō . . ḍa	nā du . sa . bha ku	va . cce nu
p m p d ṡ ṡ ṡ ṙ	ṁ , ṁ ġ r , ṡ ,	n d p m
di na ka ra śa ta kō .	ṭi . dī . . . pta.	ve li ge ḍu
ṡ ṡ ṡ ṡ ṡ ṙ ṡ , ṙ ṡ , ṙ ṡ ṙ ṡ ṡ	ṡ ṡ ṡ ṡ ṡ ṙ ṡ ,	ṙ ṡ , ṙ ṡ ṙ ṡ ṡ
di na ka ra śa ta kō. ṭi dī . pta ve li ge nu	di na ka ra śa ta kō.	ṭi dī . pta ve li ge nu

- Here, the Pravesa daruvu of Hiranyakasipu is composed in Saveri raga set to Adi tala madhyama kala[5].
- A jati is sung at the starting of daruvu and in between the sahitya also jati-s are included.
- Many svaraksara-s are seen in this daruvu.

  For example: s s s

  sa ta ko
- The 2nd phrase of dinakar satakoti', is sung in the fast speed according to the character's abhinaya and sañcari-s.

Analysis of Daruvu in Kalapam :

The term Kalapam is defined as the 'Kalpita katha' which literally means imaginative story. Bhamakalapam in kucipudi implies the expression of agony of Satyabhama, one of the queens of Lord Krsna and it is composed by Siddhendra yogi who belongs to 16th century. Bhamakalapam include the dialogue, song, story-telling, dance etc., on whole it is known an ancient lyrical opera. Later on many kalapam-s are emerged according to the time such as Golla kalapam etc. and the Kalapam consist large number of daruvu-s, kanda and dvipada-s kandardha-s, curnika-s etc,. Though the oral tradition is followed largely, there are 82 manuscripts and texts of Bhamaklapam are available in Tanjore Sarasvati Mahal library.

Example: 'Bhamane Satyabhamane vyyari muddula Satyabhamane is a pravesa daruvu from Bhamakalapam in raga Huseni set to Misra capu tala.[6]

P Ṡ S S̈ N D P	M G R S , R M	G , R G , S ,	, , , , , S Ṇ
Bhā . ma nē . . .	. . . sa. tya .	Bhā ma nē . .	. . . . . vy .
S R , Ṇ S , R , M	M M , , , M P	M G R , G M P Ṙ	
Yā . . . ri . mu.	ddu la . . . vy.	Yā . . . ri sa . tya	
Ṡ , S̈ P, D P	M G R S , R M	G . R G , S ,	, , , , , , ,
Bhā . ma nē . . .	. . . sa. tya .	Bhā ma nē . .	. . . . .

- The pravesa daruvu is followed by jati.
- Initially Bhamane pravesa daruvu used to be sung in vilamba kala so that Bhama can do her abhinaya. That is why it is set to Misra capu tala in Huseni raga.
- However, due to the time factor, people are singing it in madhya-makala and some are singing in Bhairavi raga.
- The jati-s are included in between the sahitya in different gati-s.

Analysis of Daruvu in Prabandha :

Prabandha is a very old and prominent term related with every musical composition. In Tamil, the Vaisnava Alvar-s have composed Nalayira divya prabandham a group of 4000 songs on Lord Visnu is regarded as a major example for prabandha-s. In the later period the king of Tanjore Raja Sahaji has composed many two prabandha-s namely, Visnu pallaki seva prabandham and Sankara pallavi seva prabandham which consist of Kirtana-s, padya-s, curnika-s and daruvu-s. In addition to the five types of prabandha-s Sahaji has composed Sallam daruvu, Jakkini daruvu etc..,.

Example: Koluvy yunnade deva devudu is a pravesa daruvu and the first compositing from Sankara seva pallaki prabandham of Sahaji in raga Sarikarabharanam and Capu tala.[7]

, S S R R G , M ,	G , M G R R G R , S ,	; ; G M P	PPMMG,-MGRMGR-GR
. ko lu vy . . . yu	nnā. . . . dē	. . dē . va	Dē. . . vuḍu . . . . .
S N S S R R G , M ,	G , M G R R G R , S ,	Ṡ ; ; ;	; ; ; ,
. ko lu vy . . . yu	nnā. . . . dē	. . . .	. . . .

- A Jati is followed by the pravesa daruvu.
- There are no jati-s mentioned in the text but later on the Kucipudi dancers have included jati-s.
- It is a pallavi that consists of one sangati (phrase).
- However, now it is sung in Latangi raga and Simhendramadhyamamu raga as a ragamalaki instead of Sankarabharanam.
- It seems that Úahaji has given the raga Sankarabharanam for the first daruvu as the title of the work contains with the word Sankara in it.

Conclusion :

- It is to be concluded that though there are various types of Daruvu-s both in musical and dance form, they are significantly used in the performances of Kucipudi such as Yaksagana with various jati-s and sollkattu svara-s that enhances the performance.
- Musical treatises such as Natyasastra of Bharata, Sangitaratnakara of Sarngadeva signify the musical form Daruvu-s as Dhruva gana-s.
- Various daruvu-s have evolved according to the time period such as Svagata daruvu, Varnana daruvu, Kolatta daruvu, Tillana daruvu, Jakkini Daruvu, Oradi daruvu.

Bibliography :

1. Manomohan Ghosh. *The Natyasastra, Vol. II.* December 1961, Pub.by The Asiatic Society, Calcutta. https://www.dropbox.com/s/rb3j5mngdztbzbd/TxtSkt-nATyaSAstra-MMGhosh-EngTrn-v2-ch28to36-0031a.pdf?dl=0
2. Sarangadeva. *Sangitaratnakara of Sarngadeva: With Kalanidhi of Kallinatha and Sudhakara of Simhabhupala: Vol. I - Adhyaya 1* 1943. (S. P. S. Sastri, Ed.; Vol I The Adyar Library.

   http://musicresearchlibrary.net/omeka/items/show/827
3. Ramanathan. N. *Musical Forms in Sangitaratnakara, by N Ramanathan,*1999. *https://www.dropbox.com/s/o5rveeslc885x2u/BkE-RamanathanN-Musical-Forms-in-Sangitaratnakara-1999-0269.pdf?dl=0*
4. S Seetha. *Tanjore as a seat of Music (During the 17th, 18th and 19th centuries),* 2001, Department of Indian Music, University of Madras. https://www.dropbox.com/s/dzxlnodb9qanoim/BkE-SeethaS-Tanjore-as-a-seat-of-Music-2001-0309.pdf?dl=0
5. M Prameela. *Kathakalakshepa A Study.* 1984, Department of Indian Music, University of Madras. http://hdl.handle.net/10603/253768
6. P Sambamoorthy. *Pallaki Seva Prabandham, Telugu Opera of Shahaji Maharaja of Tanjore.* December 1955.
7. https://youtu.be/EnhuoYxLQKM

हिन्दी चित्रपट संगीत में पार्श्व गायन परम्परा

प्रतिभा कुमारी
शोधार्थी-यू.जी.सी.-नेट/जे.आर.एफ (संगीत विभाग)
रघुनाथ गर्ल्स पी. जी. कॉलेज, मेरठ (उ.प्र.)

संगीत आदि काल से ही मानव की संवेदनाओं एवं भावनाओं की अभिव्यक्ति का एक प्रमुख अंग अथवा साधन रहा है। इसके अतिरिक्त नृत्य, नाटक, चित्रकला, मूर्तिकला और कविता व भाषा आदि कई माध्यमों से मानव अपने मन के भावों की अभिव्यक्ति करने लगा। कालान्तर में ये ही माध्यम विशिष्ट कलाओं के रूप में सामने आए संगीत का इन कलाओं में प्रमुख स्थान तो है ही साथ ही इसके अपने भी अनेक स्वरूपों की व्यवहारिकता देखी जाती है। पार्श्व संगीत, संगीत का एक प्रमुख प्रकार है, जिसकी परम्परा संगीत में बहुत प्राचीन है। पार्श्व संगीत शब्द का अर्थ है- पीछे का संगीत। ऐसा संगीत जिसका व्यवहार किसी भी रचना और कार्यक्रम में प्रत्यक्ष रूप से न होकर अप्रत्यक्ष रूप से होता है, उसको हम पृष्ठभूमि अथवा पार्श्व संगीत कहते हैं। अगर आधुनिक काल के अनुसार इसकी परिभाषा करते हैं, तो यह इस प्रकार होगी - किसी भी प्रकार के कार्यक्रम रचना आदि में विभिन्न भावों की उत्पत्ति के लिए हम संगीत के जिस रूप का व्यवहार अप्रत्यक्ष रूप से करते हैं, उसको पार्श्व संगीत कहते हैं। भरत काल में पार्श्व शब्द का उल्लेख कहीं नहीं मिलता, इस शब्द के स्थान पर 'नेपथ्य' शब्द का प्रयोग किया गया है। आधुनिक अथवा वर्तमान काल में 'नेपथ्य संगीत को ही पार्श्व संगीत कहा जाना गलत नहीं है। संस्कृत नाटकों के संदर्भ में विभिन्न ग्रंथों में नेपथ्य' शब्द का अर्थ परदे के पीछे का स्थान अथवा मंच के किसी अदृशय भाग को कहा गया है। इसके अतिरिक्त मंच के उस भाग को भी नेपथ्य कहा गया है, जिस भाग में कलाकार अपना रूप उभारते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि 'नेपथ्य' शब्द की पहचान इस अर्थ में नाट्यशास्त्र तथा संस्कृत नाटकों के कारण ही हुई है। प्राचीन काल से ही गायन, वादन एवं नृत्य इन तीनों कलाओं द्वारा सामाजिकों को आनन्द प्रदान कराने की परम्परा रही है ये तीनों अंग अपने आप में स्वतंत्र हैं परन्तु एक दूसरे की सहायता से खिल उठते हैं। गायन और नृत्य में जब वादन का समावेश हो तो वह अधिक मनोरंजक हो जाते हैं क्योंकि गायन का प्राण है ताल और ताल का आधार है वाद्य वाद्यों की ध्वनियाँ भय द्वन्द, चिंता, चंचलता, दृढ़ता आदि भावों को व्यक्त करने में अत्यधिक सफल होती हैं।'

पार्श्व संगीत का अर्थ एवं परिचय :

'नेपथ्य' शब्द का वर्णन भरत से पहले कालिदास आदि नाटककारों ने भी किया है। इस विषय में कालिदास ने कहा है कि नाटक आदि में विभिन्न प्रकार की सूचना देने तथा विभिन्न प्रकार के भावों की उत्पवि के लिए 'नेपथ्य' से सुनाई देने वाले कथनों एवं संगीत का प्रयोग किया जाता है। अतः कालिदास ने संगीत के साथ-साथ विभिन्न प्रकार की सूचना

आदि देने को भी पार्श्व अथवा 'नेपथ्य' संगीत के अन्तर्गत रखा है। मालविकाग्निमित्र नामक नाटक के संदर्भ में वर्णन मिलता है कि मंच पर उपस्थित पात्रों को मृदंग की ध्वनि के माध्यम से नृत्य करने का संदेश दिया गया है। इस प्रकार 'नेपथ्य' शब्द का अर्थ काफी विस्तृत जान पड़ता है। वर्तमान काल के अनुसार पार्श्व संगीत की परिभाषा करते हैं, तो यह कहना उचित ही लगता है कि चलचित्रों और नाटकों आदि में विभिन्न भावों एवं रसों आदि की उत्पत्ति के लिए जिस संगीत का प्रयोग हम अप्रत्यक्ष रूप से करते हैं, उसको पार्श्व संगीत कहते हैं। प्राचीन काल में किसी न किसी रूप में इसी को 'नेपथ्य' संगीत कहा जाता रहा है। एक अन्य विद्वान के अनुसार पार्श्व संगीत उस संगीत को कहते हैं, जिस संगीत का व्यवहार श्रोताओं के सामने प्रत्यक्ष रूप से न करके विभिन्न गायक, गायिकाओं और वादक, वादिकाओं के माध्यम से किसी नाटक अथवा फिल्म आदि की किसी घटना के विशिष्ट प्रकार के भाव उत्पन्न करनके लिए किया जाता है। इसी प्रकार एक आधुनिक विद्वान के अनुसार फिल्मों अथवा चलचित्रों के दृश्यों को प्रभावी बनाने के लिए जिस संगीत का प्रयोग किया जाता है, उसको पार्श्व संगीत कहते हैं। इस प्रकार अनेक विद्वानों ने पार्श्व संगीत की अपनी समझ और व्यवहारिकता के आधार पर कई प्रकार से परिभाषायें की हैं। परन्तु अगर इन सबका सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन किया जाए तो निष्कर्ष यही निकलता है कि ऐसा संगीत जिसका व्यवहार परदे और मंच पर प्रत्यक्ष रूप से न होकर पीछे से होता है, अथवा अप्रत्यक्ष रूप से होता है, उसको पार्श्व संगीत कहते हैं।

पार्श्व संगीत को ही पृष्ठभूमि संगीत भी कहा जा सकता है पृष्ठिभूमि संगीत से अभिप्राय उस संगीत से जिसका प्रयोग हम प्रत्यक्ष रूप से न करके अप्रत्यक्ष रूप से विभिन्न भावों की अभिव्यक्ति के लिए करते हैं। इस संगीत का प्रयोग हमारी सांस्कृतिक अथवा सांगीतिक परम्परा में प्राचीन समय से ही किया जाता रहा है नाट्यशास्त्र में 'ध्रुवगान' नामक एक सांगीतिक विधा का वर्णन मिलता है। ध्रुवगान का अर्थ है, वह गान अथवा संगीत जिसका प्रयोग हम नाट्य में विशिष्ट भाव अथवा रस को प्राप्त करने के लिए अथवा निष्पत्ति के लिए प्रयोग करते हैं। आज ध्रुवागान प्रचार में नहीं है, परन्तु अगर आज के पृष्ठभूमि संगीत का प्रयोग रेडियो, दूरदर्शन, सिनेमा और नाटक आदि में भी किया जाता है। सही मायने में अगर यह कहा जाये कि पार्श्व संगीत के अभाव में विशिष्ट कार्यक्रम के विशिष्ट भाव को उत्पन्न करना मुश्किल ही नहीं नामुमकिन सा प्रतीत होता है, तो अतिश्योक्ति नहीं होगी। दूरदर्शन में तो पार्श्व संगीत का प्रयोग अति महत्वपूर्ण है। दूरदर्शन पर जितने भी कार्यक्रमों का प्रसारण होता है, उन सब में पार्श्व संगीत अवश्य ही होता है।

आधुनिक समय में किसी पात्र का ऐसा गान या बजाना जो वास्तव में वह स्वयं नहीं गाता या बजाता बल्कि उसको गाने वाला या बजाने वाला पर्दे का आड़ में रहकर उसके बदले में गाता या बजाता है उसे नेपथ्य या पार्श्व संगीत कहते हैं। अंग्रेजी में इसे प्लेबैक म्यूज़िक या बैकग्राउण्ड म्यूज़िक कहते हैं। जो मण्डली पूर्व सूचनानुसार अपने वाद्यों को बजाती है उसे पार्श्व संगीत कहते हैं। पार्श्व संगीत, संगीत के उस प्रकार को कहते हैं जो रसिकों को अथवा श्रोताओं को प्रत्यक्ष रीति से सुनाने हेतु बजाया जाता परन्तु गायक, गायिकाओं के साथ संगत के लिए अथवा भावपूर्ण घटनाओं को या गीत को भावनाओं को बढ़ावा देने हेतु बजाया जाता है। इस संगीत का परिणाम अप्रत्यक्ष रीति से श्रोताओं पर पड़ता है। इसी कारण इसे पार्श्व संगीत (Background Music) कहा जाताहै। फिल्म के विभिन्न दृश्यों को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए स्थिति और भाव के अनुसार जो संगीत दिया जाता है वह पार्श्व संगीत कहलाता है।

पार्श्व संगीत की परम्परा :

गान की सहज प्रवृत्ति के विकास में सर्वप्रथम गुनगुनाना, तत्पश्चात् सार्थक शब्द समूहों को दो-चार स्वरों में गाना और फिर स्वर, शब्द और लय को सामूहिक रूप से प्रस्तुत कने का विकासात्मक क्रम दिखाई देता है। विकासवादी विचारधारा के प्रणेता डार्विन के मानव अवतरण के अनुसार वैज्ञानिकों के निरीक्षण के आधार पर यह सिद्ध हुआ है कि पशु-पक्षियों की ध्वनि में भी स्वरों के अंतराल पाए जाते हैं जिनका प्रयोग ये निराशा, भय, क्रोध, विजय और आनन्द आदि के भाव को प्रकट करने के लिए करते हैं। भारतीय मनीषियों ने संगीत की इसी भावनात्मक प्रकृति को ध्यान में रखते हुए भावों की अभिव्यक्ति के लिए इस कला का प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया। सूक्ष्मता से विचार करें तो ज्ञात होता है कि संगीत और पार्श्व संगीत का उद्भव एक ही समय हुआ है, परन्तु संगीत के इस रूप अथवा प्रकार को मान्यता नाटक आदि में व्यवहृत होने के बाद ही प्राप्त पाई है। पार्श्व संगीत को पहचान दिलाने में कालीदास, भास और शूद्रक जैसे नाटककारों और भरत जैसे मुनियों एवं मनीषियों का योगदान अति महत्वपूर्ण रहा है। यहीं से पहचान पाकर पार्श्व संगीत की परम्परा अपने विकास की ओर उन्मुक्त होती है। वैदिक काल से उद्भव हुए संगीत और पार्श्व संगीत को पहली से पांचवीं ई॰ के मध्य लिखे गए ग्रन्थ नाट्यशास्त्र में एक व्यवस्था प्राप्त हुई। इससे पहले भी कालीदास आदि के नाटकों के संदर्भ में पार्श्व संगीत के प्रयोग के प्रमाण मिलते हैं यहाँ पर ध्यान देने योग्य बात है कि इस समय में इसको पार्श्व संगीत न कहकर 'नेपथ्य' का संगीत कहा गया है। नेपथ्य के संगीत के वर्णन अन्य भी कई ग्रन्थों में मिलते हैं। सही मायने में अगर सूक्ष्म रूप से देखा जाये तो संगीत के इस रूप का वर्णन व व्यवहार किसी न किसी रूप में हमारे संगीत एवं संस्कृति में प्राचीन काल से ही होता आ रहा है।

वैदिक साहित्य में अनेक स्थानों पर यजमान की पत्नी के द्वारा साम-गान गाते हुए वीणा की संगति करने का उल्लेख है। तैत्तिरीय संहिता के अनुसार महाव्रत नामक सोमयोग में सामगायक उद्गाता जब 'भद्र' नामक साम का गान करते थे, तब यजमान की पत्नी अपने कंठ स्वर से उनकी संगति करती थी। हिरण्य केशी सूत्र में प्राप्त उल्लेखानुसार साम-गान के साथ यजमान की पत्नियाँ अपघाटलिका, अघाटी, पिच्छोला, कर्कटिका स्तम्बलवीणा तालुकवीणा, काण्डवीणा, अलाबु तथा कपिशीषणी वीणा वादन करने के साथ गाते हुए संगति करती थीं। ''लाट्यायन सूत्रानुसार उपागायन के पश्चिम भाग में यजमान की पत्नी बैठकर बारी-बारी से काण्डवीणा व पिच्छोला को उलट-पलट कर बजाये और सामगायक का साथ करें, मुख से फूंककर पिच्छोला बजायें- इस प्रकार के निर्देश हैं। वर्तमान समय में साम गान के साथ किसी वाद्य का वादन नहीं होता है, किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि प्राचीन काल में सामवेद के साथ वीणा बजती थी। इस प्रकार सामगान व अन्य भी अनेक अवसरों पर गीत संगीत व नृत्य के साथ विभिन्न प्रकार के वाद्यों के वादन की परम्परा सहज ही दिखाई पड़ती है। अगर बहुत अधिक विश्लेषण किया जाए तो संगति भी एक प्रकार का पार्श्व संगीत ही है अथवा यह कहा जा सकता है कि इतने प्राचीन काल में पार्श्व अथवा सहयोगी संगीत की ऐसी ही परम्परा रही होगी। कालान्तर में आवश्यकता एवं रूचि के अनुसार इसमें परिवर्तन एवं संवर्धन होते रहे और आज वही परम्परा पार्श्व संगीत के रूप में हमारे सामने व्यवहार में आ रही है।''

भरत नाट्यवेद के आद्य आचार्य हैं। इन्हें नाट्यवेद की शिक्षा ब्रह्मा से मिली अपने पुत्रों को इन्होंने उनकी योग्यता के अनुसार नाट्य के अंगों की शिक्षा दी। आत्रेय इत्यादि ऋषियों ने नाट्यवेद का श्रवण भरत से ही किया। महर्षि भरत ने नाट्य के

समस्त अंगों पर विचार किया है तथा संगीत के मूलभूत सिद्धान्त भी वैज्ञानिक ढंग से प्रतिपादित किए हैं। भरतनाट्यशास्त्र में चित्रा, विपंची आदि वीणाओं की चर्चा है। भरत की वीणा मत्तकोकिला कही गई है। अगर नाट्य की परम्परा की ओर सूक्ष्मता से ध्यान दिया जाता है, तो यह सहज ही मालूम हो जाता है कि संगीत प्रारम्भ से नाट्य का एक अभिन्न एवं प्रमुख अंग रहा है। भरत ने नाटक के दृश्यों में संगीत का अलग-अलग प्रकार से व्यवहार करने का विधान बताया है। नाट्यशास्त्र में ध्रुवा गान नामक संगीत की एक विधा का वर्णन मिलता है। इस सांगीतिक विधा का प्रयोजन ही नाट्य के भावों की अभिव्यक्ति में सहायक होता है अर्थात् ऐसा संगीत जिसका व्यवहार नाट्य आदि में विभिन्न भावों की अभिव्यक्ति के लिए ही होता है। उसको ध्रुवागान कहते हैं। इसी प्रकार के संगीत को ही नेपथ्य और पार्श्व संगीत के नाम से जाना गया नाट्य के इस महान ग्रन्थ में नेपथ्य और पार्श्व संगीत का वर्णन विस्तृत रूप से हुआ।

भारतीय संगीत के अनेक पाश्चात्य वाद्यों का भी प्रवेश हुआ। हारमोनियम, वायलिन, मैण्डोलियन आदि वाद्यों को भारतीय संगीतज्ञों ने बड़े चाव से अपनाया तथा उन पर भारतीय संगीत का वादन भी किया जाने लगा। आज हमें लगभग सभी फिल्मी गीतों में पाश्चात्य वाद्यों का प्रयोग तो सुनाई देता ही है, साथ ही उनकी वादन शैली का अनुसरण भी स्पष्ट रूप से झलकता दिखाई पड़ता है। अंग्रेज लोग प्यानों, आरगन और जलतरंग आदि अनेक वाद्य अपने साथ लाए थे। प्रारम्भिक दौर में चलचित्रों में पार्श्व संगीत अथवा संगीत को एक आवश्यक तत्व के रूप में जोड़ने का कार्य जिन दो महान व्यक्तियों ने किया उनमें पहला नाम अमेरिका के बी॰ डब्ल्यू॰ ग्रिफ्थ का है। ग्रिफ्थी को संगीत की अच्छी समझ थी, परन्तु वे स्वरकार अथवा रचनाकार नहीं थे परन्तु उन्होंने दूसरे रचनाकारों की सहायता से अपनी फिल्मों के लिए संगीत की स्वरलिपियाँ तैयार कर ली थीं। ऐसा माना जाता है कि इनका वास्तविक लक्ष्य भी फिल्मों में पार्श्व संगीत को जोड़ना था। इस परम्परा पर व्यवहारिक तौर पर विचार करने वाले दूसरे विचारक 'आइजैंस्टाइन माने जाते हैं। इन्होंने अपनी एक फिल्म के लिए जर्मनी के संगीतकार 'एडमंड माइजेल' से पार्श्व संगीत तैयार करवाया था। मूक फिल्म होने के बावजूद यह संगीत काफी प्रभावोत्पादक सिद्ध हुआ।'

पार्श्व संगीत के वर्तमान स्वरूप की संकल्पना मूल रूप से पाश्चात्य सांगीतिक परम्परा एवं वाद्यों पर ही निर्भर करती है। 17वीं शताब्दी के लगभग पश्चिम देशों में वाद्यवृन्द का स्वरूप निर्मित हो चुका था। इस परम्परा का भी पार्श्व संगीत में बहुत योगदान रहा है। इसी समय वाद्यों से उत्पन्न होने वाले भावों एवं रसों व उनकी प्रयुक्ति के विषय में काफी कार्य हुआ ऐसा माना जाता है कि पश्चिम की परम्परा में पार्श्व संगीत का प्रयोग प्रथम बार किसी न किसी अंश में ऑपेरा में होना शुरु हुआ। भारत में सर्वप्रथम नौशाद साहब ने पाश्चात्य वाद्यों का प्रयोग चित्रपट फिल्म जादू में किया था। इस फिल्म का निर्माण सन् 1951 ई॰ हुआ था। पार्श्व संगीत में मँडोलियन और बांसुरी को प्रमुखता दिलाने का श्रेय भी इन्हीं को जाता है। इस प्रकार पार्श्व संगीत की यह परम्परा वैदिक काल से चल कर कालिदास, भास और शुद्रक जैसे महान नाटककारों के नाटकों में व्यवहृत होते हुए 'नाट्यशास्त्र' जैसे महान ग्रंथ में अपनी अलग पहचान को प्राप्त हुई। इसके बाद पार्श्व संगीत की परम्परा विकास के अनेक पड़ाव को पार करके यह सिनेमा अथवा फिल्मों का एक प्रमुख अंग बन कर उभरी। वर्तमान समय में पार्श्व संगीत नाटक और सिनेमा के साथ-साथ, लगभग सभी प्रकार के दृश्य और श्रव्य कार्यक्रमों का अहम

हिस्सा बन चुकी है। दूरदर्शन में धारावाहिकों, विज्ञापनों, सूचना सम्बन्धी कार्यक्रमों और अन्य भी लगभग सभी प्रकार के कार्यक्रमों में पार्श्व संगीत का व्यवहार एक आवश्यक तत्व के रूप में हो रहा है।

पार्श्व गायन का आरम्भ सन् 1934 ई॰ में निर्देशक ''नितिन बोस'' द्वारा बनाई गई फिल्म ''भाग्य चक्र'' से हुआ। इस फिल्म के कलाकार थे प्रेम अदीब और बेगम पारा। यह पहली फिल्म थी। जिसमें एक गायक ने किसी अभिनेत्री के लिए अपनी आवाज दी थी। इससे पहले पार्श्व गायन की तकनीक नहीं थी। फिल्म कलाकारों को ही 'माइक' के सामने खड़े होकर गाना होता था। जिसे पार्श्व गायन की बजाय प्रत्यक्ष गायन कहना उचित होगा।

'भाग्यचक्र' की कहानी के अनुसार अभिनेत्री (नायिका) को एक शास्त्रीय गीत गाना था। फिल्म की अभिनेत्री बेगम पारा शास्त्रीय गायन नहीं जानती थी। नितिन बोस के काफी मेहनत करने के बाद भी वह गीत नहीं गा पा रही थी। एक दिन नितिन बोस शास्त्रीय गायिका पी॰ हीरा लक्ष्मी का गायन सुन रहे थे, उसी समय उनके दिमाग में उनसे पार्श्व गायन कराने की बात आई। अब शूटिंग पर कैमरे के सामने बेगम पारा मुँह हिला रही थी और पर्दे के पीछे पी॰ हीरा लक्ष्मी गा रही थी। 'न्यू थियेटर्स' के जमाने में जिस विरले संगीत साधक ने सबसे पहले चलचित्र में पार्श्व गायन को स्थान देने के गम्भीर दायित्व का निर्वाह किया था, वे थे 'रामचन्द्र' बोराल प्लेबैक सिंगिंग की शुरूआत उन्होंने सन् 1934 ई॰ में नितिन बोस द्वारा निर्देशित फिल्म 'भाग्य चक्र' से की। प्ले-बैक सिंगिंग और वाद्ययन्त्रों द्वारा साउण्ड इफेक्ट की शुरुआत भी आर॰ सी॰ बोराल की उपलब्धियों में से एक थी। उन्होंने चार्ली चैपलिन द्वारा निर्देशित फिल्म 'ए सिटी लाइफ' को चालीस बार देखा था।

पार्श्व गायन पद्धति के कुछ महत्वपूर्ण कारण थे, यह महज एक नया प्रयोग ही नहीं था। संगीतकार यह महसूस कर रहे थे कि फिल्मी गीतों में गायन का स्तर सुधारना चाहिये और आवाज़ भी सुधरी हुई होनी चाहिये। जो अच्छे कलाकार आ रहे थे, उनमें गायन क्षमता तो बिल्कुल नहीं थी या फिर थोड़ी बहुत थी यदि उन्हें गीत गाते हुए दिखाना था तो उनके लिए उधार की आवाज़ का इंतजाम करना जरूरी था। यानि यह तथ्य स्वीकार किया जाने लगा कि जरूरी नहीं है कि एक अच्छा गायक अच्छा अभिनेता हो तथा एक अच्छा अभिनेता एक अच्छा गायक भी हो।

पार्श्व गायन की शुरुआत के जमाने में इसका अर्थ आज जैसा नहीं था, इसका अर्थ था कि नायक-नायिका खुद ही शूटिंग से पहले अपना गीत रिकार्ड करेंगे फिर उन्हीं पर उसे फिल्माया जायेगा। अब आवाज को पहले रिकॉर्ड करने की सुविधा प्राप्त हो गई है तो किसी बेहतर गायक की आवाज का इस्तेमाल क्यों न किया जाये। यानि बेहतर आवाज के साथ-साथ बेहतर चेहरे के लिए भी रास्ता खुल गया।

पार्श्व गायन के लिए बड़ी सहायक बात यह हुई कि स्टार अभिनेता इतने व्यस्त होते चले गए कि अच्छे गायक कलाकारों को भी पार्श्व गायकों की आवश्यकता पड़ने लगी। जो अभिनेता ठीक से गा नहीं पाते उनके लिए यह वरदान सिद्ध हुई। आरम्भ में दर्शक पार्श्व गायन से ज्यादा प्रभावित नहीं हुए। पार्श्व गायन के प्रति लोगों में कोई उत्साह नहीं था। इसके मुख्य कारण थे - एक तो ग्रामो फोन बनाने वाली कम्पनियाँ और दूसरा फिल्म निर्माता लगातार इस बात को छिपाने की कोशिश करते रहे कि अभिनेताओं के लिए दूसरों की आवाज ली गई हैं।

लेकिन धीरे-धीरे जब लोगों को पार्श्व गायन का ज्ञान हुआ तो उन्होंने इसे अपना लिया। अब पार्श्व गायन अपनी जड़ें जमा रहा था। दर्शक विभिन्न

गायकों की आवाजों को पहचानने लगे थे तथा उधार की आवाज़ को स्वीकार करने लगे थे। इसी बीच सन् 1944 ई॰ में ''रतन'' फिल्म आई जिसमें संगीतकार नौशाद के निर्देशन में जोहरा बाई अम्बाले वाली ने अत्यन्त मोहक गीत गाए जो घर-घर में लोकप्रिय हुए। दरअसल इस फिल्म ने जोहरा बाई को तो पार्श्व गायिका के रूप में पहचान दी ही, अपितु फिल्म संगीत और पार्श्व गायन को भी स्थापित किया।

सन्दर्भ सूची :

1. पं॰ जगदीश नारायण पाठक, संगीतबंध माला पृ॰-2
2. डॉ॰ उमा गर्ग, संगीत का सौन्दर्य बोध (फिल्म संगीत के सन्दर्भ में), पृ॰-54
3. रामचन्द्र वर्मा, हिन्दी मानक कोष, प्रा॰-33
4. रामचन्द्र वर्मा, मानक हिन्दी कोष पृ॰-34
5. तुलसीराम देवांगन, भारतीय संगीत शास्त्र पृ॰-24
6. लक्ष्मी नारायण गर्ग, हमारे संगीत रत्न, पृ॰-74
7. भरत मुनि, नाट्यशा, अध्याय-32, श्लोक-493, पृ॰-338
8. डॉ॰ कविता, भारतीय संगीत में वाद्यवृंद, पृ॰-35
9. बबिता जैन, उत्तर भारतीय संगीत के सन्दर्भ में वाद्यवृन्द का महत्व, पृ॰-140
10. उमा गर्ग, संगीत का सौन्दर्य बोध, पृ॰-5-6
11. एरिक बानो एवं एस॰ कृष्ण स्वामी, इण्डियन फिल्म, पृ॰-16
12. आलेख वी॰ के॰ शुक्ल, कुछ पुराने चित्रपटों के गीत संगीत पर एक नज़र, अगस्त-1981, पृ॰-25

पंजाब प्रांत के प्रमुख लोक वाद्य : एक अध्ययन

रामा
पी.एच.डी. शोधार्थी (प्रदर्शन कला-संगीत विभाग)
लवली प्रोफेशनल यूनिवर्सिटी, फगवाड़ा, पंजाब

पंजाब, जिसे भारत की खड़ग भुजा की उपाधि प्राप्त है, अपने शौर्य, बलिदान, साहस, त्याग एवं जीवन को उल्लास के रूप में जीने के लिए प्रसिद्ध है। प्राचीन काल से ही यहां की भौगोलिक स्थिति में परिवर्तन होता रहा। भारत का प्रवेश द्वार होने के कारण बाहरी आक्रमणकारियों का यहां के लोगों को सबसे पहले सामना करना पड़ता था, अतः वीरता यहां की मिट्टी में रची बसी। इसके साथ ही जीवन को उमंग एवं हौंसले के जज़्बे के साथ जीने की कला भी यहां के लोगों में देखी जा सकती है, जिसका प्रतिबिम्ब पंजाब के संगीत में छलकता है। इस प्रांत के परिवेश की स्वाभाविक अभिव्यक्ति यहां के लोक संगीत में देखी जाती है। पंजाब के लोक गीत वीर, प्रेम, भक्ति आदि विषयों को सहज रूप में परिलक्षित करते हैं। यहां के लोक नृत्य लोगों के अलमस्त स्वभाव के प्रतीक हैं। लोक संगीत की प्रस्तुति में गीतों और नृत्यों के साथ जिसका अवदान महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है, वह हैं- लोक वाद्य। पंजाब के लोक वाद्यों पर चर्चा करने से पूर्व लोक शब्द की व्याख्या अभिप्रेत है।

मानक हिन्दी कोश के अनुसार :

'लोक' शब्द का अर्थ है- ''1. कोई ऐसा स्थान जिसका बोध देखने से होता हो-जगह। 2. जगत या संसार। 3. विश्व का कोई विशिष्ट भाग या स्थान जिसमें कुछ अलग प्रकार के जीव या प्राणी रहते हैं, जैसे- जीवलोक, देवलोक, ब्रह्मलोक, मनुष्यलोक आदि।''[1]

भारतीय हिन्दी कोश :

इसके लिए ''विश्व का एक विभाग, भुवन; पृथ्वी; संसार; प्रजा; प्रांत; समूह; समाज, सांसारिक व्यवहार''[2] आदि अर्थों को प्रस्तुत करता है।

यह शब्द वास्तव में संस्कृत की लोक दर्शने धातु से 'घञ' प्रत्यय जोड़ने से निष्पादित हुआ है, जिसका अर्थ है- देखना। अतः इसका मूल अर्थ 'देखने वाला', से लिया जाता है। व्यवहारिक अर्थ में यह पूरे जनमानस के लिए प्रयुक्त होता है। 'वास्तव में साधारण जन-समाज ही 'लोक' कहलाता है। इस शब्द में वर्ग-भेद रहित, विस्तृत और प्राचीन परम्पराओं की श्रेष्ठ राशि के साथ आधुनिक सभ्यता-संस्कृति का कल्याणमय विकास निहित है। इस शब्द में नागरिक और ग्रामीण दोनों ही संस्कृतियों का समन्वय है। आधुनिक साहित्य की नई प्रवृत्तियों में 'लोक' का प्रयोग जब गीत, वार्ता, कथा, संगीत आदि के साथ होता है तो इससे अर्थ लिया जाता है, उस विशेषता का जिसमें पूर्व-संचित परम्पराएं, भावनाएं, विश्वास और आदर्श सुरक्षित हों।''[3] अतः लोक का सम्बन्ध सर्वसाधारण से स्पष्ट होता है। इससे जुड़ी अन्य विधाएं भी सर्वसामान्य से अपना नाता प्रदर्शित करती हैं, जिसमें लोक वाद्यों की भूमिका बहुत अहम है। विहंगम दृष्टि से देखा जाए तो वाद्य संगीत में दूसरी किसी कला की सहायता के बिना श्रोताओं को रस में लीन करने का सामर्थ्य। इसके माध्यम से संगीत अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति को प्राप्त होता है, जबकि

अन्य कलाएं पूर्णता हेतु वाद्य संगीत की अपेक्षा रखती हैं। किसी गायक को संगति के लिए अधिक नहीं तो न्यूनतम तबला या तम्बूरा अपरिहार्य है, ऐसे ही नृत्य प्रस्तुति में भी वाद्यों का सहयोग आवश्यक होता है। डॉ. लालमणि मिश्र नाट्यकला में भी वाद्य-संगीत की उपयोगिता को जरूरी मानते हैं। इसके अभाव में नाटक निष्प्राण, निर्जीव लगने लगेगा। नाटक में सजीवता वाद्यों के विधान से ही संभव है, इतना आवश्यक है कि रस-भाव का अवलोकन करने के पश्चात ही इसका उपयोग फलदायक सिद्ध होगा। इतना ही नहीं वाद्यों की महत्ता किसी विशेष प्रयोजन को भी सार्थक करती है। मांगलिक कार्यों में बजाए जाने वाले वाद्य, मन्दिर की घंटी, शहनाई, शंख, युद्ध में धौंसा आदि प्रस्तुत उद्देश्यो को निष्पन्न करते हैं। इतना ही नहीं शास्त्रीय संगीत की विवेचना में भी वाद्यों का अत्यन्त महती योगदान है। स्वर की उत्पति, उसका स्थान, स्वरों का अन्तराल आदि को वाद्य के मापदण्ड पर ही देखा-जोखा जाता है। अर्थ यह है कि स्वर का विश्लेषण इसके अभाव में संभव नहीं। ''महर्षि भरत ने श्रुतियों के प्रत्यक्षीकरण के लिए एक समान बनी हुई दो वीणाओं का सहारा लिया है। वैज्ञानिक स्वरों की अपनी विवेचना के लिए ट्यूनिंग फॉर्क तथा मोनो कॉर्ड जैसे वाद्यों का प्रयोग करते हैं। तात्पर्य यह है कि संगीत-सम्बन्धी किसी भी विश्लेषणात्मक कार्य के लिए वाद्य का होना आवश्यक होता है। षड्ज ग्राम, मध्यम ग्राम, चतुर्दश मूर्च्छनाएं, अष्टादश जातियों के स्वरूप आदि देखने और समझने के लिए वाद्यों का प्रयोग ही सर्वोत्तम है।''[4] वाद्य के शाब्दिक अर्थ को देखा जाए तो वह है- वादन योग्य तन्त्र विशेष। वद् धातु में 'यत्' प्रत्यय लगाने से यह निष्पन्न हुआ है। यहां 'वद्' धातु 'बोलने' के अर्थ को घोषित करती है। यदि ध्यान दिया जाए तो वाद्य के वादन समय स्वरों तथा उसमें आए शब्दों का उच्चारणा का आभास हमें सुनाई देता है। हालांकि गायन की भांति शब्दों की स्पष्टता नहीं होती। अतः वाद्यों का संगीत की विभिन्न विधाओं में महत्त्व और स्थान स्वयं सिद्ध है। संगीत की परिधि में प्राचीन काल से ही अपनी उपादेयता को सिद्ध करते वाद्यों को मूल रूप चार श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है- तत् वाद्य, अवनद्ध वाद्य, घन और सुषिर वाद्य। तार अथवा तन्त्री के कम्पन्न से ध्वनि उत्पन्न करने वाले वाद्य तत् वाद्य कहलाते हैं। चमड़े से मढ़े साज़, जिस पर लकड़ी या हाथ से ध्वनि उत्पन्न की जाती है। अवनद्ध वाद्यों की कोटि में आते हैं। घन वाद्य, वह हैं जिसमें ध्वनि पैदा करने के लिए एक दूसरे से चोट की जाती है, वहीं सुषिर साजों को हवा की सहायता से बजाया जाता है। उपर्युक्त सभी की उदाहरण के स्वरूप क्रमशः सितार, सारंगी, तबला, ढोल, घंटा, करताल, बांसुरी, शहनाई आदि को लिया जा सकता है। वर्गीकरण की इन्हीं कोटियों के आधार पर पंजाब प्रांत के प्रमुख लोक वाद्यों को विवेचित करना यहां अभीष्ट है। तत् वाद्यों में सारंगी, तुम्बी, तुम्बा, दोतारा जैसे लोक साज प्रचलित हैं। पंजाब के लोक संगीत में सारंगी मुख्यतः 'कलियों' के गान के साथ बजाई जाती है। जैसे कि नाम से ही स्पष्ट है कि सौ रंगों के अर्थ का प्रतीक यह वाद्य शास्त्रीय और लोक संगीत दोनों में मान्य है परन्तु प्रयोग में विभिन्नता होती है। सारंगी की संरचना, लकड़ी के टुकड़े को खोखला करके की जाती है। इसका निचला भाग बकरी की खाल के चमड़े से मढ़ा जाता है और पेट के मध्य घुड़च लगाई जाती है। घुड़न से होकर चार तांत खुंटियों पर कसे जाते हैं।

सारंगी के सिर का आयताकार रूपी भाग मगज़ कहलाता है, वही मध्य का भाग छाती और नीचे का आड़ कहलाता है। इसके वादन के लिए कमान की सहायता ली जाती है। तुम्बी वाद्य को एकतारा भी कहा जाता है। यह अत्यन्त प्राचीन वाद्य है, जिसका प्रयोग भक्ति संगीत में किया जाता था। तुम्बी भंगड़े के साथ-साथ लोक गीतों (जुगनी, मिर्जा आदि) के साथ बजाई जाती है। यह साज़ भी लकड़ी को खोखला करके बनाया जाता है, जिसकी लम्बाई 54 सेंटीमीटर और लकड़ी के खोल की चौड़ाई 9 सेंटीमीटर

होती है। खोल पर पतला चमड़ा होता है। उसके दूसरी तरफ लकड़ी की खूंटी पर तार को पिरो कर घुमा कर बांध दिया जाता है और चमड़े के खोख के ऊपर लकड़ी का टुकड़ा रख कर तार को स्थायीत्व दिया जाता है। इसके बजाने के लिए उंगली या गिज़राब का प्रयोग होता है। तुम्बा यद्यपि वर्तमान समय में ज्यादा इस्तेमाल नहीं होता लेकिन भंगड़ा, गिद्दा, बोलियों आदि में इसका स्थान बहुत खास रहा है। आम की लकड़ी से बना यह वाद्य ग्यारह से तेरह उंगलियों की लम्बाई में होता है। इसका पेट पिचका हुआ लेकिन मुंह खुला रहता है। इसके मुंह पर चमड़े की खाल और उस खाल के बीच तार को पिरो कर दूसरे मुंह से निकाला जाता है। पंजाबी लोक वाद्यों के अन्तर्गत अवनद्ध साज़ों में ढोल, ढोलकी, ढडड़, खंजरी, नगाड़ा आदि आते हैं। ढोल और ढोलकी दोनों साज़ इस प्रांत में अत्यन्त प्रसिद्ध है। भंगड़े और गिद्दे की ढोल के बगैर कल्पना ही असंभव है। यह भी आम की लकड़ी को खोखला करके बनाया जाता है। दोनों तरह (मुंह की ओर) चमड़ा चढ़ाया जाता है, जिसे रस्सियों से खिंचाव दिया जाता है। बजाने के लिए बांस की लकड़ियां प्रयुक्त होती हैं। ढोल का वादन जहां पुरुषों द्वारा होता है, वहीं ढोलकी स्त्रियों का साज़ है। शादी का अवसर लोक गीतों और ढोलकी की थाप के बगैर अधूरा माना जाता है। ढडड़ का स्थान सारंगी के समान ही अतुलनीय है। वास्तव में इन दोनों की वारों, लैला-मजनू, हीर-राझा, दुल्ला भट्टी आदि किस्सा काव्यों के गान में एक साथ संगति होती है, जहां ये चार चांद लगा देते हैं।

खंजरी की बात की जाए तो यह लोक गीतों और लोक नृत्यों दोनों में अपनी उपस्थिति दर्ज करवाती हैं। बनावट में ''यह लकड़ी का छोटा, मोटा लगभग 6 इंच के वृत्त का घेरा होता है, जिसके एक और खाल मढ़ी रहती है। इसके लिए बकरी की खाल प्रयोग में लाते हैं। इसे केवल एक हाथ से बजाते हैं। कभी-कभी इसके घेरे में पीतल की छोटी झाँझे भी लगाई जाती है।''[5] इसके चमड़े को ढीला करने या कसने के लिए कोई चीज़ नहीं होती। अतः यदि स्वरों का चढ़ाव चाहिए तो इसे धूप में रखा जाता है और उतराव के लिए गीला कपड़ा फेर दिया जाता है। घन वाद्यों की सीमा में पंजाब के प्रमुख लोक साज-घड़ा, निमटा, घुंघरू, खड़ताल, सप्प, काटो आदि देखने को मिलते हैं। लोक गीतों में संगति देने वाला घड़ा दोनों हाथों से बजाया जाता हैं। इसका मुंह छोटा और पेट का आकार सामान्य से बड़ा होता है। कई बार वादक हाथों में छल्ले पहन कर भी इसका वादन करता है। ''चिमटा पंजाब के प्रसिद्ध नृत्य भंगड़ा में प्रयुक्त होने वाला प्रमुख वाद्य है। यह लोहे का लगभग दो फुट लम्बा सामान्य चिमटों के आकार का होता है। इसके मूठ के मोड़ पर एक लोहे का कड़ा पड़ा रहता है। बायें हाथ से उस कड़े को चिमटे पर पटकते हैं तथा दाहिने हाथ से चिमटा के दोनों फलों को आपस में टकराते हुए इसका वादन करते हैं। चिमटों में खड़ताल के समान छोटी-छोटी झाँझें भी लगी होती है। इन चिमटों को पुरुष नृत्यकार स्वयं बजाते हैं।''[6] घुंघरू मात्र पंजाब का नहीं अपितु भारत का सर्वप्रसिद्ध वाद्य है। शास्त्रीय नृत्य में इसका प्रयोग नितांत आवश्यक होता है। शास्त्रीय नृत्य के घुंघरू जहां रस्सी में पिरोए जाते हैं, वहीं लोक नृत्य में चमड़े के पटे पर इन्हें जड़ा जाता है।

खड़ताल लकड़ी के दो परन्तु एक समान टुकड़ों से बनाई जाती है। पांच से दस इंच लम्बी खड़तालों में पीतल की झाँझे होती है और उन्हें पकड़ने के लिए उंगलियों और अंगूठे की जगह भी बनाई गई होती है। खड़ताल के साथ एकतारा शोभा देता है। सप्प और काटो ऐसे लोक साज़ हैं, जो पंजाब के इतर भारत के अन्य किसी प्रांत में नहीं देखे जाते। इसकी ध्वनि दस-पन्द्रह व्यक्तियों द्वारा ताली बजाने के समान होती है। लकड़ियों के लगभग 1 फुट लम्बे, 1 इंच चौड़े चपटे फट्टों को एक दूसरे के साथ सांप जैसे जोड़ा जाता है। इसका जोड़ीदार दूसरा वाद्य काटो माना जाता है, जो लुड्डी, भंगड़े व गिद्दे में अपनी छाप छोड़ता है। लगभग 100 सेंटीमीटर लम्बे लकड़ी

के डण्डे के शीर्ष पर लकड़ी की काटो बना दी जाती है, जिसमें मुंह में रस्सी बांध कर उसे ढीला किया और खींचा जाता है।

'नगोज़ा' सुषिर वाद्यों की श्रेणी में आने वाला पंजाब के लोक गीतों में प्रयोग होता एक मकबलू साज़ है। बांसुरी के जैसे ही इसमें छेद होते हैं। दो बांसुरियों को जोड़ कर इसे दोनों हाथों से संभाला जाता है।

निष्कर्षत :

पंजाब प्रांत के प्रमुख लोक वाद्यों का उपर्यक्त विवरण इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि यहां की मिट्टी में जीवन जीने की उदात्त कला है। पंजाब की संस्कृति विविध पक्षों से न केवल सम्पन्न है बल्कि इसे अपने संगीत से भी प्रेम है, जिसकी उदाहरण यहां के लोक वाद्यों की तालिका से लगाई जा सकती है।

सन्दर्भ सूची :

1. मानक हिन्दी कोश (खण्ड़-4), (1965) संपादक रामचन्द्र वर्मा, बदरीनाथ कपूर, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, पृष्ठ-596
2. भारतीय हिन्दी कोश, (1956), दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास, पृष्ठ-799
3. डॉ. कुलदीप (1972), लोक गीतों का विकासात्मक अध्ययन, प्रगति प्रकाशन, आगरा, पृष्ठ-05
4. मिश्र, (डॉ.) लालमणि, (2022), भारतीय संगीत वाद्य, वाणी प्रकाशन ग्रुप, नई दिल्ली, पृष्ठ-40
5. वही, पृष्ठ-366, 367
6. वहीं, पृष्ठ-365

बिहार का प्रचलित लोकनाट्य जट जटिन मिथिलांचल के विशेष संदर्भ में

रश्मि शिखा
शोध छात्रा, प्रदर्शन कला विभाग (संगीत)
लवली प्रोफेशनल विश्वविद्यालय जालंधर, पंजाब

डॉ॰ सर्वजीत कौर
सहायक प्रोफेसर
लवली प्रोफेशनल विश्वविद्यालय, जालंधर

भारतीय ग्रामीण परिवेश में लोकगीत, लोक नृत्य अथवा लोकनाट्य की परंपरा अत्यंत प्राचीन है जिसके माध्यम से मानव जाति अपना मनोरंजन किया करती थी इसके अलावा अनेक लोकनाट्य जो परंपरा अथवा रीति-रिवाज के माध्यम से समाज में प्रवाहित थे।

भारत की समस्त नदियों में गंगा नदी जो सबसे पवित्र और जीवन दायिनी मानी गई है जो केवल जल ही नहीं बल्कि सभ्यता तथा संस्कृति का कल भी लाती है। जिससे तृप्त होकर मानव जीवन सभ्यता तथा संस्कृति की ओर अग्रसर होता है इस पवित्र गंगा के किनारे, कोसी से पश्चिम तथा गंडक से पूर्व का भाग मिथिलांचल के नाम से जाना जाता है। मैथिली इस भूभाग की भाषा है जो अधिकतम मीठी भाषा के रूप में जानी जाती है। जहां के प्रेरक प्रसंगो में मर्यादा पुरुषोत्तम राम तथा जनक नंदिनी सीता की कहानियां प्रचलित हैं। यहां का लोक रंग अपने आंचल में अमूल्य भंडार समेटे हुए है।

मैथिली लोक साहित्य में यहां के लोक संस्कृति का सारस्वत रूप एवं लोक कलाओं के अनेक रूपों के अभिव्यंजना हुई है। यहां की लोक कला का क्षितिज अत्यंत व्यापक तथा अनेक भाव भंगिमाओं से युक्त है।

यहां की परंपरागत लोक मूर्तियां, प्रतीकात्मक चित्र, लय, ताल युक्त गीत संगीत तथा प्रचलित लोकनाट्य मिथिला की गौरवशाली संस्कृति के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

इस शोध पत्र में शोधार्थिनी के द्वारा मिथिलांचल के इसी गौरवशाली संस्कृति तथा प्रचलित लोकनाट्यों विचार किया गया है क्योंकि इतना कि संस्कृति में तिल तिल नूतन होय की प्रवृत्ति समाहित है। शोध का उद्देश्य ही सौंदर्य तथा चेतना का अनुसंधान होता है जिससे चिर आनंद की प्राप्ति होती है।

मिथिलांचल का भौगोलिक परिदृश्य :

मिथिला प्राचीन भारत में एक राज्य था। तथा वर्तमान में एक सांस्कृतिक क्षेत्र है जिसमें बिहार के तिरहुत, दरभंगा, मधुबनी, कोसी तथा नेपाल के तराई क्षेत्र के कुछ भाग भी शामिल हैं। धार्मिक ग्रंथो में सबसे पहले इसका संकेत ''शतपथ ब्राह्मण'' तथा रामायण में मिलता है। तथा यह क्षेत्र प्राचीन काल से भी संस्कृति की राजधानी है।

यहां की, नदी घाटी एवं शस्य श्यामला आंचल मिथिलांचल को एक विशाल रंगभूमि प्रदान करता है जिस पर अनेक लोक मनोरंजक लीलाएं प्रदर्शित की जाती है। यहां के लोकनाट्य लोक संगीत तथा लोक नृत्य मानव जीवन के अध्याय हैं क्योंकि मिथिला में एक कहावत बहुत प्रचलित है की मिथिला का प्रत्येक संस्कार कला एवं अनुष्ठान से प्रयुक्त होता है। जो की इस कला की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है।

इन परंपरागत लोकनाट्य प्रदर्शन के अंतर्गत एक सामाजिक संरचना होती है जो समाज के हर वर्ग से संबंध रखती है तथा गीत वाद्य एवं संगीत के माध्यम से एक संदेश भी प्रवाहित करती है इन्हीं लीलाओं को सांस्कृतिक संदर्भ में खेल, खेला अथवा लोकनाट्य कहते हैं।

मिथिलांचल में नृत्य प्रधान लोक नाटकों को नाच भी कहा जाता है यहां सलहेश, कमला पूजा, विदापत, पमरिया, सामा चकेवा, तथा जट जटिन आदि नाच पारंपरिक है। इन लोकनाट्यों के विशेषता है कि यह गीत वाद्य नृत्य आदि से परिपूर्ण होते हैं जिनमें अनेक मनोरंजन संवाद भी होते हैं तथा एक संदेश भी जो प्रदर्शन के माध्यम से प्रवाहित होता है।

लोक भाषा में लिखित गीत अत्यंत सुरीले होते हैं तथा वाद्यों में प्रमुख लोक वाद्य प्रयोग किए जाते हैं मिथिलांचल में यह लोकनाट्य सदियों से जनसाधारण के रीति-रिवाज का पालन तथा मनोरंजन का साधन बने हुए हैं।

आचार्य भारत ने नाट्यशास्त्र में दो प्रकार की नाट्य प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है- नाटयधर्मी तथा लोक धर्मी। नाट्य धर्मी जो राज्याश्रय में पली तथा लोक धर्मी जो लोक मनोरंजन का साधन थी। लोक धर्मी नाट्यों का उद्भव लोक आश्रम में हुआ।

मिथिलांचल में प्रचलित सारे लोकनाट्य में जट जटिन विशेष रूप से प्रचलित है। यह लोकानुरंजन की सशक्त विधा है जो सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक चेतना को जनसाधारण तक संप्रेषित करती हैं जो कि इस लोकनाट्य का मूल आधार है।

वैसे तो मिथिलांचल में प्रचलित लोकनाट्य के और भी प्रकार हैं जैसे -

1. **गाथा मूलक लोकनाट्य -** जिनकी गाथाओं में आदर्श चरित्र की गाथाएं निहित होती हैं जिनमें गद्य तथा पद्य दोनों ही विराजमान होते हैं। इनमें नृत्य के अपेक्षा अभिनय तत्व की प्रधानता होती है।
2. **लीला परक लोकनाट्य -** मिथिला के लोकनाट्य में नृत्य तथा अभिनय दोनों ही रूप प्रचलित हैं। दिन में रामलीला कृष्ण लीला आदि हैं जिन्हें रामनवमी अथवा जन्माष्टमी जैसे मंगल अवसरों पर प्रदर्शित किया जाता है।
3. **स्त्री परक लोकनाट्य -** यह लोकनाट्य महिलाओं में प्रचलित होते हैं जिनमें सर्व प्रमुख है जट जटिन।

जट जटिन का प्रदर्शन घर आंगन में होता है जिनमें परंपरा के अनुसार पुरुषों का प्रवेश निषेध होता है। जहां घर की स्त्रियां उन्मुक्त होकर नाचती गाती हैं, अभिनय करती हैं, गीतों के माध्यम से तथा संवादों के माध्यम से आपस में हास परिहास करती हैं तथा समस्या को उजागर करती हैं। डॉक्टर श्याम परमार ने इसे गीतों भरा लघु प्रहसन भी कहा है। इस लोकनाट्य में गृहस्थी की मीठी नोक झोंक की छटा दिखती है तो वहीं सामाजिक कुरीतियां, आर्थिक समस्या, सामाजिक असमानता, पलायन, बाढ़ आदि जैसे समस्या को इस लोकनाट्य में गीतों के माध्यम से उजागर किया जाता है। यह लोकनाट्य मिथिला के प्रचलित लोक नाटकों में से एक है अमूमन कठिन परिस्थिति में रह रहे पति-पत्नी की कथा इसमें वर्णित है जो कि इस नाटय के मुख्य पात्र हैं। इसमें जट जटिन जो की एक पति-पत्नी की भूमिका में है तथा इसके अलावा अन्य पात्र मुखिया, मल्लाह, मुसाफिर, भगत, वैद्य जैसे अनेक रोचक पात्र होते हैं जिनके संवाद ,अभिनय, गीत संगीत बरबस दर्शकों का ध्यान आकर्षित कर लेते हैं।

वाद्य - इस लोकनाट्य में मिथिला अंचल में प्रचलित लोक वाद्य जो वहां के वातावरण में सुलभ है जैसे ढोलक, खंजरी, करताल हारमोनियम जैसे वाद्य यंत्रों का प्रयोग किया जाता है।

वेश भूषा - यह लोकनाट्य ग्रामीण क्षेत्र से विकसित है तो जनसाधारण के सामान्य वस्त्र जैसे साड़ी धोती आदि प्रयोग किए जाते हैं।

गीत संगीत - मैथिली मिथिलांचल की भाषा है तो सारे गीत मैथिली भाषा में ही होते हैं जो समूह में अत्यंत प्रिय लगते हैं।

यह लोकनाट्य जेठ आषाढ़ माह में अनावृष्टि की स्थिति में मिथिलांचल के गांवों में किया जाता है जहां लोग रीति रिवाज में विश्वास रखते हैं तथा ग्रामीणों की ऐसी मान्यता है कि इस लोकनाट्य को करने पर बारिश होगी तथा अन्न जल के लिए तड़पती धरती को जीवन रूपी जल की प्राप्ति होगी ।

ग्रामीण अंचल अक्सर अभाव से ग्रस्त होता है तथा मिथिला एवं बिहार राज्य की आधी आबादी कृषि पर आधारित है। यह क्षेत्र अक्सर बाढ़ अथवा सूखे की मार झेलता है। समस्याओं से ग्रस्त क्षेत्रवासी पलायन को मजबूर हो जाते हैं उन्हें जीविकोपार्जन के लिए अन्य क्षेत्रों में जाना पड़ता है तथा अर्थाभाव के कारण वह अपने परिवार को साथ नहीं ले जा सकते।

इस लोकनाट्य में प्रयुक्त गीतों के माध्यम से इन सारी समस्याओं को दर्शाया गया है तथा सभी पात्र अपने-अपने अभिनय संवाद तथा गीतों के माध्यम से समस्या रूपी संदेश को समाज में प्रवाहित करते हैं। इस लोकनाट्य में जहां नायक का परिवार को छोड़कर जाना आर्थिक कमी को दर्शाता है वही नायिका की कल्पना में सौतन का भय व्याप्त है। पति के जाने के बाद अंतहीन इंतजार की प्रक्रिया जो बिना धन तथा बिना पति के साथ के भी परिवार के प्रति कर्तव्यनिष्ठा को दर्शाता है कि उसने अपने परिवार को जोड़ कर रखा।

इस शोध पत्र के माध्यम से मैंने एक शोधार्थी होने के नाते इस क्षेत्र की पलायन समस्या, आर्थिक स्थिति तथा अंधविश्वास जैसी समस्याओं को इंगित करने का प्रयास किया है और यही इस लोकनाट्य की विशेषता भी है और मूल आधार भी।

निष्कर्ष :

इस लोकनाट्य में जहां गीत संगीत तथा संवाद से परिपूर्ण रस है वहीं इससे जुड़ी अनेक समस्याएं भी है। इस लोकनाट्य में जितनी भी समस्या गीत संगीत अभिनय संवाद आदि के माध्यम से दिखाई जाती है वह समाज का शाश्वत सत्य है। क्षेत्र की समस्या आज भी वही है तथा समस्या को सुलझाने का क्षेत्र वासियों के पास सिर्फ एक ही समाधान है - पलायन।

तथा दूसरी महत्वपूर्ण समस्या यह है कि पश्चिम परंपरा के प्रभाव में यह लोक कला धीरे-धीरे विलुप्त होती जा रही है। क्योंकि आजकल ग्रामीण क्षेत्रों में भी मोबाइल, इंटरनेट, टेलीविजन जैसी सुविधाएं आ चुकी हैं जो कहीं ना कहीं नवीन पीढ़ी को अपने संस्कारों से विमुख कर रही है। इन साधनों से समाज ने भले ही तरक्की की राह पकड़ ली हो किंतु दूसरा सत्य यह भी है की इन्हीं कारणों से लोग अपनी कला संस्कृति तथा परंपरा से विमुख होते जा रहे हैं। आज गांव में पारंपरिक गीतों का स्थान पाश्चात्य संगीत ने ले लिया है। वैसे लोक कलाकार जो कभी इन कलाओं का संरक्षण तथा संवर्धन कर रहे थे वह कहीं अंधेरे में खोते जा रहे हैं। आवश्यकता है कि सरकार भी इस दिशा में कोई ठोस कदम उठाए जिससे समाज में लोक कला तथा कलाकारों को सम्मान मिले जो दशकों से अपेक्षित है। तथा नवीन पीढ़ी को भी अपने सुनहरे इतिहास को जानना तथा समझना होगा जिससे मिथिलांचल की कला संस्कृति का सुनहरा इतिहास फिर से गौरवान्वित हो सके जो कि इस शोध पत्र का मूल ध्येय है।

संदर्भ सूची :

1. पतंग अनिल बिहार का लोक नाटक जट जटिन, सामा चकेवा, नाट्य विद्यालय बेगूसराय बिहार, पृष्ठ संख्या 3

2. पतंग अनिल रंग अभियान पत्रिका भाग-16 नाट्य विद्यालय बेगूसराय बिहार, पृष्ठ संख्या-8

3- पतंग अनिल रंग अभियान पत्रिका भाग नाट्य विद्यालय बेगूसराय बिहार पृष्ठ संख्या-16

4- पतंग अनिल रंग अभियान पत्रिका भाग-10 पृष्ठ संख्या 20 नाट्य विद्यालय बेगूसराय बिहार

5- वर्णिका, मानव संसाधन विकास विभाग बिहार सरकार संस्करण 2009 पटना

6- पतंग अनिल हमारे लोक धर्मी नाट्य पृष्ठ संख्या 15 16 17 नाट्य विद्यालय बेगूसराय बिहार

7- चौधरी रमाकांत अजब मुसीबत है साहित्य केंद्र प्रकाशन नई दिल्ली पृष्ठ संख्या 4

8- पंकज संजय बिहार की लोक कथाएं पृष्ठ संख्या 10 प्रभात प्रकाशन दिल्ली

9. bh.wikipidia.org/wiki/बिहार के संस्कृति

10. https://www.bhaskar.com/bihar/darbhanga/news/mithila-culture-is-centuries-old-it-is-a-global-heritage

11. https://sablog.in/jat-jatin-dance-natural-love-and-a-distinctive-tradition-of-folk-natya-style/14164/

Bol Padhant and *Shabda Ughatat :* Interlinked traditions of Kathak and Braj Ras Leela

Renu Sharma
Research Scholar
Sri Sri University, Cuttack, Orissa

Dr. Vibha Dadheech
Research Guide
Sri Sri University, Cuttack, Orissa

1 Introduction :

Kathak being a *Kushilava* tradition of ancient times, transfer of knowledge was through direct learning under the Guru, where teachings were *kanthastha* or memorised by disciples and narrated verbatim. Gradually, music and dance gestures were incorporated into story-telling and it came to be known as Kathak, a dance form which has since been defined by its music. Musical traditions associated with Kathak underwent changes over years as a part of its evolution. Many sections of the Kathak repertoire have Krishna Bhakti as their central theme, woven into rhythmic *Taal* patterns or expressive abhinaya pieces inspired by poetry of the Medieval Era.

Indian Performing Arts and Literature both have incorporated Lord Krishna and His divine *Leela*into their art. Braj-bhasha poetry from 15th century onwards abounds with direct references to Krishna Bhakti based entirely on this *Vaishnav* aspect. Saint poets like Gadadhar Bhatt, Swami Haridas, Hitharivansh, Vyas ji and the famous *Ashtachhap* poets were *vaggeya-kars* or singer-composers. Their works were lyrical with detailed descriptions of *Leela*, especially Rasleelaof *natanagar* Krishna.

2. Literature Review :

2.1 Ras Leela and Kathak :

Bhakti Kal saw the resurrection of Ras Leela in Brajbhumi (Mathura Vrindavan), in the 15th and 16th centuries. ***Vaishnav Sampraday* and their proponents,** *Kirtan* in *NavdhaBhakti*, *Ashtaprahar Sewa*in temples, the prevalent dance form Kathak, all had a favourable impact on the salient features, content and presentation of Rasleela. In the Bhakti Era, *Dhrupad, Dhamar, Holi Rasiya, Leelapada,* etc. were amalgamated in both Kathak and Braj Ras Leela, enhancing the dance forms over the ages. The vivid lyrical compositions which describe the Ras Leelaare valuable assets to study Kathak in the medieval times.

2.2 Ughatat, a Technical Kathak term :

Technical terminology of Kathak found its way into these beautiful *Bhaktikaleen padavalis.* As analysed in my dissertation[1], it was quantitatively established that in the *Krishna Bhakti Kal*, out of 32 words of

dance vocabulary researched, 21 were derived from the *Natya Shastriya Parampara* and 11 were original to Kathak. Thus, from the 15th to 18th century the usage of one-third of the original Kathak terms had begun, while two-thirds were in line with classical traditions (Trigunayat).

Ughatat is one such technical Kathak term. According to *Shabdasagar* the literal meaning of *Ughatat* is to reveal, to inaugurate, to utter, to speak, and in musical terms it means to use a word or gesture to denote, calculate or demarcate the rhythm or simply to show the rhythm. With reference to Medieval practices, Dr. Laxmi Narayan Garg, speaking about *Padhant* (586) and referring to *Ughatat* from *Rasa-Padas,* defines it as dancing to difficult syllables while speaking to generate *Rasa Bhav,* or giving *Tala* while dancing (552).

2.3 Methodology :

After compiling 51 relevant instances of *Shabda Ughatat* and its synonyms from *Brijbhasha Krishna Bhakti Kavya*, its usage was studied to compare with present day Kathak format and presentation and *Shabda Nritya* was studied from Ancient and Medieval Music & Dance Treatises, including the newly published Gaurishwar Pranit Sangeet Darpanah.

2.4 Findings :

A comparative study of Ancient and Medieval treatises was done to find the variance in descriptions and identify important additions to the salient features of *Shabda Nritya, Chamatkara-n[tya and Vivartana-n[tta*. Examples were listed and matched for similarities and deviations.

Shabda Nritya consists mainly of abstract syllables which are spoken by the dancer or *Taladhari* accompanist; it consists of movements in various speeds (*drutadi man*); *abhinay*-like expressions on abstract syllables and rhythmic *Tatkar*. *Shabda Nritta* is divided into two parts - *Chamatkar Nritta* where *Varnamala (alphabet)* is predominant and *Vivartana Nritya* in which *swara* (musical scale) is predominant.

It was found that the abstract syllables have been called *Adi Shabda, Shabdakshar, Vadya Prabandh, Vadya Varna, Vadyakshar, Pathakshar, Shushkakshar* in different Eras and examples are given under *Dhruva Shabda, Shabda Varna*, etc.

The observations were as follows :

Shabda Nritta

Sangeet Darpan, Chatur Damodar SD-CD

अग्डेद्रुतादिमानं स्यात् तत्तत्कारं च पादयो।
वाद्याक्षररसैर्युक्तं शब्दनृत्तं तदा भवेत।।176।।

गात्रे नटः स्वरानग्डैर्भावान लोचनचैष्टितैः।
पादाभ्यां दर्शयेत्तालं लयान् शब्दाक्षराण्यपि।।177।।

तालधारिण्यभिव्यक्तं तादिकं वर्णसच्चयम्।
समुच्चरति षड्जादीन मगणादि गणान्वितम्।।178।।

शब्द प्राधान्यतो ज्ञेया वाद्याक्षराविवेकतः।
वाद्याक्षराणि यथा। तद्धि त्थों ठें नं।।184।।

वाद्यप्रबंधा ये पूर्वमुक्तास्तेतैव सूरयः।
दक्षिणात्या जगूश्शब्दाभिधेया नृत्यकर्मणि।।186।।

Sangeet Darpan, Gaurishwar SD-G

नृत्ये वाद्यप्रबन्धानि यदा गायेन्नटोत्तमः।
तदा सुखदशोत्पत्ति-र्भवेद्भुवि रतिप्रदा।।97।।

Sangeet Mallika, Mohd Shah SM-MS

शब्दानृत्यंतु कथितं शब्दाक्षर समुच्चरम्।
अक्षरोपरि घातस्य शब्दान्ते भ्रमरी भ्रमन।।283।।

Sangeet Darpan, Hari Vallabh SD-HB

अंगनि में द्रुतादिक मान। ता ता भाँति चरण परिमान।
वादिवर्न को रस तहाँ होइ। शब्द नृत्य ताही कों जेइ।।64।।

स्वर अभिनय अंगनि करें। भावनि लोचन माँह।। सब्द ताल लय पाइ सों। होइ कहे कवि नह।।65।। सब्द नृत्य में ए परिधान। वर्ण वाद्य के होइ प्रमान।।90।।
Dhruva Shabda तत्र प्रथमं ध्रुवस्योदाहरणम्। तक्कं दिक्किण्णक जक जक ढिं ढिं झक कि ककिण जकक जककत्तुकु कुडि किण। 187 जक झण कुथ डिकि तक्किर्ण जय डिकिट तक्किण जकणक किटतक किथा। इति ध्रुव शब्दाः। एव मन्येपि लक्ष्यं दृष्टव्याः।।188।।[ii] SD-CD
Sabha Varna शब्दवर्णो यथा। तकुकु ढिंका। झिंकुझिंका झिंकुकु थरिकिट थरिकिट झिं का झिं थरिकि। थरिकिथोम।
Radha Govind Sangit Sar को मत ऐसें कहत हे सो प्रथम आरंभ में। **समहस्तक के पाठाछर** सों बाजा बजाइये। **समपाठन** सों बाजे बजे। तब रंगभूमि में प्रवेस कीजिये। और कोऊ मत सें गीत न्यारो गाईये। बाजों न्यारो बजाईये। ऐसें मत हें [iii]
Table 1
Shabda a precursor of Bol **ādi Shabda** - *Tā Thei Tom, Nam*

2.5 *Shabda* in Treatises :

In Bharatarnava, an abridged version of Natya Shastra, Nandikeshwar specifies that dance compositions in Dhruva Tal, the *adi shabda* or original dance syllables '*TaThei Tom, Nam'* (Shloka 991) are choreographed and performed by the dancer. A tradition established by Natya Shastra where pure dance or *Shuddh Nritta* was part of *Purvarang-vidhi* of Sanskrit plays.

Referring to Sangeet Darpan by Chatur Damodar,Chap 7, Shloka 176 to 200 *Shabda Nritya* mainly comprises of *rasapurna Vadyakshar*; movements are in *druta* etc. *laya*, while feet execute *Tatkar. Swara* is displayed with limbs, *bhava* with the eye-glances, *tala* with the feet and *laya* with letters and words. The *Tal Dhari* speaks phrases comprised of *Ta*, etc. for *varna* and *Ma,* etc. for *swara* like *shadaj* etc. Shloka 179-183 gives a detailed description of practical application after which it is stressed that *shabda* are the main components and proper knowledge and usage of *vadyak-shar* must be obtained. The *vadyakshar* listed are *Tad Dhi, Tat Tho, Theim, Nam*, while *Shabd Varna* given is a specific composition.[4] Sangeet Darpan by Hari-vallabh gives a similar definition emphasi-sing the fact that presence of abundant *varna-vadya* is proof that it is *Shabda Nritya.*

Gaurishwar says that the audience derives pleasure from *vadya-prabandha*s being sung by the actor-dancer. Sangit Malika by Mahammad Shah gives a precise two-line definition of *Shabda Nritya* saying that *shabdakshar* must be spoken - *sam-uccharam* (समुच्चरम्). *ucchar* of *akshar* would have a set method, like *mantroccharan* has a prescribed technique. It goes further ahead to say that '*aksharo-pari ghatasya',* letters are struck by foot (or hand) and the dance ends in a *bhramari* where the dancer moves around in pirouettes. (See Table 1)

The word *Pathakshar* is used in Radha Govind Sangit Sar by Maharaja Sawai Pratap Singh. *Patha* (to speak) + *Akshar* (syllables) = *Pathakshar* means *Padhant of Bol*. Expaining the method of stage entry, it is mentioned that spoken syllables are played on instrument with s*amhastak pathakshar* on entry; while some experts say that a beautiful song should be sung along with playing of instrument. *Samhastak* could mean

playing the instrument with a flat hand, but since *hastak* is generally related to dance it could also mean *samhastak,* the basic position of hands while entering the stage. It further mentions that '*Sampathan so bajabaje'* the syllables should be spoken in a normal balanced way. (See Table 1)

2.6 Dhruva-tala for Vivartana-nrtta :

About *Vivartana-nrtta,* Chatur Damodar mentions *swarapata,* indicating melodious rendering of *vadyakshar* along with coordinated movements of the *aEga* and *upaEga*, and according to Gaurishwar limbs should be used for creative expression. The dance must be displayed both on the left and the right side of the body to the accompaniment of *Dhruva-tala*.

The visual seems that of a well-balanced dance where the *shabda or bol* are melodious and movements are graceful. Example denotes sounds produced by the Damru and Mridanga. (See Table 2)

2.7 Kar-Tadna in Chamatkara-nrtya :

As explained by Gaurishwar – "While dancing, when the sound of clapping of the hands matches the syllables played on the musical instrument, it is called *Camatkara-nrtya*, performed to the accompaniment of the *Garugi-tala* in all the four directions." According to Chatur Damodar syllables are main - अक्षराणां प्रधानं hands come together in combined actions according to the syllables and movements should be done on left, right and both sides.

To summarise, letters or syllables are main, hands come together and *'kar-tadna'* or rhythmic clapping is to show the beat. Focus is on *laya, tala* and *tatkar*. Example contains present day *parmelu bols, like kuku and tharrkit* (See Table 3)

Vivartana-nrtta
वामदक्षिणयोरङ्ग! दर्शयेन्नटनायकः। अङ्गोपाङ्गानिसर्वाणि तत्रैवाभान्ति नृत्यके।।98।। नृत्यं कुर्याद् ध्रुवे ताले यन्मया कथितं वचः ...जानीहि तत्सर्वं नान्यथैवोदितं मया।।99।। SD-G
दक्षिणाग्डेऽथवामाग्डे स्वरपाटगतं यदि। नृत्तं विवर्तनाख्यं स्यात् अग्डोपाग्डसमन्वितम्।।189।। ध्रुवतालेन चेन्नृत्यं सर्वलोकमनाहेरम्। SD-CD
ध्रुवतालः ढिं ढिं ढिं णक्का किणक्का था ढैं गाढैं ढाकिण थोंगा थोंग। 190
Table 2

Chamatkara-nrtya
वाद्यवर्णसमशब्द-करसन्ताडनाद्भवेत्। चमत्कारमिदं नृत्यं कथितं पूर्वसूरिभिः।।99a।। गारुगिं तालमादाय कुर्यान्नृत्यं चतुर्दिशि। चमत्कारमिदं प्रोक्तं शिवेन गिरिवासिना।।99b।। SD-G
मिलितौ यत्र हस्तौ च यथाक्षरसमन्वितम्। अक्षराणां प्रधानं स्याच्चमत्कारं प्रचक्षते।।192।। गारूगीतालेन यूतं शोभनं सर्वतोमुखम्। SD-CD
ततत यथा। तत कुकु तत्था। कुनकिट ककु थरिकिट ककुं थरिकि। झनकिट कुथाडित्रथा। -इति दक्षिण भागे।।193।। झनकिट ककुथरिकिट। ककुत्थरिकिझन किट कुन्थडिध्दि। -इतिवामभागे।194। तकुलोक तकधिक तोकधिकि तोकतधिकि। तोका झनकिट कुटकुकुथ किटिथा। - इति अंग्डव्दयेन।195। SD-CD
Table 3

2.8 Ughatat in compositions :

There are a multitude of instances in poetry, where the word *ughatat* is used -

Different styles of Bol Padhant : Lyrical *padhant* using seven notes; speaking the *shabda* during dance; dancing to *padhant* by others or together; *padhant* of *Gat Chaal* using *Tat Ta Thei* syllables; description of *Ras-mandala*

Similies and synonyms : Similies are used for birds, clouds and even movement of eyelids; synonyms of *shabda ughatat,* like *shabda suhaye, bachan Rachna;* happiness through *padhant - rasa-nishpatti*.

Clapping with Padhant while singing : Role of Taldhari, who claps alongwith *padhant*, has been taken by Sakhi, Radha Krishna, sometimes a group - *yuvati vrinda* or mother Yashoda as she claps and sings with the beats while Bal Krishna dances and imitates her clapping.

3 Discussion :

3.1 Saint Poets, Dancing Devotees :

The singer and dancer the saint poet *(bhakta-kavi)* and the dancer-devotee *(natwabhagat)* came together to produce the most exhaustive Bhakti Sahitya, which is used by Kathak dancers even today. It synchronises and coordinates with the dance form homogeneously and beautifully bringing forth the stories of Shrimad Bhagwat and pastimes of Lord Krishna. The daily cyclic routine of *Ashtaprahar Sewa,* launched a creative platform for exchange of ideas and a provided a fertile place for art to grow and thrive. It brought into existence the creative literature embellished with poetical expression. The Bhakta dancing in ecstasy at temples, opened the doors to feelings and freedom to express within the circle of *Navadha-Bhakti* where a devotee could choose to be the friend, servant or even consort of the Lord.

3.2 Shabda Ughatat :

On analysing the frequent use of the phrase *shabda ughatat* attached with a short phrase of the *tatkarik* made of *varna TaThei and Tat* it was found the dancer would speak, sing and dance to the *shabda*. There is evidence of interlinked traditions of *Shabda Ughatat* and *Bol Padhant*. A classic example is where the word *Ughatat* meaning *Padhant* is weaved into the poetry followed by Kathak syllables- *Madhur Benu su sabda ughatat tatt thei thei tal* describing beautiful melody and spoken syllables (Sharma et al 18).

4 Ras Leela Format :

*Brij Rasleela*has a structured format where invocation or *Manglacharan* is followed by *Nritta*, culminating in *Nritya Leela* and *Mandal Ras*. In this format, the pure dance section *Nritta*, includes spoken syllables either preceded or said along with the dance. Hence, *Padhant* is part of the presentation of Ras, just like it is in Kathak.

4.1 Parmelu :

Even today in Vrindavan in the *Nitya Ras, Parmelu,* a type of Kathak *Bols* which were prevalent in the *Rasa Padas,* is danced by all characters. The *Samaji* sings the syllables for the dancers while they present solo, duet and group dances in lines or circular formations. The main performing dancers or *Swarupa* come forward to the centre of the group and return to the original position after presenting a solo *Parmelu* (Yamdagni).

Since mnemonic syllables and bols are available abundantly, derivation and revival of rare *parmelu bols* from *Ras padavali* can be done as future work.

4.2 Tatkar Bol :

From the analysis of Rasa pada it was seen that the syllables of actual Kathak tatkar '*Ta Thei Thei Tat Aa Thei Thei tat'* were not found anywhere though the word *Tatkar* on the other hand dance performed on the *varna* was quite prevalent. A further study of this aspect was made.

4.3 Gat Chal and Gat Bhav :

In *Rasa pada* '*Gati'* word is used for *Chal* followed by *TaThei* syllables, indicating Gat Nikas and Gat Bhav, as even today the *Tatkarik varna* are spoken as accompaniment. There is proof that improvisation in Chal was common because almost all descriptions of Gat have phrases like *'gat mein gat upjavein' 'nutan gati'*. As is indicated by a study of the padas, it is possible that the Leela section of Raas, performed before Mandal Ras was formatted like Gat Bhav where padhant of Chal was done during performance. Gat Bhav in Kathak has storyline just like *Leelapada.*

4.4 Sangeet Ka Tukda :

Many of the Raas Leela compositions show that phrases were sung along with dance, e.g. Krishna would sing while Radha dances and vice-versa, the dancer / singer would clap while singing. There are many instances which indicate that the *nritta bol* were especially sung during the dance performance. Lyrical recitation of syllables was done and seven notes were used to sing the *shabda varna* just like *Sangeet kaTukda*, a speciality of Lucknow Gharana Kathak.

5 Conclusion :

The interconnection between Ras and Kathak is invaluable. There is evidence to state with certainty that the *Bol* embedded within the *Raas-pada* belong to Kathak especially the *tatkarik* and *parmelu bols* and *ughatat* was the precursor of present day *Padhant.*

Kathak is similar to *Shabda Nritya*, the pure dance described in Ancient and Medieval Treatises, which is an important link to the present form of Kathak. Going forward in time, *Shabda Ughatat* in Medieval Literature has a direct link to *Bol Padhant* of present day Kathak. The phrase *Shabda Ughatat* became extinct in 20th century from Kathak vocabulary and was replaced by the word *Padhant.*

Present day format of *Padhant* followed by presentation, spoken by musician or Taldhari was prevalent in the Ancient and Medieval times. Kathak dancers have continued the ancient tradition of speaking abstract syllables during stage performance. Kathak, an oral tradition with limited documentation, the rich Brajbhasha Literature of Medieval Era bridged the gap evolution of Kathak and origin of *Bol Padhant,* by providing documentation of ancient traditions.

References :

1. Dr Dadheech, Puru, Nrtiya Nibandh, Bindu Prakashan, 2009
2. Dr Dadheech, Puru; Kathak Nritya ke Pracheen Ang, 2020 Bindu Prakashan, Indore
3. Dr Purecha, Sandhya, Sangita Darpanam of Catura Damodar, Nrityadhaya, Chapter 7, Shri Sarfojiraje Bhosale Book House publication, 2008 Edition.
4. Garg, Laxminarayan, Kathak Nritya, Sangeet Karyalaya, Hathras Publication, 2016 edition

5. Kothari, Sunil, Kathak-Indian Classical Dance Art, Abhinav Publications, 1989
6. Sangit Darpanah, Kalashram, 2022
7. Sangit Malika by Mahammad Shah, Bikaner State Library Manuscript
8. Sharma, R. Krishna Bhakti Sahitya mein Prayukt Kathak ki Takniki Shabdavali. ALPIKA souvenir,1987
9. Shastri V.K, Sangita Darpanam by Chatur Damodar, Thanjavur, Thanjavur Maharaja Serforji's Saraswathi Mahal Library, 1989
10. Yamdagni, V. Raslila Tatha Rasanukaran Vikas (1st ed.). Sangeet Natak Akademi, ND.

Appendix :

Brajbhasha Krishna Bhakti Kavya - *Shabda Ughatat*, its synonyms**,** *Tatkarik Varna* '*Ta Thei Thei Tat'* and their variations are in bold.

1. कालीनाग के फन पर निरतत,
   संकर्णन कौ बीर।
   लाग मान थेई-थेई करि उघटत,
   ताल मृदंग गंभीर।

2. सुर ललना सुर सहित विमोहीं,
   रच्यौ मधुर सुर गान।
   नृत्य करत, उघटत नाना विधि,
   सुनि मुनि बिसरयौ ध्यान।

3. बाजत बैनु रबाब किन्नरी कंकन नुपुर सोरी।
   तत्थेई तत्थेई शब्द उघटत प्रिय
   भले बिहारी बिहरत जोड़ी।।

4. अपनै वृंदावन रास नच्यौ नॉचत प्यारी पिय संग।
   सब्द उघटत स्याम नटवर ननौ कल मुख चंग।

5. कबंहु चलत सुधंग गति सौं,कबहु उघटत बैन।
   लोल कुंडल मड मंडल चपल नैननि सैन।

***Padhant* of Compositions**

6. द्रद्रद्रद्र दयायाण या मृदंग
   धिधिकिट धिकट धिधिकट थेई।
   तितिकट तिकट तालाबली
   उघटित शब्द थुंग थुंग थेई।।

7. गिड-गिड़ ता गिड़गिड़ ता ता ता तत ता ता तत
   थेई थेई बीच बीच अधर मधुर मुरलिया मटकनि।
   झं झं झं झुकूट कूटक नागड़दी थे थोगड़दी थेई
   थेई थेई तत थेई तत थेई शब्द उघट बोलनि।

Sangeet Ka Tukda - lyrical *Padhant :*

8. ताधिलांग, ताधिलांग, ताधिलांग, धिकट धिधिकट,
   थेई-थेई, तथुंग, तथुंग, तथेई-तथेई, थेई, थेई,
   सप्त सुरनि शब्द उघटत,नटवर नटराजै।

9. नृत्य करत उघटत संगीत पद,
   निरखि सूर रीझत मन ही मन।।

10. उघटत है संगीत शब्द तथेई थेईता
    गिरि गिरि, थेई थेई सरस परस बाग।

11. उरप तिरप संगीत उघटत तत तत थेई ताला।

12. निरतत संगीत री तत तत थेई थेई
    त्रिभंगी अंगी रंगी चाल देख इन्द्र धनुष पटक्यों

13. अतीत- अनागत- संगीत सुधर,
    सुर नीके औघट तान मिलावै।।
    सुरध्याय तालाध्याय, नृत्य-ध्याय
    निपुनञ्लघु गुरू, जति-पुलक-भेद मृदंग बजावै।

14. पंचम स्वर लै अलाप उघटत हैं सप्त मान
    थेई त थेईता, थेई-थेई कहत बोल।

15. नीको मोहि लागै श्री गिरिधर गावै,
    तत थेई, तत थेई, तत थेई
    भैरव राग मिलि मुरली बजावै।

Dancing to *Padhant* by others :

16. देखो मुरली भृकुटि नचावत
    सप्त संघ्र गाईन संग गावत
    भ्रमरी उपंग सर्वश्रुति धावति,
    उघटत शब्द अधर दोउ पियके।

17. तत थेई, तत-थेई शब्द उघटत पिय,
    बिहारि बिहारिन जोरी।।

18. वृन्दावन कनकभूमि, नृत्यत व्रज नृपतिकुंवर।
उघटत शब्द सुमुखी रसिक ग्रग्रततत ता,
थेई थेई गति लेत सुधर।।

Clapping with *Padhant* and while singing :

19. आंगन स्याम नचावहीं जसुमति नंदरानी।
तारी दै-दै-गावहीं, माधुरी मृदु बानी।।
जसुमति गान सुनै स्रवन. तब आपुन गावै
तारी बजावत देखई, पुनि आपु बजावै।।....

20. अबकी बार मेरे कुंवर कन्हैया,नंदहिं नाचि दिखावहु।
तारी देहु आपने कर की, परम प्रीति उपजावहु।

21. कबहुँ गान करत अपनी रूचि
करतल तार बजावत..
कबहुँक नृत्य करत कोतूहल,
सप्तक भेद दिखावत।

22. ताल धर बनिता मृदंग
चंडागत धान बाजै थोरी थोरी

23. ग्वाल ताल दै नीके गावत
गायक के संग सुर जु भरै।

24. दोऊ मिलि राग अलापत गावत,
होड़ा होड़ी उघटत दे कर तारी तान।।

25. कुंजबिहारी नाचत नीके,
लाडिली नचावत नीके।
औघर ताल धरे श्रीश्यामा,
मिलियत तातथे गावत संग पीके।

Description of Raas-mandal :

26. अपनै वृंदावन रास रच्यौ नॉचत प्यारी पिय संग।
सबद उघटत स्याम नटवर मनौं कल मुख चंग।।
विविध वरन संगीत-अभिनय निपुन नख सिंख अंग।
स रे ग म प ध नि सप्तम सुर गान तान तरंग।।

27. तथेई तथेई तथेई मंडल मधि राजे।

28. जयति तरनि तनया-तीर रास मंडल रच्यौ
तत थेई, तत थेई तत था, तकथे।

29. नृत्यति सुधंग-अंग रंग-संग राधिका,
गिड़ि-गिड़ि, ता, तत, थेई थेई रास रंगिनी।

30. ताल त्रिबट ततकार, चांचर खेल मचाइए।

31. तैसोई त्रिबट मुख उघट पायनि लेत,
तैसोई मृदंग बाजै ध धि लंग।
ताल मृदंग उपंग बजावत,
डफ आवज सुर एक सजावत।।

Gat Chaal using Ta-Thei Tat-Thei syllables :

32. बन्यौ रास मंडल
अहो युवति यूथ मध्य नायक नाचैं गावैं।।
उघटत शब्द तत थेई ता थेई गत में गत उपजावें
।।1।। राग सारंग

33. निर्तत ताथेई, ताथेई लिए गति मोहनी।

34. तत-थेई तत-थेई करत गति नूतन धरत,
पलटि डगमग ढरत मत-गज-गामिनी।

35. तातथेई ता थेई धरति नौतन गति
पति ब्रजराज रिझायौ।।

36. लाल संग रास-रंग लेत मान रसिक रमन
गिड-गिडता, गिड-गिडता,
त त्त त्त, त्त त्त थेई थेई गति लीने।

Rasa-nishpatti - joy and happiness

37. होड़ा-होड़ी नृत्य करैं रीझि रीझि अंक भरैं,
त-ता, थेई-थेई उघटत हैं हरसि मन।

38. निर्तन सुलप लेत नपुर सच
बड विधि हस्तक भेद दिखावै।
उघटत शब्द तत थेई तत थेई
जुवति-वृंद मन मोद बढ़ावै।।

39. तत, तत थेई-थेई कहि गावत
केदारो राग- सानुराग,
क्रीडत रस उपजत अति भारी

40. चरन नूपुर रूनित, कटि किंकिन
नवनित कर कंकन चुरीख भंगे।
चरन धरनी धरत लेत गति सुलप अति,

तत्त थेई थेई नदति मन मृदंगे।

Synonyms of *Ughatat :*

41. अंक भरे तत्ताथै तत्ताथै करत कहत मगन मन।

42. तत्थेई शब्द करत सकल नृत्य भेद सहित,
सुलप रची उरप तिरप लेत नागरी।।

43. सरस सुधंग में नागरि थेई-थेई कहत,
अवनि पद पटकत।

44. ततथेई थेई सबद सकल घट,
उरप तिरप मानों पद की पटक।
रास मध्य राधे, राधे मुरली में थेई रट,
नन्ददास गावै वहा निपट निकट।

45. करत हरि नृत्य नवरंग राधा संग
लेत नवगति भेद चर्चरी ताल के।
परस्पर दर्श रसमत्त भए तत्त थेई
बचन रचना सुसंगति सुर साल के।

46. तत थेई थेई उच्चार तिरप बंध टूटे हार
नृत्यति वाम भाग कुच उतंगिनीं।
कृष्णदास प्रभु गिरिधर मुरली नाद चित चोरन
ससृत हरि साधु साधुतर उपंगिनी।

47. झपतालै चलि उरप, लेति तिरप मान सुखहिं,
चंद सुधर औधर वर सुलप गामिनी।
नयन लोल, मधुर बोल, भृकुटि भंग कुंच, उतंग,
हसंति पियहिं बिबस करति व्यास स्वामिनी।

Similies

48. पावस नट नट्यो अखारो वृंदावन अवनि रंग।
नित गुर रासि बरूहा पपैया सब्द उघटत
कोकिला गावति तान तरंग'।।

49. नटवा नैन सुधंग दिखावत
चंचल पलक सबद उघटत है
ग्रं ग्रं तत्त थेई थेई कल गावत

50. गरजत तरजत मधुर राग लिए
कोकी शब्द सुहाए।
मधुर मंजीर गगन उघटत
सम सुभट पखावज बाजै।

51. उघटत शब्द पपैया पियु पियु करै
मधुब्रत गुंजमाल सरस उपंग।
गोबिन्द प्रभु रीझे सकल सभा सहित
जलघट सुघर बजावत मृदंग।

नाट्य कला में संगीत योजना : गीत के विशेष सन्दर्भ में

शोभा शर्मा
पी.एच.डी. शोधार्थी, परफॉर्मिंग आर्ट्स ऑफ डांस, लवली प्रोफेशनल युनिवर्सिटी, फगवाड़ा, पंजाब

डॉ॰ अमरदीप सिंह मक्कर
लवली प्रोफेशनल युनिवर्सिटी, फगवाड़ा, पंजाब

कोई भी कला मनोरंजन का साधन होने के साथ-साथ समाज को उसका प्रतिबिम्ब दिखाने में भी सक्षम होती है। नाटक भी ऐसी ही कला है। 'सजीव प्रस्तुति के माध्यम से जनमानस पर सटीक प्रभाव डालना इस कला की मुख्य विशेषता है। नाटक एक मिश्रित कला है। इसमें चित्रकला, वास्तुकला, नृत्यकला, संगीतकला, साहित्य इत्यादि कलाएँ सम्मिलित रूप से दृष्टिगोचर होती हैं। नाट्य प्रस्तुतीकरण में विभिन्न कलाओं के सहयोग से नाटक को सजीव रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया जाता है, वहीं दूसरी तरफ विभिन्न कलाओं का मिश्रण नाटक को आलंकारिक रूप प्रदान करता है।''[1] वस्तुतः नाटक काव्य के अन्तर्गत आता है। काव्य के दो भेद हैं- श्रव्य तथा दृश्य। यह दृश्य काव्य का एक भेद कहा गया है। साहित्यदर्पण में नाटक की रचना के संदर्भ में विवेचना की गई है, जिसके अनुसार यह किसी प्रसिद्ध आख्यान पर लिखा जाना चाहिए। इसमें अंकों की संख्या पांच से दस होनी चाहिए, विविध रसों से युक्त नाटक में श्रृंगार और वीर रस प्रधान तथा अन्य इस गौण होने चाहिए। इसका नायक कोई प्रतापी पुरुष या राजीय होना अनिवार्य है। नाटक दृश्य काव्य होने के साथ-साथ अभिनयपरक विधा भी है। इसमें मानव-जीवन का रोचकपूर्ण तथा कौतुहलपूर्ण चित्रण किया जाता है। सुरेन्द्रनाथ दीक्षित के अनुसार ''नाट्य श्रव्य एवं दृश्य होता है, इसीलिए रूप या रूपक के नाम की परम्परा से प्रसिद्ध रहा है। अभिनयगुप्त के मतानुसार नाट्य शब्द 'नट' शब्द से व्युत्पन्न होता है। इसमें पात्र स्व (अपना) भाव को त्यागकर पर प्रभाव को ग्रहण करता है, रूप धारण करता है, अतः यह नाट्य या रूपक होता है।''[2] मनुष्य में अभिव्यक्ति के साथ अनुकरण की प्रवृत्ति भी पाई जाती है, जो नाट्य का रूप ग्रहण कर लेती है, बाबू गुलाबराय नाट्य विधा के स्वरूप को चित्रित करते लिखते हैं कि ''नाटक में जीवन की अनुकृति को शब्दगत संकेतों में संकुचित करके उसको सजीव पात्रों द्वारा एक चलते-फिरते सप्राण रूप में अंकित किया जाता है''[3] मानव जीवन की इस विशेष कला के प्रादुर्भाव को जानने के लिए भरतमुनि द्वारा रचित 'नाट्यशास्त्र' का आधार लिया जा सकता है, जहां पर नाट्य-उत्पत्ति के सम्बन्ध में बताया गया है कि नाट्यशास्त्र जो कि 'पंचम वेद' की संज्ञा से विभूषित है, की रचना स्वयं ब्रह्मा जी ने की। इस कार्य के लिए उन्होंने अन्य चारों वेदों का आलम्बन लिया। इन्द्र आदि देवताओं ने ब्रह्मा जी से ऐसे खेल का निवेदन किया, जिसे देखा और सुना जा सके और पांचवा वेद बनाने का आग्रह किया, जिसमें सभी वर्गों के लोग हिस्सा लेकर आनंद प्राप्त कर सके। ऐसा इसलिए क्योंकि वैदिक उत्सवों में शुद्र सम्मिलित नहीं हो पाते थे। तब ब्रह्मा जी ने सभी वेदों पथा ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद से क्रमशः पाठ्य अंश, गीत, अभिनय तथा श्रृंगार रस का समावेश किया तथा नाट्य वेद की रचना की। यूनानी

नाटक की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अरस्तु का मत है कि ''त्रासद तो उन स्तोत्रों के साथ उत्पन्न हुआ जो यूनान के दि अनसुस या बाखस देवता की उपासना में गाये जाते थे। ये गाने वाले अपना आधा शरीर बकरे की खाल से ढककर उग्र स्तोत्र (दिथुरंब) गाया करते थे। इसलिए उनके गीतों को त्रैगोदा (अजागीत) कहने लगे और जब उन गीतों में नाटककारों ने अभिनेताओं का समावेश करके नाटकों की रचना की तब वे नाटक त्रैगोदी या ट्रेजेडी (त्रासद) कहलाने लगे।''[4] चीनी नाटकों की उत्पत्ति के सम्बन्ध के विद्वानों के कई मत प्रचलित हैं, जिसमें वाङ्ते नामक चीनी राजा का नाटकों का जनक माना जाना या इसका श्रेय यूवेन्तशून सम्राट (720 ईस्वी) को दिया जाना आता है। चीनी नाटकों का उद्भव नृत्य और गीत के मेल से माना जाता है। वहीं जापानी नाटकों के उद्भव को लेकर भी कई वर्णन मिलते हैं परन्तु सर्वसम्मति से इसका श्रेय सरूबाका काडबुरो को दिया जाता है, जिसने 1624 में प्रथम रंगशाला की स्थापना की। समय के प्रवाह के साथ नाटकों की प्रस्तुति; विषय आदि में कई परिवर्तन आए और इसके भेदों को विभिन्न बिन्दुओं के अन्तर्गत वर्गीकृत किया गया। सर्वप्रथम विषय के अन्तर्गत नाटक पौराणिक, ऐतिहासिक, प्रतीकात्मक, सामाजिक, राजनीतिक, नैतिक आदि में वर्गीकृत हुआ। चूंकि यह कला रंगमंच से सम्बन्धित है, अतः खुले मैदान में खेले जाने योग्य, रिवालविंग स्टेज के उपयुक्त, छोटे तथा बड़े रंगमंच के उपयुक्त आदि प्रकार रंगमंच के अधीन आते हैं। प्रस्तुति के आधार अर्थात् प्रदर्शन-पद्धति के आधार पर इसे मूकाभिनय, छाया नाटक, पुत्तलिका नाटक, गीति-नाट्य, श्रव्य नाटक अर्थात् रेडियो प्ले, नृत्य-नाट्य आदि में बांटा जा सकता है। वहीं रचना के आलम्ब में प्रकांकी, प्रभाव के अनुसार हास्यजनक, श्रृंगारात्मक, उपदेशात्मक, करुणात्मक, वीरतापूर्ण, वैराग्य आदि भेद कहे जा सकते हैं। नाटकों के उद्देश्य को देखें तो इसमें समाज सुधार, स्तुति, निंदा, प्रचार, कोई विशेष लक्ष्य का भेद हो सकता है। इसके अन्य प्रकारों में सुखान्त, दुखान्त, प्रहसन, व्यंग्य आदि आते हैं। नाटक का एक अन्य भेद लोक नाटक के रूप में भी हमारे समक्ष प्रस्तुत होता है। इसकी उत्पत्ति को लेकर विद्वानों में मत वैभिन्नय है। डॉ. पिशेल इसकी उत्पत्ति कंठपुतली' से मानते हैं वहीं डॉ. रिजले मृतक पूजा इसका मूल समझते हैं। इसकी प्रवृत्तियों को देखें तो यह व्यक्ति की कृति नहीं बल्कि समूह की कृति है, जहां लोक जीवन से समीपता देखी जा सकती है। इसका कथानक सामाजिक, ऐतिहासिक या पौराणिक होता है परन्तु भाषा में सरलता तथा क्षेत्रीयता झलकती है, साथ ही लम्बे संवादों को भी अभाव होता है। अभिनय पर विशेष बल देने के साथ-साथ खुले रंगमंच पर अभिनीत यह नाटक मनोरंजन के साथ शिक्षा भी प्रदान करता है।

नाटक के भेद जहां इसकी विविधता का प्रदर्शित करते हैं, वहीं नाटक के तत्व इसकी संरचना के परिप्रेक्ष्य में जानकारी देते हैं। कथावस्तु, पात्र-योजना, संवाद, देशकाल-वातावरण, अभिनय, भाषा-शैली एवं उद्देश्य किसी भी नाटक के महत्वपूर्ण तत्व होते हैं। कथावस्तु किसी भी विषय पर हो सकती है- सामाजिक, पौराणिक, ऐतिहासिक आदि। भारतीय आचार्य इसे तीन भेदों में विभक्त करते हैं- प्रख्यात, उत्पाद पूर्व मिश्र प्रख्यात। प्रख्यात जहां इतिहास या पुराण से सम्बन्धित होती है, वहीं उत्पाद कल्पना पर आधारित होती है, अन्य में इतिहास तथा कथा का मेल रहता है। इसके आगे गौण तथा प्रासंगिक भेद आते हैं। प्रासंगिक में पताका तथा प्रकरी, प्रकार हैं। इसके अतिरिक्त कथा के विकास के लिए पांच अवस्थाएं- प्रारंभ, प्रयत्न, प्राप्तयासा, नियताप्ति, फलागम का भी निर्वहन होता है। नाटक में पात्रों का विशिष्ट स्थान है। कथावस्तु के अनुरूप नाटक का नायक धीरोदात्र होना चाहिए। उसका सम्बन्ध ऊंने कुल से होना चाहिए। वर्तमान नाटकों में विषय के अनुरूप पात्र कोई भी हो सकता है। जैसे कोई मज़दूर या किसान आदि परन्तु उनका सजीव वर्णन तथा प्रभावमयी चरित्र चित्रण अनिवार्य है। पात्रों की जीवतंता उनके

संवादों के माध्यम से दृष्टिगोचर होती है। पात्रों का विकास भी संवाद करते हैं अतः उनमें सफलता, सुबोधता, स्वाभाविकता का गुण होना चाहिए। यद्यपि भारतीय नाट्यशास्त्र में देशकाल वातावरण का कोई विवरण नहीं परन्तु नाटक में स्वाभाविकता हेतु इस तत्व का विधान किया जाता है, जिसमें विभिन्न परिस्थितियां, पात्रों की वेशभूषा आदि आते हैं। अभिनय नाटक को 'नाटक' की संज्ञा से विभूषित करता है। अभिनय मुख्यतः चार प्रकारों (आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक) का होता है। नाटक की सफलता उसकी ग्राहणता में भी निहित होती है और यह तभी संभव है, जब उसकी भाषा क्लिष्ट न होकर सरल तथा स्पष्ट हो तथा अपने निर्धारित उद्देश्य को दर्शकों तक संप्रेषित कर सके।

नाटक के सभी तत्व एक साथ इसे पूर्णता प्रदान करते हैं, जिनमें संगीत की निहितता कई पक्षों से रंगमंच की इस विधा के सौंदर्य को द्विगुणित कर देती है। संगीत वस्तुतः गायन, वादन तथा है नृत्य के द्वारा जन्मानस के अन्तस में उल्लास, उमंग का संचार करता है। नाटक गें प्रयुक्त तत्वों में संगीत अभिवृद्धि का कारक कहा जा सकता है क्योंकि इसका प्रस्तुतीकरण संगीत के अभाव में नीरस हो जाएगा। नाटक और संगीत दोनों विधाएं यद्यपि भिन्न है तथापि इनका सम्बन्ध अत्यन्त गहरा है। संगीत अपनी साधारण प्रवृत्ति में गीत, वाद्य एवं नृत्य का समाहार है। इन तीनों का रूप नाटक में प्रयुक्त किया जाता है। परन्तु नाटक की संगीत योजना में गीतों का प्रभाव अविस्मरणीय होता है। पण्डित सीताराम चतुर्वेदी अपनी पुस्तक 'भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच' में गीत योजना पर विस्तार से चर्चा करते हैं। गीत के प्रयोग के सन्दर्भ में उनका मानना है कि 'नाटक में गीत का प्रयोग संगीत के साथ-साथ भाता है और इसलिए नाटककार का यह धर्म है कि वह गीत का निर्माण करते समय इस बात का ध्यान रखे कि कितनी मात्रा में, किस लय में, किस राग और काल में उसे बांधा जाय। इसके लिए संगीत शास्त्र का इतना ज्ञान आवश्यक है कि किस समय, किस अवस्था में, किस भाव के अनुसार, किस राग और ताल में गीत हो।'[5] इतना ही नहीं गीत के प्रयोग के समय रस, भाव और गति की अवहेलना भी नहीं होनी चाहिए। गीत के प्रयोग कई तरह से नाटकों में प्रयुक्त किए जाते हैं, जहां पर अकेले व्यक्ति का गान हो (वाद्य या वाद्य के बगैर), एक व्यक्ति किसी दूसरे के नृत्य के साथ गाता हो, दो से अधिक व्यक्तियों का गान, संवादात्मक गीत, किसी एक के द्वारा गीत की पंक्ति का गान और अन्य के द्वारा अनुवर्तन; गीतों के विविध रूप यथा- लोक गीत, पर्व के गीत, श्रम-गीत, नृत्य-गीत, ऋतु-गीत, विलाप के गीत, योद्धाओं में उत्साह भरने के गीत, आदि। ''इसके अतिरिक्त कुछ विशेष अवस्थाएं हैं, जिनमें गीत का प्रयोग होता है, जैसे सभा गीत, किसी मंगलोत्सव पर किसी अच्छे गवैये या गायिका को बुलाकर गीत का आयोजन करना। इसी प्रकार गोष्ठी-गीत भी हैं, जिसमें कुछ मित्र मिलकर अपने मनोरंजन के लिए किसी का गीत स्वयं गाते या सुनते हैं।''[6] नाटक में गीत के विधान की बात की जाए तो हिन्दी के कई नाटकों में विभिन्न अवसरों पर गीतों का प्रयोग उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है। जयशंकर प्रसाद के 'राज्यश्री' नाटक में सात गीत, 'चन्द्रगुप्त' में तेरह गीत 'ध्रुवस्वामिनी' में चार गीत हैं। समय के साथ-साथ नाटकों में गीत के विविध प्रकारों जैसे भजन, कजली, कीर्तन, ठुमरी, दादरा, ग़ज़ल, होली, कव्वाली, तराना आदि का प्रयोग किया जाने लगा। नाटक में गीतों की प्रयुक्तता उसके अवसर पर भी निर्धारित होती है, जिसका अर्थ यह है कि गीत की परम्परा कौन सी ऋतु में या किसी विशिष्ट परिस्थिति में या फिर किस पात्र द्वारा निभाई जाएगी। यहाँ पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि गीति नाट्य में तो केवल रस और भाव पर ही विशेष ध्यान दिया जाता है परन्तु गद्य-नाटक गीतों के लिए अवसर की उपयुक्तता की मांग करते हैं। इन अवसरों के अन्तर्गत कोई पात्र एकाकी बैठा हुआ गा सकता है या किसी उत्सव के मौके पर कई लोगों के साथ

गीत गा सकता है। प्रेम-मिलन या विरह की अवस्था में, देवताओं की स्तुति के अवसर पर, शिक्षा मांगते हुए या नाटक के आरम्भ में गीत गाया जाता है, नेपथ्य से रंगमंच पर उपस्थित पात्रों को कोई सूचना देने के लिए भी इसका अवसर उपयुक्त है। भारतीय नाट्यचार्यों ने चार वृत्तियों के बारे में बताया है- कैशिकी वृत्ति, सात्त्वती, भारती वृत्ति तथा आरभटी वृत्ति। इनमें से कैशिकी वृत्ति के नाटकों में ही गीत के साथ-साथ वाद्य तथा नृत्य किया जाता है जबकि आरभटी में गीत की योजना निषिद्ध है। इसके अलावा भयानक, वीभत्स, रौद्र रसों में भी गीत का प्रयोग उचित नहीं माना जाता।

निष्कर्षतः स्पष्ट होता है कि नाट्य कला मूल रूप से अभिव्यक्ति, मनोरंजन, आनंद का सशक्त माध्यम है और इसी श्रेणी में संगीत की उपादेयता भी सिद्ध होती है। नाटक का संगीत से सम्बन्ध किसी पक्ष से भी अविच्छिन्न नहीं किया जा सकता। संगीत के विविध रूपों में गीत की योजना नाटक-कला के अन्तर्गत अपना विशेष स्थान प्राप्त किए है। निस्संदेह गीतों की प्रस्तुति नाटक के प्रदर्शन और विकास में महती भूमिका निभाती है।

सन्दर्भ सूची :

1. चावला, टीना (2011), हिन्दी नाटक और संगीत वर्तमान परिप्रेक्ष्य में, संजय प्रकाशन, नई दिल्ली, प्राक्कथन से।
2. दीक्षित, सुरेन्द्रनाथ (1970), भरत और भारतीय नाट्यकला, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ-124
3. https://wwwkailasheducation.com
4. चतुर्वेदी, पं. सीताराम (1964), भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच, हिन्दी समिति, लखनऊ, पृष्ठ-15
5. वहीं, पृष्ठ-683
6. वहीं, पृष्ठ-685

लोकनाट्य बिदेसिया : अंतर्वस्तु, संगीत पक्ष एवं प्रयोग

श्वेता कमल
शोधार्थी
हिन्दी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग,
वनस्थली विद्यापीठ, राजस्थान

डॉ. विजय कुमार प्रधान
शोध निर्देशक
हिन्दी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग,
वनस्थली विद्यापीठ, राजस्थान

लोकनाट्य परम्परा का विकास मानव-सभ्यता तथा लोकसाहित्य की श्रेष्ठ अभिव्यक्ति है। लोकहृदय की भावनाएँ, सुख-दुःख, जिज्ञासा तथा इन सबसे उपजी कल्पनाओं को अभिनय द्वारा प्रर्दशित करना लोकमन तक पहुँचने का सरल रास्ता था। वस्तुतः लोकगीतों की सृष्टि से ही लोकनृत्य तथा लोकनाट्य का सृजन हुआ।

लोकगीत तथा उसकी धुनों की सज्जा से ही लोकनाट्य का मर्म समझा जा सकता है। परस्पर यह माना गया है कि लोकसंगीत लोकनाट्य की आत्मा है। किसी भी प्रदेश, क्षेत्र-विशेष के लोकनाट्य का मंचन को देखें तो उसमें लोकसंगीत की भूमिका स्वतः ही समझ आ जाती है। भोजपुरी लोकनाट्यों के विषय में कहा गया है कि ''रंगमंच पर पात्रों का मर्मस्पर्शी संवाद, लोक शैलियों पर आधारित गीत-संगीत अथवा राग- रागिनियों की माधुर्यता यहाँ के लोकनाट्यों के वैशिष्ट्य हैं।''[1] सरल और सहज, मौलिकता की ध्वनि है लोकसंगीत। कोई भी लोकगीत लोकसंगीत के बिना मधुरता से कोसों दूर हो जाता है वहीं लोकसंगीत के बिना लोकनाट्य भाव की अभिव्यक्ति से।

लोकनाट्य की उत्पत्ति लोक प्रचलन, धार्मिक रूढ़ियों, जन-परम्पराओं, पूजा-उत्सव, मांगलिक कार्यों और मनोरंजन तथा शोक आदि के आधार पर माना गया है जो लोकगीतों में संजोकर अभिनित हुआ। लोकसंगीत और लोकनाट्य के सामंजस्य का अपूर्व उदाहरण है, भोजपुरी क्षेत्र के भिखारी ठाकुर द्वारा रचित 'बिदेसिया'। अपने संगीत वैशिष्ट्य तथा भोजपुरी भाषा की मिठास को लेकर आगे 'बिदेसिया' लोकनाट्य की एक शैली के रूप में प्रतिष्ठित हुआ जिसके आधार पर अन्य कई नाटकों की रचना की गई।

बिहार लोकनाट्यों की परम्परा का समग्र सार बिदेसिया में आकर समाहित हो जाता है। वैसे तो इसके प्रवर्तक गुद्दराय थे लेकिन इसे प्रतिष्ठित करने का श्रेय पूरी तरह आचार्य भिखारी ठाकुर को जाता है। भोजपुर क्षेत्र, सारण जिला के गाँव कुतुबपुर के निम्न वर्ग से आने वाले भिखारी ठाकुर ने भोजपुरी साहित्य ही नहीं बल्कि लोककलाओं को भी जो समृद्धि दी है वह अतुलनीय है। बिदेसिया के प्रचार-प्रसार तथा मंचन के कार्य को उन्होंने अपनी कलात्मकता से राष्ट्रीय स्तर पर पहुँचाया। ''नाटकीय कला, अभिनय और संगीत-स्वर-साधना की इस त्रिवेणी के द्वारा इनका नाम अत्यधिक प्रसिद्ध हो गया।''[2] बचपन से नृत्य तथा संगीत में रुचि रखने वाले बिहार के महान विभूति आजीवन अपनी कला के प्रति समर्पित रहे। उनके मधुर गायन, नृत्य के हाव-भाव, स्त्री पात्रों की भूमिका में भी अपनी जान डालकर अभिनय करना- लोगों के मन को आनंद से भर देता था। ऐसा कहा जाता है कि उनके सुरीले कंठ में जैसे सम्मोहन था। दर्शक हज़ारों-हज़ार की संख्या में उनका मंचन देखने के लिए जुटते थे। गजेन्द्र नारायण सिंह उनसे संबंधित

अपने संस्मरण में लिखते हैं- ''26 जनवरी 1954 को पटना हार्डिंग पार्क के पीछे आम्रकानन में तृतीय बिहार सांस्कृतिक समारोह के दौरान लोक मंडलियों द्वारा संगीत-नृत्य और नाट्य के कार्यक्रम हुए थे। तब भिखारी ठाकुर ने अपनी सुविख्यात 'बिदेसिया' शैली में 'बेटी वियोग' नाटक के अंश प्रस्तुत किए थे। कोई पंद्रह हज़ार दर्शक वहाँ उपस्थित मंत्रमुग्ध थे।''[3]

बिदेसिया की कथावस्तु, बिदेसिया के रचना की प्रेरणा और उसके मंचन – सभी में संगीत का अनोखा मेल है। ''बिदेसिया बिहार का संगीत, नृत्य और नाट्य मिश्रित सर्वाधिक लोकप्रिय मनोरंजन है।''[4]

बिदेसिया नाटक की रचना का उपजीव्य रामलीला, रामचरितमानस तथा सूरदास के भ्रमरगीत माने गए हैं। भिखारी क्योंकि नृत्य-गायन में रुचि रखने वाले, बचपन से ही रामलीला का मंचन देखते आ रहे थे; वहाँ से नाटकों में उनका मन रमा। मत है कि भ्रमर-गीत पढ़ते हुए वो गोपियों के विरह-चित्रण से वह प्रभावित हुए और उन्हें बिदेसिया लिखने की प्रेरणा मिली। इसलिए इसकी कथावस्तु इस प्रकार है कि नायक बिदेसिया अपनी नवविवाहित स्त्री (नायिका-प्यारी सुंदरी) को अकेला गाँव में छोड़कर व्यवसाय के लिए शहर की ओर चल पड़ता है। वहाँ कुछ समय रहने के बाद दूसरी स्त्री से उसका प्रेम-परिणय हो जाता है। वह अपने इस नए संसार में इतना मग्न हो जाता है कि उसे गाँव में बैठी, उसकी राह देखती अपनी पत्नी की सुध ही नहीं रहती। इधर प्यारी सुंदरी दिन-रात उसकी बाट जोहती है। तभी उसे पता चलता है कि एक बटोही शहर यानी बिदेस की ओर जा रहा है। उसके पास जाकर याचना करती है कि वह उसके पति तक संदेश पहुँचा दे कि विरह में अपने पति के बिना वह कितने कष्ट सह रही है। बटोही भी उसकी पीड़ा देखकर दुःखी हो जाता है। वह उसके पति की पहचान पूछकर चला जाता है।

परदेस में जाकर वह जगह-जगह उसकी खोज करता है। अंततः मिल जाने पर वह देखता है कि बिदेसिया अपने नए संसार में, सुविधाओं में लिप्त है। वह उसे उसकी स्त्री की याद दिलाता है जिसे विवाह के तुरंत बाद ही वह छोड़कर आया था। पर वह उसकी एक नहीं सुनता। बटोही के अनेक उपाय तथा उपदेश पर उसे पछतावा होता है और वह तुरंत ही उसके पास जाने का निश्चय करता है। देर रात पहुँचने पर वह दरवाज़ा खटखटाता है। किसी चोर के होने की आशंका से प्यारी सुंदरी भय से रो पड़ती है और उसे अपने अकेलेपन पर दुःख होता है। तभी बिदेसिया आवाज़ लगाता है दरवाज़ा खोलते ही उसे देखकर खुशी के मारे प्यारी सुंदरी अचेत हो जाती है। स्थिति सामान्य होती है तभी उसकी दूसरी पत्नी दोनों बच्चों के साथ वहाँ पहुँच जाती है। विवशता से दोनों स्त्रियाँ एक-दूसरे को स्वीकार करती हैं और नाटक का सुखांत होता है। यहाँ बिदेसिया ब्रह्म, प्यारी सुंदरी जीव, बटोही धर्म तो दूसरी स्त्री माया के रूप में चित्रित है। इस तरह भिखारी भी सांसारिक मोहमाया से परे ब्रह्म और जीव के मिलन को ही लक्ष्य करते हैं।

बिदेसिया नाट्य की यह कथावस्तु बिना संगीत के केवल एक सामान्य लोककथा प्रतीत हो रही है। संगीत के साथ ही इसके भावों में गूढ़ता दिखलाई पड़ने लगती है। ''बिहार के लोकजीवन में प्रचलित बिरहा और कजरी के बोल सुनकर प्रत्येक का हृदय द्रवित हो उठता है। इसमें मानव हृदय का सहज स्पंदन श्रोता मन को महसूस होता है।''[6] नाटक-प्रारंभ में मंगलाचरण का निर्गुन गीत मनोरंजन के लिए पात्रों का गीतात्मक परिचय, प्यारी सुंदरी और बिदेसिया का गवना (विवाह गीत), प्यारी सुंदरी का बिदेसिया के लिए विरह गीत, बिलाप, जतसार, दृश्यों के मध्य भावाभिव्यक्ति के लिए पूरबी, कजरी, बिदेसिया के वर्णन में लोरिकायन आदि लोकगीतों की शैली से लोकप्रिय है बिदेसिया।

वैदिक मान्यताओं से परे, लोकसंगीत का धुन प्रकृति से प्रेरित है जैसे चिड़ियों के स्वर पक्षियों का

कलरव, हवा की सनसनाहट, बहते झरने के स्वर की हलचल; जैसे जाँता में आटा पीसने पर, उससे निकलता स्वर और फिर उसी धुन पर स्त्रियों द्वारा गाए जाने वाले गीत। यानी बोल और शब्द प्रेरित हैं लोकजीवन से, लोगों के सहज मन की भाषा से। बिदेसिया के संगीत पक्ष को भी इसी प्रकार विभिन्न लोकगीत, छंद, धुन, लय-ताल (लोकवादन शैली) आदि में विस्तृत रूप से देखा जा सकता है। गायन शैली में मंगलाचरण की रचना भिखारी ठाकुर ने रामचरितमानस की चौपाई और दोहे छंद पर आधारित गीत लिखे। चौपाई में लिखी मंगलाचरण का उदाहरण-

''मंगल भवन अमंगल हारी
द्रवहु सो दशरथ अजिर बिहारी
महावीर बिनवों हनुमाना
जासु सुजस प्रभु आप बखाना
धन्य धन्य गिरिराज कुमारी
तुम समान नहिं कोउ उपकारी
नाच तमासा कीर्तन जेते
होखत बा सब जग मँह तेते
नावत बानी सब कर माथा
चित देई सुनहु बिदेसिया काथा''[6]

इसी प्रकार से चौपाई में रचित यह पंक्तियाँ नायक के चले जाने से नायिका की दशा का वर्णन सूत्रधार द्वारा कर रही -

''सुनि प्यारी पिउ गए परदेसा
तेहि छन हो गई पागल भेसा
याद परे जब पती पयाना
साँस लेत लागे जनु बाना
रोवन लागे धुनि-धुनि छाती
सूझे तनिक दिन ना राती''[7]

दोहे छंद में -

''प्यारी के मन लागल बाटे, जँहवां बाड़न राम।
माड़ो में सतबंध भइल बा, कहत भिखारी हजाम॥''[8]

अन्य पुरुष द्वारा प्रलोभन देने पर, प्यारी सुंदरी ईश्वर को याद करती है।

इसी प्रकार कवित्त तथा सवैया छंद के गीत भी इस नाट्य गीत में सन्निहित हैं। भिखारी ठाकुर के कबित्त तुलसीदास के कवित्त से ही प्रभावित हैं।

बिदेसिया जाने की जिद् कर रहा है पर प्यारी सुंदरी उसे नहीं जाने देना चाहती ऐसे में वह उसका मनुहार करता है -

''मन हमार परदेस जाये के चाहत अबहीं प्यारी
जल्दी हे तइयार करहु कुछ, रास्ता के बटसारी
फिरती बार तोहरे पहिरन हित कीनब बंगला सारी
कहे भिखारी खुसी रह, घर, मय कर, सोच हमारी''[9]

यह चौबोला छंद की पंक्तियाँ एक पुरुष के मन की स्वच्छंदता को दर्शा रही। चौबोला छंद या चौबेल चार पंक्तियों की छंद शैली है जो मूलतः उत्तर भारत की काव्य परम्परा में प्रयोग की जाती है।

लोरिकायन के लय में नायिका के विरह के बोल हैं-

''जनियाँ मकनियाँ में हनि के केवरिया
डहकत बाड़ी बारम्बार
पिया घरे रहितन, जवन जवन चहितन
कहितन करितीं तइयार
मनवाँ भवनवाँ अँगनवाँ में लागत नइखे
कब मिलिहन समाचार?
कहत भिखारी नाई, प्यारी के चरित गाइ
काइ करिहन करतार?''[10]

लोरिकायन प्रबंध गीत होते हैं जिसमें गेयता से अधिक कथानक की प्रधानता होती है। इसके लय का प्रयोग भिखारी ने नायिका की विरह- कथा को कहने में किया है।

तीसरा जो प्रमुख लय है वह है जतसारी तथा दूसरे प्रकार का जतसारी। जाँत यानी पुराने समय में घर में ही गेहूँ, चावल आदि पीसने के लिए काम में लाया जाने वाला, जिसे दो स्त्रियाँ हाथों से चलाती थीं। उस समय जो जाँत की लय पर उनके मन में गीत उभरे, जतसार कहलाए -

''ए सामीजी, सुसुकि-सुसुकि लोरवा पोंछत बानीं
केहू नइखे सुनत रगल हो राम
ए सामीजी, कहत भिखारी नाई, पतइन खाइ के
गुनल ना, मिमिआली छागल हो राम''[11]

विरह से व्याकुल होकर मन की व्यथा इस प्रकार जतसार के माध्यम से भिखारी ने प्रस्तुत किया है। अन्य गीतों में बिरहा के गीत, विलाप गीत, सोरठी, आल्हा के लय, लय पचरा आदि भी इस लोकनाट्य की विशेषता हैं। बिरहा गीत का केंद्र विषय विरह होता है। पारम्परिक रूप से चरवाहे इसे गाते हैं। सोरठी बृजभार भोजपुरी लोकगीतों का प्रेमकाव्य है। यह पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा बिहार में प्रसिद्ध है। आल्हा वीर रस के गीत की शैली है। लोकगीत तथा संगीत के रूप में यह उत्तर भारत में प्रचलित है।

बिहार के लोकसंगीत की दो सबसे विशेष शैली हैं -कबीर पंथी निर्गुण (शिवनारायणी पंथ) और पूर्वी शैली।

निर्गुण/निर्गुनिया ब्रह्म के साथ एकाकार होने की भावना पर आधारित है। जैसे प्यारी सुंदरी अपने पति के वियोग में जोगन-सी जान पड़ती है। साज-श्रृंगार त्याग कर केवल ईश्वर की उपासना करती है -

''हे राम, जोगिनियाँ बनि के हम,
करब मालिक के उदेस। हे राम....
तूरि के गला के हार, देहब अगिया में जार
छोड़ि के परइलन परदेस। हे राम....
टिकली-सेनूर तजि,पिउ-पिउ भजि-भजि
छूरा से छिलाई कर केस। हे राम.....''[12]

पूर्वी या पुरबिया शैली की बात करें तो यह लोक गायन और वादन दोनों ही विधाओं में हज़ारों वर्ष पुरानी, उत्कृष्ट और सबसे महत्वपूर्ण है। इसकी विशेषता है इसकी हृदयस्पर्शिता। इसके बोल और धुन बड़ी सरलता से मन को आनंदित करते हैं - जैसे प्यारी सुंदरी की यह मनःस्थिति जहाँ वह बटोही को अपनी पीड़ा बता रही है।

''कहाँ जइब, भइया? लगाव अ पार नइया तू
मोर दुःख देखि ल नेतर से बटोहिया।
सुन, हो गोसइयाँ, परत बानीं पइयाँ,
रचि - रचि कहिह, बिपतिया बटोहिया''[13]

इसके साथ ही कई स्वच्छंद गीत भी बिदेसिया का हिस्सा हैं या यों कहें कि इसमें अधिकतर गीत सहज लोकगीत ही हैं जो स्वर, लय, ताल, मात्राओं आदि के बंधन से मुक्त लोककंठ, लोकहृदय से निकले गीत हैं।

बिदेसिया में नगाड़ा, हारमोनियम, झाल, बाँसुरी, सारंगी, नाल, ढोलक आदि के संगत से लोकगीतों की मधुरता देखते ही बनती है। दर्शकों को बाँधने का उद्देश्य प्रथम होता था इसलिए तेज़ लय और गति का प्रयोग होता था जैसे नाटक के प्रारंभ में नगाड़े की थाप। लोकमन को और गहराई से नाट्य में एक मनोरंजनकारी खेल दिखाकर फिर दुःख का दृश्यांकन आदि प्रयोग किए जाते थे जिसमें फिर बाँसुरी/सारंगी के साज़ का अनोखा मेल दिखाई पड़ता है।

इसके साथ ही, प्रयोग किए गए विभिन्न तालों में दादरा, कहरवा, दीपचंदी तथा रूपक प्रमुख है। दादरा को छह बीट्स ताल कहते हैं जो प्रस्तुति में बहुत आसान माना जाता है। दीपचंदी का राग गायन में प्रयोग में होता है। इसमें चार विभाग तथा 14 मात्राएँ होती हैं। पहले और तीसरे विभाग में 3-3 मात्रा तथा दूसरे और चौथे विभाग में 4-4 की मात्रा होती है। कहरवा ताल 8 मात्राओं की होती है, जिसके 2 विभाग हैं। दोनों विभाग में 4-4 की मात्रा होती है। वहीं रूपक ताल में 7 मात्राएँ तथा 3 विभाग हैं। पहले विभाग में 3 मात्रा तथा दूसरे और तीसरे विभाग में 2-2 की मात्रा होती है।

बिदेसिया के बोल में दीपचंदी ताल पर राग का उदाहरण देखते हैं -

''रहिया तकत मोरी
भारी भइले अँखियाँ

सा रे - रे प म - ग मग - सारे - सा -

र हि · या · त · क · त · · मो · · री ·

× 2 0 3

सा रे - म - ग - रे सा - सा - - -

भा री · भइ · ले · अँ खि · याँ · · ·''[14]

ढ 2 0 3

इस प्रकार बिदेसिया ग्रामीण और शहर दोनों पृष्ठभूमि को दर्शाती नाट्यकृति है, जहाँ सामान्य पुरुष की कामनाएँ हैं और एक सामान्य स्त्री की वेदना और इसे लोकमन की भूमि पर उतारती है उसमें प्रयोग हुए उत्तर भारत के लोकवादन तथा लोकगीत का अनोखा संगत। लोकगीत बहुत ही सरलता लिए होता है। इसमें कोई भी बनावटीपन नहीं हो सकता जिस कारण मात्राएँ समान ही होती हैं। पूरा का पूरा लोकगीत पारम्परिक धुन पर आधारित होता है। उसमें नवीन प्रयोग, उसकी विशुद्धता, मौलिकता को बाधित करता है। इसलिए गीत के बोल, शैली, प्रस्तुति ढंग आदि में नया रंग मिलाया जा सकता है। साथ ही नए वाद्य यंत्रों को भी प्रयोग में लाया जा सकता है। लेकिन उसकी जो अपनी प्राकृतिक, क्षेत्रिय भाषा में कहें तो जो ठेठ धुन है वह बदली नहीं जा सकती। यही सम्पूर्ण रूप से लोकसंगीत की मधुरता को बनाए रखता है।

सन्दर्भ सूची :

1. भोजपुरी संस्कृति एवं लोकनाट्यों में सांगीतिक परम्परा, डॉ सुरेन्द्र कुमार, पृ॰-66
2. भोजपुरी और उसका साहित्य, डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय, पृ॰-123
3. रंग बिदेसिया, अश्विनी कुमार पंकज (सं0), पृ॰-124
4. भारतीय लोकनाट्य, महेंद्र भानावत, पृ॰-311
5. भारत के लोकनाट्य, शिवकुमार मधुर, पृ॰-47
6. भिखारी ठाकुर ग्रंथावली, खंड-1, शिलानाथ ठाकुर, गौरीशंकर ठाकुर, पृ॰-10
7. वही, पृ॰-25
8. भिखारी ठाकुर ग्रंथावली, खंड-1, शिलानाथ ठाकुर : गौरीशंकर ठाकुर, पृ॰-57
9. वही, पृ॰-19
10. भिखारी ठाकुर ग्रंथावली, खंड-1, शिलानाथ ठाकुर : गौरीशंकर ठाकुर, पृ॰-12
11. वही, पृ - 12
12. भिखारी ठाकुर ग्रंथावली, खंड-1, शिलानाथ ठाकुर : गौरीशंकर ठाकुर, पृ॰-14
13. वही, पृ॰-33
14. भोजपुरी और उसका साहित्य, डॉ कृष्णदेव उपाध्याय, पृ॰-137

Importance of Marathi stage in the music of Maharashtra

Dr. Kasturi Paigude

Visiting faculty, FLAME University

In the 75 years of the growth of Marathi stage music, there are five prominent time periods that map out the character of Marathi stage music. The periods are: 1) 1880-1895; 2) 1895 to 1910 ;3) 1911-1920; 4) 1921-1935; and 5) 1936 onwards. Theatre has always been a powerful means of public education and entertainment. Social problems, concepts of righteousness and morality can be explained very effectively through dramatic actions than through theoretical discussions. And whenever music has been a part of theatrical presentation as one of its essential elements, it has at all times made the appeal of drama wider and of immense depth. The Marathi stage not only highlighted the social problems but it was also the reason for the popularisation of musical art. There was tremendous growth of musical appreciation along with dramatic appreciation allover Maharashtra because of the Marathi stage. The importance given to music on the Marathi stage was of utmost importance as it decided the direction of the play and took forward the story line. The effect of stage music on people has been remarkable in terms of musical appreciation and this lead to the development of music in a big way which had even greater cultural value than just the popularisation of theatre art.

Marathi stage helped in spreading music and a new kind of popular music emerged which was closer to folk music and devotional music in nature. Some new rhythms were born and new tunes were experimented with. These tunes were lighter and playful in their character. The songs had a popular appeal amongst masses and the stage music grew and flourished fully by accepting stable structure of classical music.

The first Marathi play was written by Vishnudas Bhave in 1844 when music was not a part of the play. Music had its place on the stage only from 1880 onwards when Annasaheb Kirloskar's *Shakuntala's* Marathi version was performed. Before *Shakuntala,* music on stage had very limited and basic structure and was very similar to the religious Kirtan which had anecdotes by the Haridas. In the early times of the music drama, Sutradhar stood in one corner of the stage and recited the simple music, as the story of the drama unfolded itself through the actions and

brief conversation pieces of the dramatic persons who held the centre of the stage. This type of singing was without any variety and therefore it could not evoke any enthusiasm in the public making the entire experience extremely dull and ineffective. At this stage music was not an integral part of the dramatic action. Singing the verse was simply an add-on in building up the play. In Marathi theatre, a musical piece is called *pad,* a Marathi word derived from Sanskrit which means 'verse'. These verses had very little musical quality and they did not contribute significantly to the development of the drama. The number of songs in any play from the earlier times was quite big (i.e two hundred songs in *Shakuntala*). There-fore in the earlier days of the Marathi stage, music was not readily linked with a stage performance by the dramatists and by the people.

People who heard the songs from *Shakuntala* became aware about the birth of new kind of music. Hence, this new found music has its origin in *Shakauntala*. The conventional treatment of music revolutionised and the songs became popular further after dramas like *Soubhadra* and *Mruchhakatik* followed. The songs from these plays became very popular for over 50 years and Marathi stage got a very significant place in musical art. Musical art flourished on Marathi stage and soon the music and songs superseded the dramatic element in a play. After these plays, in order to balance the theatrical and musical elements, the number of songs and the time allotted for songs declined considerably. The modern Marathi play *Kulavadhu* was made using only five songs in all.

In Annasaheb Kirloskar's *Shakuntala,* the first significant change was that instead of Sutradhar singing all the songs, each character sang his own song. This broke the monotony which was present earlier when the Sutradhar sang all the songs. Another effort to break the monotony was to compose unfamiliar tunes and with a large variety. The new tunes on stage were simple and melodious which enabled the uninitiated audience in the technical and musical aspects too to enjoy and sing. Some of the tunes were very attractive and resembled the structure of *Lavaani*- a variety of Marathi love songs. The actor-singers who sang them did complete justice to the words and presented the songs with full emotion. Even if the compositions were composed in ragas, it was free from ragadari music. The actor-singers voices were loud, clear and resonating. The songs from drama were sung for a short time using murki, khatakas and short but powerful tanas. The actor-singers of those times who were exceptionally good could leave a powerful impact on the audience with their performance and watching plays became a recreational and relaxing activity for many. As a result, some of the best playwrights from Maharashtra wrote plays of indisputably high order and contributed to the theatre. The torchbearers of theatre soon realised that if stage music had to support high level of theatre presentation, it was essential for them to step out of classical music and explore other forms.

This was a very important time in the history of music in Maharashtra. But unfortunately, classical music was a privilege of a small social group while the general public remained distant from it. The

common man had access only to simple folk and devotional songs which were basic in structure and the songs could be learnt by people who knew minimal or nothing about music. In the beginning, only the kind of music which was liked and appreciated by the average listeners was brought on the stage. But soon the need for new music appeared as folk music became too regular in drama. Getting newness in music on Marathi stage was challenging. Some attempts were made to create new music using intricate raga music but the average audience could not appreciate it. Shripad Krishna Kolhatkar was a prominent dramatist from this time and he also was a good music student. He experimented with new tunes and took them on Gujarati, Parsi and Urdu stage. These tunes had sharp rhythm and were sung as solos or duets. They did attract public attention for some time because of its novelty but it was not in harmony with the recognised traditions of Marathi stage and they disappeared soon.

The time period from 1911 to 1920 covered the development of Marathi music in the third stage. This period was truly the golden period for Marathi music. The stage music of Maharashtra grew immensely in terms of its musical quality and popular appeal. *Manapman, Ekach Pyala, Vidyaharan, Swayamvar, Sanshaykallol* were few of the brilliant dramatic productions in this time period and the glamour and popularity that they lent to the Marathi stage music was remarkable. It was in this era in which Bhaskerbua Bakhale played an important role of directing music for theatre which was a novel concept. Bhaskerbua Bakhale trained and mentored Govindrao Tembe, one of the brilliant musical minds and Bal Gandharva, the versatile and popular singer from those times.

Earlier were the times when the dramatist himself used to compose music for the play, but in this era for the first time music was treated with great honour and therefore a separate musician was assigned for the work. Bakhale and Tembe both were not just musicians but they were also creative artists. The responsibility of setting up the lyrics of *Manapman* was given to Govindrao Tembe. He planned and designed all the music from beginning to the end for *Manapman*. He studied the play thoroughly and designed the music accordingly. Along with raga music he also included Lalit music like *Kawwali, Hori* and *Purab Thumri* of those times to keep the newness in the tunes intact. *Khara to prema* and *Pahi sada mi* from *Manapman* were based on light classical music and they became so popular that the plays after *Manapman* also had songs of this variety. Tembe not only wrote lyrics and composed tunes but he also trained the characters from the play to render the songs attractively on stage. The singing style with *alankaars, taans* and repetition of words made the songs so popular that the stage music was established as a distinguished variety and was named as *Natyasangeet*.

Bhaskerbua Bakhale focused on raga music and lent tunes that would suit the plays. He took the songs at its highest peak in *Swayamvar*. He chose simple ragas like Bhoop, Bihag, Bhimpalas, Bageshri and Yaman in their pure form and created tunes according to the needs of the stage.

Bakhale was aware that using complicated ragas would need the singers to be trained and ample time would be required on stage to improvise them and expand them to be able to truly establish the compositions otherwise it would fail on stage. That's the reason why light classical compositions survived and became popular on Marathi stage while the songs with intricate *ragadaari* failed.

Along with the composers, the actor-singers were equally important as they were the performers and more responsible for the outcome of the songs. That era saw some exceptionally good performers like Keshavrao Bhosale, Master Dinanath, Shankarrao Sarnaik, Sawai Gandharva and others. For more than 25 years, these singers dominated the Marathi stage. Out of all the singers, Bal Gandharva was a class apart because of his looks, talent and the musical aptitude that he possessed. He was given the title of 'Nat-Samrat' for it. Bal Gandharva could win hearts of the Maharashtrian audience through his melodious and flawless voice, accuracy of *laya* and rhythm, clear diction of the songs and the delicacy with which he sang each song. Bal Gandharva's popularity was not only limited to Maharashtra but it also stretched to the bordering states like Gujarat, Karnataka and to Hindi speaking audience from the neighbouring states. They were moments of pride as the Marathi stage had expanded its reach outside Maharashtra too. Marathi stage music soon became an independent category of music which was helpful for common listeners who made an attempt in understanding raagadaari music. This period is significant for Marathi stage music as it brought glory to the field of music as well as theatre and it gave new direction to music. It was important from the point of view of music appreciation amongst audience and growth of musical art in the entire Maharashtra.

The fourth period saw more musicians who contributed to the progress of music and Marathi stage. Brilliant musicians like Tembe, Master Krishnarao and Vazebua contributed towards music direction in this period. Tembe's inclination was towards composing light classical compositions while Vazebua and Master Krishnarao preferred to compose the compositions based on *raagadaari*.

The period which begins from 1936, did not make any fresh contribution towards progress of music. Cinema had already started competing with theatre by then. Cinema offered entertainment at a very low cost to all classes in society compared to theatre shows. The audience first got attracted to the silent motion picture. They got attracted more when dialogue and music too became a part of cinema. Cinema was not only low on cost but it was also demanded less imagination and intelligence from the audience. Naturally, theatre suffered shortage of good actors and singers. The only play which received applauds and became popular in this time period was *Kulavadhu* in which Jyotsna Bhole did remarkable singing. The orchestra became more and more popular as it held a significant place in cinema. Slowly the glory and popularity of stage theatre and stage music began to decline. That is when Jitendra Abhisheki's music and his compositions gave a ray of hope to Marathi stage again. Abhisheki's

music was based on ragadaari but also had attractiveness and delicateness of light classical music. His tunes became extremely popular in the masses which gave Marathi stage music some recognition again. After Abhisheki, Marathi stage theatre and music remained neglected for many years later. Yet, the grip that Marathi stage had on the minds of the music lovers of Maharashtra stayed. The tunes that were created and the text that was written when Marathi stage music was at the peak continued to rule the hearts of the Marathi audience. So much, that the audience did not accept any of the alien tunes introduced on the stage thereafter. The audience enjoyed watching the same old plays again and again and truly appreciated the old music and songs. Marathi stage music was very unique, powerful and pure and was founded on the robust ground of classical music. In the recent past, there have been initiatives and successful attempts to revive the Marathi stage music in a contemporary set up. The audience that is still nostalgic about Marathi stage music continues to attend the plays and appreciate the rich music.

लोक जीवन में चित्रित लोक साहित्य के गुणों की आलोचनात्मक संदर्भ

विनोद बाबुराव मेघशाम
सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग
क्रिस्तु जयंती महाविद्यालय-स्वायत्त
के-नारायणापुरा, कोतनूर पोस्ट, बेंगलुरु

लोक साहित्य लोक जीवन की अभिव्यक्ति है। वह जीवन से घनिष्ठता से संबंधित रखता है। 'लोक साहित्य' एक पारिभाषिक शब्द है जो 'लोग' तथा 'साहित्य' से मिलकर बना है। लोक मनुष्य समाज का वह वर्ग है जो अभिजात्य संस्कार शास्त्रीय और पाण्डीत्य की चेतना अथवा अहंकार से शून्य है, जो एक परंपरा के प्रवाह में जीवित रहता है। ऐसे लोक की अभिव्यक्ति में जो तत्व मिलते हैं वह 'लोकतत्व' कहलाते हैं।

डॉ. सत्येंद्र 'लोक साहित्य' की परिभाषा इस प्रकार से देते हैं कि- ''लोक साहित्य के अंतर्गत समस्त बोली या भाषागत अभिव्यक्ति आती है जिसमें- आदिम मानव के अवशेष उपलब्ध हों। परंपरागत मौखिक क्रम से उपलब्ध बोली या भाषागत अभिव्यक्ति हो, जिसे किसी की न कहा जा सके, जिसे श्रुति ही माना जाता हो और जो लोकमानस की प्रवृत्ति में समाई हुई हो। कृतित्व हो किंतु वह लोकमानस के सामान्य तत्वों से युक्त हो कि उसके किसी व्यक्तित्व के साथ संबंध रखते हुए भी लोक उसे अपने ही व्यक्तित्व की कृति स्वीकार करें।''[1]

अस्पष्टतः अभिजात्य संस्कारों तथा उसके शिक्षा से दूर रहने वाले मानव के मस्तिष्क की सीधी-सरल अभिव्यक्ति ही लोक साहित्य है जो स्वयं में लोक-मानस को समेटे रहती है। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार- ''ऐसा मान लिया जा सकता है कि जो चीजें लोकचित्त से सीधे निर्माण होकर सर्वसाधारण को आंदोलित और प्रभावित करती हैं वे ही लोक साहित्य, लोकशिल्प, लोकनाट्य, लोककथानक आदि नामों से पुकारी जा सकती है।''[2]

लोक संस्कृति का प्रौढ रूप लोक साहित्य है। लोक हमारे जीवन का महासागर है उसमें समस्त जनसमुदायों का आविर्भाव होता है। लोग केवल वर्तमान नहीं है वह अतीत के अछोरे से भविष्य तक की निरंतरता है। लोक युग-युगांतर है। लोक के साहित्य अनिवार्यता लोक बोली में होता है। हिन्दी साहित्य में भारतेंदु तक ने लोक जागरण के लिए लोक साहित्य के 'शिल्प' और 'वस्तु' दोनों को उन्मुक्त भाव से स्वीकार किया। इसके साथ-साथ प्रेमचंद के कथा साहित्य के आधार लोकजीवन है और नागार्जुन के साहित्य का आधार लोग जीवन के ही चितेरे हैं।

लोक साहित्य जीवन के साथ चलने वाला एक अभिन्न अंग है। इस विधा में लोक का मानस तथा भाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। यह साहित्य लोक संस्कृति का एक अंग है, इस विधा के प्रति जानकारी प्राप्त करने के पूर्व लोक संस्कृति को जान लेना बहुत

ही महत्वपूर्ण माना जाता है। जब हम किसी समाज या जनजाति के प्रति अध्ययन करते हैं तो हमें उस समाज में या जनजाति में व्याप्त रीति रिवाज, संस्कार, मान्यताएँ, परंपराएँ तथा प्रथाएँ आदि सभी उसमें समाहित रहता है। वास्तव रूप में देखा जाए तो यह लोक संस्कृति का अंग होने के साथ-साथ मानव की ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, धार्मिक, सांस्कृतिक तथा भाषा वैज्ञानिक आदि रूपों का अध्ययन है।

साहित्य में अलंकार रस छंद का होना जीतना अनिवार्य माना जाता है, तो लोक साहित्य में भावनाओं और स्वभावता का होना अनिवार्य माना जाता है। लोक साहित्य एक ऐसा साहित्य है जो सभी उसका आस्वादन स्वरूप से ले सकते हैं। लेकिन लोक साहित्य का आस्वादन करने के लिए संस्कृति से परिचय होना बहुत ही जरूरी होता है। इस संदर्भ में डॉ. प्रभाकर मांडे लोकगीतों की विशेषताओं के बारे में कहते हैं, ''भावनाचा उद्रेक, कल्पनेची भरारी, भाषेतील आलंकारिकता आणि साधेपणा हे लोकगीतांचे विशेष होत।''[३] अर्थात् लोकगीतों की विशेषताएँ हैं भावनाओं का उद्रेक, कल्पना की उड़ान, आलंकारिक भाषा तथा सरलता। इसी तरह से लोक साहित्य में लोक गीत, लोककथा, लोकनाट्य, लोकोक्ति और मुहावरे पहेलियाँ आदि आते हैं। लोक साहित्य के बारे में हमें अध्ययन करना होगा तो उसे उपर्युक्त प्रकारों पर निर्भर है। इस विधा के अध्ययन की प्रक्रिया को जानना होगा तो निम्नलिखित बिंदुओं पर विधियों के माध्यम से पूर्ण किया जा सकता है।

- ऐतिहासिक दृष्टिकोण की प्रक्रिया
- मानव वैज्ञानिक दृष्टिकोण की प्रक्रिया
- भाषा वैज्ञानिक दृष्टिकोण की प्रक्रिया
- धार्मिक दृष्टिकोण की प्रक्रिया
- भौगोलिक अध्ययन प्रक्रिया
- आर्थिक दृष्टिकोण से अध्ययन की प्रक्रिया
- सांस्कृतिक दृष्टिकोण की प्रक्रिया

ऐतिहासिक दृष्टिकोण की प्रक्रिया - लोक साहित्य के इतिहास के अध्ययन की प्रक्रिया के अंतर्गत ऐतिहासिक आधार पर समाज तथा विभिन्न जनजातियों को ऐतिहासिक रूप में उनके अंदर विविध पहलुओं का अध्ययन किया जाता हैं। लोक साहित्य यह विधा बहुत ही पुरानी है जब से मनुष्य की निर्मिती हो चुकी है तब से ही लोक विधा का उद्गम हुआ है। इस तरह की प्राचीन विधा को जानना है तो इतिहास को परखना बहुत ही महत्वपूर्ण होता है। इसीलिए लोक साहित्य का इतिहास का अध्ययन करना ही उसका एक विकास के रूप में माना जाता है। इतिहास में समय-समय पर लेखा-जोखा होता हैं उसी के आधार पर अध्ययन भी किया जाता है। पर लोकगीतों और लोक गाथाओं में जनपद की जनपद के उन महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन और पात्रों का चित्रण मिलता है, जो इतिहास में दर्ज नहीं हो पाते हैं।

लोक साहित्य का अध्ययन करना हो तो इतिहास को परखने के उपरांत हमें पता चलेगा कि उस समय के सामाजिक व्यवस्था नीति नियम एवं पृथ्वी कैसी थी हमारी संस्कृति के बारे में जानते हैं कि हमारी संस्कृति बहुत ही पुरानी है एवं प्रसिद्ध है। हम सब भाषिक अध्ययन में हमें प्राप्त होता है। अध्ययन करता को किसी भी जनपद की संस्कृति और सामाजिक स्थिति के बारे में पक्षपात रहित देखने से वह अध्ययन का विषय बना रहेगा नहीं तो जब अध्ययन का रूप सामने आने पर वह उस समय के समाज का सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, मौखिक रूप में दस्तावेज हमें देखने को मिलता हैं। इसके साथ-साथ किसी भी अध्ययन करता को किसी जनपद या प्रथा को लोक परंपरा एवं ऐतिहासिक समृद्धि को जानना है तो उसके लिए इतिहासिक दृष्टिकोण को ही अपनाना पड़ेगा। इसलिए लोक साहित्य अध्ययन के लिए ऐतिहासिक दृष्टिकोण की प्रक्रिया महत्वपूर्ण भूमिका माना जाता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण की प्रक्रिया - इस विधा के अंतर्गत मानव के गवार तथा उसकी मानसिक

प्रक्रिया के बारे में अध्ययन करते हैं। मनोविश्लेषणवाद के प्रेता फ्रेंड ने चेतन और अवचेतन मनुष्य की दो मानसिक अवस्थाएं बताई है उसमें लोक जीवन से जुड़ी गाता है। वह कहानियाँ अवचेतन मन की ही धारणाएँ है। लोक साहित्य को परखने के बाद यह दिखाई देता है कि उसके प्रत्येक तत्व में लोक और लोकसाहित्य को परखने के बाद दिखाई देता है कि, उसके प्रत्येक तत्व में लोकमान की भूमिका है। इसी लोकमानस का अध्ययन मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से किया जाता है। प्राचीनकाल से चली आई संस्कृति से जुड़े अनेक ऐसे प्रश्न हैं जिनका उत्तर मनुष्य आज प्राप्त करना चाहता है, लेकिन प्राचीन काल में समाज की जो लोग नीतियाँ लोक विश्वास में जैसे कि वैसे ही बनी हुई है। उसके पीछे का क्या राज है लोगों की प्राचीन मान्यताओं में अस्थाई क्यों है ऐसी कौन सी शक्ति है जिस पर ना चाहते हुए भी मनुष्य विश्वास करने को विवश है? व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप से वह किन्ह परंपराओं से बना है। इन सब के लिए कौनसी मनोवैज्ञानिक धारणा है। मनुष्य प्राचीन संस्कृति की धारणा को जानने के लिए उसे प्राचीन मानस की मनोवैज्ञानिक वृत्तियों को जानने का प्रयास करना चाहिए। अंत में कहा जाता है कि इस विधि द्वारा लोक मानस की विविध तथा उनकी अभिव्यक्ति और उनमें होने वाली परिवर्तनों के बारे में सोच-विचार किया जाता है। किसी भी जाति, वर्ग या समूह के मनोवैज्ञानिक विशेषताओं को जांच परख कर जो परिणाम निकाले जाते हैं वह लोक साहित्य के अध्ययन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

भाषा वैज्ञानिक दृष्टिकोण की प्रक्रिया - भाषा वैज्ञानिक दृष्टिकोण की प्रक्रिया लोक साहित्य तथा भाषा के विकास के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण है। लोक साहित्य के अंतर्गत भाषा विज्ञान के अध्ययन के लिए पहले से ही लोक साहित्य और भाषा में बहुत ही सूक्ष्म दृष्टि से अंतर को जानना और उसका विकास किस रूप में हो रहा है उसका अध्ययन करना ही मुख्य आधार होता है। भाषा विज्ञान का लोक साहित्य के अध्ययन की प्रक्रिया में उसके विभिन्न तत्वों में प्रचलित एवं एक-एक शब्द तथा उसके अर्थों को जानने की जिज्ञासा रखा जाता हैं। इससे संस्कृति के लुप्त वस्तु को ढूंढना आसान हो जाता है। लोक साहित्य अध्ययन में कठिन शब्दों की जगह सरल शब्दों का प्रयोग किया जाता है और उन कठिन शब्द भंडारों को सरल शब्दों के साथ उसका परिपूर्ण, प्रचलित अर्थों को इकट्ठा करने को भी यहां भाषा वैज्ञानिक की मदद लिया जाता है। इन शब्दों के अध्ययन द्वारा हम उस समाज के बौद्धिक स्तर को भी ज्यादा प्रचलित कर सकते हैं। लोक साहित्य में मुहावरे, लोकोक्ति और पहेलियाँ मिलती हैं। इससे भी प्राचीन भाषा व्यवस्थाओं के अनेक शब्दों का मुहावरे, लोकोक्ति और पहलियाँ के साथ अध्ययन करके उन समुदायों के अनेक रूपों को विस्तारित के साथ समझने में मदद मिलती है। साथ ही इसको लोक भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाए तो लोक साहित्य का जो साहित्य आज उपलब्ध है या जिन प्राचीन प्राचीन एवं मौखिक भाषाओं को देखा जाता है। जो लोक साहित्य का मुख्य अंग माना जाता है वह है उसकी लिपि। अनेक समुदायों भाषाओं की लिपि आज भाषा वैज्ञानिक तौर पर उपलब्ध नहीं है। उसे भाषा वैज्ञानिक दृष्टिकोण की प्रक्रिया में अध्ययन करने के लिए एक महत्वपूर्ण साधन माना जाता है।

धार्मिक दृष्टिकोण की प्रक्रिया - लोक साहित्य बहुत पुराना है। उसमें वैदिक साहित्य के समान स्थान प्राप्त कर चुका है। इसका प्रमाण यह है, कि हमारे लोग जीवन के बहुत से सांस्कृतिक तथा धार्मिक कार्य वैदिक मंत्रों से पूर्ण किए जाते हैं। जिस कार्यक्रम में यह मंत्र संस्कृत में उच्चारित किए जाते हैं। यह कार्य पंडितों द्वारा पूरा होता है। दूसरी तरफ स्त्रियों द्वारा लोक गीत गाए जाते हैं। जैसे मुंडन, नामकरण, विवाह आदि। इसके साथ-साथ सभी प्रकार के पारिवारिक कार्यों में लोकगीत, लोक रूढ़ियों में प्रचलित हुई प्रार्थना, उनका पूजा-पाठ, रीति रिवाज में मंत्रों का उच्चारण कर विधियों को या शुभ कार्यों को करने

की प्रथा आज भी मिलती है। वही सारे विषय धार्मिक दृष्टिकोण से अगर देखा जाए तो यहाँ पर लिखित भाषा से भी ज्यादा वहाँ पर उनके मौखिक रूप की जो भाषाएं हैं मौखिक रूप से गाए जाने वाले गीत है। जो मुहावरे है या जो उनकी भाषाएँ हैं जो सदियों से वे लोग उसको अपने धार्मिक कार्यों में या अन्य किसी शुभ कार्य में उपयोग करते हैं। इसका अध्ययन करने में इस गीत को इस मंत्र उच्चारण को इस विधियों को इस शब्दों का हमें धार्मिक रूप से करने में बहुत ही महत्वपूर्ण होते हैं।

संपूर्ण भारतीय संस्कृति का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पहलू धर्म है। हमारे वैदिक ऋषियों ने सामाजिक संरचना के समय धर्म को इस भांति लोकमान्य से जोड़ दिया है कि संपूर्ण दृष्टि ही धर्मों में हो गई है। मनुष्य को लोकमानस में जिन रहस्यों को समझने में सदियों वर्ष लगा है। वहीं मनुष्य को उन्हीं रहस्यों को या कई शिक्षाओं को उसने पलभर में ही धर्म के नाम पर सीख लिया है। लोकमानस कि इसी धार्मिक संरचना का अध्ययन धार्मिक दृष्टिकोण के अंदर किया जाता है। इस प्रकार के लोग समाज में रहते हुए या समाज से बाहर किसी गुप्त जगहों पर रहकर वह अपने ही संप्रदायों, पद्धतियों में जो लोग अपना जीवन यापन करते हैं ऐसे विषयों को इस धार्मिक दृष्टिकोण में रहकर लोक साहित्य का अध्ययन करने में यह महत्वपूर्ण होता हैं।

समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण की प्रक्रिया - सामाजिक व्यवस्था तथा लोकसहित्य एक दूसरे के अभिन्न अंग है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है। इसके जीवन में जुड़े सभी पहलुओं सामाजिक रीति रिवाज प्रथाएं, मान्यताएँ, मनुष्य के जन्म से लेकर उसकी मृत्यु तक के सभी संस्कार का उद्गम समय में ही होता है। डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय के अनुसार- ''इन लोकगीतों, गाथाओं और कथाओं में मनुष्य के रहन-सहन, आचार-विचार, खान-पान और रीति रिवाज़ों का सच्चा चित्र देखने को मिलता है। मध्य प्रदेश में आदिम जातियाँ निवास करती है। उनके एक करना गीत का भाव यह है कि यदि तुम मेरे जीवन की सच्ची कहानी जानना चाहते हो तो मेरे गीतों को सुनों।''[4] इसमें गीतों के माध्यम सामाजिक प्रासंगिकता को दर्शाया गया है। समाजशास्त्र के अध्ययन के लिए लोक साहित्य महत्वपूर्ण सर्वोपरि है। भारत के समाज का ढांचा किस प्रकार का है यह लोकगीतों लोक कथाओं और लोकोक्तियों से भलीभाँति हम समझ जाते हैं। समाज-शास्त्रियों ने लोग अध्ययन का परिवार, विवाह व्यवस्था, सामाजिक रिश्तेदारी एवं समाज के स्वरूप पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जाता है। समाजशास्त्र अगर देखा जाए तो समाज की रीति-रिवाज, समाज की परंपराएं, कितनी पुरानी है और उस समाज का सामाजिक सामानता कैसा है। उस प्रथम व्यवस्थाओं, संप्रदायों और श्रुति को परंपराओं के साथ अनुकरण करने वाले लोगों का सामाजिक स्तर और समाज में उनका गौरव किस प्रकार से है। समाज उसे किस प्रकार से स्वीकार करता है इन प्रथाओं का अध्ययन हमें समाज के दृष्टिकोण से करने में लाभदाई होता है।

मानव वैज्ञानिक दृष्टिकोण की प्रक्रिया - लोक साहित्य प्रथम शास्त्र के रूप में माना जाता है। आगे चलकर इसका विषय क्षेत्र विशाल हो गया है। इसके साथ ही लोक साहित्य अलग-अलग विषयों के रूप में जाना जाने लगा। पहले समाज के अध्ययन के लिए जनजाति इकाई का स्रोत माना जाता है। इन सारे स्त्रोतो को जानने के लिए विज्ञान की शाखा, जाति, विज्ञान के अंतर्गत विभिन्न जातियों का या जातियों के समान समुदायों के विभिन्न चरणों में इसका विकास होता गया। मानव जाति का वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखने के लिए उनके द्वारा चलाई गई संस्कृति और प्रथाएँ पर मनुष्य जाति का वैज्ञानिक रूप से अध्ययन किया जाता है। उस समाज में जीवन यापन करने के लिए किस प्रकार के सामग्रियों का उपयोग किया गया। उनका मूल स्थान कौन सा था। उनकी किस संस्कृति से जुड़े हुए थे। उनकी जीवनशैली की प्रक्रिया कैसी है सारी बातें वैज्ञानिक दृष्टिकोण में आती है।

भौगोलिक अध्ययन की प्रक्रिया - लोक साहित्य का अध्ययन भौगोलिक प्रणाली द्वारा भी किया जाता है। अनेक लोकगीत एवं लोक गाथाएँ जिनमें प्राचीन ग्रामीण परिवेश की जलवायु, कृषि व्यवस्था, नगरों की संरचना, नदियों एवं पर्वतों के नाम की जानकारी प्राप्त होती है। भौगोलिक अध्ययन से लोक साहित्य में यह देखा जाता है कि नदी का उद्गम कब और कहाँ से हुआ। और उसके परिवर्तन के बारे में भी इसके अध्ययन से पता चलता है। इस दृष्टि से देखा जाए तो लोक साहित्य में लोकगीतों का, लोक जनजाति का अध्ययन में भौगोलिक परिवेश बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। क्योंकि यह लोक साहित्य का पोषण, लोक परंपराओं का पोषण, संस्कृति का पोषण का अध्ययन जब हम करते हैं। तो यह किसी सीमित वातावरण में या परिवेश में देखने को मिलता है। जो भौगोलिक रूप से एक अलग प्रकार का अपना स्वरूप आकार रखता है। इसीलिए लोक साहित्य के लोक परंपराओं का अध्ययन करते हुए हमें उस समाज का भौगोलिक परिप्रेक्ष्य का इतिहास और उसकी मूल रचना समझ में आती है।

आर्थिक दृष्टिकोण से अध्ययन की प्रक्रिया- लोक साहित्य द्वारा ही युग-युग की आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक व सांस्कृतिक परिस्थितियों का परिचय मिलता है। अतीत को वर्तमान से जोड़कर उसमें परस्पर समन्वय स्थापित करना इस साहित्य की एक अलग विशेषता रही है। लोक साहित्य में आर्थिक दृष्टिकोण अध्ययन के माध्यम से हमें सामाजिक व्यवस्थाओं का पता चलता है। प्राचीन परंपराओं की मान्यताएँ लोगों का व्यवसाय लोगों का खान-पान रहन-सहन आदि सारा विषय लोक साहित्य, लोक परंपराओं के माध्यम से हमें पता चलता है। इसीलिए इनका आर्थिक दृष्टिकोण महत्व पूर्ण है।

सांस्कृतिक दृष्टिकोण की प्रक्रिया - लोक-संस्कृति का क्षेत्र अत्यंत व्यापक है तो लोक-साहित्य का विस्तार संकुचित है। लोक-संस्कृति की व्यापकता जन-जीवन के समस्त व्यापारों में उपलब्ध होती है, तो लोक-साहित्य जनता के गीतों, कथाओं, गाथाओं, मुहावरों तक ही सीमित है। लोक-साहित्य अंग है, तो लोक-संस्कृति अंगी है। लोक साहित्य का अध्ययन सांस्कृतिक आधार पर किया जाता है। जबकि संस्कृति के विभिन्न तत्वों को क्रमिक विकास और उसकी विशेषताओं पर विचार किया जाता है। किसी समाज का उद्गम किसी समाज की संस्कृति, समाज के आचार-विचार, रीति-रिवाज का अध्ययन उसके सांस्कृतिक दृष्टिकोण से कर सकते हैं। लोक साहित्य संस्कृति का अध्ययन करने की प्रक्रिया को एक मुख्य और महत्वपूर्ण घटक देखा जा सकता है। वास्तव में किसी भी देश का जनपदीय साहित्य व संस्कृति उस देश को पहचान ही नहीं होती है, वरन् आत्मा होती है। इसीलिए शिव सहाय चतुर्वेदी लिखते हैं ''भारतवर्ष को लोक गीतों का देश कहा जाए तो भी अतिशयोक्ति नहीं होगी। एक और इस देश का विशाल लिखित काव्य साहित्य है, तो दूसरी ओर देश और काल में विस्तृत इसका वह जनपदीय साहित्य है, जिसकी परम्परा सुदूर अतीत काल से अथवा अपनी संस्कृति के उषा काल से हमारे समय तक चली आई है। लिखित साहित्य और लोक साहित्य, दोनों ही भारतीय आत्मा के दो पंखों के समान रहे हैं, जिनके आश्रय में यहां के मानस सुपर्णों ने भावों के आकाश में अनन्त विचरण किया है।''[5] लोकगीत प्राचीन संस्कृति का अभिन्न अंग माना गया है और उसका अध्ययन करने के लिए लोक साहित्य संस्कृति दृष्टिकोण बहुत ही महत्वपूर्ण है।

लोक साहित्य भाषा शास्त्र सम्बन्धी प्रासंगिकता के रूप में भाषा को आश्रय लोक साहित्य ने दिया है। इसमें उपलब्ध लोकोक्तियों और मुहावरों का सामाजिक महत्व है। यह लोकोक्तियों, मुहावरें, सामाजिकता के विभिन्न स्वरूपकों को अभिव्यक्त करता है और हिन्दी साहित्य के भाषा भण्डार को समृद्ध करती है। लोक साहित्य की आत्मा लोकजीवन है, वैसे लोकजीवन का विज्ञान लोक साहित्य है। लोक साहित्य की आन्तरिक लय में सम्पूर्ण भारत का

आत्मीय गीत गूंजता है। भारतीयता तथा लोक साहित्य का सम्बन्ध अटूट रहा है। उसके लिए मूल्य और आस्थाएँ केन्द्र स्थल हैं। इस दृष्टि से लोक साहित्य को पुर्नजीवित करना हमारा दायित्व बन जाता है। आदर्शवाद और यथार्थवाद का सुन्दर सामंजस्य है। जो लोक साहित्य का महत्त्व और उसकी प्रासंगिकता को दर्शाता है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची :

1. लोक साहित्य की भूमिका – डॉ. सत्येन्द्र, भाषा प्रकाशन नई दिल्ली पृ. संख्या - 06
2. जनपद लोक साहित्य का अध्ययन – लेख अंक -1, सन् 1952, पृ. संख्या – 65
3. आंचलिक उपन्यासों में लोकसंस्कृति – प्रो. डॉ. पाण्डुरंग पाटिल, विद्या प्रकाशन कानपुर, पृ. संख्या 113
4. लोक साहित्य : डॉ राजेश श्रीवास्तव, 'शम्बर' कैलाश पुस्तक सदन, भोपाल - 462001
5. नारीवाद - वी. एन. सिंह, जनमेजय सिंह- रावत पब्लिकेशन, जयपुर-04, पृ. संख्या–324

ब्रज की रासलीला का संगीत पक्ष एवं प्रयोग

वृषाली द्विवेदी
शोधार्थिनी (संगीत विभाग)
दयानन्द गर्ल्स पी.जी. कालेज, कानपुर।

डॉ॰ रूचिमिता पाण्डे
शोध निर्देशिका
छत्रपति शाहूजी महाराज विश्वविद्यालय, कानपुर।

ब्रज के लोकगीत उत्तर प्रदेश की सांगीतिक विरासत की एक महत्वपूर्ण, समृद्धशाली एवं संपन्न गायन शैली है। ब्रज के लोकगीतों में कृष्ण की रास-लीला एवं उनके जीवन पर आधारित गीत मिलते हैं।

ब्रज भारत का एक मुख्य तीर्थ स्थान है। ब्रज में उत्सवों एवं त्योहारों की सदैव विशेषता रही है। प्रत्येक उत्सव में ब्रजवासी गायन-वादन में आनंद विभोर हो जाते है। ब्रज के संगीत में भक्ति भावना तथा आध्यात्मिकता का पुट अधिक मिलता है।

ब्रज के लोकगीतों में देवी-देवताओं संबधी अनुष्ठानिक गीत जैसे- जोगनी, निराहर, गुगूर, जालपा आदि गीत सम्मिलित हैं। चैत्र मास में लाँगुरिया गीत, संस्कार संबंधी गीतों में बै, सहारा, हरितयरा आदि तथा ऋतु उत्सव के गीत भी बड़े धूमधाम से गाए जाते हैं जैसे- रसिया, झूलना, लावनी इत्यादि। ब्रज में कृष्ण जन्माष्टमी बड़े धूमधाम से मनाई जाती है। रासलीला का आयोजन होता है। लोग मंदिरों में एकत्रित होकर कृष्ण भजन गाते हैं। इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि ब्रज के लोकगीतों का एक व्यापक दायरा है। प्रस्तुत लेख में ब्रज की रासलीला के सांगीतिक पक्ष एवं प्रयोग का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

रासलीला का ऐतिहासिक विवरण :

रासलीला उत्तर प्रदेश में प्रचलित लोक नाट्य का एक प्रमुख अंग है। इसका आंरभ 16वीं शताब्दी में वल्लभाचार्य तथा हित हरिवंश द्वारा किया गया।

भक्तिकाल में रासलीला में राधा-कृष्ण की प्रेम क्रीड़ाओं का प्रदर्शन होता था जिनमें आध्यात्मिकता की प्रधानता रहती थी। रासलीला का आधार सूरदास अष्टछाप कवियों के पद तथा भजन होते थे। इन रचनाओं में संगीत और काव्य दोनों का सुंदर समन्वय होता था। इन लीलाओं के माध्यम से जनमानस को मनोरंजन के साथ धर्मोपदेश की भी प्राप्ति होती थी।

रासलीला के पात्रों कृष्ण, राधा और गोपिकाओं के संवादो में गम्भीरता का अभाव तथा प्रेमालाप की अधिकता रहती थी। कार्य की न्यूनता और संवादो का बाहुल्य मिलता था। इन लीलाओं में रंगमंच भी होता था जो कि साधारण और स्थिर कोटि का होता था।

आज भी रासलीला का प्रचलन है। हालाँकि 19वीं शताब्दी में रीति कविता के प्रभाव से रासलीलाओं की धार्मिकता, रस और संगीत को कुछ धक्का लगा और रासलीला को मनोरंजन प्रधान बना दिया गया। परन्तु इसके बावजूद अनेक कृष्ण भक्तों ने इसकी पवित्रता को बनाए रखने के लिए भरसक प्रयत्न किए

तथा रासलीला के आध्यात्मिक, सांगीतिक एवं काव्यात्मक पक्ष को जीवित रखा।

रासलीला का आयोजन स्थल :

आज भी रासलीला का रंगमंच साधारण होता है। वह प्रायः मंदिरों की मणि पर ऊँचे उठाए हुए तख्तों पर बाँसों और कपड़ों से बनाया जाता है। उसमें एक परदा रहता है। पात्र परदे के पीछे से आते रहते है। दृश्यांतर की सूचना पात्रों के चले जाने पर कोई निर्देशक देता है। प्रेक्षकों के लिए खुले आकाश का प्रेक्षागृह रहता है। कभी-कभी चाँदनी या चँदोबा भी तान दिया जाता है।

रासलीला में संगीत का पक्ष एवं प्रयोग :

रासलीला के दौरान रंगभूमि में गायक और वादक बैठे होते हैं। वास्तविक रासलीला प्रारंभ होने से पूर्व जनता का मनोरंजन भजन-गान से होता है। लीला आरंभ होने से पहले सूत्रधार की भाँति एक ब्राह्मण या पुरोहित राधा-कृष्ण की दिखलायी जाने वाली लीला का निर्देश करता है और उसके पक्षों की प्रशंसा कर प्रेक्षकों को आकृष्ट करता है। इसके पश्चात् परदा उठता है और राधा-कृष्ण की युगल छवि की आरती की जाती है। आरती के पश्चात् लीला का कार्यक्रम प्रारम्भ हो जाता है।

रासलीला के प्रस्तुतिकरण में संगीत का महत्व स्वयं श्रीकृष्ण को संगीत अति प्रिय था तथा वे विश्व के सर्वश्रेष्ठ बाँसुरीवादक के रूप में जाने गए। इससे यह पूर्णतः विदित है कि रासलीला में संगीत का विशेष महत्व है।

रासलीला के पात्रों में राधा-कृष्ण तथा गोपिकाएँ रहती है। बीच-बीच में हास्य का प्रसंग भी होता है। लीला में हास्य का पुट और श्रृंगार की प्रधानता रहती है।

कभी कृष्ण गोपियों के हाथ में हाथ बाँधकर नाचते हैं कभी राधा-कृष्ण की प्रेम क्रीड़ाएँ होती है जिनमें सूरदास आदि कृष्ण भक्त कवियों के भजन गाए जाते हैं। पद प्रधान संवाद, नृत्य, गीत, वेणु-ध्वनि, ताल, लय, रस की सुंदर प्रस्तुति देखकर दर्शकगण भाव-विभोर हो उठते हैं।

रासलीला के अंत में युगल छवि की पुनः आरती होती है। इस बार प्रेक्षक जनता भी आरती लेती है और आरती के थाल में पैसे-रूपये के रूप में भेंट चढ़ाती है। लीला के विषय में मंगल कामना करते हुए उसकी समाप्ति कर दी जाती है।

रासलीला में प्रयोग किए जाने वाले वाद्ययंत्र :

1. ढोलक
2. मंजीरा
3. हारमोनियम
4. सितार
5. बाँसुरी
6. तबला
7. खड़ताल

रासलीला पर आधारित शास्त्रीय नृत्यों की सूची :

1. भरतनाट्यम
2. ओडीसी
3. मणिपुरी रासलीला
4. कुचिपुड़ी
5. कथक

रासलीला प्रदर्शन के उत्तर प्रदेश के प्रसिद्ध मंदिरः

1. बाँके बिहारी मंदिर - मथुरा
2. द्वारकाधीश मंदिर - मथुरा
3. कृष्ण जन्मभूमि मंदिर - मथुरा
4. इस्काँन मंदिर - मथुरा
5. गोविंद देव मंदिर - वृंदावन
6. निधि वन मंदिर - वृंदावन
7. राधा-रमन मंदिर - वृंदावन
8. रंगनाथजी मंदिर - वृंदावन

9. राधा रमन मंदिर - गोकुल

10. राधा दामोदर मंदिर - गोकुल

रासलीला के प्रसिद्ध गीत/भजन :

1. राधा रमन गिरधारी
2. हमारो धन राधा
3. मधुराष्टकम
4. कस्तूरी तिलकम
5. खेले ब्रज में होली

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1) संगीत विशारद लक्ष्मी नारायण गर्ग (बसंत)

2) संगीत-अरिहन्त

3) विकीपीडिया https://en.wikipedia.org/wiki/Raslila

4) यू-ट्यूब

5) गूगल https://bharatdiscovery.org/india/रासलीला

महाराष्ट्र कीर्तन और कथक मंदिर परंपरा के संगीत साथ-संगत का तुलनात्मक अध्ययन

वृषाली दाबके
(M. A. कथक, संगीताचार्य, अनुसंधान शोधार्थी)
श्री श्री गुरुजी विश्वविद्यालय, कटक

डॉ॰ मंजिरी देव
सह लेखक (पी.एच.डी., शोध मार्गदर्शिका)
श्री श्री गुरुजी विश्वविद्यालय, कटक

महाराष्ट्र कीर्तन के विषय में विनायकबुवा भागवत 'कीर्तनाचार्यकम' इस संस्कृत ग्रंथ में हरिकीर्तन की व्याख्या इस प्रकार करते हैं -

''वावैदग्ध्यविराजतं नवनवोन्मेषार्थ काव्यानितम्। गीतोलपकलापितं च भगवल्लीला विलासीकृतम्॥''[1]

शब्द, वाक्यरचना इत्यादी वाक् चातुर्य से सुशोभित किया हुआ, नए अर्थ के काव्य से युक्त, गाने की तान से अलंकृत, भगवत लीला का दर्शन देने वाला, साधु-संतो के उपदेशन के पद को प्रमाण मानकर उसका उपसंहार करने वाला कीर्तन ही श्रेष्ठ हरिकीर्तन है। डॉ. पूरु दाधीच (2017) कथक नृत्य शिक्षा भाग-2 में लिखते है की ''कथक के वर्तमान स्वरूप को प्रभावित करने वाले हरिकथा गायक कीर्तनकार होता है जो देवी-देवताओं की प्रार्थना करता है, प्रेक्षकों को कथा विषय बताकर कथा प्रस्तुति करता है।''[2] यह हरिकथाकार गायन, नृत्य, अभिनय का उत्तम ज्ञान रखता हैं और कथा, उपदेशन, मनोरंजन (अभिनय) इन तत्त्वों से युक्त प्रस्तुति कीर्तनाचार्यक्रम में लिखे हुए श्रेष्ठ कीर्तन का ही एक सोदाहरण है।

इसी तरह 13वीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध ग्रंथ शाङ्गदेव के 'संगीत रत्नाकर' के सप्तम नर्तनाध्याय में भी 'कथक' शब्द इस प्रकार प्राप्त होता है .

''कथका बन्दिनधान्ये विद्यावन्तः प्रियंवदाः ग प्रशंसा कुशल धान्ये चतुराः सर्व मानुषु॥''[3]

इन तीनों संदर्भों से एक बात स्पष्ट होती है कि कथक, कीर्तनकार या हरिकथा गायक हो; उपदेशन, कथा आख्यान के लिए गायन, वादन की आवश्यकता महत्वपूर्ण है। इसी कारण साथ-संगतकारो का भी महत्त्व है। मंदिर परंपरा के कथक और कीर्तनकार स्वयं तो गाकर प्रस्तुती करते हैं परन्तु बीच के कड़ी को जोड़ने का कार्य संवादिनी वादक स्वयं गाकर करता है। ताल वादक इस प्रस्तुती अंतर्गत रसानुरूप वादन करता है। जिस तरह नाट्यशास्त्र में 'कुतप' को महत्वपूर्ण स्थान है इसी तरह कीर्तनकार और कथकों मे भी साथ-संगतकारों का कार्य महत्वपूर्ण है। इस विषय में दासबोध के कीर्तन लक्षण में समर्थ रामदास लिखते हैं (2010), ताळतुंबरे तानमाने, ताळबुद्ध तंतगाणे'[4]

कीर्तन समय वाद्य-वृंदों की संगत प्रेक्षकों को मंत्रमुग्ध करने वाली हो ऐसा निर्देश समर्थ रामदासजी ने दिया है।

महाराष्ट्र कीर्तन के सभी प्रकारों में प्रारंभ से पखावज और वीणा की साथ होती थी। वर्तमान काल में वारकरी कीर्तन में इसी परंपरा का पालन होता है। नारदीय कीर्तन में समय के साथ तबला, संवादिनी के संगत का आरंभ हुआ। कुछ कीर्तनकार तानपुरा, एक झांझ वादक को साथ लेकर भी प्रस्तुती करते हैं। ''कीर्तनाचार्यकम में कीर्तन प्रयोग के 8 प्रमुख अंग

और 6 उपागों का उल्लेख प्राप्त होता है।''[5] 8 अंग है- धैर्य, सूर, लय, ताल, गायन, वक्तृत्व, शास्त्र, पुराण इत्यादि। इन अंगों का विचार करें तो कथक मंदिर परंपरा के कथा आख्यान प्रस्तुती में भी कथक नर्तक को सूर-लय-ताल का उत्तम ज्ञान, कथा विषय के लिए शास्त्र और पुराण का सखोल अध्ययन, प्रेक्षकों को प्रभावशाली उपदेशन करने के लिए उत्तम वक्तृत्व की आवश्यकता होती है। यह समानता दोनों शैलियों के सांगितिक विचार को स्पष्ट करती है तथा प्रस्तुती और साथ-संगत अंतर्गत अंतर्सम्बंध भी स्पष्ट करती है।

सामान्यतः जो नियम वाद्य-वृंदों के संयोजन के लिए नाट्यशास्त्र में उधृत किए हैं, वही इन दोनो शैलियों के परंपरा में प्राप्त होते हैं, जैसे ''महाराष्ट्र कीर्तन में तबला वादक कीर्तनकार के स्वर को समझकर मूल स्वर का तबला और उसका मध्यम स्वर वाले तबले का चयन करता है। पखवाजी भी इसी का अनुसरण करता है। कथक मंदिर परंपरा नारदीय कीर्तन से समानता रखती है, इसी कारण तालवाद्य चयन के विषय पर उपर उधृत कि गई प्रक्रिया का ही पालन कथक मंदिर परंपरा में होता है। कीर्तन का प्रारंभ वीणा वादन से होता है। नारदीय कीर्तन में वर्तमान काल में हातपेटी या पायपेटी का उपयोग किया जाता है। तानपूरे की झंनकार कीर्तनकार को योग्य स्वर पकड़ने में मदद करती है। संवादिनी वादक को कीर्तनकार ने कहे हुए कविता का स्वर, अक्षर, उच्चार पर विशेष ध्यान देना पड़ता है। कीर्तनकार बीच-बीच में संवादिनी वादक, तबला-पखवाज वादक को अपनी कला स्वतंत्रता से प्रस्तुत करने का अवसर प्रदान करता है।''[6] कीर्तनकार के गायन को आकर्षक बनाने हेतु सदविचारी, सदविवेकी साथीदार की आवश्यकता होती है।

अयोध्या शरण मिश्रा जी के अयोध्या के राजगोपाल मंदिर की प्रस्तुति में रोहित कुमार और हरिनाथ मिश्रा जी ने इन्ही सर्व नियमों का पालन किया तथा दो गानों के, दो प्रसंगों के बीच के कड़ी को जोड़ने का कार्य भी स्वर या राग बदलकर किया। प्रमुख नर्तक के गायन या प्रस्तुती पर हावी ना होकर एक साथीदार की भूमिका निभाई।[7]

यशवंत पाठक (2003) 'नाचू कीर्तनाचे रंगी' पुस्तक में पखावज-तबला संगत को अनुकूल बनाने की विधी को समझाते हुए कहते हैं कि कीर्तन प्रारंभ के बाद ताल वादक अगर कीर्तन शब्दों पर ही प्रभावी होने वाले तुकड़े बजाए तो रसहानी होती है। परंतु हर श्लोक के समाप्ती में तबले पर थाप बजाई तो स्वर को पूर्णत्व प्राप्त होता है।[8] इसी तरह कुछ प्रस्तुती में कीर्तनकार भाटचारण के रूप की कविता प्रस्तुत करते हैं जिसमें तबला-पखावज बोलों को बजाकर प्रदर्शन आकर्षक बनाते हैं जैसे कि 'सीतास्वयंवर में स्वर्ग से पुष्पवृष्टी होने का प्रसंग कहकर कीर्तनकार अगर यह बोल कहे -

धिग धिग धिगतीक्रम धिकतान धिकतान
दुदु दुदु बाजे दूंदभि, भुं भुं भुं भुं शंख बजत है।
कड़ान धा कड़ान धा मृदंग बाजत

तो यह वर्णन पखवाजी कुछ इस प्रकार बजाते हैं-

धागेतीट धागेतीट तागेतीट तागतीट
तागेतीट तागेतीट किडधा धिट तीट
धागेतीट धागेतीट धा'[9]

तराना या वीररस युक्त प्रसंग, मथुरागमन जैसा करुण रस का प्रसंग हो तो ताल-वादक उस प्रसंग के भावानुकुल बोलों का चयन करता है और वादन करता है।

यही पद्धती मिलिंदबुवा बड़वे अपने कीर्तन में 'तत् कड़ान तक धाधाधा' की तिहाई गायन शैली में कहकर मंदिर के भीड़ का, एक मानसिक अस्थिर महिला के हात में चाकू देखकर हुई अव्यवस्था का वर्णन करते दिखाई देते हैं।[10] उसी तरह का प्रदर्शन अयोध्या शरण जी प्रभु श्रीराम जी के जन्म का प्रसंग गाते हुए बीच में, राजा दशरथ का आनंद दिखाने के लिए करते हैं। घिर आई यह झूला में 'धा कड़ धींता धींता तिरकीट' बजाकर कथक के गतपलटे को साथ

करते हैं। हर अंतरा के अंत में कहरवा की लग्गी लगाकर कड़ी को जोड़ा और संवादिनी वादक ने हास्यरस के अनुकूल संगत दी। प्रसंग में प्रभु श्रीराम सीता माता को झोंका देते हैं, तब वह डरकर नाराज होती है ऐसा दृश्य है।[11]

नारदीय कीर्तन का बाज़ दिल्ली, अजराडा, पूरब, बनारसी है। इसमे अलग-अलग तोड़ लेकर लय बदली जाती है, जैसे धुमाळी ठेका चलते तिटिकता गदिगनधा की तोड ही 'जयजय राम कृष्णहरी' गजर मे ली जाती है और फिर ठेका बदला जाता है ऐसे कौस्तुभ दिवेकर कहते है। बालगंधर्व ठेका भी कीर्तन मे प्रसिद्ध है ऐसे तबला वादक अतुल गोडसे कहते है। कथक मंदिर परंपरा में बनारस अजराडा बाज है परंतु कीर्तन से अलग इसकी तोड़ होती है और हिंदुस्तानी संगीत के अनुसार दादवा, केहरवा, तीनताल, एकताल चौताल का प्रयोग किया जाता है। भारतीय परंपरानुसार दिन को 8 प्रहर में विभाजित किया गया है। शोवना नारायण जी ने लिए हुए साक्षात्कार में पं. राम भजन मिश्रा और पं. ज्वाला प्रसाद मिश्रा ने कहा कि ''भारतीय शास्त्रीय संगीत परंपरा इन प्रहरों को मान्यता देती है और आठ प्रहारों के अनुसार रागों का चयन किया जाता है जैसे सुबह थाट मारवा, थाट भैरव जैसे राग।''[12] रागों क विषय मे नारदीय कीर्तनकार चारुदत्त आफळेजी ने इसी नियम की पुष्टी की है। यह रागों का चयन दोनों शैलीयों के प्रमुख कलाकार यानि कीर्तनकार और कथक नर्तक और उनकी संवादिनी की साथ करने वाले संगतकार भी करते हैं। इसी रागों के विषय में नवरसों का विवेचन भी दोनों शैलियो में प्राप्त होता है जैसे मदन महाराज जी ने द्रौपदी वस्त्रहरण के लिए तोड़ी राग पर आधारित लेहरे का चयन किया[13] तो कीर्तनकार मिलिंद बडवे द्वारा गंभीर, करुण प्रसंग दिखाते समय अड़ाना जैसे राग की संगत की अपेक्षा संवादिनी वादक से की है।[14] वारकरी कीर्तन का आधार आख्यान न होकर भजन/अभंग है। फिर भी रागों का चयन करते समय उन्ही नियमों का पालन किया जाता है।

महाराष्ट्र कीर्तन और कथक मंदिर परंपरा के साथ संगतकारों में केवल एक भेद याने 'टाळकरी'। वारकरी कीर्तन का टाळकरी संगत प्रमुख भाग है। वारकरी कीर्तन में 10-15 टाळकरी प्रमुख कीर्तनकार के पीछे खड़े रहकर साथ संगत करते हैं। यह टाळकरी पारंपारिक लोक पद्धति से पदन्यास, उछलना, चक्कर, व्यूह क्रिया के समान संक्रमण करते हैं, साथ में गायन भी करते हैं। नाम संकीर्तन या गजर में उनकी प्रमुख भूमिका होती हैं। कथक मंदिर परंपरा में कथक नर्तक स्वयं गाकर बीच-बीच में पैर से ठेका, लग्गी या तत्कार करता है, गतपलटा लेकर हात में लिए दुपट्टे का चाल दिखाने के लिए, अलग-अलग पात्र दिखाने के लिए प्रयोग करता हैं। बीच-बीच में पखावज बोलों की प्रस्तुती करता है। दोनों परंपराओं में ताल वादक के साथ जुगलबंदी एक प्रमुख आकर्षण है। प्रमुख कलाकार बोल पढ़ता है, तो ताल वादक उसको समान रूप से बजाता है। कथक स्वयं भी उसपर नृत्य-प्रस्तुती देता है। कथा आख्यान और गायन के बीच में यह प्रस्तुतियाँ होती है जिससे प्रेक्षक गणों पर प्रभाव पड़ता है। यह वर्णन अनुसार नारदीय कीर्तन करने वाले एकमेव कीर्तनकार है मुरलीधर निजामपुरकरबुवा। 'वह अपने प्रस्तुती में 'शंभो' नामक कथक से ली हुई कथक नृत्य की शिक्षा का भी प्रयोग करते थे।'[15]

कीर्तनकार निजामपूरकर, बड़वे गुरुजी यह सभी कथक से मिली जुली पद्धति से तबला या पखावज के संगत की अपेक्षा करते थे। आख्यान के बीच में ततकड़ान तक धाधाधा, किडतक थून थून ऐसे बोलों का वातावरण निर्मिती के लिए प्रयोग करते थे। यही कथक मंदिर परंपरा मे प्रचलित है।

निष्कर्ष :

ताल-लय का महत्त्व तो जहाँ गायन-नृत्य है वहाँ सर्वविदित है। परन्तु यह ताल-लय को दिखाने वाले साथ संगतकार और उनका अपनी कला मे प्रभुत्व, प्रमुख कालाकार की अपेक्षा समझकर संगत करना यह जटिल तथा महत्त्वपूर्ण कार्य है।

आधुनिक काल में उपदेशन करने के लिए कथक और महाराष्ट्र कीर्तन के कुछ तत्त्व को जोड़कर प्रयोग करना आवश्यक है। इस प्रयोग को प्रभावी बनाने के लिए दोनों शैलियों के वादन की पद्धती को समझना, साम्य-भेद समझना और साथ-संगत में नवता प्रदान करना यह कार्य भी आवश्यक है। इसीलिए यह शोध पत्र महत्वपूर्ण है। ऐसे प्रयोग कीर्तनकार चारुदत्त आफळे और कथक नृत्यांगना मनिषा साठे जीने किए है। मेने स्वयं मेरे पी.एच.डी. अध्ययन हेतु नारदीय कीर्तन और कथक तथा वारकरीजी कथक के संगम के पाँच प्रयोग किए है, जिसे प्रेक्षकों ने सराहा है। इस अध्ययन द्वारा प्रयोगशील साथ-संगतकारों का एक समुह निर्मित हो सकता है।

संदर्भ सूची :

1. पाठक, यशवंत (2003)। कीर्तन प्रयोगाची विविध अंगे व उपांगे। नाचू कीर्तनाचे रंगी। द्वितीय सं. पृ.क्र. 166। कॉन्टिनेंटल प्रकाशन।
2. दाधीच, पुरु (2017)। कथक नृत्य शिक्षा भाग-2, पंचम संस्कारण, पृ. क्र.-87। बिंदू प्रकाशन।
3. वही, पृ. क्र.-77।
4 रामदास, समर्थ (2010)। श्रीराम ग्रंथराज दासबोध। सज्जनगड़।
5. वही, पृ. क्र.-168 (क्रमांक 1 की तरह)
6. वही, पृ. क्र.-170।
7. अयोध्या शरण मिश्रा जी के साक्षत्कार से प्राप्त
8. वही, पृ. क्र.-170 (क्रमांक 1 की तरह)
9. वही, पृ. क्र.-171।
10. श्री समर्थाना दत्त दर्शन। ह. भ. प. मिलिंद बडवे। youtube.com : https://youtu.be/4ANoO-R_Sw0?si=_QVxQfEG5jBXcSq1
11. अयोध्या शरण मिश्रा जी के साक्षत्कार से प्राप्त ।
12. नारायण, शोवना (2023)। कथक लोक : मंदिर परंपरा और इतिहास। द्वितीय सं., पृ. क्र.-52। शुभी पब्लिकेशन।
13. नटवर म. (अक्टूबर 2016)। Storytellers of the Desert, Kathak Narratives Title 1, youtube.com : https://www.youtube.com/watch?v=xFACQoQaJoY
14. वही, (क्र.-10 की तरह)
15. जोशी, स. कृ. (2005)। ब्रह्मविद्येचा शिल्पकार। द्वितीय सं., पृ. क्र.-64-67। जगदीश मुरलीधर उपासनी आणि बंधू।

The Hindustani Music Tradition of Modern Theatre

Prof. Anandraja Gyanappa Gonavara
Assistant Professor,
School of Performing Arts and Indic Studies,
REVA University, Bengaluru

The Hindustani musical tradition has a deep and enduring place in India's cultural landscape. Rooted in classical forms such as dhrupad, khayal and thumri, this musical heritage is seamlessly integrated into contemporary theatre, enriching, and diversifying the theatrical experience. This overview provides insight into the interplay between Hindustani music and contemporary theatre, revealing its development, influence and significance.

This study delves into the historical evolution of Hindustani music and its integration into modern theatre. It traces the roots of this musical tradition to ancient Vedic chants and the medieval courts of North India and elucidates how it evolved into the rich and intricate art form we know today. The study also explores the role of renowned musicians and composers in shaping Hindustani music's journey into the realm of theatre.

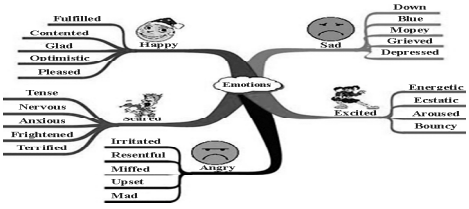

Fig.1.1 Anandraja Gyanappa Gonavara at Indian Music Experience, J.P Nagar

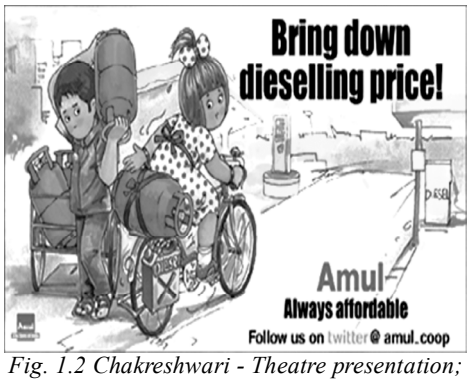

Fig. 1.2 Chakreshwari - Theatre presentation; 2016

The Hindustani music tradition has a rich history in modern theatre, particularly in the context of Indian classical and contemporary theatre. Hindustani music is one of the two major traditions of classical music in India, the other being Carnatic music. It has had a significant influence on the musical aspects of modern theatre productions in India.

The history of thumri according to Manuel includes its amatory texts (Peter, 1989); possible folk music origins and the song of courtesan dances (Peter, 1989); development as a bandish thumri for the developing Kathak style of dance in Lucknow from the 1770s to the 1870s; a change to the bol banau concert form in Benares and Gaya between the 1870 and

1920; and finally, the maturation of thumri (Peter, 1989).

RCS PROGRAMMES 1 Oct
to me

Dear Sir/Madam
Dr. Vandana Singh
Senior Asst.Professor & Head, P.G. Department of English, Maharaja College, Veer Kunwar Sing University, Arrah, Bihar, India

We are grateful and truly value your support as a resource person of :

National Level Faculty Development Programme on Indian Knowledge Systems in Higher Education
Date : 25 - 30 September, 2023

The organizing committee members have appreciated your work, and almost all participants gave day wise - 90% to 97% positive feedback as per prepared PPT contents and presentations.

Fig. 1.3 Actress Sandhya in a still from V Shantaram's Teen Batti Char Raasta ; 1953 ; Image credits : Imprints and Images of Indian Film Music

The relevance of verbal and non-verbal, musical compositions in improving the emotional and aesthetic impact of all Indian theatrical genres, particularly "drama," on Indian audiences, according to Saish Deshpande, research scholar. Theatre has always included music, whether it is traditional, folk, or classical theatre.3

Here are some key points to understand the relationship between Hindustani music and modern theatre:

Voice modulation and voice change are essential techniques in modern theatre, allowing actors to bring depth and variety to their characters. Here are some techniques and tips for voice modulation and voice change in modern theatre:

Pitch Variation : Altering the pitch of your voice is one of the most basic techniques. Experiment with speaking in a higher or lower pitch to convey different emotions or character traits.

Speed and Rhythm : Adjusting the speed and rhythm of your speech can create different effects. Speak rapidly to convey excitement or nervousness, and slow down for a more deliberate, thoughtful character.

Volume Control: Changing your volume can emphasize emotions. Whispering can convey intimacy or secrecy, while shouting can express anger or urgency.

Tone and Quality : Explore different tones and qualities of voice, such as breathy, nasal, raspy, or smooth. These can help you create unique character voices.

Accent and Diction : Mastering accents and varying your diction can be powerful tools. Accents can suggest a character's background or nationality, and altering diction can indicate education and social status.

Vocal Warm-Ups : Before a performance, engage in vocal warm-up exercises to ensure your voice is flexible and ready. These can include humming, lip trills, and tongue twisters.

Character Research : Understand your character's background and personality. Their voice should reflect these aspects. For example, a confident character might have a strong, clear voice, while a timid character may have a softer, more hesitant voice.

Breathing Techniques : Proper breath control is crucial for voice modulation. Practice diaphragmatic breathing to have better control over your voice.

Vocal Exercises: Work with a vocal coach or use vocal exercises to expand your range and strengthen your vocal cords.[2]

Character Physicality : The way a character moves and holds themselves can influence their voice. Explore how physicality can affect your vocal delivery.

Recording and Self-Analysis : Record your voice during rehearsals and analyse it. This helps you identify areas for improvement and refine your character's voice.

Improvise and Experiment : Don't be afraid to experiment with your voice during rehearsals. Try different approaches and find what works best for your character.

Consistency : Maintain consistency in your character's voice throughout the performance. Sudden and unexplained voice changes can confuse the audience.

Feedback and Collaboration : Seek feedback from directors, fellow actors, or vocal coaches. Collaborative input can help you fine-tune your character's voice.

Practice / Abhyas : Like any skill, voice modulation improves with practice. Spend time regularly working on your character's voice to become more proficient.[2]

Remember that voice modulation and change are not just about speaking differently but embodying your character's emotions, motivations, and personality through your voice. With practice and dedication, you can become a versatile actor capable of bringing a wide range of characters to life on the stage.

Voice culture in modern theatre remains a crucial aspect of actor training. It focuses on developing an actor's vocal abilities to ensure clarity, projection, and emotional expression on stage. Techniques may include breath control, vocal exercises, and dialect training, all adapted to suit contemporary theatrical styles and demands. Effective voice culture enhances an actor's ability to communicate and connect with the audience in today's diverse theatrical landscape.

Musical Accompaniment : In modern theatre, especially in traditional Indian plays and dance dramas, Hindustani music is often used as a live musical accompaniment. Musicians play a crucial role in enhancing the emotional and dramatic elements of the performance. Instruments such as the tabla, sitar, flute, and harmonium are commonly used to create the musical backdrop for the play.

Ragas and Melodies : Hindustani music relies heavily on ragas, which are melodic frameworks that evoke specific moods and emotions (Bhatkhande, 2000).

These ragas are used in theatre to match the mood of the scene or to convey the emotions of the characters. For example, a romantic scene might be accompanied by a melodious raga like Yaman, while a tense moment could be underscored by a more intense raga like Bhairav.

Singing and Playback : Hindustani classical vocalists are often engaged as playback singers for theatrical productions, providing the voices for actors or characters who sing on stage. Their ability to modulate their voices and express emotions through singing adds depth to the characters and the overall performance.

Classical Dance and Music : Indian classical dance forms like Bharatanatyam, Kathak, and Odissi often incorporate Hindustani music into their performances. These dances, which are an integral part of many theatrical productions, are accompanied by Hindustani musical compositions, enhancing the visual and auditory experience for the audience. [(1)(5)]

Fusion and Experimentation : Modern theatre in India often explores innovative ways of incorporating Hindustani music. This includes fusion of traditional and contemporary music, experimenting with different instruments, and blending diverse musical styles to create unique soundscapes for theatrical productions.

Storytelling : Hindustani music also plays a role in the narration and storytelling aspects of theatre. Musicians sometimes recite or sing portions of the

narrative, helping to advance the plot and engage the audience.

Emotional Expression : Hindustani music is known for its ability to convey a wide range of emotions. In theatre, this expressive quality is harnessed to intensify the emotional impact of the story, making it more relatable and engaging for the audience.

In conclusion, the Hindustani music tradition has had a deep influence on contemporary or Modern Indian theatre, enriching the audience's sensory experience and helping to convey the emotion and story of the performance. Through live accompaniment, playback singing, or fusion with other musical genres, Hindustani music continues to be an integral part of the vibrant and diverse world of Indian theatre.

Figures :

1.1 Anandraja Gyanappa Gonavara at Indian Music Experience, J.P Nagar.

1.2 Chakreshwari - Theatre presentation; 2016.

1.3 Actress Sandhya in a still from V Shantaram's Teen Batti Char Raasta ; 1953; Image credits : Imprints and Images of Indian Film Music.

References :

1. Book: Manuel, Peter. Thumri in Historical and Stylistic Perspectives. Motilal Banarsidass, 1989.
2. Book: Bakhle, Janaki. Two Men and Music: Nationalism in the Making of an Indian Classical Tradition. Oxford University Press, 2005.
3. Journal Article: Deshpande, Saish. Music: An Integral Element of Indian Theatre Forms; 2020 IJCRT | Volume 8, Issue 9 September 2020 | ISSN: 2320-2882
4. Journal Article: Rizvi, Ali S. "Interactions between Classical Music and Modern Theatre in India: Historical and Contemporary Perspectives." The Drama Review 50, no. 1 (2006): 82-99.
5. Book: Khokar, Ashish Mohan. Traditions of Indian Classical Dance. Clarion Books, 2000.
6. Journal Article: Karanth, K. Shivarama. "Music in Indian Theatre." The Drama Review 18, no. 3 (1974): 35-43.
7. Book: Lath, Mukund. The Oxford Illustrated Companion to South Indian Classical Music. Oxford University Press, 2009.
8. Journal Article: Banerjee, M. "Music in Modern Indian Theatre." The Drama Review 15, no. 2 (1971): 41-48.
9. Journal Article: Chakrabarti, Arundhati. "Music in Theatre: The Indian Perspective." Asian Theatre Journal 18, no. 2 (2001): 196-207.
10. Book: Bhatkhande, Vishnu Narayan. A Short Historical Survey of the Music of Upper India. Popular Prakashan, 2000.

A Study of the Role of Music in Girish Karnad's 'Hayavadana' by Renaissance Theatre Group

Tamasa Ghosh
Assistant Professor, Media Studies
REVA University, Bangalore

Introduction :

Music is an integral part of story-telling in theatre. It often plays a pivotal role in driving the theatrical narrative forward. Moreover, it helps in communicating a range of emotions on stage. During ancient times, in Greek theatre, music was primarily used to set the mood of the play and complement the spoken words and hence enhance the quality of the overall production. It also contributed to the characters and plot developments. Music was a source of additional entertainment for the audience. Another interesting aspect of the ancient Greek theatre was that the chorus was almost always incorporated in the plays. Some of the popular ancient playwrights like Sophocles, Euripides, and Aeschylus used chorus extensively in their plays. The chorus group had 12 to 50 performers who wore masks, delivered dialogues, or sang their lines in unison. The group performed as one actor rather than a large group of many performers. The idea behind the use of the chorus was to offer background information to the audience and to guide them in understanding the narrative of the play and the emotions of the characters better. Their commentary on different themes at different times expressed emotions that the main characters couldn't otherwise articulate. Greek theatres were large hence the members of the chorus had to work hard to look and sound like one person. Their diction and lines were presented clearly so the entire audience could easily listen to them. Coryphaeus, the chorus leader would lead the performers. Even in Shakespearean theatre music had a special place. His plays had songs that were astoundingly moving. He used vocal music to evoke mood. He also used songs to introduce the characters or express the mental state of the characters. He once said, "Music oft hath such a charm to make bad good, and good provoke to harm."

In India, music has been the core of performing arts in the Hindu tradition since the Vedic times. Natyashastra written by sage Bharata around 200 BCE laid the foundation for theatre as an aesthetic art form. Natyashastra believed that without music, drama would become boring and hence it was closely attached to drama during that time. At the beginning of the performance, blessings were sought from

gods of music such as Narada, Tumbaru, and Vishwasu. Natyashastra dictates that during the Shilanyaas which is the beginning of the Natyavesham, auspicious instruments like Shankha, Dundubhi, Mrudang, and Panav must be played. Certain musical instruments were played to portray specific emotions. The use of music was done after a thorough emotional analysis.

According to Dutch ethnomusicologist and professor, Emmie te Nijenhuis, Natyashastra is often regarded as the oldest text that deals with the theory and instruments of Indian music. The theories of music found in the Natyashastra are also found in many Puranas, such as the Markandeya Purana. Music plays a significant role in a drama combining with all the other elements and enhancing the dramatic effects of the acts and scenes in the play. Natyashastra states that music is far beyond a mere source of entertainment in drama as it contributes immensely to the development of the plot. Music is used for different reasons from depicting the personality of a character to the state of mind of a character, emotional turmoil and dilemma to convey the moods of the situation and enrich the overall quality of the play. Music was meticulously played in situations in which barely any dialogue was not sufficient to do justice to the scene.

Journey of Modern Theatre in India :

Theatre has a rich legacy in India. The roots of modern-day theatre can be found during the colonial era in pre-independent India. Modern Indian theatre is inspired by the Sanskrit theatre, folk theatre, and Western theatre. However, it is the influence of Western theatre that formed the basis of modern theatre in India. As the British settled in different parts of the country, they founded theatre companies for their entertainment purpose in several cities including Calcutta (present-day Kolkata), Bombay (present-day Mumbai), and Madras (present-day Chennai) to name a few. Traces of first theatre presentations can be found in the 18th century when a Russian man named Herasim Stepanovich Lebedev, founded a theatre company called Bengali Theatre. Plays like The Disguise by M. Jodrelle and Love is the Best Doctor were performed on stage by them. Lebedev became the first man to use Indian tunes on Western musical instruments. The popularity of these plays gave rise to the theatre culture in India as numerous admirers of drama took an interest in the art form. In one of the theatres in Calcutta Baishnab Charan Auddy, played Othello in 1848. In 1853, Parsi Natak Mandali was the first Parsi theatre company established in India. By 1860 over 20 Parsi theatre groups were formed in Bombay. Western-style dramas had a significant impact on modern Indian theatre. Throughout the early to mid-20th century Indian theatre garnered massive public attention and became a money-minting art form for those who were associated with it. Theatre as an art form is constantly evolving. Present-day Indian English theatre indulges in the subjects concerned with the urban, middle-class issues. The aim of these plays is often to bring about a cultural change. Issues like marital infidelity, homosexuality immorality are becoming common themes of plays.

Use of music tradition in modern theatre:

In post-colonial India, the late sixties have witnessed the entry of some of the greatest Indian minds in the theatre arena. The birth of modern theatre in India can

be seen in the hands of Bengal playwright Badal Sircar, who greatly focused on the rural-urban dichotomy (Kathryn Hansen, Asian Folklore Studies), Vijay Tendulkar in Marathi theatre and Girish Karnad in Kannada theatre brought about a revolution of sorts with their perfect understanding of the media. Karnad wrote his celebrated musical play Hayavadana in 1971, where he rejected the conventions of Western influence and dived deep into the Indian cultural and traditional ethos. According to the words of Urdu playwright Habib Tanvir, "It is in the villages that the dramatic traditions of India in all its pristine glory and vitality remain preserved even to this day." On one Vijay Tendulkar utilized the Marathi folk form Tamasha and its characteristics in this writing, while Girish Karnad focused on the use of the Kannada folk form Yakshagana.

The musical essence of *Hayavadana* :

The paper studies a short theatrical performance of Girish Karnad's play Hayavadana, directed by Mohit Tripathi at Renaisstance Theatre Group in 2021. It is a 1 hour and 45 minutes long play. Renaisstance Theatre Society was formed in the year 2003 by an inspired team of actors from theatre and cinema. The mission of the group is to train and facilitate individuals from different walks of life to discover their creative expression. The theatre society believes that theatre is a great vehicle to transform our emotions and minds. It brings out the hidden hero in people by the way of self-discovery, imagination, and empathy. With this intention Renaisstance takes a new stand on theatre- it is for everyone. My discussion especially focuses on the use of music in the performance by the Renaisstance Theatre Group as compared to their application in Karnad's original text in Kannada published in 1971. In director Mohit Tripathi's play, the use of Hindi language songs and two Indian musical instruments the play discovers a new aspect.

As the name of the play suggests, it is composed of two different words Haya means Horse in Kannada and Vadana translates to Face. It is loosely inspired by the novella The Transposed Heads by German writer Thomas Mann who again was inspired by Kathasaritsagara. The play has multiple themes dealing with the concepts of incompleteness, self-exploration, identity crisis and acceptance. In traditional Yakshagana, the play begins with Ganesha Vandana, seeking the blessings of Lord Ganesha and the Bhagwata who is the main singer and narrator of the play guides the plot further. Karnad said that "the idea of my play Hayvadana started crystallizing in my head right in the middle of an argument with B.V. Karnath...about the meaning of masks in Indian theatre and theatre's relationship to music." Karnad admits that he has composed Hayavadana in the Yakshagana tradition (Karnad, Indian Literature 99) In this play under-study for my research work, director Mohit Tripathi made no diversion. But he took some liberties that include the use of musical instruments-Harmonium (Originated in West Bengal and extensively used in both classical and folk music) and Tabla (The primary function is to maintain the metric cycle in which the compositions are set and complement the vocal and other musical instruments). There has been the use of a mixed chorus instead of the female chorus that was used in the text by Girish Karnad.

At the onset, the use of Ganesh Vandana with the song Namo Namo Gaj Vadana (Head of an elephant on a human body) depicts the similarity with the play's titular character, Hayavadana (Head of a horse on a human body). The interplay of music and dialogues in different situations throughout the play. Depicting human emotions and state of mind through suitable background music and songs. This performance juxtaposes the Indian cultural ethos of music. The play is the story of two close friends Devdutta and Kapil. Both men are in love with the same woman Padmini who in turn of certain unprecedented events accidentally interchange their heads. The narrative also incorporates the story of a man with a horse's head who is on a quest to become human.

Hayavadana wants to achieve perfection by becoming a complete human being. On the other hand, the female protagonist Padmini represents the female sensibilities of the modern age, who desires an ideal husband having all the qualities of intelligence, beauty, and physical prowess combined in one man. While her husband Devdutt fulfils her desire for an intellectual companion, it is his close friend Kapila whose physical appearance attracts Padmini. In the play both Padmini and Hayavadana share similar desires, the desire to feel complete. Padmini's pursuit of perfection disappoints her and ends in tragedy while Hayavadana's search for the attainment of completeness ends in a debacle too.

This play was written at a time when Indian playwrights were trying to avoid the constraints of colonization and tried to incorporate Indian values into them. This play highlights the complexity of human existence through music. Hayavadana attempts to take the audience on a journey with the characters, into their lives and their minds. Music plays a significant role in achieving that complementing the dialogues.

The textual analysis of music in Hayavadana :

In the play understudy, although the use of masks is there, there is no use of the quintessential Chande (drums) and Maddale used in Yakshagana. There has been extensive use of chorus or Himmela as used in Yakshagana. The song Do the Yuvajan Survaguni Gehre sathi the apas mein introduces the two male protagonists of the play as soon as Devdutt and Kapila come to the centre stage the background song continues to play they through their actions depict their physical features and their state of mind. The line Tan ka Man ka tute na nata projects the eternal connection of two close friends.The line Dekhi ekdin sundar ladki khoyi man ki sudhbudh apni depicts the change in their characters and state of minds after they both meet Padmini which eventually led to tragedies. The song Aaya ek sawar dekho aaya ek sawar showcases the journey of Kapila when he meets Padmini. The playful use of Tabla when Kapila and Padmini interact for the first time is beautiful, it escalates a joyful tension between the two characters. The same song restarts with the lines Hathon mein talwar, ghode pe sawar as Devdutt and Padmini gets married.The soft flute music beautifully complements the melancholy mood of Devdutt as he is upset with his wife Padmini.The song Bandhe kyun iss pyar ko ek pedh ki dor se portrays the emotion, dilemma and growing conflicts in their relationships and hint of infidelity. Padh ki shakhon mein pakdhaniye hai depicts how their lives have come crossroads. From there

on the lives of these two individuals will take an unprecedented turn. The song Aaya ek sawar dekho aaya ek sawar is played once again almost a lullaby as Padmini is again in a state of emotional turmoil. The song Paani ka kagaz kora is used to depict the feelings of Kapila and Padmini as they meet in the forest again and confess their love for each other portraying how their lives are incomplete without each other. The song Kal jo tha mitra woh hai shastru aaj woh is sung when Devdutt finds out the truth about Kapila and Padmini and confronts him in the forest resulting in the tragic end of their friendship and life. The song Behen humari chali swarg ko showcases Padmini's final journey as she decides to perform Sati. The play concludes with the song Aaya ek sawar as Hayavadana finally turns into a complete horse and carries the son of Padmini and Devdutt on his back and starts his new journey of life as a complete being.

Conclusion :

Although inspired by the traditional folk form of Karnataka, Yakshagana, Girish Karnad gave Hayavadana his own touch, he created his exclusive theatre and showcased a social and religious satire that presents the constant quest of people to be complete and perfect in every sphere. The use of music in "Hayavadana" serves various functions, including cultural context, thematic reinforcement, emotional depth, and narrative enhancement. Girish Karnad's use of music in the play adds layers of complexity to the storytelling and underscores the cultural and philosophical themes explored in the narrative. Music is used symbolically to reinforce the central theme of the play, which revolves around the concept of incomplete identities and the search for completeness. The characters are often depicted as fragmented, and music helps convey their inner struggles and desires. In this production by Renaisstance Theatre, soundscapes, and ambient music may be used to create a specific atmosphere or mood, enhancing the audience's emotional engagement with the play adds a layer of cultural richness to the play.

Reference :

1. Rajeswaran M. Chandrasena, (2019) Hayavadana: A Folk Drama for Urban Audience rb.gy/e9wfg
2. Bhardwaj Ruchi, (2022) Symbolism in Girish Karnad's Hayavadana https://ijcrt.org/papers/IJCRT2201240.pdf
3. Khan A (2020) Girish Karnad's Hayavadana: Analysis of Text and its Theatrical Performance http://pu.edu.pk/images/journal/english/PDF/09_LVI_Jan_20.pdf
4. Mahendran T. (2023) A Study of Tradition and Culture in Girish Karnad's Hayavadana https://www.researchgate.net/publication/373197132_
5. Kaur Maninder, (2018) Girish Karnad's Hayavadana -A Reworking of Myths and Folk Narrative on Contemporary Lines http://ignited.in/a/58386

ब्रज की रासलीला का संगीत पक्ष एवं प्रयोग

अपर्णा पाण्डेय
शोधार्थी
छत्रपति शाहू जी महाराज कानपुर, विश्वविद्यालय

डॉ. सुनीता द्विवेदी
एसोसिएट प्रोफेसर
छत्रपति शाहू जी महाराज कानपुर, विश्वविद्यालय

प्रस्तावना :

मानव जीवन शक्ति जब इस सांसारिक उलझनों में पड़कर क्षीण होने लगती है तब कल्पकाया कर उसमे नव चेतन शक्ति भरने में विश्व की पांच ललित कलायें ही सहायक होती है। इनमें संगीत कला सर्वोपरि मानी जाती है। लोकोक्ति है –

'त्रिभुवन मानस वशीकरण मधुमय आकर्षण शून्य गगन की रस लहरी का मधुर विकम्पन'

संगीत की अनेक विभूतियों ने संगीत को ईश्वरीय वाणी माना है। समस्त ब्रम्हाण्ड नादमय है। सूर्य, चन्द्र, गृह आदि सभी नादाधीन है। अर्थात् ब्रम्ह ही नादरूप है और नाद ही संगीत का प्राण है। संगीत के सम्बन्ध में विद्वानों ने धार्मिक, प्राकृतिक, मनोवैज्ञानिक एवं वैज्ञानिक आदि मान्यताओं के आधार पर अपने-अपने मत व्यक्त किये हैं। पं. शारंगदेव जी के अनुसार-

'गीतं, वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीत मुच्यते'

अर्थात् गीत, वाद्य, तथा नृत्य तीनों कलाओं का सामूहिक नाम संगीत है। संगीत शब्द का प्रस्तुतीकरण लोक पक्ष में 'गीत' के अर्थ में किया गया है। तीनों कलाओं में गायन, वादन एक दूसरे की पूरक है तथा नृत्य कला स्वतंत्र कला मानी गयी है क्योंकि नृत्य कला स्वयं में पूर्ण है। गायन एवं वादन कला में संगीत के दो मूल तत्व स्वर और लय मुख्य रूप से प्रयुक्त होता है। वस्तुतः नाट्य एवं संगीत की संधि नृत्य कला है। इस संदर्भ में हमारे देश में 'नाट्य विद्या' का अनुशीलन, अनुकरण प्रभूत मात्रा में विकसित हो रहा है। लय और ताल का आवरण होने के कारण नृत्य कला संगीत के अंतर्गत हो आती है साथ ही भाव भंगिमा एवं अंग संचालन का सम्बन्ध नाट्य से है। नाटक के सन्दर्भ में सर्वप्रथम प्राचीन ग्रन्थकार भरतमुनि कृत 'नाट्यशास्त्र' जो अपनी विचारों की व्यापकता के साथ भारतीय नाट्यकला पर भी चिन्तन मनन करते समय सर्वप्रथम सम्मुख परिलक्षित होता है। महर्षि भरत ने नर्तन के तीन भेद बताये है- नृत्त, नृत, और नृत्य। नृत्त में नाट्य प्रभाव कम एवं संगीत अधिक तथा नृत्य में नाट्य अंगीभूत एवं संगीत का बाहुल्य पूर्ण से दिखायी पड़ता है। किन्तु नृत पूर्ण रूप से नाट्य आधारित है। उसमें संगीत अंश मात्र सूचक है नृत्य एकांगी एवं लय पर आधारित है। कुछ भारतीय एवं पाश्चत्य विद्वानों ने नृत्य को पूर्ण रूप से न तो संगीत माना और न नाट्य। वस्तुतः नृत्य संगीत में लय के साथ अंग संचालन के रूप में नाटय का योग होता है इसे नृत्य से विलग नहीं किया जा सकता। वैदिककाल में सामगान के अतिरिक्त समाज में गायन, वादन, के साथ-साथ नृत्य कला भी प्रचुर मात्रा में प्रचलित थी जिसका उल्लेख ऋग्वेद में 10वें मण्डल के 1028 सूत्र में मिलता है। नृत्यकला जोकि नाट्यकला के अन्तर्गत आती है और इसका उल्लेख रामायण, महाभारत (इसमें नट

एवं चरणों द्वारा आखों देखा युद्ध का विवरण नाट्य द्वारा प्रस्तुत करने का विधान) एवं हरिवंशकाल में आता है उस समय नृत्य, गीत, वाद्य तीनों का प्रचार था। हरिवंश पुराण में द्वितीय पर्व के 89 के 67-68 श्लोक में हल्लीसक का छालिक्य के साथ वर्णन हुआ है कहीं-कहीं स्वतंत्र अथवा रास के साथ भी वर्णन है। हल्लीसक्रीड़ा एक प्रकार का गान-वादन के साथ लोकनृत्य था और यह कहीं न कहीं रास का एक प्रकार भी था। यहाँ हल्लीसक का ही अर्थ समझना अधिक उपयुक्त जान पड़ता है रास शब्द को हम आगे समझेगे। हल्लीसकक्रीड़ा का उपसंहार कुछ इस प्रकार है-

'एवं स कृष्णो गोपीनां चक्रवालैरलंकृतः
शारदीषु सचन्द्रासु निशासु मुमुदे सुखी'

अर्थात् चन्द्रपूर्ण शारदी निशा में गोपियों के मण्डल से शोभित हो भगवान कृष्ण सुखी हो रहे हैं। स्त्रियों का मंडलाकार बनाकर नाचना एवं उसमे एक नायक जो गोपियों के बीच में कृष्ण हुआ करते थे, और वे गोपियों को नचाते थे ऐसा हल्लीसकक्रीड़ा नृत्य अथवा रासगोष्ठी कहलाया संभवतः ऐसा कहा जा सकता है कि आगे चलकर यह समाज में क्रीड़ानृत्य से ब्रज रासलीला में परिणित हुआ होगा क्योंकि इसी हल्लीसक लोकनृत्य को भगवान कृष्ण ने अपनाया एवं उसमे संशोधन एवं उसमे परिवर्धन कर आगे 'रास' का निर्माण किया।

भारत के उत्तरी भाग में बसा ब्रज क्षेत्र विश्व के सम्पूर्ण भू-भाग ने अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। ब्रज के कण-कण में रासरसेस्वर, योगेश्वर भगवान श्री कृष्ण विराजमान है। अपनी नटखट चंचल बाल्य लीलायें, लीलानायक, ब्रजांगनाओं के हृदय पटल पर राज्य करने वाले, कुशल राजनीतज्ञ, नायक आदि स्वरुप श्री कृष्ण के ब्रज की सांस्कृतिक परम्परा में सन्निहित हैं। ब्रज भगवान कृष्ण की जन्मस्थली है अतः यहाँ की संस्कृति के जन्मदाता भगवान कृष्ण हैं। श्री कृष्ण ने गोपिकाओं के साथ विभिन्न लीलायें, रास, महारास एवं वंशी वादन द्वारा प्रेमानुगाकर भक्ति धारा प्रवाहित करके ब्रज के रोम-रोम में विराजमान हो गये। ब्रज में आज भी रासलीलानुकरण का प्रचलन है, यह एक प्रकार का नृत्य प्रधान लोक नाट्य है। रास के साथ ही लीला का भी विशेष महत्व रहता है रासलीला का वर्णन श्रीमद्भागवत् पुराण के दशम स्कन्ध में रासपंचाध्यायी के पांच अध्यायों में प्राप्त होता है। रास और लीला दो शब्दों से मिलकर बना है जिसमें श्री कृष्ण, राधा एवं गोपियाँ (स्वरुपगण) नृत्य करे वह 'रास' तथा रास के कुछ समय पश्चात् कीर्तानादी हो वह 'लीला' कहलाती है। ऐसा माना जा सकता है जैसाकि उपरोक्त बताया जा चुका है कि प्राचीन हल्लीसकक्रीड़ा लोकनृत्य ही संवर्धित हो रासलीला में परिणित हुई होगी। साधारणतः रास का अर्थ- रस से रसोपासना अर्थात् 'रसानां समूहो रासः' रसों का समूह ही रास है। रास का मुख्य तत्व ही रस है भगवतगीता में श्री कृष्ण को रसरूप परब्रम्हा कहा गया है। ब्रजमण्डल के सन्त वाणीकार ईश्वर को रसरूप मानते है। रसोपासना के अन्तर्गत श्री कृष्ण एवं श्रीराधा की लीलाओं का विवेचन किया जाता है, रासलीला का सर्वप्रथम उद्गम श्री कृष्ण की गोपिकाओं द्वारा किया गया था इसमें राधा-कृष्ण, तथा आठ मुख्य सहचरी गोपिओं का स्थान रहता है। ये गोपियाँ इस प्रकार हैं-ललित्ता, विशाखा, चित्रा, सुलेखा आदि अष्टक गोपियाँ मानी जाती हैं। कहा जाता है भगवान शिव को भी गोपी वेश धारण रासलीला में आना पड़ा था तभी से उनका नाम 'गोपेश्वर' पड़ा। इसमें गोपिओं के अनुरोध पर श्री कृष्ण राधा संग रास में पधारते और विशेष गायन (ध्रुपद), वादन के साथ नृत्य आरम्भ करते हैं। रास के पश्चात् लीला आरम्भ होती है। लीला आरम्भ करने से पूर्व राधा-कृष्ण को आभूषणों, वस्त्रों, अलंकरणों से सजाकर झांकी बनायी जाती है तत्पश्चात संकीर्तन होता है और तब लीला प्रस्तुतिकरण की जाती है। लीलाओं में भगवान कृष्ण की बाल लीलायें- जिसमें माखनचोरी, ऊखल बन्धन, चीरहरण, पूतनावध, कालियनाग, मनिहरी लीला, गोरेग्वाल आदि सम्पूर्ण लीलायें रंग मंचन द्वारा प्रस्तुत की जाती है वस्तुतः रासलीला गायन, वादन कला के

बिना अपंग मानी जाती है या यूँ कहें कि इसके बिना रासलीला पूर्ण ही नही हो सकती। संगीत की गायन, वादन, नृत्य तीनों कलायें रासलीला में महत्वपूर्ण है गायन की दृष्टि से ब्रज रासलीला में ध्रुपद अथवा जातिगान को प्रमुख रखा गया है और मंचन कर रहे पात्र जो सजीव रूपांतरण करते है, राधा-कृष्ण का उनके गुणों का वर्णन रहता है। यहाँ स्वामी हरिदास जी का एक ध्रुपद इस प्रकार है –

'आजु की बानिक प्यारे तेरी प्यारी तुम्हारी बरनी न जाय छवि

इनकी स्यामता तुम्हारी गौरता जैसे सित असित बेनी रही भुवंगम ज्यों दबि'।।

रासलीला का आरम्भ और समापन संवादों द्वारा ही होता है। गायन के साथ ही वादन का भी महत्वपूर्ण स्थान है। रासलीला पर बजाये जाने वाले वाद्यों में ढोलक, तबला, पखावज, तानपुरा, सारंगी, मृदंग, बेन, मुरली, खंजरी, करताल, झांझ, डफ, कठताल, झालरी आदि के साथ हारमोनियम एवं गिटार का भी प्रयोग देखने को मिलता है। रागबद्धता, लयबद्धता, एवं तालबद्धता ब्रज रासलीला के आवश्यक तत्व माने गये है। राग, ताल से संयोजित कर स्वामी हरिदास, सूरदास, कुंभनदास, परमानन्द, आदि रसाचार्यों ने रचनायें प्रस्तुत की है। भैरव, रामकली, बिहागडा, अल्हैया बिलावल, देव-गंधार, मालकौंस, सारंग, गौरी आदि रागों के साथ-साथ अनेक प्रचलित-अप्रचलित राग-रागिनियों में रास की पदावलियाँ मिलती हैं। यहाँ ब्रजरास की एक पदावली इस प्रकार है-

श्री जमुना जी तिहरौ दरस हौं पाऊँ
श्री गोवर्धन श्री वृन्दावन ब्रजराज अंग लगाऊँ।।
दिन दस पांच रहो श्री गोकुल ठकुरानी घात नहाऊँ
दासन ऊपर करौ कृपा संतन के संग आऊँ।।

(राग रामकली)

ये पदावलियाँ अलग-अलग तालों में निबद्ध कर गायी जाती हैं। इनमें दादरा, कहरवा, चारताल, आदि तालों का प्रयोग किया जाता है।

आधुनिक परिवेश में रासलीला का प्रयोग :

आधुनिक परम्परा में रासलीला का स्वरुप एवं प्रयोग दोनों में परिवर्तन हो गया है परिस्थितियां, वातावरण के अनुसार विविध पक्षों में नवीन परम्पराओं ने जन्म लिया और रासलीला को जीवान्त बनाये रखा। स्वरूप की दृष्टि से देखे तो सर्वप्रथम आधुनिक परिवेश में रासलीला के अन्तर्गत रासमंच एवं दृश्य आता है जिसमें सिंहासन स्थायी रहता है, दर्शकों के बैठने के लिये 30 से 40 फिट लम्बा और 15 से 20 फिट चौड़ा मंच बनाया जाता है। आज के समयानुसार अधिक प्रभावी बनाने के लिये विद्युत प्रकाश यंत्र का भरपूर मात्रा में प्रयोग किया जाता है। द्वितीय पक्ष में रास में पात्र आते हैं जो अब पुरातन रासलीला के पात्रों की भाँति कठोर नियमों का पालन नहीं करते, अब राजपूत माली, अहीरों बालकों को भी मण्डलियों में शामिल किया जाता है। कृष्ण, राधा, सखियाँ एवं अन्य नारी पात्रों में भी समयानुसार परिवर्तन आ गया है। इसके साथ ही पात्रों के वस्त्र, अलंकरण, केश सज्जा आदि सभी का प्रयोग आधुनिककाल के अन्तर्गत किया जाता है। आधुनिक काल में श्रृंगार रस में स्वरूपों में वर्णन अधिक मिलता है। पुरातन काल में स्त्री पात्रों के वस्त्र अपवित्र समझे जाते थे। सांगीतिक दृष्टिवलोकन करे तो आधुनिक काल में रासलीला में शास्त्रीय संगीत के स्थान पर लोकसंगीत का प्रयोग अधिक देखने को मिलता है। फ़िल्मी धुनों पर आधारित गीतों में रास के साथ लीलाओं में मुक्त कंठ गाया जाने लगा है साथ ही स्वांग तथा नौटंकी की धुनों पर आधारित चौबोला एवं रास मंच पर लोकगीतों, रसियों आदि का भी प्रचलन हो गया है। गायन, में परिवर्तन के साथ ही वाद्यों में परवर्तन हुआ है आज रासलीला में नवीन वाद्यों में विद्युत् चालक गिटार, पैड, की-बोर्ड आदि वाद्यों का ही प्रयोग होने लगा है। प्राचीनकाल में संस्कृतनिष्ठ पदावलियाँ एवं लीलायें (एकल एवं सामूहिक) अलग-अलग अवसरों पर की जाती थी किन्तु आज पदावलियों के स्थान पर लोकधुनों पर

आधारित गीतों भजनों का प्रयोग अधिक देखने सुनने को मिलता है उत्कृष्ट वाणीकारों का साहित्य शनै-शनै विलुप्त हो रहा है और फ़िल्मी पैरोडियों के गायन का प्रस्तुतिकरण बढ़ रहा है। लीलाओं की बात करें तो आज के परिवेश में रासलीलायें बिना क्रम के की जाती हैं इनमें कंसवध के अवसर पर की जाने वाली लीलाओं में सुदामा लीला, गीता जयंती लीला आदि प्रदर्शित की जाती हैं। ये लीलायें अधिकतर होली अथवा जन्माष्टमी के अवसर पर प्रस्तुत की जाती हैं जैसे- जन्माष्टमी में कृष्ण जन्मलीला, महारास लीला, राधाष्टमी अवसर पर- राधा जन्म लीला, कंस दशमी पर-कंसवध लीला आदि प्रस्तुत की जाती है।

सनातनी परम्परा में हम अपनी संस्कृति से आज कहीं न कहीं विलग है। उस नाद ब्रम्हा को ही सभी शक्तियों से ऊपर माना गया है। हमारा समाज कहीं न कहीं अपने पथ से विलग हो जान पड़ रहा है अतः ऐसा न हो इसके लिए उन्हें अपनी पौराणिक कथाओं, नाट्यों, लीलाओं से अवगत कराते रहना परम आवश्यक है क्योंकि हम सभी अपने राधा-कृष्ण स्वरुप को ईश्वर मान कर उनकी आराधना जिससे हमे सकारात्मक उर्जा मिलती है। नाट्य, भजन, लीलायें हमे हमारी संस्कारिकता से जोड़े रखती है। श्री कृष्ण की बाल लीलायें सम्पूर्ण ब्रज मण्डल के कण-कण में विराजमान है और आज भी वहां जाने यह आभास होता ही कि यदि ईश्वर है तो ब्रज में है। ऐसा मेरा स्वयं का अनुभव ब्रज मण्डल क्षेत्र भ्रमण के दौरान रहा है वहाँ मैंने एक विशेष अनुभूती की जिसे शब्दों में व्यक्त करना जैसे- सूरज को दिया दिखाना वास्तव में ब्रज में श्री कृष्ण की उपस्थिति का आभास आज भी होता है। यह धरा सभी भूमियों से पवित्र पृष्ठभूमि है। आज भी रासलीला का ब्रज में उतना ही महत्वपूर्ण स्थान है जितना पुरातनकाल में था। किन्तु समयानुसार परितर्तन के पराचक्र में रूप लुप्त होता जा रहा है अतः हमारा यह कर्त्तव्य है कि हम अपनी सांस्कृतिक धरोहरों को संजोयें, संचित करें जिससे आने वाली पीढ़ी अपने मूल कर्तव्यों के प्रीत सजग बने तथा लाभान्वित हो सके ऐसी कामना है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :

1. 'जोशी उमेश', 'भारतीय संगीत का इतिहास', प्रथम संस्करण, सन-2022, कल्पना प्रकाशन, नई दिल्ली।
2. संगीत रत्नाकर, शारंगदेवकृत , अनुवादक सुभद्रा चौधरी, राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली।
3. 'मिश्र लालमणि','भारतीय संगीत वाद्य', सातवाँ संस्करण, सन-2022, वाणी प्रकाशन, इलाहाबाद।
4. नाट्यशास्त्र, श्रीभरतमुनि प्रणीत, अनुवादक श्री बाबुलाल शुक्ल, शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी।
5. 'जयदेव ठाकुर', 'भारतीय संगीत का इतिहास', तृतीय संस्करण, सन-2016, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
6. 'श्रीवास्तव आरती', 'ब्रज-रास में संगीत (उतपत्ति, विकास और स्वरुप)', प्रथम संस्करण, सन-2003, राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली।
7. 'मीतल डॉ. प्रभुदयाल', 'ब्रज की रासलीला', सन-2011. वृन्दावन शोध संस्थान, वृन्दावन।
8. 'शर्मा डॉ. स्वरुप', 'ब्रजभाषा के रासलीला साहित्य का अध्ययन', सन-2020, श्री नटराज प्रकाशन, नई दिल्ली।

भारतीय रंगमंच और संगीत

डॉ॰ सुमन लता
असिस्टेंट प्रोफेसर सितार
महिला महाविद्यालय (पी॰ जी॰) कॉलेज, किदवई नगर, कानपुर

भारतीय रंगमंच में संगीत का सुसंस्कृत रूप वैदिक युग से लेकर आज तक अनेक परिवर्तनों के माध्यम से पल्लवित होता रहा है। यह तथ्य किसी भी जिज्ञासु संगीत छात्र के लिए ऐतिहासिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत करता है। भारतीय रंगमंच विशेषतः शास्त्रीय संगीत युगो की चेतना परिणामस्वरूप फलता-फूलता और विकसित होता रहा है।

केवल भारतवर्ष में ही नहीं वरन् विश्व के सभी सभ्य देशों में नाटक सदा से लोकानुरंजन का प्रमुख साधन रहा है। प्राचीन काल से न सिर्फ भारत में वरन् पाश्चात्य देश-यूनान, रोम और यूरोप की प्राचीन सभ्यता मे ंहम चौथी शती ई॰ पूर्व में रंगमंच होने की कल्पना कर सकते है। इसके अतिरिक्त आधुनिक काल में पाश्चात्य प्रभाव से ही रंगमंच में संगीत के क्षेत्र में काफी विस्तार हुआ है। हमारे भारत देश में व्यवस्थित रंगशालाओं का बड़ा आभाव रहा है। इस दिशा में जो कुछ भी कार्य हुए है वह सब अंग्रेजी या यूरोपीय रंगशालाओं और नाट्य पद्धतियों के आधार पर ही हुए है।

अभिनय की प्रवृत्ति मनुष्य में अनादि काल से पायी जाती है। रंगमंच में संगीत की भवात्मक, तथ्यात्मक, प्रतीकात्मक तथा रीतिवादी शैलियां सामने आयीं और तरह-तरह की रंगशालाओं का निर्माण होता गया। आज हर प्रगतिशील देश में युग और परम्पराओं का ध्यान रखते हुए रंगमंच की रचना हो रही है।

नाटक की सही अभिव्यक्ति रंगमंच के माध्यम से ही होती है। यह ऐसी अभिव्यक्ति है, जो एकदम तात्कालिक और जीवान्त होती है, जिसका रसास्वादन हम रंगमंच पर करते हैं। भारतीय नाटकों और नाटककारों की अपनी विशिष्ट परम्परा है। वस्तुतः हमारे प्राचीन नाटक भी हमारी सनातन संस्कृति की देन हैं। अतीत के राजदरबारों में नाटकों के खेले जाने के प्रमाण मिलते हैं, किन्तु यह पता नही चलता है कि प्राचीन काल में यूनान या रोम जैसी रंगशालाएँ भारत में थीं या नहीं। जो भी हो, आज के स्वतंत्र भारतीय समाज कैे अनुकूल लोक मनोरंजन के लिये उपयुक्त नाटकों और रंगशालाओ की अपेक्षा स्वयंसिद्ध है।

भरतमुनि ने एक स्थान पर कहा है कि- 'न कोई ऐसा ज्ञान है, न शिल्प है, न कला है, न विद्या है, न योग है, जो नाटक में न देखा जाता हो।' नाटक में इन सब की समाहिति इसके लोकधर्मी स्वरूप की परिचायक है। नृत्य, संगीत, स्थापत्य और अन्य कलाएं इसमें घुली-मिली रहती हैं। नाटक में परम्परा बडे ़सघन रूप में गुंथी होती है, विभिन्न कलाओं- नृत्य, संगीत आदि की सहभागिता के साथ। हम चाहे आज के नाटक की बात करें या आज से सौ वर्ष पहले के नाटक की, रंगशिल्प की नयी से नयी पद्धतियों के साथ-साथ नाट्य परम्परा के उन तत्वों और उपादानों की समझ जरूरी है, जो आज भी हमारे तथा आने वाली पीढ़ियों के लिये उपयोगी हो सकते है।

आज हमारे भारतीय रंगमंच में संगीत का अत्यंत व्यापक प्रभाव दृष्टिगोचर हो रहा है। संगीत के प्रति रूचि रखना मानव मात्र की स्वभाविकता है, और इसी मानव स्वभाव के आधार पर नाट्य की रचना भी की जाती है। इसीलिये लोग अपना-अपना काम करते हुये भी नाटक में अपने शिल्प, श्रृंगार, व्यवसाय, क्रिया और वाणी सब कुछ पा लेते है। यद्यपि मनोरंजन और आनन्द नाटक का प्रधान और प्रत्यक्ष उद्देश्य है, इस आनन्द की प्राप्ति मनुष्य को रंगमंच में संगीत से प्राप्त होती है।

1.1 भारतीय रंगमंच का अर्थ :

नाटक और रंगमंच सम्भवतः मनुष्य जाति का पहला और सदियों तक एकमात्र सशक्त एवं जीवन्त जन-माध्यम रहा है। बदलते हुए समय और समाज के साथ-साथ इसके स्वरूप सरोकार भी लगातार बदलते रहे। प्राचीन काल में शास्त्रीय रंगमंच राज्याश्रित था और लोक-रंगमंच जनाश्रित। मध्यकाल में मुसलमान मुगल शासकों ने कलाओं के लगभग सभी रूपों का खूब विस्तार किया। परन्तु अपनी धार्मिक मान्यताओं और सांस्कृतिक वर्जनओं-मर्यादओं के कारण, रूपक एवं रंगकर्म को मूर्तिपूजा के समकक्ष मानकर, उन्होनें रंगमंच को पूरी तरह निराश्रित एवं उपेक्षित बना दिया। ऐसे संकट-काल में नाटक ने धर्म-स्थानों की शरण ली और लीला-नाटकों का धार्मिक स्वरूप ग्रहण कर लिया। अंग्रेजों के आगमन के साथ उनके शेक्सपीरियन नाटकों से प्रभाव ग्रहण कर हमारा नाटक व्यावसायिक पारसी रंगमंच के रूप में विकसित हुआ तो उसकी कलाहीनता की प्रतिक्रिया में गम्भीर एवं सुसंस्कृत शौकिया रंगकर्म की शुरूआत हुई। आजादी के बाद पारसी-व्यवसायिक थियेटर के मुकाबले यह सार्थक, गम्भीर एवं कलात्मक प्रोफेशनल और शौकिया प्रयोगशील रंगकर्म के रूप में विकसित हुआ।

रंगमंच वह स्थान है जहाँ नृत्य, नाटक, खेल आदि हो। रंगमंच शब्द रंग और मंच दो शब्दों के मिलने से बना है। रंग इसलिये प्रयुक्त हुआ है, कि दृश्य को आकर्षक बनाने के लिये दीवारों, छतों और पर्दों पर विविध प्रकार की चित्रकारी की जाती है और अभिनेताओं की वेषभूषा तथा सज्जा में भी विविध रंगों का प्रयोग होता है, और मंच इसलिये प्रयुक्त हुआ है कि दर्शकों की सुविधा के लिये रंगमंच का तल फर्श से कुछ ऊंचा रहता है। दर्शकों के बैठने के स्थान को प्रेक्षागार और रंगमंच सहित समूचे भवन को प्रेक्षाग्रह, रंगशाला या नाटयशाला (या नृत्यशाला) कहते है। पश्चिमी देशों में इसे थियेटर या ओपेरा नाम दिया जाता है। कई जगह रंगमंच का भावार्थ प्रयत्न लाघव के अनुसार 'मंच' से भी लिया गया है।

रंगभूमि या रंगमंच एक व्यापक शब्द है, जिसके अंतर्गत रंगशाला, काव्य (नाटक), अभिनय (प्रयोक्ता निर्देशक, रंगकर्मी और रंगशिल्पी) तथा सामाजिक (प्रेक्षक) सभी आ जाते है। अपने सीमित अर्थ में रंगमंच रंगशाला का बाचक बनकर रह गया है।

रंगमंच मनुष्य की सनातन प्रवृत्ति है, आधुनिक समय में रंगमंच राष्ट्र की पहचान भी है। ''रंगमंच क्रिया का उद्भव मानव चेतना के साथ हुआ है यह एक चेतन कला है, जिसके द्वारा जीवन का जीवन्त रूप प्रदर्शित होता है।'' स्पष्ट है कि रंगमंच एक अनिवार्य मानव प्रवृत्ति है- अनिवार्य आदिम सत्य, जिसकी मानव संस्कृति में उपलब्ध कोई अन्य विभूति नहीं कर सकती।

रंगमंच का अभिप्राय :

रंगमंच शब्द का प्रयोग व्यापक व सीमित दोनों ही अर्थों में किया जाता है। अंग्रेजी में इसके लिये दो शब्द प्रयोग में आते है- 'स्टेज और थियेटर'। वस्तुतः स्टेज शब्द रंगमंच के दृश्य स्थूल पक्ष को ही अधिक व्यंजित करता है, किन्तु बाहर से स्थूल भले ही हो उसका आन्तरिक स्वरूप सूक्ष्म होता है। बाह्य स्थूल रूप उस आन्तरिक सूक्ष्म स्वरूप की उपलब्धि का साधन मात्र है।

अंग्रेजी का 'थियेटर' शब्द रंगमंच के स्थूल और सूक्ष्म दोनो अंगो की अभिव्यक्ति करता है। थियेटर के अन्तर्गत रंगभवन और उसके स्थूल उपादान ही नहीं आतें वरन् नाट्यकृति और समस्त रंगकर्म, उसकी रूढ़ियों और प्रदर्शन में निहित शिल्प, भाव बोध और सर्जनात्मक धरातल भी उसी में सम्मिलित हैं। वस्तुतः थियेटर अपने आप में एक पूरी संस्था एक पूरा सर्जनात्मक अभियान है और उसके कई आयाम और भाभूमियाँ है।

भरत मुनि ने नाटक की उत्पत्ति को दैवी माना है। ब्रम्हा जी नाट्य के विषय में कहते है : यह विविध अवस्थाओं से पूर्ण, अनेक प्रकार के भावों से सम्पन्न लोकवृत्ति का अनुकरण करने वाला नाट्य मेरे द्वारा रचा गया है। त्रेता युग में देवताओं की प्रार्थना पर ब्रम्हा ने ऋग्वेद से संवाद, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय-कला और अथर्ववेद से रस लेकर पंचम वेद के रूप में नाटक की रचना की। इसमें शंकर ने तांडव और पार्वती ने लास्य जोड़ा। इसके साथ ही नाट्य-मंचन के लियेक विश्वकर्मा ने रंगमंच का निर्माण किया।''

आचार्य भरत के नाट्य शब्द का प्रयोग इसी व्यापक अर्थ में किया है। नाट्य के विविध आयामों का विवेचन करते हुए स्पष्ट लिखा है कि त्रलोकयस्यास्य सर्वस्य नाट्य भावानुकर्तिनम् अर्थात नाट्य में सम्पूर्ण त्रैलाक्य के भावो का अनुकरण है। आगे भरतमुनि ने इस स्पष्ट करते हुए लिखा है-

'न तज्झानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
ना सौ योगे न तत्कर्म नाटयेड़स्मिन्यत्र दृष्यति।।'

(इस रस, भाव कर्म तथा क्रियाओं के अभिनय द्वारा लोक को सुख और शांति देने वाला है और सबसे बड़ी बात यह है कि न ऐसा ज्ञान है, न कोई शिल्प, न कोई कला, न कोई विद्या, न कोई कार्य है जो नाट्य में विद्यमान हो।)

इस प्रकार आहार्य वाचिक अभिनय के सन्दर्भ में भी रंगमंचीय पक्ष को विशेष महत्व दिया गया है।

रंगमंच में संगीत की भावात्मक, तथ्यात्मक एवं प्रतीकात्मक शैलियां :

संगीत नाट्यकला का अविभाज्य घटक है। आज गायन के रूप में न सही परन्तु कई बार पार्श्व संगीत के रूप में आज भी संगीत नाट्यवस्तु के प्रभाव को महत्वपूर्ण बनाने की अमित क्षमता रखता है। इसका प्रमाण सहज ही प्राप्त हो जाता है। संगीत की योजना नाट्य वस्तु के अनुकूल-प्रतिकूल है। संगीत में भी प्रादेशिक संगीत के साथ-साथ विदेशी वाद्यवृन्दों तथा सामूहगान (कोरस) का भी नाट्यात्मक प्रयोग किया जाता है।

रंगमंच पर घटित अवसर के अनुकूल ही संगीत योजना होनी चाहिए। संगीत की अपनी भाषा है, अपने संकेत हैं। संगीत के स्वरों से दर्शक उस राग के अनुरूप हर्ष-विषाद के प्रसंगों को दृश्य रूप में रंगमंच पर देखने के लिये सहज ही सिद्ध होते हैं। नाटककार का नाटक रंगमंच पर दिग्दर्शक प्रस्तुत करता है उसका बहुश्रुत होना अनिवार्य है। स्थापत्य, संगीत, चित्र, नृत्य, अभिनय, वेशभूषा, इतिहास, भाषा आदि सभी शाखों के मूलभूत सिद्धांत का ज्ञान दिग्दर्शक को होना चाहिए। रंगमंच पर प्रस्तुत नाटक एक सामूहिक कला है। रंगमंच की अपनी भाषा होती है। मंचीय नाटक में नाटककार के शब्दों की भाषा से भी अधिक प्रभावशाली भाषा अभिनय की होती है। पाठ्य तथा श्राव्य काव्य की अपेक्षा मंचीय नाटक के लिये अधिक प्रयत्न, परिश्रम, बुद्धि, ज्ञान, सहयोग अपेक्षि है। जिस प्रकार जीवन में सुसंगति आवश्यक है, उसी प्रकार रंगमंच पर नाटक व्यवस्था तथा उसकी प्रस्तुति में सुसंगति आवश्यक है। रंगमंच पर जब नाटक खेला जाता है तब अभिनय करने वाले अभिनेता नाटककार के नाट्य लेखन का कथ्य अथवा भाव, मंचीय दृश्य, प्रकाश, संगीत, अभिनेता की रंगभूषा, वेशभूषा आदि मंचीय नाटक के सभी अंग एक-दूसरे में ऐसे गुंथे हुए होने चाहिए कि उन कलाओं का स्वतंत्र अस्तित्व न हो अपितु उनके उचित यथा संभव मिलाप से नाटयकला का निर्माण हो और उसका रसास्वादन सहृदय, संवेदनशील दर्शक समुदाय करें।

स्वर का उद्गम तथा विकास :

संगीत का आधार स्वर है। स्वर (नाद) तथा लय के पहियों पर संगीत रूपी रथ गतिमान होता है। दोनों घटकों में प्रथम अधिक महत्वपूर्ण हैं। स्वर के बिना संगीत का अस्तित्व नहीं है जबकि ताल के बिना लय हीन गायन तथा वादन ही किया जा सकता है अतः स्वर संगीत की आत्मा है। संगीत का उद्गम, स्वर के उद्गम से ही आरम्भ होता है।

स्वरों का उद्गम - विश्व के प्रायः सभी क्षेत्रों में प्राचीन संगीत को धार्मिक तथा पौराणिक व्यक्तियों से सम्बन्धित किया जाता रहा है। भारतीय संगीत भी इसका अपवाद नहीं है। संगीत और कला की देवी सरस्वती हैं। ऐसा कहा जाता है कि शिव के डमरू से जो चौदह सूत्र उत्पन्न हुए, उनमें से चार स्वरों के रूप में थे तथा शेष ताल के।

स्वरों के उद्गम का एक अन्य सिद्धांत भी है, प्रकृति परिवेश में स्वरों के उद्गम का सिद्धांत। निसर्ग प्रदत्त पार्श्व भूमि से मनुष्य ने अनेकानेक विशेषताएँ तथा गुण ग्रहण किए हैं। अनके कलाओं का विकास मात्र प्रकृति का अनुकरण है। ठीक वैसे ही जैसे विभिन्न पशु-पक्षियों की कण्ठ ध्वनि से स्वरों को भी ग्रहण किया गया होगा। मतंग कृत बृहद्देशी में कोहल को उद्धृत करते हुए कहा गया है-

षडजं मयूरो वदति चातको ऋषभं तथा।
अजौ विरौति गान्धारं क्रौन्चः क्वणति मध्यमम्॥

पुष्प् साधारणे काले पिकः कूजति पंचमम्।
अश्वश्च धैवतं चैव निषादं च गजस्तथा॥

अर्थात मयूर षड़ज बोलता है, चातक ऋषभ बोलता है, बकरी गान्धार का नाद निकालती है, चकोर मध्यम में पुकाबरता है, बसन्त में कोकिला पंचम में कुहुकती है, अश्व धैवत स्वर में हिनहिनाता है और गज निषाद स्वर निकालता है।

गीत का प्रयोग :

नाटक में गीत का प्रयोग संगीत के साथ-साथ आता है और इसलिए नाटककार का यह धर्म है कि वह गीत का निर्माण करते समय इस बात का ध्यान रखें कि कितनी मात्रा में, किस लय में, किस राग और काल में उसे वांधा जाये। इसके लिए संगीतशास्त्र का इतना ज्ञान आवश्यक है कि किस समय, किस अवस्था में, किस भाव के अनुसार, किस राग और ताल में गीत हो। आजकल पृष्ठ-संगीत द्वारा भी नाटकीय प्रभाव उत्पन्न करने का आयोजन किया जाता है। इसलिए नाटककार को यह भी जानना चाहिए कि किस समय कौन से वाद्य द्वारा किस गीत से, किस राग से, कितने समय में पृष्ठ-संगीत का प्रयोग करना उपयुक्त है।

गीत का प्रयोग करते समय रस, भाव और गति का ध्यान रखना चाहिए, साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि श्रृंगार और करूण में मन्द्र तथा मध्य लय में गीत गाये जाये वीर रौद्र तथा अद्भुत में तीव्र लय में तथा भयानक और वीभत्स में गीत का प्रयोग नहीं होना चाहिए हास्य में आवश्यकता के अनुसार सब लयों का प्रयोग किया जा सकता है।

गीत के रूप और प्रयोग :

गीत का प्रयोग नाटक में कई प्रकार से किया जा सकता है।

- अकेला व्यक्ति बिना वाद्य से गाता हो।
- अकेला व्यक्ति वाद्य के साथ गाता हो।
- अकेला व्यक्ति बारी-बारी से गाता और बजाता हो।
- अकेला व्यक्ति नृत्य (भाव-प्रदर्शन) और नृत्त (ताल-लय) तथा वाद्य के साथ गाता हो।
- एक व्यक्ति दूसरे के नृत्य के साथ गाता हो।
- दो या अधिक व्यक्ति एक साथ मिलकर गाते हों।
- दो या अधिक संवादात्मक गीत अर्थात ऐसा गीत गाते हों जिसमें एक कड़ी एक कहता हो, दूसरी कड़ी दूसरा।
- गाने वाले के दो दल बारी-बारी से एक ही पंक्ति गाते हों।

- संगीत की शिक्षा देते समय गुरू सिखाता हो और शिष्य शिक्षा के अनुसार गातें हों।
- लोकगीत-जिसमें स्त्रियां अथवा पुरूष विशेष अवसर के उपयुक्त ढोल, मंजीरा आदि कोई वाद्य लेकर विशेष योजना और उपचार के साथ नाचते या गते हो।
- नृत्य-गीत, जैसे गुजरात में गरबा नृत्य।
- श्रम-गीत, जैसे पुरवट चलाने, चक्की पीसने या सड़क कूटने के समय पुरूष और स्त्री थकान मिटाने के लिये श्रम गीत गाते है।
- पर्वोत्सव गीत-विवाह तथा धार्मिक पर्व आदि उत्सवों पर गाये जाने वाले गीत।
- स्तोत्र गीत- विशेष देवताओं को प्रसन्न करने के लिय विशेष अवसरों पर जा गीत गाये जाते हैं, जैसे- देवी गीत।
- ऋतु गीत- जैसे सावन में हिड़ौला या कजली और चैत में चैती आदि।
- भिक्षा गीत- भिक्षा गीत का प्रयोग भिक्षु लोग करत हैं। यह भी सवाद्य और अवाद्य दोनों प्रकार का होता है।
- कथागीत- जैसे आल्हा।
- कोलाहाल गीत- जिसमें बहुत से लोग मेले आदि के दृश्य में एक साथ गाते-नाचते दिखाये गये है।
- विवाह गीत सियापा- जो किसी के निधन पर विशेष राग में उसके गुण-कीर्तन के साथ छाती पीटकर रोते हुये गाये जाते है। पंजाब के खत्रियों में सियापा गाने वाली स्त्रियों का एक शिक्षित गण्डल ही रहता है।
- अभियान गीत- जो सेना की संचरण गति के अनुसार गाया जाता है।
- युद्ध में योद्धाओं को उत्साह देने के लिय गीत।

इसके अतिरिक्त कुछ विशेष अवस्थाएं है जिसमें गीत का प्रयोग होता है। जैसे- सभा गीत, किसी मंगलोत्सव पर किसी अच्छे गवैये या गायिका को बुलाकर गीत का आयोजन करना। इसी प्रकार गोष्ठी गीत भी है। जिसमें कुछ मित्र मिलकर अपने मनोरंजन के लिये किसी का गीत स्वयं गाते या सुनते है। इन्ही के साथ आजकल स्नान-घर संगीत तथा स्वेच्छा से राग अलापना या गुनगुनाना भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से संगीत की अवस्थाओं में गिना जाने लगा है और इसका प्रयोग भी नाटकों मं यथा-स्थान किया जाने लगा है।

2. निर्देशिक के अनुसार संगीत प्रयोग :

नाटक में संगीत का प्रयोग संगीत निर्देशक अपने अनुभवों के आधार पर करता है। कथावस्तु के अनुरूप जहाँ-जहाँ संगीत का प्रयोग आपेक्षित होता है, वहीं संगीत का प्रयोग किया जाता है। प्राचीन काल में (संस्कृत नाटकों में) पूर्वरंग का विधान था, जिसमें संगीत का प्रयोग नियमों के अनुकूल करने की प्रथा थी, परन्तु वर्तमान युग ऐसा नहीं है। आधुनिक युग में रगंमंचीय प्रस्तुतीकरण के लिए नाटक की रचना एवं मंचन की अनुदृष्टि में संगीत प्रभाव को लोकरंग के एक तत्व रूप में स्वीकार किया गया है। संगीत का प्रयोग नाटक में कहाँ-कहाँ, कब-कब, किस-किस रूप में करना चाहिए, इसके लिए भिन्न-भिन्न मत दिये गये है। यथा-

डॉ0 विश्वनाथ ने- रिक्तापूर्ति, अलंकरण, भवोउद्दीपन, कथा विकास, कार्यव्यापर के लिये संगीत का प्रयोग बताया।

ओम प्रकाश चौरसिया ने नाटक में प्रयुक्त संगीत की विभिन्न नामों के माध्यम से व्याख्या की है जैसे-

डेकोरेटिव म्यूजिक इस प्रकार के संगीत का प्रयोग चौरसिया ने सौन्दर्य हेतु किया है, जैसे- एक तरफ से राजा आ रहा है तो चुपचाप आ सकता ह। रपददददरेरे की आवाज का आना फिर धम धम धम धम की व्याख्या आवाज का आना। जिसकी व्याख्या करते हुए चौरसिया ने इस डेकोरेटिव म्यूजिक कहा। उपरोक्त वर्णन में र प द द द द रे रे ध्वनि है, जबकि धम धम धम म्यूजिक है। सौन्दर्य अर्थात् डेकोरेशन

के लिए प्रयुक्त हुआ संगीत डेकोरेटिव संगीत कहा जा सकता है।

लिंक म्यूजिक - एक सीन को दूसरे सीन के साथ जोड़ने के लिए दिया गया म्यूजिक लिंक म्यूजिक है। चौरसिया ने इसकी आवश्यकता बताते हुए कहा कि दृश्य परिवर्तन तथा मंचीय व्यवस्था बदलने के लिए समय चाहिए, अभिनेता को तैयार होने के लिए समय चाहिए। इस समय के अन्तराल को भरने के लिए लिंक म्यूजिक चाहिए।

नरेटिव म्यूजिक - इसका उदाहरण देते हुए चौरसिया कहते हैं- ''सुनो-सुनो, ए दुनिया वालो! बपू जी की अमर कहानी'' नरेटिव म्यूजिक अर्थात् जिसमें संगीत के माध्यम से व्याख्या (जारकारी) दी गई है।

मूड म्यजिक - मूड म्यूजिक का उदाहरण देते हुए चौरसिया कहते हैं कि शास्त्रीय संगीत का आधार मूड म्यूजिक है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो कथानक के अनुरूप भाव पर आश्रित म्यूजिक मूड म्यूजिक कहा जाएगा।

क्रिएटिव म्यूजिक - थियेटर के संगीत को क्रिएटिव कहकर व्याख्या करते हुए चौरसिया कहते है कि असल में आज हम थियेटर में जो बात करना चाहते है, वो है क्रिएटिव म्यूजिक। ओमप्रकाश चौरसिया ने नाटक में प्रयुक्त संगीत को भिन्न-भिन्न व्याख्यों के आधार पर भिन्न-भिन्न परिभाषाओं के अन्तर्गत वर्गीकृत किया है।

वाद्य संगीत - नाटक में वाद्ययंत्रों का प्रयोग दो रूपों में किया जाता है।

अ) संगति के लिए वाद्यों का प्रयोग- वाद्ययंत्रों का प्रयोग नाटक में कंठसंगीत (गीत) की संगत एवं अभिलेख के संवादों की संगत के साथ किया जाता है। उदाहरण के लिए-अभिनेता के संवादों के साथ-साथ सितार के स्वरों का बजना अथवा गीत के साथ वाद्यों द्वारा संगत करना।

ब) स्वतंत्र रूप से वाद्यों का प्रयोग- नाटक में भावोउद्दीपन, रिक्तता पूर्ति इत्यादि के लिए वाद्ययंत्रों की ध्वनियों का ही प्रयोग किया जाता है।

डॉ॰ अरूण मिश्र ने कण्ठ संगीत व वाद्य संगीत को प्रभावित करने वाले कारकों की व्याख्या की है, जो इस प्रकार है-

1. आनुवांशिकता
2. परिवेश
3. ध्यान
4. रूचि
5. ध्यान व रूचि का सम्बन्ध
6. स्मृति
7. अनुकरण

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि नाटक के लिए संगीत अत्यधिक आवश्यक है, जिसे नाट्य संगीत, रंग संगीत या नाटक का संगीत इत्यादि नामों में पुकारा जाता है, परन्तु अधिकतर गुणीजन रंग-संगीत शब्द को ही उपयुक्त मानते हैं। नाटक में संगीत का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है, वह सम्पूर्णतः रंग और नाटकापेक्षी है।

विभिन्न वाद्य-यंत्रों का प्रयोग :

भारतीय नाटकों में गायन के साथ विभिन्न वाद्य-यंत्रों का प्रयोग भी आवश्यक माना गया है। वाद्य चार प्रकार के माने गये है- तत, अवनद्ध, सुषिर और घन। जिनको उदाहरण के रूप में क्रमशः वीणा, मृदंग वंशी और झाल के नाम दिये जा सकते हैं। इन वाद्य-यंत्रों के प्रयोग से गायन और नाट्य-प्रदर्शन का प्रदर्शन का प्रभाव बढ़ जाता है। गायक जिस ताल और लय का प्रयोग करता है, वादक उसी का अनुसरण करते हैं। इन दोनों के संयोग से नाट्य प्रदर्शन सम्मोहक हो जाता है। भरत ने इस सम्मोहन की अभिव्यक्ति के लिये यथावसर नृत्य के प्रयोग का भी परामर्श दिया है। संस्कृत के अनेक नाटकों में हम गायन-वादन के साथ नृत्य का भी समुचित प्रयोग देखते हैं।

नाट्याचार्यो ने चार वृत्ति अथवा प्रकृति के नाटकों की योजना की थी जिनमें से केवल कौशिकी वृत्ति के नाटक में ही गीत, वाद्य तथा नृत्य के अधिक प्रयोग पर बल दिया गया है। आरभटी वृत्ति के नाटकों में अधिकांशतः युद्ध र्प्रदर्शित किय जाते हैं इसलिये इसमें गीत योजना का निषेध होता है। रस या प्रभाव के अनुरूप गीत की शब्द-योजना करना और तदनुकूल राग या ताल का प्रयोग करना भी अनिवार्य है।

पश्चिम में नाट्य-कला का उद्भव यूनान के सम्मानित देवता डॉयोनिसस के समक्ष उपस्थित किये जाने वाले वृन्द-गान से माना जाता है। ईसा पूर्व छठी शताब्दी में थैस्पिस नाम के कवि ने वृन्दागान के गायक मण्डल के एक व्यक्ति को अलग कर उसे अभिनय का कार्य प्रदान कियाा था। गायक मण्डल तो कथा का गायन करता था और वह व्यक्ति एक के बाद दूसरे मुखौटे धारण कर पृथक्-पृथक् पात्रों की भूमिका ग्रहण करता था तथा अपनी आंगिक चेष्टाओं के द्वारा कथावस्तु को दृश्यात्मक रूप प्रदान करता था। सॉफोक्लीज के नाटकों के साथ यूनान की नाट्य परम्परा में गायक मण्डल का प्रवेश गीत आता है जिसमें वस्तु स्थिति का स्पष्टीकरण किया जाता है। अन्त में गायक मण्डल विदा-गी उपस्थित करता है। इस प्रकार यूनानी नाटकों में भी संगीत की परम्परा उपलब्ध होती है। गीताश्रित नाटकों जैसे नृत्य नाट्य (डान्स बैले ऑपेरा और मेलो-ड्रामा) में भी गीतों का प्रयोग किया जाता है।

संगत वाद्यों की भूमिका :

भारतीय रंगमंच में संगति एक ऐसा विषय है जिसके लिए कहा जा सकता है-हरि अनंत हरि कथा अनंता। संगीत कला में सौन्दर्यात्मक एवं भावनात्मक नाटकों में गुणों के कारण जन-मन को सहज ही अपनी ओर आकर्षित करते हुए रंजित करने की अपूर्व शक्ति विद्यमान है। इसी महान् शक्ति को पहचानते हुए मानव अति प्राचीनकाल से ही इस उत्कृष्ट ललित कला के विकास के लिए उत्सुक व प्रयासशील रहा है। अति प्राचीनकाल में जब मानव को स्वर के साथ-साथ लय का भी ज्ञान हुआ तथा उसने इनके प्रदर्शन हेतु नाटकों में जैसे किसी नाटक ममें खुशी का दृश्य दर्शानें के लिए वाद्य की संगत होती है इसी प्रकार रंगमंच में यदि कोई डरावना (भयानक) दृश्य दिखाना हो तो झांझ या ड्रम (वाद्य) कुछ प्रारम्भिक वाद्यों का अविष्कार किया, तभी उसने देखा कि गायन व नृत्य के साथ उन वाद्यों द्वारा सहयोग देने से उनमें विशेष आकर्षण उत्पन्न हो जाता है, किन्तु जब आदि मानव ने यह देखा कि गायन या नृत्य करते हुए उसके लिए एक से अधिक वाद्यों को स्वयं ही अपने साथ बजाना सुविधजनक नहीं, तो उसने इस कार्य के लिए अन्य व्यक्तियों की सहायता लेना आरम्भ कर दिया। बस यहीं से संगीत में गायन और नृत्य के साथ वाद्यों द्वारा संगत करने की परम्परा आरम्भ हुई, जिसने इस कला को और भी चित्ताकर्षक तथा प्रभावशाली बना दिया।

संगीत की व्यावहारिक भाषा में साधारणतः प्रयुक्त होने वाला 'संगत' शब्द, मूल रूप में संस्कृत भाषा के शब्द संगति का अपभ्रंश है, कभी-कभी यह शब्द अपने मूल व शुद्ध रूप में भी प्रयोग कर लिया जाता है। संगति का शाब्दिक अर्थ है अनुगमन, सहचर्य अथवा मिलन। संगीत के सन्दर्भ में 'संगत' का अभिप्राय गायन, वादन अथवा नृत्य को विभिन्न वाद्यों द्वारा सहयोग देने के अर्थ में लिया जाता है। भारतीय संगीत कोष में संगत की परिभाषा इस प्रकार दी गई है

''कंठ अथवा वाद्य संगीत के साथ वाद्य पर ताल और छनद निर्देशक वादन को संगत कहा जाता है। संगत का सर्वदा अनुगमन के अर्थ में व्यवहार होता है, अर्थात् वादक कंठ अथवा वाद्य संगीत का अनुगामी रहता है।''

किन्तु संगत की यह परिभाषा पूर्णरूपेण स्पष्ट व सार्थक नहीं मानी जा सकती क्योंकि-

1. **संगीत में संगत का व्यावहारिक प्रयोग गायन-**वादन के साथ केवल छनद-लय-ताल को प्रकट करने हेतु होने वाले अवनद्ध वाद्य के

प्रयोग के लिए ही नहीं किया जाता वरन् कतिपय परिस्थितियों में स्वर सहयोग हेतु तत-वित व सुषिर आदि वाद्यों के प्रयोग के लिए भी किया जाता है। इस संदभ्र में गायन-वादन के साथ स्वरित की निरन्तर गूँज के लिए होने वाला तानपूरे का प्रयोग विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

2. यह भी आवश्यक नहीं कि लय निर्देशन के लिए एक ही वाद्य का प्रयोग किया जाए। जैसा कि उपर्युक्त परिभाषा में संकेत मिलता है अपितु इस कार्य के लिए एक से अधिक वाद्य भी प्रयोग किए जाते हैं।

3. लय, ताल व छन्द को दर्शाने के लिए अवनद्ध वाद्यों का प्रयोग केवल गायन के साथ ही नहीं वरन् नृत्य के साथ भी होता है।

4. गायन व नृत्य के साथ लय-ताल व छनद आदि को प्रकट करने के लिए केवल अवनद्ध वाद्यों का प्रयोग नहीं होता, अपितु कुछ विशेष परिस्थितियों में झाँझ, मँजीरा व करताल आदि घनवाद्यों का भी प्रयोग होता है।

ऑक्सफोर्ड स्टूडेण्ट डिक्शनरी ऑफ फ्रण्ट इंगलिश में संगत के अंगेजी समानार्थाक शब्द। Accompaniment का अर्थ इस प्रकार दिया गया है- "Musoc usally instrumental part to go with voice choir or sole instrument."

"Accompaniment, in music is auxiliary part of parts of a composition designed to support the principle part or throw it into relief. In secular medieval music and in much folk and non-european music, instrumental accompaniment for singers consist of unison or octrave suplications of the melody (sometimes with slight differences creating hetero-phony, the simultaneous performance of varsions of the sime melody)

संगत मुख्य रूप से दो प्रकार मानी जाती है-

1. स्वर-वाद्यों पर की जाने वाली संगति।
2. तल-वाद्यों पर की जाने वाली संगति।

रंगमंच में स्वर-वाद्य का प्रयोग :

स्वर वाद्यों पर की जाने वाली संगति द्वारा मुख्य गायक कलाकार अथवा कलाकारों को स्वरात्मक सहयोग दिया जाता है। गायन तभी पूर्ण एवं भाव-पूर्ण हो पाता है जब उसे वाद्यों का आधार मिलता है। कोई गायक जब अपना गायन आरम्भ करने लगता है तो वह तानपूरा या स्वरमण्डल आदि वाद्य से आधार स्वरों की प्राप्ति करता है और उनके आधार पर ही षड़ज स्वर को लगाकर आलापचारी आरम्भ करता है। जब गायन की बन्दिश आरम्भ की जाती है तब ताल-प्रदर्शन के लिए तबला आदि अवनद्ध वाद्य का प्रयोग किया जाता, जिससे गायक लय एवं ताल बद्ध हो अपना गायन प्रस्तुत करता रहता है। शास्त्रीय और उपशास्त्रीय संगीत में सारंगी, वायलिन तथा हारमोनियम। सुगम संगीत, वृन्द गान, फिल्मी संगीत इत्यादि में इन स्वर-वाद्यों के अतिरिक्त सितार, सरोद, गिटार, मैन्डोलिन, संतूर, बाँसुरी, शहनाई, स्वरमण्डल, विद्युतीय तानपुरा, दिलरूबा इत्यादि स्वर-वाद्यों या उपकरणों का प्रयोग किया जाता है, जिनकी शास्त्रीय गायन को रस-भाव से परिपूर्ण कर प्रभावशाली बनाने में अति महत्वपूर्ण भूमिका होती है। गायक स्वर वाद्य या वाद्यों के संगति द्वारा अपनी गायकी या रचना को और भी संतोषजनक तथा उसे श्रेष्ठ से श्रेष्ठतम की सीमा की ओर अग्रसर करने का प्रयास करता है। ये समस्त वाद्य अपनी गुणवत्ता एवं उपयोगिता से समय एवं स्थान के अनुसार गायन की संगति करते है।

स्वर-वाद्यों का रस-भाव से सम्बन्ध :

प्रत्येक स्वर-वाद्य का किसी-न-किसी रस एवं भाव से सीधा सम्बन्ध होता है जिसे रंगमंच पर परिस्थितिनुसार प्रयोग किया जाता है।

जैसे-

वाद्य संज्ञा	सम्बन्धित रस
1. वीणा आदि	1. श्रृंगार, शांत, माधुर्य, भक्ति आदि।
2. सितार, सरोद आदि	2. श्रृंगार, शांत माधुर्य, भक्ति, करूण आदि।
3. सारंगी	3. करूण, श्रृंगार, भक्ति आदि।
4. शहनाई	4. करूण, शांत, भक्ति आदि रस तथा मांगलिक कार्यों की सूचक
5. शंख	5. भक्ति, शांत, धार्मिक क्रिया-कलापों का सूचक वीर, रौद्र आदि रस।
6. बाँसुरी	6. शांत, करूण, मधुर, भक्ति, श्रृंगार, वीर आदि
7. दिलरूबा	7. करूण, शांत, भक्ति आदि ।
8. वॉयलिन (बेला)	8. करूण, शांत, भक्ति, वीर, रौद्र आदि।

रंगमंच में ताल-वाद्य का प्रयोग :

पं॰ रामनारायण का कथन है कि ''लय की पकड़ ही सच्चे संगीत का आनन्द देती है।'' लय संगीत का अभिन्न अंग है, लय का अथाह महत्व सर्वसम्मत है। इस अभिन्न अंग को दर्शानें के लिए किसी-न-किसी लय-वाद्य पर संगत अनिवार्य होती है, जिसका सुखद परिणाम हम लोक संगीत से लेकर शास्त्रीय, उपशास्त्रीय संगीत, सुगम संगीत व चित्रपट संगती आदि मे देख सकते हैं। लोकसंगीत, भजन चित्रपट संगीत आदि विधाओं में तो प्रायः यहाँ तक देखा जाता है कि 'ढोलक, झाँझ, मँजीरा व करताल आदि की उत्तम संगत से उत्पन्न उल्लास से प्रेरित होकर जन-साधारण भी उसी लय में झूमने व ताली बजाने को विवश हो जाता है।' ध्वनि चाहे कण्ठ की हो अथवा वाद्य की शुद्ध कलात्मक रूप में तभी प्रयोग की जा सकती है, जब उसे लय की संगत भी मिले।

लय-वाद्य दो प्रकार के होते है, एक अवनद्ध वाद्य, जिससे ताल का निर्देशन तथा दूसरा घनवाद्य जिससे प्रयुक्त ताल की तय का निर्देशन होता है। गायक गाते समय अपने कण्ठ से एक तो स्वर अर्थात् सा रे ग म प ध नि या आ ई ऊ ए ओ स्वरों को गाता है। दूसरा व्यंजन को भी गाता है, जैसे- क च ट प त य जिससे शब्द या बोल बनते हैं। इन शब्दों में विभिन्न लय होती है। गायक जब गाता है, जो उसके कण्ठ से निकलने वाले स्वर सा रे ग म प ध नि की संगत स्वर वाद्य करते है और व्यंजन की संगत अवनद्ध वाद्य करते हैं जैसे गायक ने कहा 'बालम ओ' तो तबला वादक भी इसी वनज के बोल जैसे- धा तिट धा से उसका साथ दिया। गायक के व्यंजनों की संगत के अतिरिक्त अवनद्ध वाद्य एक तरह से गायक के विभिन्न अवयवों की भी यथोचित संगत अपने वाद्य के बोलों द्वारा करते है, जिससे श्रोताओं को भी आनंदानुभूति होती है घन वाद्य मँजीरा, झाँझ आदि। इनका काम ताल को दिखाते रहना होता है। ''प्राचीन आचार्य तो यह मानते थे कि माने वाले के साथ घनवाद्य होना ही चाहिए, जिससे कि लय में प्रमाद न हो जाए।''

निष्कर्ष :

रंगमंच पर प्रस्तुत नाटक एक सामूहिक कला है और नाटक में संगीत का होना बहुत जरूरी है। संगीत का आधार स्वर है। स्वर (नाद) तथा लय के

पहियों पर संगीत रूपी रथ गतिमान होता है। स्वर के बिना संगीत का अस्तित्व नहीं है जबकि ताल के बिना लय हीन गायन तथा वादन किया जा सकता है अतः स्वर संगीत की आत्मा है। संगीत का उद्गम, स्वर के उद्गम से ही आरम्भ होता है। नाटकों में जिस तरह गीत, राग और रस का महत्वपूर्ण स्थान है उसी तरह वाद्यों यंत्रों का और उसकी संगत का भी उतना ही महत्व है। माश्रतीय रंगमंच में संगति एक ऐसा विषय है जिसके लिए कहा जा सकता है-हरि अनंत हरि कथा अनंता। इसके अलावा रंगमंच में नृत्य का भी उल्लेख है। नृत्य का भी उतना ही महत्व है जितना गायन व वादन का। मालविकाग्निमित्रम् में नायिका मालविका को नाट्य की शिक्षा दी जाने का प्रसंग आया है। उसके शिक्षक उसे अभिनय सिखाते है। इसलिए उनका उल्लेख 'नाट्याचार्य' और 'अभिनयाचार्य' के रूप में हुआ है। आचार्य भरत मुनि ने भी नाट्यशास्त्र में स्पष्ट किया है कि योग, कर्म , सारे शास्त्र संपूर्ण शिल्प तथा विविध कार्यों में ऐसा कोई कार्य नहीं, जो नाटक में न पाया जाता हो। उनके अनुसार नाटक-पाठ्य (संवाद) गीत, अभिनय (क्रियाकलाप) और रस की अभिव्यंजना है।

लोगों का संस्कृति आदि भेदों के बाजूद भारतीय रंगमंच में संगीत को अपनाना और प्रस्तुत करना एवं भारतीयता को जीना भारतीय रंगमंच में संगीत के अंतर्राष्ट्रीय वर्चस्व का परिचायक है। भारतीय रंगमंच में संगीत अनेक देशों में अपना भाव और प्रभाव दिखाता हुआ अपनी शाश्वत् व दिव्य अवस्था का दिग्दर्शन कराता है। भारतीय रंगमंच के अनेक नाट्यकारों एवं संगीतकारों जिसमें ब.व. कारत, मोहन उप्रेती, हबीव तरवीर, लोकेन्द्र त्रिवेदी, रत्ना पणिक्कर, भीष्म साहनी, एम.के.रैला आदि अनेक नाट्यकारों का योगदान है जिनके नाटक विश्वविख्यात हैं। इनके नाटकों से आज की युवा पीढ़ी प्रेरणा ले रही है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि भारतीय रंगमंच में प्रभावात्मकता, व्यापकता एवं प्रसार की दृष्टि से संगीत का प्रयोग हमेशा से ही होता आ रहा है और हमेशा से ही रंगमंच दर्शकों को मनोरंजन का साधन रहा है। उसका सम्बन्ध सम्पूर्ण भारतीय से प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से रहा है। भारतीय रंगमंच में संगीत के द्वारा भावों की अभिव्यक्ति का सरल माध्यम व साधन है। अतः भारतीय रंगमंच में संगीत का विविधात्मक प्रयोग हमेशा से ही होता रहा है और आगे भी होता रहेगा।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :

1. लाल, डॉ0 लक्ष्मीनारायण (1965), ''रंगमंच और नाटक की भूमिका,'' नेशनल पब्लिसिंग आउस।
2. छायानट, ''नाट्यशास्त्र''।
3. मोहन, डॉ0 नरेन्द्र (2009), ''समकालीन हिन्दी नाटक और रंगमंच'', वाणी प्रकाशन नई दिल्ली।
4. डॉ0 जयदेव, तनेज (2002) ''रंगकर्म और मीडिया'', तक्षशिला प्रकाशन।
5. छायानट अंक 69 अप्रैल से जून 1994 त्रैमासिक।
6. भारद्वाज, डॉ0 मदन मोहन (2001) ''भारतीय नाट्य परम्परा और रंगभूमि'', नेशनल पब्लिसिंग हाउस।
7. संगीत पत्रिका, जुलाई 1959, प्रतीक दर्शन के अनुसार संगीत में महत्ता।
8. संगीत पत्रिका मार्च 1967, संगीत चर्चा, आचार्य बृहस्पति।
9. परांजपे (1985) ''भारतीय संगीत का इतिहास'', चौखम्भा प्रकाशन।
10. चतुर्वेदी, सीताराम (1987) ''भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच'', हिन्दी समिति सूचना विभाग लखनऊ)

Harmonizing Tradition and Modernity : The Role of Traditional Music and Traditional Theatre in Shaping Modern Indian Theatre

Gaurav
Research Scholar (Theatre)
School of Liberal & Creative Arts,
Department of Performing Arts (Theatre),
Lovely Professional University, Punjab

Introduction :

Music is deeply rooted in the cultures of societies worldwide and plays a pivotal role in their socio-cultural evolution and development. Sacred rituals, mystical performances, ceremonial events, and festive celebrations are historically considered precursors to theatrical presentations. Within the context of theatrical performances, the elements of music have consistently played a defining and complementary role in conveying emotional nuances. This significance extends across a spectrum of Indian theatrical genres, encompassing ritualistic and classical forms, as well as folk traditions and refined traditional dramas. Music serves as a vital means to enhance the aesthetic dimensions of all Indian theatrical genres.

Colonial Footprints : A Search For Indianness :

To comprehend contemporary Indian theatre, one must delve into its historical evolution, which encompasses the emergence of modern drama in the late eighteenth century, followed by the nationalist theatrical movement in the first half of the twentieth century, and the developments in post-independence theatre since 1947. In its initial phase during the early 19th century, Indian performance culture underwent significant transformations, primarily influenced by colonialism. Girish Karnad's insights into the influences on modern Indian theatre and its emergence are significant. He asserts that during the 19th century, particularly in cities like Bombay and Calcutta, which were products of British maritime trade, modern Indian theatre began to take shape. The colonial State, along with the transformation of its administrative sectors, facilitated the rise of a middle class, thereby reshaping the very essence of performance culture. This transformation was primarily driven by two key factors: British Education and Influence of English Theatre. As a result of their exposure to British culture and education, the urban elite sought entertainment that mirrored English theatre. This influence led to the adoption of certain features from Western theatre to create a distinct form of Indian theatre.

The key features borrowed from western theatre are Distinctiveness; the new theatre sought to set itself apart entirely from the traditional forms of Indian performance that preceded it and Modernity; to qualify as "modern," the theatre embraced innovative techniques, themes, and narratives that reflected the changing times and sensibilities of the urban audience. This amalgamation of Western influences with Indian contexts and sensibilities marked the birth of modern Indian theatre, which would go on to become a vibrant and influential cultural force in the country's post-independence history. "During the 1960's the central question facing every serious playwright was how to draw on these various strands in the traditional theatre, some of which had lost contact with urban civilization during the course of the last 200 years and many of which seemed deeply rooted in religious sensibility, so as to revitalise our own work" (Karnad, 1989, p.345). Girish Karnad's observations shed light on the historical and cultural forces that shaped the transformation in Indian theatre. The history of post-independence Indian theatre is intricately interwoven with the socio-cultural and political endeavours of nation-building. "The major concern of the Indian theatre in the post-independence period has been to try to define its 'Indianness' and to relate itself to the past from which it was cut off" (Karnad, 1989, p.348). Following India's independence in 1947, the theatre underwent a transformative phase as it engaged with the issues and aspirations of the newly formed nation. This era saw the emergence of innovative theatrical forms and vocabularies driven by socio-political and cultural dynamics, fulfilling the aspirations of the contemporary generation in alignment with the objectives of the modern nation-state.

Cultural Reawakening : The Theatre of Roots :

Suresh Awasthi coined the term 'Theatre of Roots' to describe an unconventional form of theatre that has emerged in India through the interaction of modern theatre with traditional elements. The Theatre of Roots is deeply ingrained in the rich fabric of regional theatrical cultures. Its inception was motivated by a profound exploration of indigenous traditions and a quest for identity, often referred to as 'Indianness.' This movement can be viewed as a deliberate process aimed at decolonizing our creative forms and cultural expressions. "Stylization is the essence of the theatre of roots. After breaking away from the realistic mode in its search for roots, the new theatre embraced stylization- the hallmark of Indian traditional theatre for centuries. The theatre of the roots developed its aesthetics by using informal performance spaces, providing a new perception of the performance, and evolving a whole new scheme of stylization covering various aspects and elements of performance" (Awasthi & Schechner, 1989, p.51). The Theatre of Roots emerged as a contrasting paradigm to the Western-style realistic theatre. The genre known as the 'Theatre of Roots' emerges in post-colonial contexts, where playwrights undertake a deliberate exploration of their cultural heritage, embarking on a quest to re-establish national identity. This artistic endeavour served as a form of protest. "Theatre of roots uses music, chants, verbal sounds and rhythmic syllables (bols) to multiply the staging signs and maximise their impact" (Awasthi & Schechner, 1989,

p.51).The return to one's roots is manifested through a nostalgic embrace of the historically documented past, drawing upon the intricate fabric of Indian civilization, reimagining myths, racial narratives, legends, ancient literary sources, local performing arts techniques, indigenous aesthetic principles and structural elements.

Substantial attempts have been undertaken to familiarise urban audiences with rich forms of traditional theatres. This rediscovery of traditional theatre has highlighted the palpable rural-urban cultural dichotomy, where urban theatre has been notably influenced by Western theatrical traditions and the quest for a distinct 'Indianness' within theatre became a prevailing cultural pursuit. Playwrights and directors have actively incorporated folk conventions into their creative works, contributing to the amalgamation of traditional and contemporary elements within the Indian theatrical landscape. In his 1964 play 'Sari Ga Sari', Vijay Tendulkar efficiently harnessed the essence of the tamasha art form. Within the play, Tendulkar incorporated traditional elements like the 'gan' (invocation of Lord Ganapati) and 'powada' (a specific song form), thereby infusing his work with the rich cultural heritage of the genre. Vijay Tendulkar's iconic play 'Ghasiram Kotwal' is known for its innovative and distinctive use of Indian traditional theatre elements. One notable aspect of the play is the inclusion of ten singers who serve as a unique human curtain. This creative theatrical device adds a layer of traditional and symbolic richness to the production. Such creative techniques are characteristic of Tendulkar's ability to blend traditional elements with contemporary narratives to create impactful and thought-provoking theatre. Girish Karnad, in his play 'Hayavadana', originally penned in Kannada during the 1970s, ingeniously incorporated various elements and conventions of 'Yakshagana'. This included the introduction of a 'Bhagavata' or narrator who serves the role of guiding the audience through the unfolding narrative, exemplifying Karnad's commitment to preserving and celebrating traditional theatrical forms within contemporary contexts. In 1968, Shanta Gandhi introduced her production 'Jasma Odan', which drew its inspiration from the Gujarat Bhavai style. In the wake of these successful endeavours that seamlessly fused traditional theatre elements with urban theatrical productions, an increasing number of playwrights and directors began to delve deeper into these influences.

Visionaries of Modern Indian Theatre :

Prominent theatre directors and playwrights such as B.V. Karanth, K.N. Panikkar, Ratan Thiyam, Girish Karnad and Habib Tanvir have played a pivotal role in reimagining different traditions of Indian Theatre. Their works have not only offered fresh perspectives on India's cultural heritage but have also posed a challenge to the prevailing colonial-influenced contemporary theatre. Habib Tanvir's repertoire, including notable productions like 'Agra Bazaar', 'Chandras Chor' and 'Indra Sabha' prominently embraced traditional influences, strategically incorporating songs, poems and dance to enrich the overall theatrical experience. In the mid-1950s, the renowned theatre director Habib Tanvir embarked on a significant departure from realistic theatre, embarking on a quest to reconnect with the cultural roots. Through two

notable productions - 'Mitti ki Gadi' (1954), a captivating operatic adaptation of the Sanskrit classic 'Mrichchhakatikam' and 'Agra Bazar' (1954), an unconventional play he crafted around the life and poetic contributions of the eminent 19th-century Urdu poet Nazir of Agra. Tanvir reintroduced the elements of music and poetry into the theatrical realm. This production featured a diverse array of musical performances, ranging from the refined Persianized Urdu ghazals to the Hindustani stanzas penned by Nazir, thereby showcasing the rich and multi-faceted musical aspects of the play. Notably, Habib Tanvir continued to collaborate with a talented troupe of folk performers, skillfully synthesising elements of folk and modern theatrical traditions.

Girish Karnad is considered one of the pioneering playwrights of the first generation that emerged in India after gaining independence from British colonial rule. His works, which often blend traditional Indian themes and storytelling with contemporary issues, have made a significant impact on Indian theatre and literature. "Every theatre is rooted in the culture of its own language, so there are as many theatre situations as there are languages. India has oral traditions, riddles, proverbs, songs, ballads, tales and epics in more than 3000 mother tongues" (Karnad, 1989, p.332). Girish Karnad's play 'Hayavadana' drawing inspiration from the rich tradition of Yakshagana in Karnataka, commences with the prayer 'Jai Gajavadana', which translates to 'Victory to Ganesha'. The groundbreaking and improvisational production of this play in 1972, orchestrated by the visionary B.V. Karanth, integrated elements of music, mime, and expressive movements. This production marked the triumphant resurgence of Lord Ganesha, the revered deity of traditional theatre. In many ways, this event symbolised the commencement of contemporary theatre's profound engagement with its traditional roots.

B. V. Karanth demonstrated a remarkable adaptability by drawing upon a wide array of source materials, encompassing both movement and musical modes, in his theatrical endeavours. One significant source of inspiration and influence on Karanth's work was his early exposure to Yakshagana, a traditional form of theatre in Karnataka, India. He incorporated elements from Yakshagana, such as its distinctive movements and musical styles, into his own creative repertoire. This synthesis of influences resulted in a unique and compelling theatrical language that distinguished Karanth's work and made it a valuable contribution to India's theatrical landscape. In his directorial endeavours, he demonstrated his versatility by presenting Shakespeare's 'Macbeth' in Hindi, incorporating the traditional Yakshagana dance drama form into the production. Karanth played a pivotal role in igniting the new theatre movement in Madhya Pradesh. In the 1980s, he went to Madhya Pradesh to establish the Rangmandal repertory within the Bharat Bhavan, a pioneering initiative as it was the first-ever repertory in the state. One of the pioneering aspects of Rangmandal was its introduction of folk professionals for the training of contemporary actors, a groundbreaking step in bridging the gap between folk and contemporary theatre. This integration allowed for the cross-pollination of skills and artistic sensibilities, enriching the performances produced by

Rangmandal. Notably, Rangmandal's repertoire extended beyond Hindi to encompass various regional dialects such as Bundelkhandi, Malavi, and Chhattisgarhi.

Kavalan Narayan Panikkar in Kerala and Ratan Thiyam in Manipur are notable for their pioneering efforts in staging Sanskrit plays with actors who have received specialised training in their respective traditional arts. "To create visual images Panikkar uses movement patterns from Kuttiyatam, Kathakali, and the Kerala martial art Kalarippyattu" (Awasthi & Schechner, 1989, p.56). These endeavours have yielded remarkable and impressive results in the realm of Indian theatre. By drawing upon the rich heritage of traditional arts in their regions and blending them with the classical Sanskrit dramatic tradition, these theatre practitioners have contributed significantly to the preservation and revitalization of India's cultural heritage. Their productions have been celebrated for their authenticity, artistic excellence, and the seamless fusion of traditional and classical elements. In the productions such as Ratan Thiyam's 'Chakravyuha' and 'Urubhangam', K. N. Panikkar's 'Madhyama Vyayoga' and 'Karna-Bhar', and B.V. Karanth's 'Barnam Ban' (Hindi adaptation of Macbeth) and 'Malavikagnimitram'; a noteworthy aspect is the emergence of theatrical forms that do not exhibit oppressive characteristics. Instead, these forms are characterised by their inherent ability to harmonise with the content of the performance, effectively illuminating the dramatic texts they bring to life. These directors have drawn upon the principles and aesthetics outlined in Natyasastra to infuse their productions with authenticity and traditional elements. By incorporating elements from Natyasastra and Sanskrit theatre, these directors have been able to create productions that resonate deeply with the classical traditions while also offering innovative interpretations. Their work reflects a harmonious blend of traditional wisdom and contemporary artistic expression, resulting in theatre experiences that are both culturally rooted and artistically enlightening.

Awasthi highlights that music has also become integral to the actor's gait, movements, and physical acting. It accentuates actors' entrances and exits, highlights their gestures, and provides a frame for visual images. Panikkar's actors, in his adaptations of Sanskrit plays, make entrances characterised by meticulously stylized gaits, synchronised to a specific tala (rhythmic pattern). This same tala is then taken up and echoed by percussion instruments like the mridangam and chenda drums. It's noteworthy that all these directors incorporate a variety of drums into their productions. Drums hold a significant place in theatrical traditions across the country, both in operatic folk performances and in highly developed, codified forms. In many traditional forms, such as Ankia Nat or Purulia Chau, elaborate drumming rituals and performances are integral parts of the preliminary aspects of a theatrical presentation. In certain productions, such as Thiyam's 'Chakravyuh' music takes on the role of an autonomous text with its unique semantic universe. Musicians employ a diverse array of instruments, often unconventional ones, along with chants and intricate swara (note) and tala (rhythmic) patterns. These musical elements seamlessly interweave with the performance text to create a comprehensive and immersive theatrical experience. In his productions, Thiyam

demonstrates a remarkable versatility in incorporating elements from a wide spectrum of performance forms. These include minor oral traditions of recitation and storytelling, the martial art form of Thangta, ceremonial and ritualistic performances, and the intricate and multifaceted practices of nata sankirtana. Nata sankirtana, for instance, involves a combination of recitation, chant, drumming, cymbal playing, and intricate movement patterns. Thiyam's meticulous attention extends to the actors' entrances and exits, which are marked by highly stylized gaits and a keen sense of rhythm. He leverages a diverse array of instruments such as drums, gongs, bells, conch shells, along with recitation and chant, to create a highly expressive acoustic channel of communication within his theatrical productions.

The role and significance of music in Karanth's productions, as well as in those of Panikkar and Thiyam, deviate entirely from conventional theatre practices. In their innovative approach, music transcends its traditional role and takes on the persona of a distinct theatrical language. It becomes an independent channel of communication, working in collaboration with the dramatic text and choreographed movement patterns to convey meaning and emotion. A number of theatre directors have developed their own unique methodologies by incorporating warm-up exercises and movement patterns derived from various regional systems, such as martial arts, gymnasium techniques, acrobatics, as well as theatrical forms, ritual performances, and traditional oral recitations and chants. These training methods have been instrumental in honing the skills of actors in the domains of body control, vocal modulation, and speech articulation. By integrating these multifaceted techniques, contemporary theatre not only pays homage to its historical origins but also establishes a dynamic connection with the broader spectrum of traditional performance arts, thereby enriching the overall theatrical experience.

References :

1. Awasthi, S. & Schechner, R. (1989). Theater of Roots: Encounter with Tradition. The Drama Review. Vol.33, No.4. pp. 48-69.
2. Hansen, K. (1983). Indian Folk Traditions and The Modern Theatre. Asian Folklore Studies. Vol.42, No.1. pp. 77-89
3. Karnad, G. (1989). Theatre in India. Daedalus. Vol.118, No.4. pp. 330-352

21वीं शताब्दी के प्रचलित पंजाबी गीतो का संगीतात्मक एवं विषय पक्ष का अध्ययन (पंजाबी रंगमंच के विशेष संदर्भ में)

राहुल
शोधार्थी (संगीत विभाग)
गुरुनानक देव विश्वविद्यालय, अमृतसर, पंजाब

डॉ॰ राजेश शर्मा
सहायक आचार्य (संगीत विभाग)
गुरुनानक देव विश्वविद्यालय, अमृतसर, पंजाब

भारत अपनी अविश्वसनीय विविधता के लिए दुनिया भर में प्रसिद्ध है। एक राष्ट्र के रूप में, यह उन अनेक समुदायों, संप्रदायों और धर्मों के लिए एक प्रमाण के रूप में खड़ा है जो सह-अस्तित्व में हैं. प्रत्येक अपनी अनूठी विविधताएं लाता है और वैश्विक मंच पर देश की विशिष्ट पहचान में योगदान देता है। भारत कई राज्यों से बना है, प्रत्येक की अपनी विशिष्ट संस्कृति, पोशाक, भोजन और भाषा है, जो श्विविधता में एकताश् का सार प्रदर्शित करती है।

भारत में सबसे प्रतिष्ठित राज्यों में से एक पंजाब है, जो अपनी समृद्ध संस्कृति, पारंपरिक पोशाक, विशिष्ट बोली और अनूठी पाक परंपराओं के लिए मनाया जाता है। इन्हें न केवल भारत की सीमाओं के भीतर संजोया जाता है, बल्कि दुनिया भर में एक विशिष्ट स्थान भी रखा जाता है, जिससे पंजाब को अंतरराष्ट्रीय स्तर पर एक प्रतिष्ठित स्थान मिलता है।

पंजाबी संस्कृति, विशेषकर इसका संगीत, विश्व स्तर पर लोकप्रिय है। ऐसा कोई देश नहीं है जहां पंजाबी गाने अनसुने हों। आज के पंजाबी संगीत और उसकी पारंपरिक जड़ों में स्पष्ट अंतर होने के बावजूद, यह पंजाबी गानों को अंतरराष्ट्रीय स्तर पर ख्याति दिला रहा है। पंजाबी गाने इतने प्रभावशाली हैं कि उन्हें भारतीय संगीत परिदृश्य में नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है। उन्हें आम तौर पर बॉलीवुड फिल्मों में दिखाया जाता है, जिसमें हर दूसरी फिल्म में पंजाबी ट्रैक या पंजाबी गायक अपनी आवाज देते हैं।

ये पंजाबी ट्रैक न केवल मनोरंजन का साधन हैं; वे सांस्कृतिक परिवर्तन और प्रभाव को भी प्रतिबिंबित करते हैं। आज के युवाए साथ ही सभी उम्र के लोग जो पंजाबी संगीत वीडियो सुनते या देखते हैं, वे बीट्स, विकसित होते वाद्ययंत्रों और अमिट छाप छोड़ने वाले नवोन्वेषी गीतों से गहराई से प्रभावित होते हैं।

आधुनिक रुचियों को अपनाने और समसामयिक वाद्ययंत्रों और शब्दावली का समावेश करने से दर्शकों पर गहरा प्रभाव पड़ा है। ऐसा कहा जाता है कि संगीत डोपामाइन, 'फील-गुड' हार्मोन के स्राव को ट्रिगर करता है, जो श्रोताओं को खुशी देता है। इस कारण से, आज पंजाबी गीतों का विकास और व्यापक लोकप्रियता अकादमिक और संगीत दोनों ही रुचि का विषय है।

निष्कर्षतः वर्तमान युग में पंजाबी संगीत की प्रचुर उपस्थिति, न केवल भारतीय संदर्भ में बल्कि दुनिया भर में, पंजाबी समुदाय के शक्तिशाली सांस्कृतिक प्रभाव को दर्शाती है। यह संगीत, संस्कृति पर इसके

प्रभाव और इसके दर्शकों से उत्पन्न होने वाली भावनात्मक प्रतिक्रिया के परीक्षण के लायक विषय बन गया है।

1. **पंजाब की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि :** पंजाब का इतिहास प्राचीन और पूजनीय है। प्राचीन ग्रंथों के अध्ययन से पता चलता है कि आज का पंजाब अतीत के पंजाब से बिल्कुल अलग है। अपनी समृद्धि के लिए मशहूर पुराने समय के पंजाब को कभी 'सोने की चिड़िया' कहा जाता था। ऋग्वेद, एक प्राचीन ग्रंथ, बताता है कि आर्य लोगों ने इस ग्रंथ की रचना पंजाब की पवित्र भूमि में की थी। प्रसिद्ध विद्वान डॉ॰ हरनाम सिंह शान ने एक बार कहा था, 'पंजाब धरती का वह टुकड़ा है जिसने पहली बार स्वर्ग से सुबह देखी, जहां ऋग्वेद के पहले भजन पढ़े गए, जहां भारतीय समाज का जन्म हुआ और जहां भारतीय संस्कृति देखी गई यह शरुआत हैं।'

   हड़प्पा, मोहनजोदड़ो और सिंधु घाटी सभ्यता के पुरातात्विक निष्कर्ष एक समृद्ध संस्कृति वाले अत्यधिक सभ्य राष्ट्र का सुझाव देते हैं।

   दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व से सातवीं शताब्दी तक, पंजाब पर कुषाणों, मंगोलों और पठानों का आक्रमण देखा गया। इनके बाद गुलाम (1206-1288), खिलजी (1288-1321), तुगलक (1321-1413), सैय्यद (1414-1450) और लोधी (1450-1526) राजवंश थे। मुगलों ने 1526 से 1752 तक शासन किया, जिसके बाद महाराजा रणजीत सिंह के नेतृत्व में सिख साम्राज्य ने पंजाब की सीमाओं को अफगानिस्तान और कश्मीर तक बढ़ा दिया। बाद में अंग्रेजों ने पंजाब पर नियंत्रण स्थापित कर लिया। भारतीय इतिहास में पंजाब की भूमिका अद्वितीय है।

2. **'पंजाब' शब्द का अर्थ :** 'पंजाब' दो फ़ारसी शब्दों 'पंज' (पांच) और 'आब' (पानी) से मिलकर बना है, जिसका अर्थ है पांच नदियों की भूमि। ऐतिहासिक रूप से, पंजाब को कई नामों से जाना जाता है, जैसे सात नदियों की भूमि, या 'सप्त सिंधु' और 'तक्षशिला', जिसका नाम तक्षक जनजाति के नाम पर रखा गया है। राजधानी लाहौर का नाम इसी विरासत से लिया गया है। यूनानियों ने इसे 'पेंटापोटामिया' कहा, जहां 'पेंटा' का अर्थ पांच है और 'पोटामिया' का अर्थ नदी है।

3. **वर्तमान पंजाब :** आधुनिक पंजाब का अस्तित्व भारत और पाकिस्तान के विभाजन से है, जिसने पंजाब को दो भागों में विभाजित कर दिया। जो हिस्सा भारत का हिस्सा बन गया उसे पूर्वी पंजाब कहा जाता है और जो हिस्सा पाकिस्तान में चला गया उसे पश्चिमी पंजाब कहा जाता है। 1966 में भाषाई आधार पर पुनर्गठन के परिणामस्वरूप पंजाब के कुछ हिस्सों से हरियाणा का निर्माण हुआ और कुछ जिलों का हिमाचल प्रदेश में विलय हो गया। आज, पंजाब में 23 जिले शामिल हैं, जिसमें 2021 में नव-निर्मित मलेरकोटला जिला भी शामिल है। पंजाब की सीमाएँ पश्चिम में पाकिस्तान, उत्तर पूर्व में जम्मू और कश्मीर, उत्तर में हिमाचल प्रदेश और दक्षिण में हरियाणा और राजस्थान से लगती हैं। पंजाब के वर्तमान मुख्यमंत्री चरणजीत सिंह चन्नी हैं, जो राज्य के पहले सिख अनुसूचित जाति के मुख्यमंत्री होने के लिए उल्लेखनीय हैं।

4. **पंजाब की गीत परंपरा :** पंजाब में संगीत और गीत की एक समृद्ध परंपरा है जो जन्म और शादियों से लेकर बैसाखी जैसे त्योहारों तक हर उत्सव का एक अभिन्न अंग है। खुशी के अवसरों के साथ-साथ शोक गीत भी हैं, जिन्हें अलहानिस और किर्ने के नाम से जाना जाता है, जो दुःख के समय गाए जाते हैं।

5. **गीत की परिभाषा :** साहित्यिक और संगीत विद्वान 'गीत' को विभिन्न तरीकों से परिभाषित करते हैं। डॉ॰ केसर सिंह केसर के अनुसार गीत एक कवि का रहस्य है जो गहरा अर्थ व्यक्त

करता है और जिसे किसी वाद्ययंत्र के साथ गाया जा सकता है। आधुनिक पंजाबी कवि गीतों को न केवल अभिव्यक्ति के साधन के रूप में बल्कि विचार के माध्यम के रूप में भी उपयोग करते हैं। हालाँकि, एक गीत का सार भावनाओं का वितरण ही रहता है, जो अक्सर श्रोता के दिल को झकझोरने का प्रयास करता है। जैसा कि प्रख्यात हिंदी कवयित्री महादेवी वर्मा ने सुझाव दिया था, एक गीत व्यक्तिगत सीमाओं के भीतर गहन भावनात्मक अनुभवों का अवतार है, जो अपनी सुरीली ध्वन्यात्मकता से योग्य है। इस प्रकार, किसी कवि की वह रचना जो उनकी भावनाओं को प्रस्तुत करती है और संगीतमय छंदों में रची गई है, उसे सही मायनों में गीत कहा जा सकता है।

6. **संगीत की परिभाषा :** 'संगीत मानव समाज की एक उत्कृष्ट उपलब्धि है, जो लयबद्ध, सांस्कृतिक और पारंपरिक प्रतीकों को मूर्त रूप देता है, अमूर्त रूपों के माध्यम से उदात्त भावनाओं को व्यक्त करता है। यह अमूर्त अवधारणाओं को आलंकारिक रूप में व्यक्त करने का एक माध्यम है।'

   शब्द 'संगीत' स्वयं दो शब्दों का संयोजन है : 'सम' (जिसका अर्थ है 'एक साथ') और 'गीत' (जिसका अर्थ है 'गाना')। संगीत में गायन, संगीत वाद्ययंत्र बजाना और नृत्य शामिल है, जो अक्सर एक सामंजस्यपूर्ण अनुभव बनाने के लिए एक समूह को एक साथ लाता है।

7. **गीत के लक्षण :** गीत साहित्य का एक अनूठा रूप है जिसमें कवि विशेष संगीत छंदों के माध्यम से अपनी भावनाओं और मनोदशाओं को व्यक्त करते हैं जो व्यक्तिगत स्तर पर लोगों से जुड़ते हैं। गीतों की कुछ प्रमुख विशेषताओं में शामिल हैं :

7.1 **गाने योग्य :** गीत एक विशिष्ट छंद वाली रचनाएँ हैं जिन्हें गाया जा सकता है, जो उन्हें उपन्यास या नाटक जैसे अन्य साहित्यिक रूपों से अलग करता है। किसी गीत की रचना में आमतौर पर एक विशेष छंद होता है जो उसे गायन के लिए उपयुक्त बनाता है।

7.2 **उद्देश्य :** प्रत्येक गीत एक विशिष्ट उद्देश्य को पूरा करता है, चाहे वह ख़ुशी, दुःख, या कवि के व्यक्तिगत विचारों को व्यक्त करना हो। एक गीत का उद्देश्य उसके साहित्य के प्राथमिक उद्देश्य के साथ संरेखित होता है।

7.3 **दोहराव :** गाने अक्सर कुछ तत्वों या वाक्यांशों को दोहराते हैं, जो उन्हें अन्य साहित्यिक रूपों से अलग करने वाली एक अनूठी विशेषता है। यह दोहराव गीत के संदेश में गहराई और जोर जोड़ता है।

7.4 **लय :** लय संगीत और गीत का एक अनिवार्य पहलू है। यह किसी गीत की संगीतमयता और संरचना बनाने में मदद करता है। गाने की लय उसके बोलों से गहराई से जुड़ी हुई है, जो श्रोता के समग्र अनुभव को बढ़ाती है।

7.5 **परंपरा और विविधता :** गीत परंपरा और समाज के विकास दोनों को दर्शाते हैं। वे अक्सर परंपराओं और समाज में बदलाव से जुड़े शब्दों और अनुभवों को दर्शाते हैं। उदाहरण के लिए गाने पंजाबी मातृभाषा को संस्कृति से जोड़ सकते हैं या वे सामाजिक परिवर्तनों को व्यक्त कर सकते हैं, जैसे कि कृषि कानूनों से संबंधित।

8. **बहु-लोकप्रिय गीतों का अध्ययन :** वर्तमान युग में, पंजाबी गीतों, विशेषकर बोल-बाला की वैश्विक उपस्थिति है। इनका आनंद दुनिया भर के लोग उठाते हैं, जिनमें समाज के विभिन्न वर्ग और यहां तक कि विदेशी भी शामिल हैं। प्रौद्योगिकी और संचार माध्यमों की बदौलत इन गानों ने काफी लोकप्रियता हासिल की है। फेसबुक, इंस्टाग्राम, ट्विटर और यूट्यूब जैसे सोशल मीडिया प्लेटफॉर्म ने पंजाबी गानों को विश्व स्तर

पर प्रचारित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इन प्लेटफार्मों ने पंजाबी गानों के वायरल प्रसार को सुविधाजनक बनाया है, जिससे लाखों नहीं तो अरबों व्यूज और लाइक्स मिले हैं। ऐसे गीतों ने दर्शकों पर गहरा प्रभाव डाला है, जो समकालीन संस्कृति और मनोरंजन का केंद्रीय हिस्सा बन गए हैं।

9. **अध्ययन के शीर्ष 5 गाने :** यहां किए गए अध्ययन के आधार पर शीर्ष 5 पंजाबी गाने हैं:

- **शीर्षक 'बटरफ्लाइज़' :** 725 मिलियन से अधिक बार देखा गया और 7.6 मिलियन लाइक्स के साथ, यह गाना मानवीय रिश्तों की भावनात्मक गहराई को चित्रित करते हुए लालसा और इच्छा की भावना व्यक्त करता है।

  ये गीत, अपने विषयों और संगीत शैलियों में विविधता रखते हुए, समकालीन दुनिया में पंजाबी संगीत की भावनात्मक शक्ति और सांस्कृतिक महत्व का उदाहरण देते हैं।

  निष्कर्षतः पंजाबी संगीत केवल मनोरंजन का एक रूप नहीं है; यह एक सांस्कृतिक घटना है जो भावनाओं, परंपराओं और सामाजिक परिवर्तनों को दर्शाती है। पंजाबी संगीत का अध्ययन हमें समाज पर इसके प्रभाव और जटिल भावनाओं और संदेशों को व्यक्त करने की क्षमता को समझने में मदद करता है।

- **शीर्षक : 'काले जैसा परिधान' :** 8 दिसंबर, 2020 को कलाकार 'काके' द्वारा रिलीज़ किए गए इस गाने ने 523 मिलियन व्यूज और 6.3 मिलियन लाइक्स के साथ काफी ध्यान आकर्षित किया। यह गाना काले कपड़ों और अन्य वस्तुओं की प्रशंसा के विषय के इर्द-गिर्द घूमता है। लेखक कपड़े, फोन, लैपटॉप और यहां तक कि बालों सहित काले रंग के प्रति आकर्षण व्यक्त करता है। हालाँकि, गीत इस बात पर भी प्रकाश डालता है कि इस प्रशंसा के बावजूद, सच्चा स्नेह दूर रहता है।

  संगीत की दृष्टि से, यह गाना सी स्केल में गाया गया है और इसमें पंजाबी संगीत के तत्व शामिल हैं। गाने के बोल अच्छे से गढ़े गए हैं और गाने में पश्चिमी और पंजाबी संगीत शैलियों का प्रयोग किया गया है।

- **शीर्षक : 'ब्राउन बॉयज़'** 18 सितंबर, 2020 को 'रन-अप रिकॉर्ड्स' चैनल पर रिलीज़ हुए एपी द्वारा गाए इस गाने को 381 मिलियन व्यूज और 4.8 मिलियन लाइक्स मिले। यह गीत पंजाबी समाज पर प्रकाश डालता है, जिसमें गेहूं के रंग के महत्व पर जोर दिया गया है, जो स्थानीय जलवायु का प्रतिबिंब है। गीत पंजाबी युवाओं के जीवन में उदासीनता, ब्रांडेड वस्तुओं और हॉलीवुड के आकर्षण और हीरे की पीसने जैसे विषयों का पता लगाते हैं।

  संगीत की दृष्टि से, 'ब्राउन बॉयज़' जी शार्प स्केल पर आधारित है, जिसमें पारंपरिक पंजाबी संगीत के साथ रैप तत्वों का संयोजन किया गया है। गाने में पश्चिमी बीट्स के साथ प्रयोग किया गया है, जिसमें जी शार्प माइनर और एफ शार्प मेजर कॉर्ड शामिल हैं।

- **शीर्षक : 'अस्थायी प्रेम'** 18 दिसंबर, 2020 को सिंगर 'काका' द्वारा रिलीज किए गए इस गाने को 334 मिलियन व्यूज और 4.9 मिलियन लाइक्स मिले। यह समकालीन समय में क्षणभंगुर प्रेम पर केंद्रित है, जहां रिश्ते तेजी से बदलते हैं। गीत आधुनिक प्रेम की क्षणभंगुर प्रकृति को व्यक्त करते हैं।

  स्वर नी और ए स्नेक धा जैसे भारतीय संगीत तत्व शामिल हैं। इसमें गिटार और बांसुरी पर जोर देने के साथ पश्चिमी और भारतीय संगीत शैलियों का मिश्रण है।

- **शीर्षकः 'वैलीज़'** 10 अगस्त 2020 को 'हरनूर' द्वारा 'जट लाइफ द स्टूडियो' पर रिलीज हुए इस गाने को 277 मिलियन व्यूज और 2.9 मिलियन लाइक्स मिले। यह प्यार और

प्रशंसा के विषय के इर्द-गिर्द घूमता है, इसके बोल सुंदरता और जीवन में चीजों को अनुग्रह के साथ लेने पर जोर देते हैं।

संगीत की दृष्टि से, 'वैलीज़' को पश्चिमी और पंजाबी संगीत तत्वों को मिलाकर सी शार्प में गाया जाता है। इसमें ध्वनिक और इलेक्ट्रॉनिक गिटार के संयोजन का उपयोग किया गया है और इसमें एक सुंदर धुन है।

निष्कर्षतः यह शोध पंजाबी संस्कृति और संगीत के बीच गहरे संबंध पर प्रकाश डालता है। संगीत पंजाबी जीवन का एक अभिन्न अंग है, जो उत्सवों से लेकर धार्मिक परंपराओं तक विभिन्न पहलुओं को प्रभावित करता है। इसके अलावा, समकालीन पंजाबी संगीत ने, पश्चिमी और पारंपरिक तत्वों के मिश्रण के साथ, भाषाई बाधाओं को पार करते हुए वैश्विक लोकप्रियता हासिल की है। शोध में पंजाबी गीतों में बदलते विषयों पर भी ध्यान दिया गया है, जो आधुनिक सामाजिक चिंताओं को दर्शाते हैं। कुल मिलाकर, पंजाबी संगीत एक समृद्ध परंपरा और उज्ज्वल भविष्य के साथ एक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक संपत्ति बना हुआ है।

सन्दर्भ सूची :

1. सिंह गंडा, 'पंजाब', पृष्ठ-21।
2. जोशी जीत सिंह, 'लोक कला और संस्कृति आदिमः परिचय' पृष्ठ 26-27।
3. पैंट गीता, 'पंजाबः व्हाट म्यूज़िक ट्रेडिशन' पृष्ठ-3।
4. कोहली एसएस, 'पंजाबी साहित्य शब्दकोश' खंड दूसरा, पृष्ठ-249।
5. लाइट लव, 'मॉडर्न लिटरेचर ऑन सॉन्ग : पंजाबी वर्ल्ड' पृष्ठ-26।
6. कैम्फर ट्रिप्ट, 'उत्तर भारत मई संगीत शिक्षा' पृष्ठ-1।
7. लक्ष्मी नारायण गर्ग, 'संगीत रत्नाकर' (अनुवाद), प्रथम अध्याय, श्लोक-21।
8. सिंह जगतार विरक, 'सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य के पंजाबी गीत' पृष्ठ-28।
9. कपिला सुरिंदर, 'पंजाबी लोग संगीत साहित्य सर्वेक्षण' पृष्ठ-1।
10. यूट्यूब लिंक-1
11. यूट्यूब लिंक-2
12. यूट्यूब लिंक-3
13. यूट्यूब लिंक-4
14. यूट्यूब लिंक-5

पुस्तक सूची :

1. सिंह गंडा, 'पंजाब' प्रकाशन : अग्ली सिंह द खालसा कॉलेज पटियाला, पंजाबी साहित्य अकादमी लुधियाना, 1962।
2. जोशी जीत सिंह, 'लोक कला और संस्कृति आदिमः परिचय' प्रकाशनः ब्यूरो, पंजाबी विश्वविद्यालय पटियाला, 2010।
3. पैंट गीता, 'पंजाब : व्हाट म्यूज़िक ट्रेडिशन।' राधा प्रकाशन दिल्ली, 1999।
4. कोहली एसएस, 'पंजाबी साहित्य शब्दकोश' (खंड दूसरा)। भाषा विभाग पंजाब, पटियाला, 1962।
5. कैम्फर ट्रिप्ट, 'उत्तर भारत मई संगीत शिक्षा।' हरमन पब्लिशिंग हाउस दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1989।
6. लक्ष्मी नारायण गर्ग, 'संगीत रत्नाकर' (अनुवाद)। संगीत करयाला हाथर्स, 1964।
7. सिंह जगतार विरक, 'सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य के पंजाबी गीत।' परिप्रेक्ष्य प्रकाशन चंडीगढ़, 2016।

पत्र-पत्रिका :

1. प्रकाश लव, 'मॉडर्न लिटरेचर ऑन सॉन्ग : पंजाबी द वर्ल्ड' 1983।
2. कपिला सुरिंदर, 'पंजाबी पीपल म्यूजिक लिटरेचर सर्वे' 1987।

वेबसाइटें :

1. गूगल
2. यूट्यूब
3. डीजेपंजाब

श्यामा-चकेवा लोकनाट्य की संगीत परम्परा एवं प्रयोग

इन्दू ठाकुर
शोधार्थी, मंच कला संकाय
बनस्थली विद्यापीठ, टोंक राजस्थान

डॉ॰ नेहा जोशी
असिस्टेन्ट प्रोफेसर,
बनस्थली विद्यापीठ राजस्थान

भारतीय संस्कृति का मूल आधार लोक विधाएँ हैं। इन लोक विधाओं में गीत संगीत, उत्सव, नृत्य, अभिनय, खेल या स्वांग की परम्परा नयी नहीं है, अपितु अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही है। इस विषय पर नाट्यशास्त्र में वर्णित एक कथा से पता चलता है कि देवताओं की प्रार्थना पर ब्रह्माजी ने समस्त मानवों के मनोरंजनार्थ नाट्य की रचना की तथा सभी वर्णों के मनोरंजन के लिए बह्मा ने ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गान, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस लेकर नाट्यवेद की सृष्टि की

''जग्राह पाठयं ऋग्वेदात, सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदाद भिनयान्, रसमाथर्वणादपि॥''

''नाट्यशास्त्र 1/17-18''

लोक नाट्य की चर्चा जब भी की जाएगी, लोक-गीत और लोक नृत्य को लोक-नाट्य की संज्ञा नहीं दी जा सकती, परन्तु जब उसके साथ भाव अभिनय, कथा, संवाद आदि जुड़ जाते हैं, तब वह लोक नाट्य की श्रेणी में आ जाता है।[1]

भारत के विभिन्न क्षेत्रों की अपनी अलग मान्यताएँ, परम्पराएँ, भाषा एवं इतिहास रहा है। मूलतः लोक नाट्यों का उद्भव उस क्षेत्र की सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और धार्मिक मूल्यों से होता है, इन्ही विशेषताओं का सम्मिलित रूप है, 'श्यामा-चकेवा' जो उत्तर बिहार के मिथिला क्षेत्र का अत्यन्त मनोरंजक लोकनाट्य है। मिथिला में यह क्षेत्रीय बोली के अनुसार 'सामा-चकेवा' के नाम से जाना जाता है। इसका आरम्भ कार्तिक शुक्ल पंचमी से होता है तथा इसकी समाप्ति पूर्णिमा के दिन की जाती है। पंचमी से पूर्णिमा तक ग्रामीण स्त्रियाँ प्रतिदिन इसे खेलती है, अर्थात् प्रस्तुत करती हैं। यह लोक-नाट्य वस्तुतः भाई-बहन के पारम्परिक प्रेम एवं स्नेह को प्रतिपादित करता है। यह पूर्ण रूप से स्त्रियों का लोकनाट्य है। इसका पौराणिक महत्व भी है, जिसके अनुसार यह भगवान कृष्ण की बेटी सामा की कथा है, जिस पर गलत काम का झूठा आरोप लगाया गया था, जिसके फलस्वरूप उसके पिता ने उसे पक्षी के रूप में बदलकर दण्डित किया, लेकिन सामा के भाई चकेवा के प्यार और बलिदान ने अन्ततः सामा को पुनः मानव रूप धारण करने में सहायता की।

अतः इस लोक नाट्य में वस्तुतः बहनें अपने भाई की वीरता का गुणगाान करती हुई अनेकानेक गीत प्रस्तुत करती हैं। अन्य सभी लोकनाट्यों से अलग इस लोकनाट्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि स्त्रियाँ नाटक के सभी पात्रों को मिट्टी, लकड़ी, सन (पटुआ), सीकी आदि से मूर्ति बनाती है। श्यामा एवं चकेवा पात्र के लिए मिट्टी से पक्षी की मूर्ति बनाई जाती है। इन दोनों पक्षियों की मूर्ति का मुख अन्यन्त सुन्दर बनाया जाता है। श्यामा और चकेवा के अतिरिक्त इस लोकनाट्य में अन्य भी पात्र होते हैं, जैसे- चुगला (चुगलखोर), सतभइंया (सात भाई), वृन्दावन

खंजन पक्षी, ढोलिया (ढोल बजाने वाला), भरिया (सामान उठाने वाला) एवं झांझी कुत्ता इत्यादि। चुगला की मूर्ति को एक हास्यास्पद रूप दिया जाता है तथा गीतों के माध्यम से उसकी निंदा की जाती है। अतः क्रमबद्ध तरीके से इस लोकनाट्य के कथानक के अनुसार विभिन्न पारम्परिक गीतों को प्रस्तुत किया जाता है। इन गीतों की भाषा सरल, स्पष्ट तथा स्वाभाविक होती है, जिसमें संगीत के सम्मिश्रण के साथ लोक जीवन की सम्वेदनाओं और अनुभूतियों की सुन्दर प्रस्तुति होती है।

लोक संगीत में अकेले गाने से कहीं अधिक सामूहिक ढंग से गाने का महत्व पता चलता है और उसमें स्वर की अपेक्षा लय का भी अपेक्षाकृत कुछ अधिक प्रभाव मिलता है। इस लोक संगीत में प्रयुक्त होने वाले अवनद्ध अथवा घन वाद्यों में से ढोलक सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। ढोलक के बाज में कहीं-कहीं अद्भुत विकास मिलता है, किन्तु लोक-गीतों में ढोलक पर केवल लय व सरल ताल दिखलाना ही पर्याप्त होता है। इन लोक-गीतों में अधिकतर कहरवा, दादरा, खेमटा और दीपचन्दी (चाचर) तालों का प्रयोग मिलता है। 'सामा-चकेवा' लोकनाट्य में भाई-बहन के नैसर्गिक प्रेम का चित्रण है। इस नाट्य में गीत का संयोजन प्रश्नोत्तर पद्धति में न होकर वर्णात्मक पद्धति से हुआ है। साक्ष्य के लिए एक गीत प्रस्तुत है -

चकवा भइया के धन फुलवरिया ।
फूल लोढ़े चललन सामां बहिनी हे ॥1॥

फूलवा लोढ़ैते बहिनियाँ मोर घायल है ।
कि घामी गैलो सिर के सेनुरवा हे ॥2॥

छतवा लेले जाथिन चकवा भइया ।
कि बैठुगे बहिनों कदम जुरि छहियाँ है ॥3॥

इस प्रसंग में बहन सामा अपने भाई के फुलवारी में फूल तोड़ने गयी है। गर्मी के कारण बहन पसीने-पसीने हो रही है। उसकी माँग का सिन्दूर पसीने से धुलकर बहने लगा है, तभी उसका भाई छाया करने के लिए छाता लेकर आता है। बहन की इतनी अधिक प्रतिष्ठा केवल भारत में ही सम्भव है। एक अन्य प्रसंग में बहन सामा अपने भाई चकवा के आँगन में खेलने जाती है, लेकिन उसकी भाभी खरहो उसे दुत्कारने लगती है-

सामो खेले गेली चकवा भइया अंगना।
खरहो भौजी लेलन ललुआय, ननद कहाँ आल है॥

भाभी की दुत्कार से बहन को दुःख होता है और वह कहती है कि भाभी जब तक मेरे माता-पिता का राज रहेगा, तब तक मैं भाई के आँगन में आऊँगी, जब माता-पिता का राज समाप्त हो जायेगा, तब मैं तुम्हारे आँगन नहीं आऊँगी। यह पंक्तियाँ गीत के माध्यम से इस प्रकार है-

जब ले रहतई माय-बाप के राज, सामो खेले आयब है।
छुटि जैहे माय-बाप के राज, तजब तोर अंगना है॥
चकवा बहन की इस दुःखद वाणी को सुन लेता है।
मारे लगलन बरछा घुमाय, बहिनियाँ कहाँ पायब।
मारे लगलन तीर झमकाय, कहानियाँ कहाँ पायब॥

सामा-चकेवा नाट्य के ही एक अन्य सन्दर्भ में प्यासी ननद के लिए भाभी शीतल जल लेकर दौड़ती हुई आती है-

पनिया लेले दौड़न जाथिन कनिया भौजो है।
कि करहू न हे नन्दो सीतल हिरदा है॥

इस गीत में भाई-भौजाई दोनों ही मिलकर बहन के स्वागत सत्कार और स्नेह-सुख की कामना में तत्पर दिखायी पड़ते है। मिथिला में छठ पर्व के बाद से ही गाँव में सामा-चकेवा के गीत गूँजने लगते हैं तथा कार्तिक पूर्णिमा तक प्रत्येक दिन शाम होते ही घरों की महिलाएँ सामा-चकेवा के गीत गाती हैं-

'डाला ले बहार मैली बहिनी से फलां बहिनों
फलां भइया लेल डाला छीन सूनू राम सजनी

बाबू बरइता, चाचा बरइता
अहांक पूता लेल डाला, छीन सूनू राम सजनी।
कथी एक तोहर डलवा गे बेटी कथिए लगाओल
चारू कौन सूनू राम सजनी,
कौंचहि बांस के मोर डलवा हो बाबा
चम्पा चमेली चा कौन सूनू राम सजनी'।

गीत गाती इन युवतियों का समूह गाँव से निकलकर किसी खेत या तालाब के किनारे एकत्रित होता है और वहाँ वे सभी गोल घेरा बनाकर मध्य में साथ लाए बांस के टोकरे को रखती हैं। तत्पश्चात् टोकरे में रखे सभी मिट्टी की मूर्तियों को निकालकर ज़मीन में सजाती है तथा इन मूर्तियों को हरि घास की फुनगियाँ तोड़कर खिलाती हैं। इन मूर्तियों के माध्यम से स्त्रियाँ अपने जीवन में घटित घटनाओं और मनोभावों को व्यक्त करती हैं तथा भाई और नैहर से जुड़े भावों को गीतों के माध्यम से अभिव्यक्त करती हैं।

कार्तिक मास आते ही स्त्रियाँ अपने नैहर जाने के लिए एक-एक दिन अपने भाई के लेने आने का इन्तज़ार करने लगती हैं और भाई के आते ही भाव-विभोर हो जाती है। अपनी इसी मनोदशा को व्यक्त करने के लिये श्यामा की ओर से चकेवा के लिए गीत गाती हैं-

'पनमा जे खयलह हो भइया, पिकिया नेरोलह ओही ठाम
ओही पिरकी संड हलों ही भइया, गंगा-जमुना केर बाढ़ि
ओही पार बहिन से फलीं बहिन, करूनमा केने है ठाढ़ि
जुनि कानू जुनि खीझू है बहिन, बाबा के सम्पतिया देख बांटि
बाबा के सम्पतियाहो भइया, मोटरिया केर है आस
हम परदेसिन हो भइया सिन्दूरवा केर है आस।'

इस प्रकार बहनें अपने पिता की सम्पत्ति पर स्वयं का नहीं अपितु अपने भाई का हक़ मानती है, उनका मानना है कि उसका हक़ तो मात्र उसके सुहाग पर है। उनका सुहाग बचा रहे और भाई का स्नेह बना रहे। इस प्रकार के गीतों के माध्यम से भाई की वीरता और स्नेह का गुणगान किया जाता है तथा चुगला की निंदा की जाती है। चुगला की निंदा और उस पर अपना रोष प्रकट करते हुए स्त्रियां गाती हैं-

'चुगला करे चुगलपन बिलाई करे म्याऊँ,
आरे चुगला तोरा फांसी दायो।'

इसके बाद इस नाट्य में बनाये गये 'वृन्दावन' जो सन (पटुआ) का बना होता है, उसमें आग लगाकर स्त्रियाँ गाती हैं-

'वृन्दावन में आगि लागल केओ ने मिझाबय है,
हमरो से फलां भइया, सेहे मिझाबय है।'

अर्थात् वृन्दावन में आग लगी तो किसी ने नहीं बुझाया उस आग को केवल मेरे भइया ने ही बुझाया। वृन्दावन में आग लगाने के बाद स्त्रियाँ अपने भाई के लिए ईश्वर से प्रार्थना करती हैं कि वह सदैव धन-धान्य से परिपूर्ण रहे।

'धान धान धान भइया कोठी धान, चुगला कोठी भुस्सा (भूसा)
आरे वृन्दावन जारे वृन्दावन, भइया मुख पान
चुगला मुख को इला
चाउर चाउर चाउर भइया कोठी चाउर,
चुगला कोठी छाउर (राख)।'

भाई-बहन के स्नेह संबंधी कई प्रकार के पारम्परिक गीत गाने के बाद सभी मूर्तियों को पुनः बांस की टोकरी में रख दिया जाता है। यह क्रिया सात दिनों तक निभायी जाती है तथा इस लोकनाट्य के अन्तिम दिन नित्य की भांति मूर्तियों को टोकरी में रखकर दीप जलाकर गीत गाते हुए स्त्रियों का समूह खेत या तालाब के लिए निकल पड़ता हैं। इन गीतों के साथ ढोल और शहनाई बजाने वाले भी संगत करते हुए स्त्रियों के समूह के साथ जाते और आते हैं।

इस प्रकार इस लोकनाट्य में संगीत एक अनिवार्य तत्व है, जिसके बिना श्यामा-चकेवा लोकनाट्य अपूर्ण प्रतीत होता है। उत्सव के अन्तिम दिन गीत गाती हुई स्त्रियाँ एक-एक करके सभी मूर्तियों को नष्ट करती हैं। मूर्तियों को नष्ट करने के बाद इन्हें या तो तालाब या जलाशयों में विसर्जित कर दिया जाता है या फिर खेत की मिट्टी में मिला दिया जाता है। इसके बाद स्त्रियाँ करूण रस से ओत-प्रोत विदाई गीत गाती हुई (जिसे मैथिली में 'समदाउन' कहते है) वापस घर आती हैं। इस प्रकार सामा-चकेवा लोकनाट्य का समापन होता है।

लोकनाट्य में नृत्य, संगीत, गीत और अभिनय की धारा सतत् प्रवाहित होती रहती है, जिनके माध्यम से लोक जीवन का विशुद्ध चित्रण एवं लोकरंजन संभव हो पाता है। सामा-चकेवा लोकनाट्य में भी संगीत की सुदीर्घ परम्परा चली आ रही है, जो अपने पारम्परिक नैसर्गिक रूप में विद्यमान है। इस लोकनाट्य के गीतों में जीवन के अनेक भावों की अभिव्यक्ति के दर्शन होते हैं, यह संगीत के द्वारा ही सम्भव है। इस लोकनाट्य में लोक धुनों का प्रचुरता से प्रयोग किया जाता है। लोक धुनों में अधिकतर सात शुद्ध स्वरों और दो विकृत स्वरों कोमल गांधार और कोमल निषाद स्वरों का प्रयोग मिलता है, अर्थात् लोक धुनों में मुख्यतः बिलावल, खमाज और काफी थाटों के स्वर प्रयुक्त होते हैं, क्योंकि इन थाटों के राग अन्य थाटों की अपेक्षा अधिक सरल व सुगम होते हैं। अतः लोक धुनें इनमें सरलता से समाहित हो जाती हैं। अधिकांश लोक गीतों में तीन, चार अथवा पाँच स्वर ही प्रयुक्त होते हैं। इस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि अनेक रागों का जन्म ही लोक धुनों से हुआ है, जैसे-आसा, मांड, झिंझोटी, पहाड़ी इत्यादि। संगीत प्रधान लोकनाट्य में संगीत एवं गायकी का प्राधान्य मिलता है। विभिन्न स्वरों के समुदायों तथा राग-रागिनियों के प्रयोग द्वारा करूण, शांत, श्रृंगार, भयानक आदि रसों को अभिनय के भावों और गीत के भावों के अनुरूप गाने से रस की सृष्टि होती है। नाट्य शास्त्र में निर्देशित गीत संगीत एवं राग प्रधानता का सर्वाधिक अनुपालन लोकनाट्यों में ही दिखायी देता है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि सामा-चकेवा लोकनाट्य संगीत परम्परा के साथ उस क्षेत्र के धार्मिक विश्वास तथा विशिष्ट विचारधारा का प्रतीक है। इस लोकनाट्य की विशेष बात यह है कि जहाँ एक ओर बहनें संगीत के माध्यम से भाई की दीर्घायु की कामना करती है, वहीं दूसरी ओर इसके गीतों के द्वारा पर्यावरण संरक्षण का संदेश भी दिया जाता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :

1. https://hi.m.wikipedia.org
2. पण्डित डॉ0 अनिल कुमार, बिहार के लोकनाट्य, चौमासा(पत्रिका) फरवरी 2000, मध्य प्रदेश संस्कृति परिषद्, भोपाल। पृष्ठ सं0- 220
3. https://en.m.wikipedia.org/Wiki/Sama_Chakeva
4. दास डॉ0 रेखा, बिहार के लोकनाटकों की प्रमुख शैलियों का विवेचन, प्रथम संस्करण, 1994 सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली। पृष्ठ सं0- 102
5. सक्सेना, महेशनारायण, लोक गीतों का संगीत पक्ष, संगीत (पत्रिका), लोक संगीत अंक 1996। पृष्ठ सं0- 42
6. प्रसाद, डॉ0 बृजनन्दन, मगही लोकनाट्यों का अनुशीलन, प्रथम संस्करण 2014, मनीष प्रकाशन, वाराणसी। पृष्ठ सं0- 68
7. प्रसाद, डॉ0 बृजनन्दन, मगही लोकनाट्यों का अनुशीलन, प्रथम संस्करण 2014, मनीष प्रकाशन, वाराणसी। पृष्ठ सं0- 102
8. प्रसाद, डॉ0 बृजनन्दन, मगही लोकनाट्यों का अनुशीलन, प्रथम संस्करण 2014, मनीष प्रकाशन, वाराणसी। पृष्ठ सं0- 103
9. दास डॉ0 रेखा, बिहार के लोकनाटकों की प्रमुख शैलियों का विवेचन, प्रथम संस्करण, 1994 सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली। पृष्ठ सं0- 104

10. दास डॉ0 रेखा, बिहार के लोकनाटकों की प्रमुख शैलियों का विवेचन, प्रथम संस्करण, 1994 सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली। पृष्ठ सं0- 105
11. दास डॉ0 रेखा, बिहार के लोकनाटकों की प्रमुख शैलियों का विवेचन, प्रथम संस्करण, 1994 सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली। पृष्ठ सं0- 106
12. पण्डित डॉ0 अनिल कुमार, बिहार के लोकनाट्य, चौमासा(पत्रिका) फरवरी 2000, मध्य प्रदेश संस्कृति परिषद्, भोपाल। पृष्ठ सं0- 220
13. सक्सेना, महेशनारायण, लोक गीतों का संगीत पक्ष, संगीत (पत्रिका), लोक संगीत अंक 1996। पृष्ठ सं0- 43
14. त्रिपाठी, डॉ0 वशिष्ठनारायण, भारतीय लोकनाट्य, प्रथम संस्करण-2001, वाणी प्रकाशन नयी दिल्ली। पृष्ठ सं0- 30
15. भानावत, डॉ0 महेन्द्र, भारतीय लोकनाट्य, प्रथम संस्करण-2014, आर्यावर्त संस्कृति संस्था, दिल्ली। पृष्ठ सं0-293

रेडियो नाटक में संगीत की भूमिका

डॉ॰ लावण्य कीर्ति सिंह 'काव्या'
शोध निर्देशिका
वि0 वि0 संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा

सुष्मिता कुमारी
शोधार्थी (नाट्य)
वि0 वि0 संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा

परिचय :

हिन्दी साहित्य को रेडियों की सबसे बड़ी देन है रेडियो नाट्य साहित्य। मंटो, कृष्ण चन्दर, उपेन्द्र नाथ अश्क, राजेन्दर सिंह बेदी, जगदीश चन्द्र माथुर और मोहन राकेश के नाट्य लेख का उत्स भी रेडियो ही रहा। स्त्री पात्रों की भूमिका में पुरूष अभिनेताओं की अस्वाभाविकता को समाप्त करने में भी रेडियो का अन्यतम योगदान है। रेडियो में स्त्री-पात्रों की भूमिका में स्त्री-स्वर अनिवार्य था। फलतः रेडियो ने महिला नाटक कलाकारों की परम्परा को सुदृढ़ और सार्वभौमिक बनाया। शिक्षित और कुलीन लड़कियाँ नाट्य कलाकारों के रूप में रेडियो से जुड़ी। मंच नाटक अब और अधिक स्त्री-पात्रों की भूमिका के लिए स्त्री कलाकारों की आवश्यकता की उपेक्षा नहीं कर सकता था। रेडियो की महिला कलाकारों ने इस आवश्यकता की पूर्त्ति में सर्वाधिक योग दिया।

रेडियो नाटक अदृश्य माध्यम का नाटक है, श्रव्य माध्यम का नाटक है। मात्र श्रव्य-माध्यम की अपनी विशिष्टताएँ हैं जिनसे श्रव्य नाट्य-रूप विशिष्ट बन जाता है, अन्य नाट्य रूपों से पृथक हो जाता है। रेडिया के आविष्कार ने इस नाट्य-रूप को जन्म दिया है। संस्कृत नाट्यशास्त्रियों ने जिस साहित्य-रूप को कफी 'दृश्य' कहा था उसका एक अंग आज रेडियो नाटक के रूप में मात्र श्रव्य बन गया है। रेडियो नाटक में ध्वनि तत्त्व को प्रमुखता प्रदान की गई है। उच्चरित शब्द (भाषा), संगीत तथा ध्वनि-प्रभाव की सहायता से रेडियो नाटक को सम्प्रेषित किया जाता है।

रेडियो-नाटक के नामकरण के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। रेडियो-नाटक के लिए प्रयुक्त किए जाने वाले नाम इस प्रकार हैः- ध्वनि नाटक, श्रव्य नाटक, रेडियो रूपक आदि।

रेडियो नाटक ध्वनि-नाटक नहीं है- 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में होता है। ध्वनि-नाटक कहने से कई भ्रम पैदा होने की सम्भावना बनी रहती है और इससे रेडियो से प्रसारित होने वाले नाटक को सही अस्मिता नहीं मिलती। यह सत्य है कि रेडियो से प्रसारित किये जाने वाले नाटकों में शब्द, आवाज, नाद अथवा ध्वनि की ही प्रधानता होती है, पर रेडियो नाटक के सभी घटक एवं उपकरण इसके अन्तर्गत नहीं आ पाते है। संगीत जो रेडियो-नाटक का एक प्रधान साधन है उसकी व्यंजना ध्वनि से नहीं होती। सच कहा जाए तो ध्वनि या आवाज़ रेडियो नाटक का एक उपकरण है जो अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण है। अतः रेडियो से प्रसारित होने वाले नाटक को 'ध्वनि-नाटक कहना संगत प्रतीत नहीं होता।1 रेडियो नाटक में निम्नलिखित चार तत्त्व माने जा सकते हैंः-

- कथानाक

- पात्र अथवा चरित्र-चित्रण
- ध्वनि (उच्चरित शब्द अथवा भाषा, ध्वनि-प्रभाव, संगीत)
- उद्देश्य

यहाँ एक बात द्रष्टव्य है कि रेडियो नाटक के ऊपर निर्दिष्ट चारों तत्त्व अन्योन्याश्रित होने के कारण इनकी पारस्परिक एकता के संदर्भ मेंइनमें से प्रत्येक तत्त्व की स्वतन्त्र सार्थकता तो है, किन्तु इनके पृथक-पृथक वैज्ञानिक विश्लेषण का कोई भी प्रयास स्वयं में बहुत गम्भीर नहीं हो सकता।[2]

फिर भी यहाँ इस प्रकार की सीमाओं को स्वीकारते हुए, व्यवहारिक उपयोगिता की दृष्टि से इन तत्त्वों पर पृथक-पृथक विचार किया जाना आवश्यक है।

'रेडियो नाटक में संगीत' का अध्ययन हम इसके तत्त्व 'ध्वनि' के अन्तर्गत करते हैं।

शुष्क से शुष्क नाटक में रस पैदा करने के लिए रेडियो नाटककार के हाथ में एक बहुत सशक्त अस्त्र है- पृष्ठभूमि का संगीत। नाटक में जहाँ कहीं भी किसी भी रस का परिपाक होता है, पृष्ठभूमि में उसी रस का संगीत दे देने से उसका प्रभाव सहस्त्र गुणा बढ़ जाता है।[3] संगीत द्वारा जहाँ नाटकीय प्रभाव में तीव्रता लाई जाती है, वहाँ दृश्य विशेष की स्थूलता को भी संगीत की सहायता से चित्रित किया जाता है।[4] रेडियो नाटक में पात्र की भावनाओं एवं मानसिकता का उद्घाटन भी संगीत की सहायता से किया जाता है।[5]

चर्चा :

सिद्धनाथ कुमार का यह कथन, कि ''रेडियो नाटक में संगीत से तात्पर्य वाद्य संगीत है, मान्य नहीं हो सकता।[6]

रेडियो नाटक में संगीत का व्यवहार तीन प्रकार से किया जाता है - (1) स्वतन्त्र रूप से (2) संलाप की पृष्ठभूमि के रूप में और (3) ध्वनि-प्रभाव के साथ मिश्रित रूप में।

रेडियो नाटक में संगीत-प्रयोजन :

- आरम्भ, अन्त तथा दृश्य परिवर्त्तन की सूचना देना।
- भावोद्दीपन तथा अन्तर्द्वन्द्व की व्याख्या करना।
- देश तथा काल का संकेत देना।
- विशिष्ट चरित्रों के व्यक्तित्व का परिचय देना।
- वातावरण निर्माण करना।

आरम्भ, अन्त तथा दृश्य-परिवर्त्तन की सूचना:

रंगमंचीय नाटक में आरम्भ, अन्त तथा दृश्य परिवर्त्तन के लिए प्रायः पर्दे या प्रकाश का प्रयोग किया जाता है। रेडियो नाटक में इस प्रकार की सुविधा का अभाव है। संगीत से रेडियो नाटक में वही काम लिया जाता है जो रंगमंच पर पर्दे[7] तथा आलोक योजना[8] करते हैं। रेडियो नाटक के आरम्भ में आने वाला संगीत नाटक की भावनात्मक विषय वस्तु का प्रतीत होता है और वह आगे की घटनाओं के लिए वातावरण निर्मित करता है। अन्त का संगीत, नाटक की समाप्ति की सूचना के साथ-साथ नाटक की पूर्णता का बोध भी कराता है, अर्थात् ''अन्तिम संगीत सम्पूर्ण नाटक की समीक्षा होता है।[9] अन्तराल संगीत द्वारा रेडियो नाटक में जहाँ दृश्य परिवर्त्तन किया जाता है, वहाँ वह संगीत पूर्व-घटनाओं के प्रभाव को गहराकर भावी घटनाओं का संकेत भी दे जाता है।

भावोद्दीपन तथा अन्तर्द्वन्द्व की व्याख्या :

संगीत का सम्बन्ध मानव की रागात्मक वृत्ति से होने के कारण इसमें भावोद्दीपन की अपार शक्ति होती है और इससे ललित भावों की अभिव्यक्ति सरलता से की जा सकती है। इसीलिए रेडियो नाटक में संगीत को संवादों के समान महत्त्व दिया जाता है, क्योंकि जहाँ शब्द कुछ कहने में असमर्थ होते है वहाँ संगीत उनका स्थान ले लेता है। यदि संवाद घटनाओं की स्थूल अभिव्यक्ति करता है तो संगीत पात्रों के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व तथा प्रतिक्रियाओं की अभिव्यक्ति

करने के साथ-साथ उनकी भावदशा का बोध भी कराता है। कोई व्यक्ति भावावेश में किसी की खोज कर रहा है, वह दौड़ता है, रूक जाता है, फिर दौंड़ता है। इन सभी कार्यों का संकेत संगीत द्वारा दिया जा सकता है। ''संगीत से उस व्यक्ति की गति की अभिव्यक्ति तो होगी ही, साथ में उसकी उत्सुकता तथा अन्य किसी भी प्रकार की मनोदशा का परिचय भी श्रोता को मिल सकेगा।[10]

देश तथा काल का संकेत :

रेडियो नाटक में वेश-भूषा तथा रंगसज्जा के अभाव में सगीत द्वारा स्थान का आभास कराया जाता है। यदि घटनाएँ बंगाल में घट रही है तो पृष्ठभूमि में बंगाल का संगीत देने से इसका आभास कराया जा सकता है। यदि घटनाएँ किसी काल विशेष में घट रही हैं, जैसे स्वतन्त्रता संग्राम के दिनों में तो उस समय गाए जाने वाले देश-प्रेम के गीतों से उसका बोध कराया जा सकता है। इसी प्रकार प्रत्येक युग विशेष का विशिष्ट संगीत होता है।

भारतीय संगीत का सीधा सम्बन्ध समय से है। समयानुकूल रागों के स्वरों के प्रयोग से दिन के किसी भी पहर को अभिव्यंजित किया जा सकता है। जैसे प्रातः काल का दृश्य बाँसुरी पर राग भैरवी के प्रयोग से किया जा सकता है।

विशष्ट चरित्रों में व्यक्तित्व का परिचय :

यदि कोई नाटक किसी संगीतकार, गीतकार अथवा गायक के जीवन से सम्बन्धित हो तो उसके व्यक्तित्व को उभारने के लिए संगीत का प्रयोग अनिवार्य हो जाता है। रवीन्द्र नाथ ठाकुर के जीवन पर आधारित नाटक में रवीन्द्र-संगीत को सम्मिलित किए बगैर उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व को श्रोताओं के समक्ष नहीं लाया जा सकता। इसी तरह संगीत-प्रेमी के जीवन पर आद्यृत नाटक में संगीत द्वारा उसकी रूचि और चरित्रगत गुणों का परिचय दिया जाता है।

वातावरण निर्माण :

विवाह क आनन्दपूर्ण अवसर पर आनन्ददायक तथा विदाई के समय करूणापूर्ण संगीत के नियोजन से उपयुक्त वातावरण का निर्माण किया जाता है। प्राचीन काल के युद्ध का वातावरण, ध्वनि-प्रभावों और उपयुक्त संगीत से निर्मित किया जाता है। रेडियो नाटक में संगीत का प्रयोग करते समय कुछ बातों पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता होती है।

- स्वतन्त्र रूप से संगीत का प्रयोग करते समय इस बात का ध्यान रखना होता है कि संगीत के खण्ड अधिक लम्बे न हों। ऐसा करने से नाट्य-व्यापार में बाधा आने का भय रहता है।
- संवादों की पृष्ठभूमि के रूप में संगीत इस प्रकार से आना चाहिए कि वह पृष्ठभूमि का संगीत ही प्रतीत हो। कई बार संगीत का स्वर-भार इतना अधिक होता है कि वह संवादों को दबा देता है। इस प्रकार के दोषपूर्ण प्रयोग से बचना चाहिए।
- संगीत का चयन सुरूचिपूर्ण और नाट्य-स्थितियों के अनुकूल होना चाहिए।
- रेडियो नाटक में जहाँ अनिवार्य हो, वहीं संगीत का उपयोग करना चाहिए। अनावश्यक संगीत के अधिक मात्रा में इस्तेमाल से नाट्य-प्रभाव में शिथिलता आने की शंका बनी रहती है।

निष्कर्ष :

संगीत का नियोजन नाटक-प्रसारण के समय निर्माता ही करते हैं, पर नाटक लिखते समय लेखक की मानसिक दृष्टि के सम्मुख यह बात स्पष्ट रहती है कि वह किन स्थलों पर संगीत का उपयोग किन रूपों में करना चाहता हे। नाटककार अपनी रचना में संगीत का निर्देश-भर कर देता है। सफल रेडियो-नाटक के लिए यह आवश्यक है कि संगीत जहॉ तक नाटक में कोई प्रयोजन सिद्ध करें, वहीं तक उसका व्यवहार होना चाहिए।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1. कुमार, सिद्धनाथ रेडियो नाट्य शिल्प, 1955, भार्गव भूषण प्रेस, पृ0-19

2. वर्मा, डॉ0 हरिश्चन्द्र नई कविता के नाट्य काव्य, 1977, शोध प्रबंध कुरुक्षेत्र वि0वि0, पृ0-61
3. प्रभाकर, विष्णु अशोक तथा अन्य एकांकी नाटक, 1956, रामनारायण प्रकाशन, पृ0-10
4. Gielgud, Canval 'Radio Theatre' (Forward), 1946, Macdonald & Co.P.14
5. Felton, Felix The Radio Play, 1949, Sylvan press, P.50.
6. कुमार, सिद्धनाथ रेडियो नाट्य शिल्प, 1955, भार्गव भूषण प्रेस, पृ0-56
7. चिरंजीत का नाटक, बिल्वमंगल की आँखे, रेडियो-नाटकः एक संकलन, पृ0-156
8. खन्ना, हरिश्चन्द्र रेडियो-नाटक, 1955, आत्माराम एंड संस, पृ0-149
9. खन्ना, हरिश्चन्द्र रेडियो-नाटक, 1955, आत्माराम एंड संस, पृ0-159
10. कुमार, सिद्धनाथ रेडियो नाट्य शिल्प, 1955, भार्गव भूषण प्रेस, पृ0-59

'नाचा' छत्तीसगढ़ का लोकनृत्य

कविता तिवारी

भारत एक विशाल देश है यहाँ विभिन्न संस्कृति के लोग रहते है। लोकनृत्य कला एक आनंद और उल्लास का पर्व है, जो पहले गीतों द्वारा प्रस्तुत होता है, फिर गीतों के पद के साथ शरीर के अंगसंचालन को जोड़कर लय और ताल मे बांध कर नृत्य का रूप दिया जाता है लोकनृत्य और लोक नाट्य द्वारा किसी भी प्रदेश की संस्कृति की अभिव्यक्ति होती है। रंग बिरंगे वस्त्र, आभूषण और विशिष्ट प्रकार की आकृतियों के मुखौटे, वाद्य, और गीत नृत्यों के अभिन्न अंग है जो लगभग सभी त्योहारों में ऋतुओं विवाह जन्म के अवसरों में किये जाते है। यह नृत्य जनजाति के बीच उनके रीति रिवाजो के अंग के रूप में एक से दूसरी पीढ़ियों में हस्तांतरित होती है। जो आनंद और खुशी की अभिव्यक्ति के साथ समाज को जाग्रत करने का कार्य करती है लोकनृत्य जनसंस्कृति परम्पराओं को दिखाने का सुन्दर और सरल माध्यम है।

छत्तीसगढ़ का लोकनृत्य समस्त भारत मे विशिष्ट स्थान रखता है। यहाँ के नृत्य विशेष शैली और वेशभूषा क।रण विश्व प्रसिद्ध है। यहाँ के अत्यंत समृद्ध लोकनृत्य, नृत्यकथाएं अलग ही पहचान रखती है। यहाँ की बैगा, मुरिया, गौड जाति, लोकनृत्य को करती है। छत्तीसगढ़ में किया जाने वाला पारम्परिक लोकनृत्य नाचा है, जो छत्तीसगढ़ की बोली में ही किया जाता है, इसे गहिरा नृत्य भी कहते है। नाचा में एक रूप गम्मद का भी है जो प्रहसन का ही एक रूप होता है। यह नृत्य पहले महाराष्ट्र में होता था। वही से यह नृत्य छत्तीसगढ़ में आया। पहले यह नृत्य खड़ी साज और मशाल नाच से जाना जाता था, अतः इस नृत्य को खड़े-खड़े ही मशाल लेकर नाचा जाता था, क्योकि उस समय बिजली नहीं होती थी और वही धीरे-धीरे शैली के रूप में हमारे सामने है। वर्तमान में नृत्य प्रकाश में करते है तब भी मशाल जलाते है। लोग विशेष वेशभूषा पहनकर लट्ठ सजाकर टोली बनाकर नाचते है।

पारम्परिक नाचा शुरू करने से पहले साकी यानि बैठकी गीत गाते है जो संस्कृत के श्लोक दोहे जैसे गुरु स्तुति गुरु ब्रह्मा गुरु विष्णु गुरु देवो महेश्वरः, गुरु साक्षात् परब्रह्मा तस्मै श्री गुरुवेः नमः लेकिन खास बात यह है की इस श्लोक को अलग अंदाज और छत्तीसगढ़ी भाषा में गाते है- 'सबकुछ दीन्हो आपने, भेट करू क्या नाथ, नमस्कार की भेट लो, जोड़ो मै दोनों हाथ, इसके बाद गीत गाते है। बाबा तू ही है मेरा सहारा, संत बाबा लाज रख लेना हमारा।

इस तरह सबसे पहले बैठकी गीत मे लोक देवता का आह्वाहन करते है फिर वंदन गाते है। गीत मे उपजन बड़हनो, खेलन माँ धरती के गोदी मरे, एक जान माँ के सबरो बेटा, मैं के भेद मिटावो रे।

मोर धरती महतारी हो, मोर धरती महतारी, एक जान मजे सबो जान बेटा, मैं के भेद मिटाओ, मोर धारती महतारी, मोर धारती महतारी, संत समाज के लइका मन के, कर लेवे तेइ चिन्हारी। (प्रसाद रौशनी)

जिस प्रकार से स्वर्गलोग मै परी की कल्पना की गई है, वैसे ही यहाँ भी परी की कल्पना की गई है। वंदन के बाद परी गीत करते है, किन्तु यह नृत्य केवल परुष वर्ग ही करते है इसमें बाल, किशोर, युवा, प्रौढ़ सभी भाग लेते है। इसमें परी भी पुरुष ही बनते है, स्त्रियों की एंट्री वर्जित होती है। परी गीत 3 प्रकार के -1. परीगीत 2. जनाना परीगीत 3.जोकर गीत 4 लोटा परीगीत 'बाबा तू ही है मेरा सहारा, संत बाबा लाज रख लेना हमारा'

जोकर नाट्य और नृत्य मै सूत्रधार की भूमिका निभाते है। ये परिया गीत गाने के साथ-साथ नृत्य भी करते है। इनके बाद दो जोकर आते है जो आपस मै गा-गा कर बुझौअल करते है, यानि (सवाल) पहेली पूछते है। सदा भवानी दायनी, सन्मुख रहे गणेश, पांच देव मिली रक्षा करे, ब्राम्बे विष्णु महेश। चौदह चरण दस नेत्र है, पांच मुड़ी जीव चार है, उल्टा गहरा पनिहारिन के, संगी करो विचार।

इस प्रकार पहेली करते है की समाज मे मै क्या परिवर्तन हो रहे, क्या समस्यां हो रही। पुराने चीज़ो को आधार बनाते हुए वर्तमान की बात भुझौअल करते हुए करते है। रमा हो भजो भजो गणपति ला, रमा हो भजो भजो गणपति ला, गणपति ला.. मिर्चा मे चुरकुर बसे बंगला मा अमसूरजी। धनिया मा खुशबू बसे, चटनी मे चकनाचूरजी ,चाहे बर्तन बिके तमाम हो, भजो भजो गणपति ला। अतः किसी भी हालत मे ईश्वर को नहीं भूलना है इसके बाद लोटा परी आती है आइहो जरनिगनी मोरोगा-3 सावन कासे चुहत रइथे पसीना, पानी मोरोगा मई मझगार टूट गए जारी जिंदगी, पानी मोरोगा मई मझगार टूट गए जारी जिंदगी अर्थात पूरी जिंदगी कमाई मे लगा कर शरीर टूट गया। लोटा परी के बाद पुनः गीत गाते है गाइये गणपति जगबंदन,पति जगबंदन हो पति जगबंदन, मंगत तुलसी दास कर जोरि,. बसहु राम-सिया मानस मोरी। गाइये हो पति जगबंदन, पति जगबंदन।

ज्यादातर देवार जनजाति और सतनामी लोग इस नृत्य को करते है। पंथी नृत्य सतनामी जाति का पारम्परिक लोक नृत्य है। विशेष त्योहारों मे पंथी गीत और नृत्य करते है, जो पंथियों के प्रसिद्ध गुरु घासीदास के जीवन का चरित्र चित्रण होता है। सतनामी और देवार जाति गुरुदासी की महिमा गाते है उनके पंथ मे चलने की बात करते है साथ-साथ नाचा भी करते है। विशेष पंथ का होने से इसका नाम पंथी नृत्य है। इसमें एक मुख्य नर्तक गाने की कड़ी को बोलता है और समूह के अन्य नर्तक दोहराते हुए नृत्य करते है, और महिला समूह सर मे कलश रखकर नाचती है।

परिधान के रूप मे महिलाऐं छींट,प्रिंट मे, कछनी वाली धोती ब्लाउस पहनती है। चाँदी के जेवर कड़ा, छडा, करधन, मांग टीका पहनते है। बालों मे जुड़ा और ज्यादा श्रृंगार करती है, वही पुरुष धोती-कुरता, जैकेट, पगड़ी पहनकर सर मे रंगीन, मनमोहक कलगी बांधते है। नाच मे प्रमुख रूप से पांच पात्र होते है- तीन परी और दो जोकर और बांकी सहयोगी पात्र होते है। वाद्य यंत्रों मे चिकारा, मंजीरा और मादल, मोहरी, गुरुडम, निशान, दफड़ा, टिमकी झुमका, झुनझुना, झांझ, प्रमुख यन्त्र है चिकारा तारवाद्य यन्त्र है जो सारंगी की तरह होता है। वर्तमान मे मादल की जगह तबले हारमोनियम और बेंजो भी प्रयोग होने लगा है।

पहले पारम्परिक नाट्य मे खड़ी साज यानि की खड़े-खड़े बजाते थे। किन्तु वर्तमान मे कोरस संगीत पक्ष बैठकर बजाते है। वही नर्तक नकली वाद्ययन्त्र बजाने का स्वांग करते है कोई चिकारा तो कोई मादल बजाने का नाट्य करते है। इनका नृत्य ढेकी से प्रभावित 'तहत' है जिसमे एक पैर एक ही जगह रहता है और दूसरा पैर आगे-पीछे गति करता है। नाच का एक लोकप्रिय गीत-अरे मस्के समोसा कोठारी तारी राजा मोरे मस्के समोसा रे कोठरी तारी,...बीच

बीच मे संवाद भी करते है जैसे अरे मामा कैसे मस्के है .. कोनहु टेबल के ऊपर से मस्कत है कोनहु टेबल के नीचे से मस्कत है। फिर सूपा कहत है - मै सबसे सयान, मै सबसे सयान, मै नहीं पचरियों तो कौन पछोरी धान, ढांढकद्धाम... धकड़धम बजे बहना रे। ढेकी कहत है मै सबसे सयान मै सबसे, मै हर नहीं कुटियो तो कुटी धान, धकड़धम धकड़धमबाजे, बहना रे.. ये लोग चीज़ो को लेकर वर्तमान मे घट रही सामाजिक तानो-बानो को सामने लाते हैं, जैसे- सभी अपने को बड़ा कहते है। कोई यह मानने को तैयार नहीं की उनमे कमी है या छोटे है। सभी खुद को बड़ा और महत्वपूर्ण बताते है। बीच बीच मे कहानी भी कहते है।

नाचा नृत्य किसी भी उत्सव और त्यौहार मे करते है। किसी के यहाँ, मुंडन, शादी, कन छेदन, बरहो या तीज त्यौहार मे किया जाता है। यह नृत्य ज्यादातर जन्मास्टमी, नवरात्रि, गणेश उत्सव, दिवाली और दसहरा में किया जाता है।

यह नृत्य आजकल आयोजकों द्वारा फ़िल्मी तरीके में किया जाने लगा है। नाच में अलग-अलग कलाएं, अलग-अलग लोक-कथाएं, लोकगीत, लोकोत्तियाँ संस्कार गीत है जो जन्म से लेकर मृत्यु तक करते है। जनम के समय सोहर गीत, गाते है, जिसे जन्म संस्कार गीत कहते है जो की प्रसव पीड़ा को कम करने के लिए म्यूजिक थेरेपी का काम करते है। जिसमे स्त्रियां भी भाग लेती है अनेक परिवर्तन समय के अनुशार हो रहे है। उसके बाद छथि बारहो मुंडन, ललना गीत लोरी गेट, कन छेदन गीत, जनेऊ संस्कार गीत, हर अवसर पर नृत्य होता है इसके बाद विवाह गीत माटी-मागर से लेकर तेल चढाने से लेकर, द्वारचारगीत, चढाव गीत, बननी गीत, लावा परसाई गीत, कन्यादान गीत, बिदाई गीत, जारी गीत, कलेवा गीत, परछन गीत, कंकण मांझना गीत, करते है। किन्तु आजकल ये गीत की प्रथा काम हो रहे है। समय की कमी और आधुनिकता के चलते स्त्रियाँ भी सजाने संवारने में लगी रहती है। शहरों में यह गीत लगभग खत्म हो चुके है। गाँवों में अभी भी कही-कही इनकी झलकियां मिल जाएंगे। मृत्यु के समय भी कर्मा गीत गाते है जिन्हे कर्मकांड गीत कहते है। बैगा, गौड जनजाति में आज भी गीत गए जाते है।

कर्मकांड गीत - 'माता मरे से ये मन् भाई, टूट गए, पिता मरे संसारा, भाई मरे ते बहियाँ टूट गई, बहन मरे संसारा'।

लोक नाटकों का मूल आधार परम्पराएं रीतिरिवाज़ होती है स जिसमे धार्मिक सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्यों का समावेश रहता है। यह लोक में व्याप्त समस्त भावनाओं को अभिनय के द्वारा दिखाने का सरल और कम खर्चीला माध्यम है। लोकनृत्य परम्परों को सहेजने के साथ बेहतर स्वास्थ्य, मन मस्तिष्क और शरीर को निरोगी रखता है। मन में उमंग और शरीर ऊर्जावान होने के साथ तनाव कम करता है। शास्त्रीय नृत्य का आधार लोकनृत्य होते है, क्योंकि शास्त्रों का आधार लोक ही लिया गया। जिस तरह से अन्य लोक नृत्य में विभिन्न प्रकार की मानवीय कल्पनाएं नृत्य के माध्यम से लोक परंपरा को में दिखाया जाता है, अर्थात शास्त्रोक्त लोक धर्मिता का अवगाहन इस नाच नृत्य में होता है। पुरुष वर्ग दिनभर के दैनिक कार्यकलापों को पूरा कर शाम को अपने समाज में ईश्वर की भक्ति हेतु लोक भजन कीर्तन, गा गाकर परंपरा अनुसार लोक धर्मी गुण को अपनाते हुए लोकगीत के माध्यम से अपने आध्यात्मिक तथा ईश्वर गान का अभ्यास करते हैं, साधना करते हैं, क्योंकि हमारी लोक परंपरा में ईश्वर का स्थान सर्वोपरि है।ताल को बनाए रखने के लिए मंजीरा,झांझ, डफला आदि का प्रयोग करते हैं। मूल ईश्वर नाम कीर्तन सायंकाल नाचा नृत्य के परंपरागत भावों को ध्यान में रखकर यह नृत्य किया जाता है। यह छत्तीसगढ़ का वह स्थान है जो अमरकंटक क्षेत्र से लगा हुआ है, जैसा कि हम पूर्व में जानते हैं कि अमरकंटक कबीर दास जी की साधना स्थली थी। अर्थात कबीरपंथी विचारों का यहां के आसपास के क्षेत्र में प्रभाव

दिखता है। प्रयोग किए जाने वाले दोहे कुछ इसी शैली के बनाए जाते हैं। ईश्वर नाम संकीर्तन का घर-घर में प्रचार हो, इसलिए पुरुष और स्त्री दोनों का रोल अदा कर ग्रामीण जन अपने टोला, पड़ोस में आसपास सायंकाल बैठकी द्वारा इस नृत्य को संपादित भी करते हैं और बैठकी गीत भी गाते हैं। इस नृत्य हेतु मादल, मंजीरा, डफला का उपयोग करते हैं। नाचा लोक नर्तक के हाथ में रंगीन डंडा रखने की परंपरा है। संपूर्ण नृत्य का साहित्य, छत्तीसगढ़ी लोक परंपरा के परिधान, पर वहां की लोग धर्मी रूप सामग्रियो पर जैसे कलगी, झूमर ,पगड़ी, घूमर इत्यादि का प्रयोग होता है। हमारे छत्तीसगढ़ का एक मनमोहक कला संस्कृति में लोक कला का विशेष नृत्य है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूचि :

1. https://youtu.be/KEbCFEmRfYg?si=LrNfqB0XJvA8nJrq...loknritya
2. https://youtu.be/9vTzsd3Fksk?si=vIE80V-R4xzDIR3c
3. रौशनी प्रसाद मिश्रा ,नाट्य रंगमंच और लोकनृत्य प्रशिक्षक, सीधी (म.प्र.), 2023
4. https://youtu.be/AkpFQvYwI50?si=ALb_vBjvO8M8OVZo
5. दिनेश भट्ट, लोक नृतक, छत्तीसगढ़ 2023
6. https://youtu.be/HArgL4M01PI?si=dTJM5lilfvmtyBGU
7. https://youtu.be/HArgL4M01PI?si=dTJM5lilfvmtyBGU

लोकनाट्य में हिंदुस्तानी संगीत के तत्व

मनीषा
सहायक आचार्य (संगीत गायन)
श्रीमती बीडी जैन गर्ल्स, (पी.जी.) कॉलेज
आगरा छावनी, आगरा

भारतीय संगीत शास्त्र के क्षेत्र में सर्वप्रथम उपलब्ध ग्रंथ भरत कृत नाट्यशास्त्र है। यद्यपि यहग्रंथ नाट्य का है किंतु नाटक के सहयोगी तत्वों के रूप में संगीत को स्थान मिला।

गीते प्रयत्नः प्रथमस्तु कार्यः शय्यां हि नाट्यस्य वदन्ति गीतम्।

गीतेऽपि वाद्येऽपि च सम्प्रयुक्ते नाट्यप्रयोगो न विपत्तिमेति॥

नाट्यशास्त्र आ. 32
(बड़ौदा संस्करण)

अर्थात् नाट्य प्रयोक्ता को सर्वप्रथम गीत प्रयोग करना चाहिए। विद्वानों ने गीत को नाट्य की शय्या मानाए यदि नाट्य में गीत और वाद्य का प्रयोग उचित ढंग से किया जाए तो नाट्य प्रयोग सुलभ हो जाता है।

नाट्य में संगीत की उपयोगिता को समझाने से पूर्व नाट्य के उद्भव व विकास के विषय में जानकारी आवश्यक है।

हरिवंश पुराण जिसे महाभारत का खिल ग्रंथ माना जाता है खिल अर्थात शेष भाग जो पीछे से जोड़ा जाता है। महाभारत में बहुत से ऐसे तथ्य जो छूट गए थे उन्हें इस ग्रंथ में लिखा गया। यह एक संग्रह ग्रंथ है। इस ग्रंथ में सामऔर गंधर्व के अतिरिक्त है। हल्लीसक और छालिक्य का उल्लेख हुआ है।

विद्वानों ने हल्लीसक और छालिक्य का संबंध रास से जोड़ा है अर्थात यह एक नृत्य विधा है। ऐसा माना जाता है कि इस लोक नृत्य को भगवान कृष्ण ने अपनाया और इसमें परिवर्द्धन कर इसे रास का रूप दे दिया। आगे चलकर हल्लीसक एक उपरूपक बन गया। उपरूपक का शास्त्रों में अर्थ श्छोटा सा नाटकश् अर्थात उपरूपकद्य उपरूपक या हल्लीसक के वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि हल्लीसक एक प्रकार का नृत्य नाटक (बैले) था। हल्लीसक का प्रारंभ अवश्य ही लोकनृत्य के रूप में हुआ किंतु परिष्कृत व परिवर्द्धन हो यह एक नृत्य नाट्य रूप में प्रचलित हुआ द्यहरिवंश पुराण में रंगमंच का भी वर्णन मिलता है। रंगमंच का संगीत प्रायः नृत्य मिश्रित अभिनय सहित होता है। हरिवंश पुराण में यह भी प्रमाण मिलता है कि रंगमंच पर श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युमन और साम्ब ने वङ्कानाभपुर में साम राग और क्षालिक्य का प्रयोग किया था।

हरिवंश पुराण के पश्चात नाट्य विधा का विस्तृत वर्णन भरत कृत नाट्यशास्त्र में ही प्राप्त होता है। नाट्यशास्त्र में नाटक के आवश्यक अंगों को इस प्रकार वर्णित किया गया।

रसा भावा ह्याभिनयाःधर्मीवृत्तिप्रवृत्तयः।
सिद्धिः स्वरास्तथातोद्यं गानं रङ्गश्च संग्रहः॥

रस, भाव, अभिनय, धर्मी (नाट्यप्रयोग), वृत्ति (अभिनय शैली) प्रवृत्ति (प्रादेशिक प्रवृत्ति), सिद्धि,

स्वर, आतोद्य, गान और रंग आवश्यक रूप से सम्मिलित होने चाहिए।

आचार्य भरत मुनि कृत नाट्यशास्त्र में सादृक का वर्णन मिलता है। सादृक को आधुनिक नाटक का प्राचीन रूप माना जाता है। इसी को आधार मानकर आचार्य जयशंकर प्रसाद और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने नौटंकी की रचना की द्यछायावादी कवियों ने नौटंकी को नाटकी का अपभ्रंश माना लोक नाट्य को आज भी ग्रामीण क्षेत्रों में आज भी नौटंकी के नाम से ही जाना जाता है और आज भी ग्रामीण इलाकों में नौटंकी का आयोजन होता है। लोक नाट्य का पर्याय स्वांग को भी माना जाता है। यदि स्वांग को नौटंकी कहा जाए तो यह किंचित भी गलत नहीं होगा। औरंगजेब के शासनकाल में स्वांग के समान 'भगत' लोकनाट्य का भी उल्लेख मिलता है। अर्थात लोकनाट्य ने प्राचीन काल से लेकर अब तक हल्लीसक, क्षालिक्य, उपरूपक रासरूपक, सादृक, स्वांग, भगत, लीला आदि पर्याय में विकास कर अपना अस्तित्व बनाया है। लोक नाट्यों में संगीतात्मक तत्व की समीक्षा करने से पूर्व लोकनाट्य के उद्गम और विकास को जाना अनिवार्य था जिसको वर्णित करने का प्रयास किया। लोकनाट्य में प्रयुक्त हो रहे संगीत तत्वों का वर्णन करने का प्रयास है।

लोकनाट्यों संगीत की रचना करने वाले व्यक्ति सामान्यतः शास्त्रीय संगीत से अनभिज्ञ होते हैं। लोक नाट्यों के मर्म के अनुरूप काव्य की रचना की जाती है और काव्य के पद अनुरूप संगीत की रचना की जाती है। लोकनाट्य की रचना सामान्यता क्षेत्रीय बोली में की जाती है

अगर सरल और सहज भाषा में यह कहा जाए कि लोक नाट्य के साथ लोकगीतों का गायन किया जाता है तो गलत नहीं होगा। यदि इन गीतों की पदरचना पर गहन दृष्टि डाली जाए तो प्रत्येक लोकगीत में एक लोकनाट्य निहित है उदा.

अरे अरी कारी कोयलिया।
आंगन मोरे आवउ हो।
कोइलरी आजु मोर पहिलई बियाह
नेवता दइ आवउ हो।।

इस गीत में गायिका (माँ) के घर पहला बेटी का विवाह हो रहा है। गायिका सारे काम पहले से ही कर लेना चाहती है और कोयल से कहती है की मेरे घर पहला विवाह है जाओ तुम सब को शादी का निमंत्रण (नेवता) दे आओ। यदि इस गीत पर कोई नाटक रचना चाहे तो यह बड़ी सरलता से एक लघु नृत्य नाटिका बन सकती है।

इन लोकनाट्यों में प्रयुक्त हो रहे गीतों की स्वर रचना पर दृष्टि डालें तो यह प्रतीत होता है कि प्रायः ग्रह स्वर (जिस स्वर से गीत प्रारंभ होता है) अंश स्वर (जिस स्वर पर बार बार रूका जाता है) न्यास स्वर (जिस स्वर का प्रयोग गीत के अंत में होता है) गीत प्रवृत्ति प्रयुक्त होती है अर्थात स्वर रचना अत्यधिक सरल, सहज व सरस होती है। बिना किसी जटिल स्वर समूह के सरल धुनों से रची जाती है। इन गीतों की रचना का प्रयास नहीं अनायास सरल स्वर व लययुक्त में कर दी जाती है। मुख्यतः इन गीतों की स्वर रचना सप्तक के पूर्वांग भाग सा, रे गा, मा व उत्तरांग भाग पा, धा, नि सा के आधार पर की जाती है। इन गीतों का आधार सामान्यतः किसी एक भाग पर अवलंबित होता है। इन गीतों में शुद्ध स्वरों की अतिरिक्त कोमल गा और नि का प्रयोग मिलता है जो शास्त्रीय संगीत अनुसार खमाज, काफी, बिलावल थाट के अंतर्गत आएँगे। किंतु एक आवश्यक तथ्य यह है किये गीत स्वर आधार पर ठाठ के अंतर्गत आ सकते हैं किन्तु राग के अन्तर्गत नहीं। ज्यादातर गीतों में सा, गा, मा, प, पर न्यास किया जाता है। इसके अतिरिक्त खटका, कण आदि का प्रयोग गायक स्वतः ही कर लेता है जो इन गीतों की अपनी विशेषता है।

लोकनाट्य में भले ही कई वर्षो तक महिलाओं का प्रवेश वर्जित रहा किन्तु इसमें प्रयुक्त गीतों में महिला व पुरुष दोनों के गीत प्रयोग किए गए केवल

अन्तर इतना रहा कि पुरुषों द्वारा गाये गये गीतों में श्रम, जाति आदि की विशेषता रहीं तथा महिलाओं में ये गीत संस्कार, ऋतु, वेदना, पीड़ा, व्रत आदि कोमल गायिकी की विशेषता रहीं। पुरुषों द्वारा गाये गये गीतों में गंभीर ध्वनि के साथ-साथ स्वर चयन वा गायन शैली में रे व ग स्वर पर विशेष बल परिलक्षित होता है वहीं स्त्रियों द्वारा गाये गये गीतों में कोमल भाव म, प स्वर के साथ कोमल नि प्रयोग व सरल सुमधुर लयकारी प्रयुक्त होती हैं।

अंततः निष्कर्ष में यह कह सकते हैं कि लोक नाट्यों में प्रयुक्त धुनों की रचना सामान्यतः कंठ परिधि के निकट सरलता, सहजता के अनुरूप की गयी इन धुनों में सीमित स्वरों में उच्च भावों की अभिव्यक्ति की क्षमता है। संगीत मे प्रयुक्त स्वर सम्वाद से अनभिज्ञ रचनाकार नाट्य वा संगीत का सम्वाद कर विचारो में तीव्रता ला सकता हैं। कई बार नाट्य में प्रदर्शित दृश्य के साथ स्वर का न्यास इतना हृदयस्पर्शी होता हैं कि वह दृश्य मनः पटल पर सदैव के लिए अमर हो जाता है। किसी भी धुन की रचना स्वर शब्द व लय तीनों के बिना सम्भव नहीं यदि इनमे से कोई एक भी पृथक हो जाय तो कोई भी नाट्य सफल नहीं हो सकता। अतः नाट्य के साथ संगीत और संगीत के साथ नाट्य ठीक उसी प्रकार हैं जिस प्रकार आत्मा के साथ शरीर।

सन्दर्भ सूची :

1. सिंह, डॉ. ठाकुर जयदेव, भारतीय संगीत का इतिहास, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
2. सिंह, संजय कुमार, भोजपुरी लोक संस्कृति एवं हिन्दुस्तानी संगीत, कनिष्क पब्लिशर्स, डिस्ट्रीब्यूटर, नई दिल्ली।
3. सिंह, डॉ. विद्या विंदु, अवधी लोकगीत विरासत, ज्ञान विज्ञान एजुकेयर।
4. उपाध्याय, डॉ. कृष्णदेव, भोजपुरी लोकगीत (द्वितीय भाग), हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

सांग में संगीत परंपरा एवं प्रयोग

मनजीत कौर
पी.एच.डी. शोधार्थी (संगीत विभाग)
गुरुनानक देव विश्वविद्यालय, अमृतसर

हरियाणा एवं सांस्कृतिक लोक संगीत : हरियाणा ऐतिहासिक दृष्टि से कितनी सदियों पुराना भी हो, इसका परिचय वैदिक काल से हो या ऋग्वेद में भी हो फिर भी राजनीतिक कार्यकाल के अनुसार भारतीय मानचित्र पर इसका स्वतंत्र उद्गम 1966 में हुआ।[1] राजनीतिक उथल-पुथल के कारण इसका विकास बहुत धीमी गति से हुआ यहाँ के लोगों में कृषि देश होने के कारण देहाती भाव ज्यादा दिखाई पड़ते हैं। इस देव-भूमि भी कहा जाता है। यहाँ का जल-वायु भारत के अन्य प्रांतों से अलग भी है और विशेष भी। आज भी हरियाणवी लोगों ने अपना सदाचारी जीवन ही रखा है। यहाँ के लोग देव मुनियों के उपासक होने के साथ-साथ मेहनती और सुडोल माने जाते हैं। यहाँ की वेशभूषा, खानपान, रहन-सहन इत्यादि, इस प्रदेश की हरियाली के जैसे ही तरोताजा है। देवभूमि से लेकर युद्ध-भूमि तक ऐतिहासिक दृष्टिगोचर से अधिक बलवान है, और खेलकूद में भी भारत के बाकी प्रांतों से आगे माना जाता है। दूसरी तरफ देखा जाए तो यहां का लोक संगीत एवं शास्त्रीय संगीत भी उतना ही प्रचलित है। जहां हरियाणा प्रदेश में शास्त्रीय संगीत का सुप्रसिद्ध सोनीपत-पानीपत सारंगी घराना मशहूर माना जाता है, वहीं पंडित जसराज जैसे कलाकार भी यहीं से निकले माने जाते हैं। हरियाणा प्रदेश का लोक संगीत भी अपनी एक अलग पहचान रखता है।

सांग की परंपरा : हरियाणा का कौमी नाट्य हैः सांग या स्वांग, स्वांग का सामान्य अर्थ किसी भी वेशभूषा का भाषा आदि का अनुकरण करना है।[2] संगीत का आश्रय लिए जाने के कारण ही संभवतः सांग को संगीत कहा गया है, परंतु साधारण रूप से अभिनय और अनुकरण की प्रधानता होने के कारण संगीत की अपेक्षा स्वांग या सांग शब्द ही अधिक लोकप्रिय है।[3] दरअसल सांग, स्वांग का अपभ्रंश रूप है, जिसका अर्थ है- भेष बदलना। सांग की उत्पत्ति के विषय में अनेकों मतभेद प्रचलित है। माना जाता है कि इसके उद्भव से पूर्व समाजिक संस्कृति के अधीन अवसरों पर मनोरंजन के लिए विशेष नक्कान, वेश्याओं को आमंत्रण होता था, जिसमे नक्काल भिन्न-भिन्न लोगों की नकले बनाकर दर्शकों का मनोरंजन करते हैं और वेश्वाएं नृत्य कर जन-समूह को प्रभावित करती है। कालक्रम में यह विशेष कार्य धीरे-धीरे सांग के रूप में परिवर्तित हुए। लैला मजनू जैसी श्रृंगारिक परक गाथाओं का नाट्य रूप में प्रचलन प्रारंभ हो गया, जिससे नृत्य संगीत और अभिनय प्रदर्शन पुरुषों द्वारा स्त्री वेशभूषा अपनाकर किया जाने लगा। ऐसी स्थिति में किशन लाल भट्ट ने ही स्त्रियों के स्थान पर पुरुषों द्वारा सांग की परंपरा आरंभ की। जिसमें नाट्य, नृत्य, गीत आदि के साथ-साथ अनेक वाद्यों का प्रयोग तथा वाद-संवाद आदि का प्रयोग निहित है।[4] कुछ मतों के अनुसार सांग को नौटंकी का रूप माना जाता है। जो पश्चर्त्वी समय में स्वतंत्र रूप से प्रचलित हुआ। नौटंकी, केवल प्रेम कथाओं से युक्त श्रृंगारिक प्रसंगों को ही महत्व दिया गया है, जबकि सांग में ऐतिहासिक वीर

गाथाएं, सामाजिक प्रसंगों एवं शृंगारिक प्रसंगों आदि, सभी प्रकार की गाथाओं को लोकनाट्य के रूप में प्रदर्शित करने की चेष्टा की गई।[5]

सांग की सांगीतिक : उत्पत्ति एवं विकास एवं प्रचलन को लेकर विद्वानों के अलग-अलग मत है, जैसे सांगीतिक का अर्थ संगीत गोष्टी, सुर-ताल से युक्त गान या सार्वजनिक उत्सव जिसमें नाच व गान हो माना जा सकता है।[6] सांग या स्वांग करना, नाट्य करना, नौटंकी करना हो इन सब में कहीं भी संगीत या नाट्य अलग नहीं किया जा सकता, डॉ. दुर्गा दीक्षित के अनुसार संगीत एक स्वतंत्र कला रूप है, यहां संगीत और नाट्य का अलग-अलग अनुभव नहीं होता। नाट्यमय संगीत और संगीतमय नाट्य की एक साथ प्रतीति 'सांगीतिक' में होती है। सांगीतिक में संगीत और नाट्य के समन्वय की प्रक्रिया परस्पर पूरक एवं प्रेरक होती है।[7]

सांग में विभिन्न पक्ष हैं, जिसमें संगीतिक पक्ष का पूर्ण समावेश होता है :

1. मंच
2. गुगा घमोड़ा
3. मशालची
4. कथानक
5. पात्र
6. कथोपकथन
7. नृत्य
8. साज़ और साजिंदे
9. छन्द।[8]

1. **मंच :** इसका मंच सीधा-सीधा एवं खुले स्थान पर होता है। इसमें परदों की कोई व्यवस्था नहीं होती। साजिंदे भी इसी मंच पर वहीं एक तरफ वाद्यों को मिलाते और बजाते हैं। अभिनेता वहीं आकर गाते और नृत्य एवं अभिनय करते हैं।
2. **गुगा घमोड़ा :** मंच पर सभी अभिनेताओं और सजिंदों की उपस्थिति होने के उपरांत सांग का प्रारंभ गूगा घमोड़ा के नाचने से होता है। कागज़ और बांस से बने रंग-बिरंगे घोड़े के बीच खड़ा होकर आदमी नृत्य करता है। ऐसे लगता है जैसे कोई सवार घोड़े की सवारी कर रहा हो और घोड़ा नृत्य। गूगा में ढोल की बजती धुन इस बात का प्रतीक होती है कि सांग आरंभ हो रहा है और ढोल की आवाज़ सुनते ही दर्शक मनोरंजन के लिए एकत्रित होने लगते है।
3. **मशालची :** सागं का प्रदर्शन रातों को होने के कारण वर्ष आरभिम्क काल में प्रकाश का कोई उचित प्रबंध नहीं था यथा मशालों से काम लिया जाता था। विशेष व्यक्ति मशाल हाथ में लिए आवश्यकता अनुसार मंच पर ऐसे घूमता था कि अभिनय कर रहे पत्रोंपर विघ्न न पड़े। अधिकांक्षित प्रकाश की व्यवस्था पूर्ण होने ही बाद में मशालची की आवश्यकता खत्म हो गई।
4. **कथानक :** इनके लिए कोई वशिष्ठ नियम नहीं है। यह ऐतिहासिक एवं पौराणिक हो सकता है। कोई ऐसा विषय जिसमें संगीत रम जाए, पात्रों को अभिनय करने, नृत्य एवं वादन करने वालोंका पूर्ण ध्यान करके चुनाव होता है। जैसे- राजा हरिश्चंद्र, द्रोपती चीर हरण, कृष्ण सुदामा इत्यादि। अथवा लोक कलाओं में से कंवर निहालदे, शरणदे और भक्ति परम में से मीराबाई का संगीतिक गुण-गान, ध्रुव भगत, सत्यवान सावित्री एवं गूगा पीर की कथाएं। अंतः सांग के लिए केवल उसके नाटकीय कथा ही प्रधान वाच्छनीय तत्व होता है।
5. **पात्र :** सांग प्रदर्शन करने के लिए केवल चार या पांच पात्र ही होते है। दो पात्र स्त्री वेश्वाधारी होती है, जो संगीत उपयुक्त अभिनय करते एवं दो या तीन पात्र पुरष वेशधारी आवश्यकता होने पर एक पात्र ही दो या तीन सहायक पात्रों का अभिनय कर लेता है।
6. **कथोपकथन :** सांग में वार्ता और संगीतात्मक कथोपकथन प्रायः दो प्रमुख अंग होते हैं। वार्ता प्रायः गद्य में होती है जबकि संगीतात्मक कथोपकथन पद्य के रूप में किया जाता है।[9] कभी-कभी सांगी के द्वारा काव्यात्मक रूप से प्रसंग की उच्चारना की जाती है अथवा संगीतात्मक

रूप से वाद-संवाद का प्रयोग कर प्रदर्शन किया जाता है।

7. **नृत्य :** संगीतमय माहौल बनाने के लिए स्त्री वेशाधारी पात्रों द्वारा नृत्य किया जाता है। यह केवल कथानक को स्पष्ट करने अथवा रंजकता प्रदान करने मात्र किया जाता है। दर्शकों की उपस्थित मंच पर चारों ओर होने की वजह से नृत्य घूम-घूम कर किया जाता है। सांग में प्रयुक्त नृत्य केवल मंच पर घुंघरू की झंकार, कमर का मटकना एवं घूम-घूम कर चारों तरफ चक्कर लगाना ही विशेष अंग है।

8. **साज और साजिंदे :** इसमें अधिकतर सारंगी और ढोलक वाद्यों का प्रयोग होता है। इसके अलावा नगाड़ा, डफली, खंजरी का प्रयोग भी कर लेते हैं। आधुनिक समय में हारमोनियम का प्रयोग भी शुरू हो चुका है। वाद्यों का प्रयोग रंजकता लाने और सांग में पात्रों द्वारा गाए गए पद की टेक उठाने एवं कथानक में महत्व रखने वाले पक्षों को उभारने या उजागर करने के लिए विशिष्ठ स्थान पर जोरदार ढंग से वाद्यों का प्रदर्शन अनिवार्य भी है और सौंदर्य भी। इसके इलावा दर्शकों का ध्यान आकृषित एवं केंद्रित करने के लिए भी उपयोगी सिद्ध होता है।

9. **छन्द :** छन्द शब्द सांग में प्रयुक्त गीत छन्द है। यह शब्द कभी चोबले प्रदान हुआ करते है जोकि बाद में काफिया प्रधान उपरांत रागनी उनके स्थान पर आई यह रागनी शब्द शास्त्रीय संगीत के राग-रागिनियों से भिन्न है। सांग में गई जाने वाली किसी गत को रागिनी कहा जाता है। शब्द के पास चैप्टर ही रागिनी को स्थान प्राप्त हुआ। रागिनी यह सांग में गाई जाने वाली एक प्रकार की रचना है जिसमें छन्द के चार या छः टुकड़े होते हैं। प्रथम भाग, भाव मुखड़े को टेक कहा जाता है जो एक या दो पंक्तियों से युक्त होता है। टेक के पास जाते के समक्ष समझे जाने वाली कली और तोड़ को लिया जाता है सॉन्ग में प्रयुक्त एक रागिनी की पंक्तियां जो शृंगारिक प्रकृति से संबंधित है, लक्ष्मी चंद द्वारा रचित हैः-

छुन छुन छननन करती चाल्लै
चाल्लै चाल छिबीली

लचक तीन पड़ै मुड तुड़ कै
काया करेल ढिली॥

रागिनी का अधिकांश श्रेय पंडित लक्ष्मी चंद जी को जाता है। उनके द्वारा गए छन्द संभवतः सांग का स्वर प्रथम स्वतंत्र प्रयोग किया, इसलिए उन्हें रागिनी का जन्मदाता भी माना जाता है। यहां उन्होनें इसमें वशिष्ठम भरा वहां उसे अलंकृत कर वाणी से निसुत हुए हैं। सांग में संगीत का ऐसा प्रयोग उनकी अपनी संरचना का नतीजा है। सांग में सांगीतिक तक उपमा की सार्थकता श्रोताओं को मंत्र मुग्ध कर देती है, यही सांग में संगीत की महत्ता भी है और प्रयोग भी।

निष्कर्षः इस लोक सांगीतिक परंपरा की 1730 ई. में किशन लाल भट्ट द्वारा अपनी संगीत मंडली की स्थापना की गई व इस मंडली में सांग के साथ-साथ नृत्य कथानक गायन का समावेश करके विदूषक को नकलची के रूप में प्रस्तुत किया गया।[10] इस परंपरा को भले ही मनोवैज्ञानिक दृष्टि के माध्यम से स्थापित किया गया हो, लेकिन समाज में इसको उतना प्रोत्साहन नहीं मिला जितना मिलना चाहिए था। सांग में इससे पहले मुज़रा का प्रचलन होने के कारण सामान्य जनता के समक्ष एक घृणा का समावेश हुआ जिसके रहते सांग को दुराचार, दूरव्यवहार के रूप में देखा जाता था, क्योंकि सांग में नकलची, मंडली लोगों को हंसाने के लिए कभी-कभी अश्लीलता पर उतर आती है। इसलिए इस कला पर से आम जन का विश्वास उठने लगा। नृत्यकाओं के द्वारा किया जाने वाला मुज़रा जोकि अमीर लोगों के मनोरंजन का साधन था। किशन लाल ने इस दूषित वातावरण से निकाल कर आम जनता के सामने रखा, इसके स्वरूप में पर्याप्त परिवर्तन किया गए लेकिन कोई भी कलाकार मानसिक रूप से इस कला में पूर्णतया नहीं

जुड़ पा रहा था। शुरू के दिनों में सांग में किरदारों का चुनाव यौवन और प्रेम की अभिव्यक्ति से किया जाता था जो श्रृंगारिक प्रकृति से भरपूर था। जनसाधारण का दृष्टिकोण पहले के रूढ़िवादी लोग सांग के प्रति अपेक्षित भाव रखते थे और सांगिओ को सम्मान का पात्र नहीं समझते थे। इस कला प्रदर्शन में श्रम, मान-मर्यादा, सामाजिक मान्यतोंऔर रातों को प्रदर्शन होने के कारण स्त्रियां सांग में भाग नहीं ले पाती थी यथा रात को सांग देखना स्त्रियों के लिए वर्जित भी था। यही बड़ा कारण है कि सांग में पुरुषों ने स्त्री वेशभूषा में नृत्य करना शुरू कर दिया था। अपवाद रूप में अभिनय करने वाली महिलाओंको भी सचरित्र नहीं समझा जाता था परंतु पंडित दीपचंद, पंडित लख्मीचंद और मांगेराम जैसी अनेक मंडलियों के अनेक प्रयासों से संगीत सामाजिक बुराइयों की परिधि से निकलकर उच्च सत्र को प्राप्त हुआ। यद्यपि हरियाणा के इन ऐतिहासिक पहलुओं को आम जनता तक पहुंचाना और लोक संस्कृति को जीवित रखना है तो प्रतिजन का मानसिक सत्र समझकर सामाजिक व आर्थिक रूप से इसके नए दृष्टिकोण को समझना होगा तभी इस दिशा में उठाए गए कार्य में नई दिशा और नई सफलता मिलेगी साथ ही साथ पुरुषों एवं महिलाओं दोनों की सांग में भाग लेने वाली भूमिका को एक सामान्य नज़र से देखना होगा और सम्मानित स्थान देना होगा।

सन्दर्भ सूची :

1. सोमनाथ ढल, हरियाणा तथा पंजाब की संगीत परंपरा, संजय प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003, पृष्ठ-202
2. रीता धनकर, हरियाणा का लोक संगीत, राधा पब्लिकेशनस, नई दिल्ली, पृष्ठ-33
3. राजा राम शास्त्री, हरियाणा का लोकमंच, लोक सम्पर्क द्वारा प्रकाशित, पृष्ठ-3-4
4. रीता धनकट, हरियाणा का लोक संगीत, राधा पब्लिकेशनस, नई दिल्ली, पृष्ठ-34
5. रीता धनकट, हरियाणा का लोक संगीत, राधा पब्लिकेशनस, नई दिल्ली, पृष्ठ-33
6. वामन शिवराम आप्टे, मोती लाल बनारसी दास, संस्कृत हिन्दी कोश, दिल्ली, 1966, पृष्ठ-1046
7. डॉ. दुर्गा दीक्षित, नाटक और नाट्य शैलीयां, पृष्ठ-46
8. रीता धनकट, हरियाणा का लोक संगीत, राधा पब्लिकेशनस, नई दिल्ली, पृष्ठ-103
9. रीता धनकट, हरियाणा का लोक संगीत, राधा पब्लिकेशनस, नई दिल्ली, पृष्ठ-204
10. डॉ. लोकेश शर्मा, स्वाति शर्मा, संगीत सरिता, नैतिक प्रकाशन, गाजियाबाद, 2016, पृष्ठ-175

संस्कृत साहित्य में नाट्य परम्परा

डॉ॰ उपमेश उपाध्याय

.....

संस्कृत नाट्य साहित्य का विकास क्रमशः वैदिककाल से ही प्रारंभ हो गया था। इस संदर्भ में प्रो. इन्द्रपाल सिंह ''इन्द्र'' का कथन उल्लेखनीय है- वेदों में ऐसे संकेत अवश्य मिलते हैं जिनसे वैदिककाल में नाट्कों की स्थिति सिद्ध होती है। ऋग्वेद के सूक्तों में सोमविक्रय के समय होने वाले अभिनय का पता चलता है। महाव्रत स्रोत के अवसर पर कुमारियाँ नृत्य गान के साथ अग्नि की परिक्रमा करती थी। शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेय संहिता के तीसवें अध्याय की छठी कण्डिका में ''शैलूष'' शब्द आया है, जिसका अर्थ है- अभिनेता। कहा जाता है कि एक सूत को नृत्य के लिए और शैलूष को गाने के लिये नियुक्त किया जाना चाहिये। सामवेद के स्रोत रागबद्ध हैं ही जिससे ज्ञात होता है कि वैदिक युग में संगीत पूर्ण विकासावस्था में था। संगीत के अलावा नृत्य तथा वाद्य के भी संकेत प्राप्त होते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि वैदिक युग में वे सभी उपादान प्रचुर मात्रा में पाये जाते थे जो नाटक के विकास के लिए अपेक्षित हैं।

वेदों के पश्चात् रामायण एवं महाभारत में भी नाटक के संकेत प्राप्त होते हैं। महाभारत में ''रामायण नाटक'' तथा ''कौबेर रंगाभिसार'' नामक नाटकों के नाम आये हैं। महाभारत के विराट पर्व में रंगशाला तथा नट का प्रयोग है। रामायण में भी 'नट', 'नाटक', 'रंग' तथा नर्तक का अनेक स्थानों पर उल्लेख प्राप्त होता है। पाणिनि ने भी 'अष्टाध्यायी' में पाराशर्य शिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः' द्वारा नाटकों की पूर्व रचना का आभास दिया है।

चतुर्थ शती ई. पूर्व के कौटिस्यीय ''अर्थशास्त्र'' के अध्ययन से ज्ञात होता है कि नट, नर्तक, गायक, वादक, प्लवक, कुशीलव, सौमित्र तथा चारण आदि नाटकादि करके अपना जीवकोपार्जन करते थे। बौद्ध ग्रन्थों में ''विनयपिटक'' के ''चुल्लवग्ग'' में एक कथा है कि अश्वजित तथा पुनर्वसु अभिनय देखने के पश्चात् नर्तकी के साथ प्रेमालाप कर रहे थे तो उन्हें महास्थविर ने विहार से तत्काल निष्कासित कर दिया था। अतएव इस समय में भी नाट्यकला भारतव्यापी हो गई थी।

पतंजलि ने ''महाभाष्य'' में ''कंसवध'' तथा ''बलिबन्ध'' दो नाटकों का नामोल्लेख किया है। महाभाष्य में ''रसिको नटः'' पद सिद्ध करता है कि पतंजलि के समय रस सिद्धान्त का पूर्ण ज्ञान था।

उक्त विवरण से सिद्ध होता है कि नाटकों की उत्पत्ति भारत में हुई तथा वह वैदिक काल से ही क्रमशः विकसित होता हुआ अपने उन्नत स्वरूप को प्राप्त हुआ। वर्तमान में उपलब्ध जो रूपक हैं, उनमें नाटककार भासविरचित रूपक सबसे प्राचीन है- ऐसी अधिकांश विद्वानों की मान्यता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते है कि भास संस्कृत नाट्य साहित्य के आद्य नाटककार हैं।

संस्कृत साहित्य के प्रमुख नाटकों का अध्ययन करने पर उनकी निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ दृष्टिगत होती हैं -

1. संस्कृत नाटकों में वस्तु, नेता एवं रस इन तत्वों को प्रमुख स्थान दिया गया है। इन्हीं तत्वों के

आधार पर रुपकों का विभाजन किया गया है - ''वस्तु नेता रसस्तेषां भेदक।'' रूपक के दस भेद हैं जिनमें नाटक प्रथम भेद है।

2. जहाँ तक कथावस्तु का सम्बन्ध है, अधिकांश नाटकों की कथावस्तु ऐतिहासिक एवं पौराणिक है। रामायण एवं महाभारत की कथावस्तु को आधार बनाकर अधिकांश नाटक लिखे गये हैं।

3. जहाँ तक नेता अथवा पात्रों का सम्बन्ध है, कथावस्तु के अनुरूप ही पात्रों को रखा गया है। कुछ नाटक ऐसे भी हैं, जिनमें समाज के सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व है, जैसे शूद्रकविरचित ''मृच्छकटिक''।

4. उक्त तीनों तत्वों में भी रस को सर्वाधिक प्रधानता दी गई है। संस्कृत नाटककारों द्वारा कथावस्तु की यथार्थता की ओर उतना ध्यान नहीं दिया गया है जितना प्रेक्षकों अथवा पाठकों के हृदय में किसी रस विशेष का संचार करने की ओर। कवि की सफलता का मानदण्ड रसाभिव्यक्ति का माना गया है। रस को ही नाट्यकला का प्रधान लक्ष्य माना गया। श्रृंगार अथवा वीर रस में से किसी एक को प्रधान रस इन नाटकों में माना गया है, शेष सहायक रसों के रूप में प्रयुक्त हुये हैं।

5. नाट्यशास्त्रीय नियमानुसार अधिकांश संस्कृत नाटकों का नान्दी पाठ प्रस्तावना (स्थापना) आदि से प्रारंभ किया गया है तथा ''भरतवाक्य'' से समाप्ति की गई है।

6. 5 से लेकर 7 अंकों तक की संख्या इन प्रमुख संस्कृत नाटकों की है। अधिकांश नाटक 6 व 7 अंकों के हैं।

7. संस्कृत नाटकों में पात्रानुसार भाषा का प्रयोग हुआ है। उत्तम कोटि के पात्र संस्कृत का प्रयोग करते हैं तथा अन्य पात्र प्राकृत भाषा का प्रयोग करते हैं।

8. संस्कृत नाटकों का प्रधान गुण अभिनेयता है। इनकी संवाद योजना अत्यन्त आकर्सक है। परन्तु अरस्तू द्वारा निर्दिष्ट समय एवं स्थान की अन्विति (Unities of time and place) का प्रायः इन नाटकों में अभाव है, क्योंकि अनेक संस्कृत नाटकों में काव्यत्व पक्ष बलवान् हो गया है।

9. अधिकांश संस्कृत नाटक सुखान्त लिखे गये हैं। परन्तु यह कथन युक्तिसंगत नहीं कि संस्कृत में दुःखान्त नाटकों का नितान्त अभाव है। यदि दुःखान्त नाटक का अर्थ नायक के शोक, पराभव और मृत्यु का चित्रण करना है तो इस दृष्टि से ''कर्णभार'', ''उरुभंग'', वेणीसंहार और चण्डकौशिक निश्चित रूप से दुःखान्त नाटक माने जाने चाहिये।

10. नायक एवं नायिका के अतिरिक्त विदूषक की भी संस्कृत नाटकों में महत्वपूर्ण भूमिका है।

11. संस्कृत नाटकों में प्रकृति के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध दृष्टिगत होता है। अन्तः प्रकृति एवं बाह्य प्रकृति का इन नाटकों में सुन्दर समन्वय किया गया है। अन्तः प्रकृति की सूक्ष्म एवं सुकुमार भावनाओं के चित्रण के लिए बाह्य प्रकृति चित्रफलक का कार्य करती है। प्रकृति का मानवीकरण भी संस्कृत रुपकों की अपनी विशेषता रही है। इनमें मानव का प्रकृति के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है। कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तलम' में शकुन्तला की विदाई के समय प्राकृतिक उपादानों की स्थिति का सजीव कारुणिक वर्णन हृदय को सहज भावाभिभूत करने वाला है -

उद्गलित दर्भकवला मृग्यः, परित्यक्तनर्तना मयूराः॥
अपसृत पाण्डुपत्रा मुन्चन्त्यश्रूणीव लताः॥

इसी प्रकार भवभूतिविरचित ''उत्तररामचरित'' नाटक का एक रमणीय वर्णन दृष्टव्य है -

एते रूदन्ति हरिणा हरितं विमुच्य
हंसाश्च शोकविधुराः करूणं रुदन्ति॥

इस प्रकार के वर्णन वस्तुतः संस्कृत नाट्य साहित्य में प्रकृति के मानवीकरण के अद्वितीय उदाहरण हैं।

12. संस्कृत नाटकों में भावतत्व की प्रधानता है। भावों का सूक्ष्म अंकन तथा उनमें काव्योचित सौन्दर्य को समाहित करने में ही संस्कृत नाटककार का सर्वाधिक प्रयत्न देखा जाता है। यही कारण है कि संस्कृत नाटकों के अभिनय में उतनी सरलता नहीं दृष्टिगत होती, जितनी पाश्चात्य नाटकों में सहज संभव होती है। संस्कृत का नाटककार कवि हृदय होने के नाते भावों को ही गांभीर्य का जनक समझता है, वह कोरी कलात्मकता को महत्त्व नहीं देता।

13. संस्कृत रुपकों में कथानक भी काव्यशिल्प के अनुरूप चलता है। कथानकीय प्रवाहिकता के आद्यन्त निर्वाह में पाँच अर्थप्रकृतियों, कार्यावस्थाओं एवं संधियों की योजना होती है। अभिनय की स्थिति विशेष के रूप में भारती, सात्वती कैशकिी एवं आरभटी में से कोई एक वृत्ति अपनायी जाती है।

14. प्रभावोत्पादकता संस्कृत नाटकों की प्रमुख विशेषता है। प्रभावोत्पादकता का मूल कारण यह है कि संस्कृत नाटकों में नाटककार भूतकालीन घटना के अभिनय को इस प्रकार प्रस्तुत करता है, मानों वह पाठकों अथवा प्रक्षेकों को उसका प्रत्यक्ष आभास करा रहा हो। इस प्रस्तुति द्वारा पाठकों से घटना के साक्षात सम्पर्क की अनुभूति ही नाटक को महाकाव्य अथवा उपन्यास की अपेक्षा अधिक प्रभावोत्पादक बना देती है।

15. संस्कृत नाटकों की रचना के मूल में प्रमुख उद्देश्य दुःखी, थके हुये एवं शोक से त्रस्त लोगों का मनोरंजन करना रहा है जैसा कि नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में भरतमुनि ने लिखा है -

दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम।
विश्रामजननं लोके नाट्यमते द् भविष्यति।।
विनोदजननं काले नाट्यमते द् भविष्यति।।।

संस्कृत के महान नाटककार कालिदास ने अपने नाटक 'मालविकाग्निमित्र' में अत्यन्त मनोहर नृत्य-अभिनय का उल्लेख किया है। वह चित्र अपने में इतना प्रभावशाली, रमणीय और सरस है कि समूचे प्राचीन साहित्य में अप्रतिम माना जाता है।

'मालविकाग्निमित्र' नाटक में दो नृत्याचार्यों में अपनी कला निपुणता के सम्बन्ध में झगड़ा होता है और यह निश्चित होता है कि दोनों अपनी-अपनी शिष्याओं का नृत्य-अभिनय दिखाएँ और अपक्षपातिनी भगवती कौशिकी निर्णय करेंगी कि दोनों में कौन क्षेष्ठ है दोनों आचार्य तैयार हुए। मृदंग बज उठा। प्रेक्षागृह में दर्शकगण यथास्थान बैठ गये। भिक्षुणी की अनुमति से रानी की परिचारिका मालविका के शिक्षक आचार्य गणदास यवनिका के अन्तराल से सुसज्जिता शिष्या (मालविका) को रंगभूमि में ले आये। यह पहले ही स्थिर हो गया था कि छलिक नृत्य-जिसमें अभिनेता दूसरे की भूमिका में उतरकर अपने ही मनोभाव व्यक्त करता है-के साथ होने वाले अभिनय को दिखाया जाएगा। मालविका ने गान शुरू किया। मर्म यह था कि दुर्लभ जन के प्रति प्रेमपरवशा प्रेमिका का चित्त एक बार पीड़ा से भर उठता है और फिर आशा से उल्लसित हो उठता है, बहुत दिनों के बाद फिर उसी प्रियतम को देखकर उसी की ओर वह आँखें बिछाये है। भाव मालविका के सीधे हृदय से निकले थे, कण्ठ उसका करूण था। उसके अतुलनीय सौन्दर्य, अभिनयव्यंजित अंग-सौष्ठव, नृत्य की अभिराम भंगिमा और कण्ठ के मधुर संगीत से राजा और प्रेक्षकगण मन्त्र-मुग्ध से हो रहे। अभिनय के बाद ही जब मालविका परदे की ओर जाने लगी, तो विदूषक ने किसी बहाने उसे रोका।

वह ठिठककर खड़ी हो गयी उसका बायाँ हाथ कटिदेश पर विन्यस्त था, उसका कंकण कलाई पर सरक आया था, दाहिना हाथ शिथिल श्यामलता के समान सीधा झूल पड़ा था, झुकी हुई दृष्टि पैरों पर अड़ी हुई थी, जहाँ पैर के अँगूठे फर्श पर बिछे हुए

पुष्पों को धीरे-धीरे सरका रहे थे और कमनीय देहलता नृत्यभंगी से ईषदुन्नीत थी। मालविका उसी प्रकार खड़ी हुई थी, जिस सौष्ठव के साथ देहविन्यास करके उसको रंगभूमि में खड़ा होना उचित था। परिव्राजिका कौशिकी ने दाद दी-अभिनय बिल्कुल निर्दोष है। बिना बोले भी अभिनय का भाव स्पष्ट ही प्रकाशित हुआ है, अंगविक्षेप बहुत सुन्दर और चातुरीपूर्ण हुआ है। जिस-जिस रस का अभिनय हुआ है, उस-उस रस में तन्मयता स्पष्ट लक्षित हुई है। भावचेष्टा सजीव होकर स्पष्ट हुई है, मालविका ने बलपूर्वक अन्य विषयों से हमारे चित्त को अभिनय की ओर खींच लिया है। कालिदास ने इस श्लोक में भारतीय संस्कृति, कला, सौन्दर्य और अभिनय का सजीव आदर्श प्रस्तुत कर दिया है। वैसे भी कालिदास रंगमचं को 'चाक्षुष यज्ञ' कहते हैं। उनका यह श्लोक इसका उदाहरण है कि संस्कृत नाटक का सौन्दर्यशास्त्र भारतीय संस्कृति और परम्पराओं से निकला हुआ है और चिन्तन, आनन्द, सौन्दर्य बोध से जुड़ा है।

ब्रज की रास लीला का संगीत पक्ष एवं प्रयोग

रेनूबाला
शोधार्थिनी
संगीत विभाग, महात्मा गाँधी बालिका विद्यालय
(पी0जी0 कॉलेज) फिरोजाबाद
डॉ0 भीमराव आंबेडकर विश्वविद्यालय, आगरा

डॉ॰ निष्ठा शर्मा
असिस्टेंट प्रोफेसर
संगीत विभाग, महात्मा गाँधी बालिका विद्यालय
(पी0जी0 कॉलेज) फिरोजाबाद
डॉ0 भीमराव आंबेडकर विश्वविद्यालय, आगरा

भारत की संस्कृति एवं लोक संस्कृति :

विविधताओं का देश भारत अपनी विभिन्न संस्कृतियों के लिये जाना जाता है। भारत में गीत-संगीत नृत्य नाटक-कला लोक परम्पराओं कला प्रदर्शन धार्मिक-संस्कारों एवं अनुष्ठानों चित्रकारी एवं लेखन के क्षेत्रों में एक बहुत बड़ा संग्रह उपलब्ध है जो मानवता की अमूर्त सांस्कृतिक विरासत के रूप में जाना जाता है। भारत की संस्कृति बहुभायामी है जिसमें भारत का महान इतिहास भूगोल स्वर्ण युग एंव बौद्ध धर्म की शुरुआत उसके साथ अपनी खुद की प्राचीन विरासत शामिल है। भारत कई धार्मिक प्रणालियों जैसे कि सनातन धर्म, जैन धर्म, सिक्ख धर्म, व सिंधी धर्म का जनक है। भारतीय संस्कृति मनुष्य के भीतर छिपी हुई उसकी दिव्यता को प्रकाशित करने में प्रयत्नों का सामूहिक नाम है। यह इतना बहुआयामी है कि इसका कोई एक लक्षण निर्धारित नहीं किया जा सकता। भारतीय संस्कृति की पहचान के लिये देश के विविध प्रान्त, धर्म, वर्ग, के लोगों के तथा समाज के विभिन्न त्यौहार ही उसका दर्पण हैं।

समाज और संस्कृति की बात की जाये तो समाज और संस्कृति में गहरा सम्बन्ध है, व्यक्ति से ही समाज बनता है। समाज में संस्कार नियम और लोगों का समूह होता है। जिस प्रकार यहाँ की भाषाओं की गिनती नहीं उसी प्रकार यहाँ भिन्न-भिन्न धर्मो के सम्प्रदायों की भी गिनती करना सहज न होगा। भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृतियों में से एक है इसकी एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि हजारों वर्षों बाद भी यह संस्कृति आज भी अपने मूल रूप में जीवित है। विभिन्न कोशों में लोकसंस्कृति के विभिन्न अर्थ मिलते है। विभिन्न विद्वानों ने लोकसंस्कृति को अलग-अलग तरह से परिभाषित किया है। सत्या गुप्त लोकसंस्कृति की सामान्य परिभाषा देते हुये कहती है कि हर देश व समाज की उत्कृष्ट संस्कृति की आधार शिला वहाँ का लोक समाज होता है और इसी लोक समाज की संस्कृति लोक संस्कृति कहलाती हैं। 'बनजारा वेदी' लोकसंस्कृति को परिभाषित करते हुए कहती हैं कि लोक संस्कृति की हर मानसिक और भौतिक प्रक्रिया के वेग का मूल स्त्रोत सामूहिक चित्त होता है। इस प्रकार भारत की लोक संस्कृति के अन्तर्गत अनेक लोक परम्परायें लोक नाट्य परम्परायें प्रचलित हैं तथा भारत की संस्कृति का महत्वपूर्ण अंग है। भारत की इन्ही लोक परम्पराओं एवं लोकनाट्य परम्पराओं में ब्रज क्षेत्र की रास लीला अत्यन्त आकर्षक एवं जीवन से जुड़ी हुयी परम्परा है। ब्रज की लोक-संस्कृति का दर्शन उसके लोक साहित्य में दृष्टिगत होता है। जो ब्रज के लोकगीतो, लोकगाथाओं, कथात्मक गीतो, लोकनाट्यों से समृद्ध हैं।

सूरदास जी ने ब्रजवासियों की दयनीय स्थिति का वर्णन करते हुये कहा था, कि आज भी ब्रजवासियों की वही स्थिति है, आज भी ब्रज का प्रत्येक संवेदनशील व्यक्ति लोकसंस्कृति की संजीवनी को फिर से प्राप्त करने की चाह में आँसू बहा रहा है। विश्व को आनन्द और उत्साह का मार्ग दिखाने वाली ब्रज लोक संस्कृति और लोक साहित्य को संरक्षण की आवश्यकता है। श्रीमद्भागवत का दशम स्कन्ध ब्रज के आकर्षण का उज्ज्वल एव निर्मल चित्र प्रस्तुत करने में निम्नवत दृष्टिगोचर होता है-

'यही मंगल भूयिष्ट पुरग्राम ब्रजाकरा'।
किमिद कुद वदन्तो ब्रजमायुयः ।
दृष्टवा यशोदा प्रमुखा व्रजस्त्रिय औत्थानिके कर्मणि याः समागताः

ब्रज और उसका स्वरूप :

ब्रज शब्द बहुत प्राचीन माना गया है क्योंकि इसका प्रयोग भारतीय साहित्य, में पुरातन साहित्य, वेदों में प्रचुर मात्रा में किया गया है। समय और परिवेश के अनुसार इसकी अर्थ व्यंजना रूपान्तरित होती रही हैं। ब्रज शब्द संस्कृत भाषा के ब्रज शब्द से ही लिया गया है क्योंकि ब्रज परिवेश में 'व' का उच्चारण ही अधिकता में पाया जाता हैं। ब्रज शब्द संस्कृत भाषा की जाना धातु से बना है, जिसका असली रूप व्रज है। पहली बार इस शब्द का प्रयोग पुरातन ग्रन्थ ऋग्वेद में दृष्टिगत होता है

श्रीमदभागवत् पुराण के समय में ब्रज शब्द के अर्थ में स्पष्ट साधाना बोध आ चुका है, जिसका स्थान-स्थान पर उल्लेख है-

कंसेन प्रहिता छोरा पूतना बल घातिनी।
शिशूंश्चचार निध्वन्ती परग्राम ब्रजाहिष।

इसके साथ ही इतिहास ग्रन्थों में भी इसका उल्लेख देश या स्थान के रूप में ही दृष्टिगत होता है। हिन्दी साहित्य के समूचे भक्ति साहित्य में ब्रज शब्द का प्रयोग मथुरा के समीपवर्ती प्रदेश के लिये किया गया हो अद्यतन प्रचलित है। इसके स्पष्ट प्रमाण बल्लभचार्य एवं उनके पुत्र विठ्ठलनाथ जी के शिष्यों 'अष्टछाप' की पद रचनाओं में अवलोकनीय है।

प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनसांग ने भी अपनी यात्रा के विवरण में इस प्रदेश का वर्णन किया है। इसी विवरण को प्रमाण मानते हुये कनिघंम ने 'भारत का प्राचीन भूगोल' के अन्तर्गत बृज सीमा का वर्णन करते हुये लिखा है - सातवीं शताब्दी में मथुरा नाम का प्रसिद्ध नगर एक विशाल राज्य की राजधानी था, जो परिधि में 5000 मील या 833 मील बताया गया है। पद्म पुराण में माथुर-मण्डल को विष्णु भगवान का परमप्रिय बताते हुये पृथ्वी लोक को धन्य भाग्यशाली कहा गया है।

रास की उत्पत्ति :

रास शब्द की उत्पत्ति रस अथवा रास धातु के साथ 'धञ' प्रत्यय के संयोग से सम्पन्न हुई है। इस धातु का प्रयोग ध्वनि शब्द तथा कोलाहल के अर्थ में होता है। 'रस-धञ रास धत् वा। शब्दे, ध्वनौ, श्रृंखला बन्धवत् हयोर्द्वयोर्मध्यस्थिव्या क्रीड़ा मेदे, कोलाहले च संस्कृत के 'रस एवं रास' दोनो धातुओं से रास शब्द की उत्पत्ति मानी जाती है। कुछ सुविज्ञजनों ने अपने-अपने तर्कों के माध्यम से उसके सम्बन्ध में अन्य विचारों की पुष्टि करते हुये कहा है - वैष्णवाचार्यों ने रसोपासना हेतु रासलीला को सम्पूर्ण रसो की लीला मानते हुये 'रस और रास' को अभिन्न माना है। उनका कहना है - 'रसानां समूहो रासः' अर्थात रसों का समूह भी 'रास' नाम से जाना जाता है।

व्रज में रास लीला के पात्र :

ब्रज में रासलीला के नाम से ही राधा, कृष्ण उसके सखी, सखा आदि के स्वरूप सम्मुख दिखाई देने लगते हैं।

रास के पात्रों को रासमण्डली की भाषा में स्वरूप कहा जाता है।

कृष्ण - कृष्ण का स्वरूप धारण करने वाला बालक सात बर्ष से बारह बर्ष का हुआ करता है अर्थात जब तक बालक में यौवन चिह्नों का उदय न हो, तब तक ही वह बालक कृष्ण का स्वरूप बन सकता है। कृष्ण बालक स्वरूप को भावनात्मक दृष्टि

से पूर्ण सम्मान दिया जाता है और उसे ठाकुर जी भी कहा जाता है।

राधा - राधा का अभिनय करने वाला बालक आयु में कृष्ण से छोटा होता है और कद में भी, उसे श्री जी कहा जाता है। कृष्ण के स्वरूप के साथ-साथ दूसरे क्रम में सम्मान की दृष्टि से राधा को देखा जाता है। इन बालकों का गौर वर्ण एंव सुन्दर होना आवश्यक होता है। कृष्ण स्वरूप को जहाँ चंचलता दी गई है, वही राधा स्वरूप को गम्भीरता दी गई है।

सखियाँ - राधा-कृष्ण की सखियाँ उनके नित्य रास का प्रधान अंग होती है। रास का आरम्भ सखी द्वारा आरती करने तथा सखियों द्वारा श्री राधा-कृष्ण युगल के स्वरूपों से नित्य रास में पधारने का अनुरोध करने के साथ ही होता है। सखियों की मुख्यतः आठ सख्याँ हुआ करती थी, जिनका सम्बोधन अष्टसखी के नाम से होता था। इनमें ललिता सखी तथा विशाखा सखी की भूमिका विशेष रूप से मुख्य होती है।

सखा - अन्य विशिष्ट स्वरूपों में मनसुखा के रूप में मधुमंगल का स्थान महत्वपूर्ण रहा है। कान्हा के मित्रों की शरारते, माखन चुराना, मटकी फोड़ना, गोपियों के वस्त्र चुराना इत्यादि। रासलीला में विदूषक के रूप में मनसुखा भी होता है, जो विभिन्न गोपियों के साथ प्रेम व हँसी की बातें करके अनुराग को व्यंजित करता है, साथ ही साथ दर्शकों का मनोरंजन भी करता है।

ब्रज की रासलीला में संगीत :

रास में संगीत पक्ष को प्रमुख माना गया है। रास शब्द को सुनने से ही विशेष प्रकार के संगीत का आभास होने लगता है। रासलीला में संगीत को विशेष स्थान दिया गया है। रास के आरम्भ में ही संगीत की स्वर लहरियाँ रास मण्डल में गूंजने लगती हैं। सखियों के द्वारा युगल श्री राधा- कृष्ण की आरती गायी जाती है। आरती के विभिन्न पद है, जो कि भिन्न-भिन्न रास मण्डलियों में गाये जाते है। रास मण्डलियों में जयदेव कृत 'गीत-गोविन्द' की यह आरती अधिकांशतः गायी जाती है।

'श्रित कमला कुच मण्डल दित कुण्डल है,
कलित ललित वनमाल, जय-जय देव हरे।

निष्कर्ष :

ईश्वर के अवतार का सांसारिक चरित्र प्रस्तुत करने की अभिलाषा से लीला परम्परा की शुरूआत हुई, जिसमें भगवान श्री कृष्ण के लोक-लुभावन, लोक रक्षक और प्रेमी चरित्र की भूमिका निभाई है। रासलीला की गायन, नृत्य और नाट्य-शैलियों की परम्परा सबसे पहले हिन्दी क्षेत्रों में प्रचलित हुई उसके बाद इनका क्षेत्र बढ़ता चला गया। रासलीला ऐसी नाट्य शैली है, जिसमें रंगमंचीय प्रयोग की दृष्टि से अनन्त संभावनायें हैं, ये लोक नाट्य शैली लोक को हमेशा प्रेरित करती आई है, और करती रहेंगी।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :

1. मित्तल दयाल प्रभु (1975) ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास, अध्ययन, पृष्ठ सं॰- 36, 37
2. श्रीवास्तव आरती (2003) ब्रज रास में संगीत, उत्पत्ति विकास और स्वरूप अध्ययन, पृष्ठ सं0- 7, 8, 25
3. डॉ॰ रावत निशा (2006) ब्रज लोक संगीत, अध्ययन, पृष्ठ सं॰- 10, 11, 12
4. डॉ॰ सत्येन्द्र (2022) लोक साहित्य विज्ञान, अध्ययन, पृष्ठ सं॰- 6, 65, 66

पत्रिका

संगीत

- गर्ग नारायण लक्ष्मी (जुलाई 2023) ब्रज संस्कृति और लोक संगीत

वेबसाइट्स :

- http://hi.m.wikipedia.org
- hi.m.wikipedia.org
- hindilibraryindia.com

लोकनाट्य रंगभूमी और पोवाडा गायन शैली

प्रा॰ डॉ॰ जगन्नाथ के॰ इंगोले
संगीत विभाग
महात्मा ज्योतिबा फुले महाविद्यालय, अमरावती

लोकनाट्य रंगभूमी और पोवाडा गायन शैली :

महाराष्ट्र मे लोकनाट्य रंगभूमी की एक अलग पहचान पायी जाती है। इस रंगभूमी मे तमाशा लोकनाट्य को अधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई है। 'पोवाडा' महाराष्ट्र राज्य का लोकप्रीय लोकगीत माना जाता है। वेशभूषा सहप्रस्तुत होने वाला यह लोकगीत महाराष्ट्र की लोककला और लोकगीत दोनो का मध्य साधने वाला कला प्रकार है। गायन-वादन और संवादात्मक भाव शैली का 'पोवाडा' गायन विरगाथा का उद्बोधक माना जाता है। यह महाराष्ट्र की लोकनाट्य रंगभूमि का महत्वपूर्ण लोकगीत प्रकार है।

चौदावीं शताब्दी मे प्रचलित इस लोकगीत की एक विशिष्ठ गायन शैली है। पोवाडा गीत का उल्लेख महिकासुर की बखर, विवेक सिंधू, ज्ञानेश्वरा, विराचीत वछाहरण, एकनाथी भारुड इत्यादी प्राचीन ग्रंथो से प्राप्त होता है। देवीदेवताओं की स्मृति व वीर पुरुषो का यशोगान इस गीतका मुख्य विषय रहा है। 16वीं शताब्दी (शिवकाल) मे यह लोकगीत गायन शैली को अधिक लोकप्रियता प्राप्त होई थी।

'पोवाडा' शब्द कानडी भाषा से मराठी मे प्रचलित होने का अनुमान लगाया जाता है। 'पोवाडा' शब्द विक्रम वाचक है। इसलिये यह गीत का विर पुरुषो की कीर्ती दमदार (बेछूट) सीना ताने गाना, स्मृतीगान, करना ऐसा अर्थ माना जाता है। इस गीत का काव्य विररसपूर्ण होता है। यह दीर्घ कथात्मकए वर्णनात्मक निवेदन शैली मे गाया जाता है। इस गीत को गाने वाले मुख्य गायक को 'शाहीर' नाम से संबोधित किया जाता है। 'शाहीर' यह पार्शियन भाषीक शब्द होकर, शाहीर शब्द में, गायक व कवी (शायर) दोनो ही समाविष्ट होता है।

महाराष्ट्र प्रदेश के कुलदैवत छत्रपती शिवाजी महाराज के कार्यकाल मे श्प्रथम शाहीर, अग्निदास (अज्ञानदास) लिखित 'अफजल खान का वध' यह पोवाडा गीत अधिक प्रसिद्ध माना जाता है। इस काल मे लोकगायक 'पोवाडा' गायन शैली द्वारा मराठे सरदार, विर पुरुष की शौर्य गाथा, जीवनपट, समाज के सामने रखने की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। अभ्यासक अनुसार गतकाल में 300 पोवाडे गीत से अधिक रचना उल्लेखित है।

तमाशा लोकनाट्य रंगभूमी और पोवाडा गायनः

तमाशा लोकनाट्य का उत्कर्ष काल पेशवाई माना जात है। तमाशा लोकनाटयपर पोवाडा गायन शैली का अधिक प्रभाव होणे की आशंका जतायी जाती है। डॉ॰ गंगाधर मोरजे लिखित 'मराठी लावणी वांड्मय' ग्रंथ मै पोवाडा एक प्रकार का नाटक होणे की बात कही है। आधुनिक तमाशा रंगभूमी मे 40-45 साल पहिले बतावणी और वगनाट्ये प्रस्तुती अवकाश समय मे पोवाडा गायन होता था। कांताबाई सातारकर तमाशा मंडल, अपने प्रस्तुती दरम्यान 20-30 मिनिटका पोवाडा गायन रंगमंच पे प्रस्तुती की बात 'तमाशा एक रांगडा खेल' इस किताब के लेखक डॉ॰ गणेश चंदन शिवे लिखते है। उषाताई खोमणे लोकनाट्य तमाशा मंडल, मे 'झासी की राणी' ये पोवाडा उषाताई एक घंटा प्रस्तुत करती थी।

ये बात श्रंगबाजी, ग्रंथ के लेखक डॉ॰ अचलखांब उल्लेखित करते है। मेरे बचपण मे दत्तोबा तांबे, धोंडू कोंडू पाटील भडगावकर तमाशा मंडल, अपने प्रस्तुती मै पोवाडा गायन करते थे। इस उल्लेखित बात से तमाशा रंगभूमी (रंगमंच) पर तमाशा के साथ पोवाडा गायन होणे की बात स्पष्ट होती है। तमाशा और पोवाडा गायन शैली एक दूसरे के पूरक है। पोवाडा गायन का डफ, तुनतूना, झाँन्ज यह वाद्य तमाशा प्रस्तुती मे मुख्य वाद्य होते है। पोवाडा गायन के सभी तत्व तमाशा लोककला प्रकार मे समाविष्ट होते है। इसलिये तमाशा लोकनाट्य रंगभूमी और पोवाडा गायन एक ही रंगमंच पर प्रस्तुत होने की बात स्पष्ट होती है।

पोवाडा गायन शैली :

पोवाडा गीत रचना खंडकाव्ये प्रकार है। यह एक सांघिक प्रस्तुती कला प्रकार है। प्रमुख गायक 'शाहीर' और साथी गायक 'झीलकरी' नाम से संबोधित होते है। जो पोवाडा गाते समय 'जी, जी, जी जी' का पालुपद गाते है। यह इस गायन का महत्वपूर्ण भाग माना जाता है। सर्वप्रथम शाहीर और साथी गायक रंगमंच पर आकर सभी उपस्थित रसिकजनो को झुककर प्रणाम करते है। ढोलक वादक अपने वाद्य पर एक तोडा बजाकर गायन प्रारंभ होता है। प्रथमतः 'गण' गणेश वंदना होती है और फिर 'शाहीर' उंची आवाज मे गाता है। साथीदार जी, जी, जी, हा, जी यह पंक्ती गाकर साथ देते है। पोवाडा गायन एक परंपरागत गायन शैली है। यह प्रस्तुती केवल गायन न होकर नृत्य, नाट्य, अभिनय, ताल, लय इन सभी का मिश्रण होता है। विररस, करूणरस, आनंदरस (उत्साह वर्धक) रसों की उत्पत्ती होती है। शाहीर वीर पुरूषों की गाथा प्रसंगानुरूप गाते समय, संवादात्मक शैली को अपनाकर अपने विचार रखते है। इस तरह पोवाडा गायक परंपरागत गायन शैली को अपनाकर, प्रसंगानुरूप तर्ज बदल कर और साथीदार अपनी झील बदलकर एक घंटा या 45 मिनिट का पोवाडा गायन प्रस्तुत किया जाता है। ये एक विशिष्ट गायन शैली मे सादर होता है। तुनतुना, मंजीरा, ढोलक इत्यादी वाद्य के साथ उंची आवाज मे गाया जाने वाला यह गीत सुनना एक अलग अनुभूति है। सभा मंडप मे सुनने वाले श्रोताओं के मन में देशभक्ति और विरता का भाव प्रगट करने वाला यह लोकगीत रोंकटे खडे करता है। एक अलग कार्यकाल का इतिहास प्रस्तुत करके हमारे विर राजा महाराजाओं का विरताभरा इतिहास श्रोतागन के सामने खडा करके एक अलग अनुभूति का दर्शन होता है। ये गीत सुनकर उपस्थित सभी दंग हो जाते है। यही इस लोकगीत की उपलब्ध है।

निष्कर्ष :

महाराष्ट्र के लोकनाट्य रंगभूमी मे गाया जाने वाला पोवाडा गायन वीरता का भाव प्रगट करने वाला लोकगीत है। यह एक परंपरागत गायन शैली है। नृत्य, नाट्य, संगीत ताल, लय और संवादात्मक शैली का एक मिश्रण है। यह गायन सुनकर एक अलग अनुभूती का दर्शन होता है। वीर रस की गाथा समाज के समक्ष रखने मे सर्व श्रेष्ठ मानी जाती है।

संदर्भ सूची :

1. पोवाडा कसा म्हणावा, पोवाडा गायन मार्गदर्शिका, शाहीर विजय जगताप, विजय श्री मुद्रणालय, इचलकरंजी।
2. तमाशा एक रांगडा खेल, डॉ॰ गणेश चंदनशिवे, डिम्पल पब्लिकेशन, पालघर।
3. तमाशा लोकरंगभूमी, रुस्तम अचल खांब, सुगावा प्रकाशन पुणे।
4. लोककला उगम विकास, संघ स्थिती, शाहीर विजय जगताप, विजयश्री मुद्रणालय, इचलकरंजी।
5. रूप आणि परंपरा, डॉ॰ मंगेश बनसोड, अवे मारिया पब्लिकेशन पुणे।
6. लोकरंजनाची पारंपरिक माध्यमे, डॉ॰ शरद व्यवहारे, स्वरूप प्रकाशन औरंगाबाद।

रामलीला लोकनाट्य की संगीत परंपरा में शब्द-शक्ति का प्रयोग व प्रश्न

प्रो॰ प्रेम कुमार मल्लिक
शोध निर्देशक
पूर्व अध्यक्ष, संगीत एवं प्रदर्शन कला विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

प्रगति मिश्रा
शोधार्थिनी
संगीत एवं कला विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय प्रयागराज

भूमिका :

'काव्येषु नाटक रम्यम' इस पंक्ति को संस्कृत की एक उक्ति से ग्रहण किया गया है। काव्य के विविध प्रकारो में नाट्य एक ऐसी विधा है जिससे मानव अधिक समरस होता है। दीर्घ साहित्यिक रचनाओं में विविध प्रकार का नाट्य श्रेष्ठ है। आधानाचार्य भरतमुनी के नाट्यशास्त्र के अनुसार देवताओं ने ब्रम्हा से मनोरंजन के एक साधन नाट्यवेद का सृजन करने की प्रार्थना की, क्योंकि जनसामान्य वेद निद्रिष्ट व्यवहार से विमुख होकर ईर्ष्या, द्वेष, काम और क्रोध के वशीभूत हो गए हैं। अतः ब्रम्हा ने धर्म, अर्थ और आश की प्राप्ति कराने वाले शास्त्रवचनो के उपदेश से युक्त, लोकज्ञान से युक्त, सभी शिल्पों को प्रेरणा देने वाले तथा सभी जतियों और वर्गो के लिए समान रूप से आनंदमयी दृश्य का आयोजन किया। ब्रम्हा ने ऋग्वेद से पुण्य, सामवेद से संगीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस लेकर नाटक की रचना की, संभवता इसलिए नाटक को पंचमवेद की संज्ञा से भी अभिहित किया गया।

रामलीला - लोकनाट्य परंपरा :

भारतीय लोक संगीत की धरोहर का एक अंग भारतीय रंगमंच संगीत परंपरा भी है। यह कहना अनुचित न होगा कि नाटक के लोक में यह महनता और प्रतिष्ठा का बहुत बड़ा कारण उसकी प्रभाविष्णुता ही है। यह दूसरी बात है कि लोक संगीत से सीधा सीधा जुड़े होने के बावजूद भी कुछ नाटका को विशेष रूप से लोकनाट्य कहा गया है। भारत (और भारत के बाहर भी) भर में गली-गली, गाँव-गाँव में होने वाली रामलीला को इसी लोकनाट्य रूपो की एक शैली के रूप में स्वीकारा गया है। राम की कथा को नाटक के रूप में मंच पर प्रदर्शित करने वाली रामलीला भी 'हरी अनंत हरी कथा अनंता' की तर्ज पर वास्तव मे कितनी विविध शैलियों, भाषाओं में व्याप्त है।

रामलीला :

राम के चरित्र और रामकथा पर केन्द्रित लोकनाट्य शैली है। उत्तर भारत में विजयदशमी के अवसर पर इस लोकनाट्य शैली में राम की लीला का मंचन किया जाता है।

रामलीला लोकनाट्य में शब्द - शक्ति भेद से (साहित्य) सौन्दर्य :

रामलीला रामकथा पर आधारित है यह तो ख्यात कथा है, किन्तु जिस प्रकार वह भारत भर की विभिन्न भाषाओं मे अभिव्यकत हुई है तो उस भाषा, उस

स्थान और उस समाज की कुछ निजी विशेषताएँ भी उसमें अनायास ही समाहित हो गई है। रंगनाथ रामायण और असमिया रामायण की मूल कथा एक होते हुए भी अपने-अपने भाषा-भाषी समाज की रामकथायेँ बन गई है।

रामलीला की देश में प्रचलित शैलियों में अयोध्या शैली, काशी शैली, असमी शैली, मधुबनी शैली, कर्नाटकी शैली, पर्वतीय शैली प्रसिद्ध है। राम के चरित्र का ही मंचन सभी शैलियों में होता है किन्तु भाषाओं और संस्कृति के अन्तर भेद के कारण इसके कई स्वरूप परिलक्षित होते है। बुंदेलखंड तथा मध्य भारत क्षेत्र में इसका विकास अखंडा शैलियों के माध्यम से हुआ।

शब्द-शक्ति भेद (भाषाओं) के सहज एवं प्रभावी प्रयोग ही लोकनाट्यो में सबसे महत्वपूर्ण है, क्योंकि लोकनाट्यो में कोई भी स्क्रिप्ट निशित नहीं होती है, किन्तु एक कलाकार मंच पर अपने भावों को किस प्रकार स्पष्टता से व्यक्त करे यह शब्दों के सही चुनाव, उच्चारण व कलाकार की गुणवत्ता पर ही निर्भर करता है। रामलीला लोकनाट्य का रंगमंच करते समय वाक्पटुता और भाव-भंगिमाओं का अशुरचना ही सबसे बड़ी ताकत है।

डॉ॰ इंदुजा अवस्थी ने अपनी ग्रंथ रामलीला परंपरा और शैली - में स्पष्ट कहा है कि शब्द-शक्ति साहित्य क्रतियो से इतर बोलियों और लोकगीतों तक मे निजी विशिष्टताओ से भरपूर रामकथाएँ है- शायद इसलिए 'अपनी-अपनी रामकहनि' मुहावरा भी चल पड़ा है।

शब्द-शक्ति और वर्ण - लोक नाट्यो के मंचन समय जब एक कलाकार अपने संवादों का संप्रेष्ण करता है तो उसके स्वर समूहों का यथोचित प्रयोग और वर्ण की संज्ञा का समुचित सादृश्य दिखाई देता है।

वर्ण की संज्ञा प्राचीन (बीजाक्षर) को भी दी गई है। शब्द शक्तियों (भाषाओं) का रस ग्रहण इन्ही वर्णो का परिणाम है। संवादो के सम्प्रेषण मे छन्दात्यक गठजोड़ करके स्त्रोताओं रसमाधुर्य से अह्लादित कर देता है।

शब्द-शक्ति और अलंकार - अलंकार का अर्थ ही आभूषण या श्रृंगार होता है। भारतमुनि ने 39 अलंकार बताए है। शब्दो के क्रम, संतुलन और समता के आधार पर अलंकार की रचना की जाती है। मतंग ने 33 अलंकार बताये है जबकि शारंगदेव ने 63 अलंकार बताये है। भाषा द्वरा संवादो का सौंदर्य वर्णन करने हेतु अलंकारो का प्रयोग एक सहायक तत्व के रूप में प्रयोग किया जाता है।

शब्द-शक्ति भेद और काकु - भावानुरूप संवादो का उच्चारण ही काकु है। यह नाट्य, साहित्य और संगीत तीनों विधाओ में समान रूप से प्रगट होता है। संगीत शास्त्रो में 6 प्रकार के काकु बताए गये है -

क) स्वर काकु
ख) राग काकु
ग) अन्यराग काकु
घ) देश काकु
च) यंत्र काकु
ड) क्षेत्र काकु

इन सभी का प्रयोग रामलीला लोकनाट्य में संवादो के अन्तर्गत किया जाता है। यह रस सौन्दर्य सृष्टि के अनिवार्य कारक है।

शब्द-शक्ति और संवाद महत्व - जब रंगमंच पर किसी लोकनाट्य का मंचन किया जाता है तो उस नाट्य के संवाद एक वातावरण निर्मित करते हैं, उस वातावरण से प्रस्तुत स्त्रोतागण कितना रसास्वादन कर पाते हैं यह पूर्णतः रामलीला का मंचन कर रहे कलाकार के संवाद-शब्द-शक्ति भेद सम्प्रेषण पर निर्भर करता है यथा- किस संवाद को करूण्, श्रृगार या वीर रस के पदानुरूप प्रेषित करना है। संवाद के अनुरूप ही वाघ भी अपनी गहनता प्रस्तुत करता है। जैसा कि सर्वविदित है कि लोकनाट्यो में संवाद प्रमुख व संगीत गौड़ रूप से प्रयोग कि जाती है। शब्द-शक्ति भेद और संवाद के गहन रूप होने के कारण नाट्य की छोटी-से-छोटी बातों का एवं संवादों

का दर्शक गण के हृदय पर मर्मस्पर्शी व भक्ति भाव उत्पन्न होते है। रंगमंच परंपरा मे यह पाठ बरसों-बरसों से उसी प्रकार चली आ रही है- निर्देशक, अभिनेता बदलते रहते है किन्तु आलेख वही है, यही रामलीला की विशिष्टता है।

निष्कर्ष - शब्द-शक्ति की विस्तृत विवेचना करने के उपरान्त कहा जा सकता है कि रामलीला या अन्य के भी लोकनाट्यो में शब्द-शक्ति से ओत-प्रोत संवादों, भाषा, ही रंगमंच की परंपरा की आत्मा है। शब्द-शक्ति न केवल रंगमंच में प्रयुक्त संवादों को जग्रत करते है यह भाव भी प्रकट करते है। बिना शब्द-शक्ति भेद के प्रयोग से रंगमंच की परंपरा शोभाहीन मानव की भाँति है। शब्द-शक्ति भेद से ओत-प्रोत संवादों आधारशिला पर ही रंगमंच लोकनाट्य का महल खड़ा होता है। रामलीला लोकनाट्य का उददेशय ही मानव जीवन को मर्यादा, पुरुषार्थ व ईश्वरीय सत्ता की अनुभूत कराना है।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

	ग्रंथ	ग्रंथकार
1.	नाट्यशास्त्र	- भरत
2.	रामलीला परंपरा और शैलियाँ	- डॉ॰ इंदुजा अवस्थी
3.	लोकनाट्य शैलियाँ (रामलीला एवं रासलीला)	- प्रो॰ गिरीश्वर मिश्र
4.	रस तत्व विमर्श	- डॉ॰ संगीता घोष
5.	सरस संगीत	- प्रो॰ प्रदीप दीक्षित
6.	काकु का सांगीतिक विवेचन	- डॉ॰ मधुरानी शुक्ला

रामलीला लोकनाट्य का सांगीतिक एवं साहित्यिक पक्ष

राधा यादव
शोधार्थिनी
संगीत विभाग, महात्मा गाँधी बालिका विद्यालय
(पी॰ जी॰) कालेज, फिरोजाबाद।
डॉ॰ भीमराव आम्बेडकर विश्वविद्यालय, आगरा।

डॉ॰ निष्ठा शर्मा
निर्देशिका
संगीत विभाग, महात्मा गाँधी बालिका विद्यालय
(पी॰ जी॰) कालेज, फिरोजाबाद।
डॉ॰ भीमराव आम्बेडकर विश्वविद्यालय, आगरा।

परिचय :

'जग्रह पाठ्य ऋग्वेदात् सामभ्यों गीतमेव च'
यजुर्वेदादिभिनायान् रसनाथर्वणादपि।
(नाट्यशास्त्र 1/17-18)

भरतमुनि ने वेदों से नाटक का उद्गम बताया है। ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गायन, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रस संगीत लिया है। अतः पाठ्य, गायन, अभिनय, रस के तत्वों से मिलकर पाठ्य का उद्भव हुआ है।[1] भारत की संस्कृति से यह ज्ञात होता है, कि प्राचीन से ही ऋषि मुनियों ने जो भी चिंतन मनन किया वह लोक हित की भावना से ही प्रेरित था। लोक जीवन का स्वरूप ही भारतीय संस्कृति में दृष्टिगत होता है। भारत के विभिन्न प्रदेशों में प्रचलित उत्सव त्योहार इत्यादि प्रत्येक प्रांत की लोक कलाओ का दिग्दर्शन कराता है। प्रत्येक प्रदेश का अपना लोक संगीत व लोकपाठ्य उनकी संस्कृति की पहचान है। श्री कन्हैया लाल के अनुसार हमारे लोकपाठ्य के समन्वय दृष्टिकोण ने ही लोकपाठ्य को अजर-अमर बनाया है।[2]

लोकपाठ्य दैनिक जीवन का अभिन्न अंग है। सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति का एक माध्यम है। लोकपाठ्य में संगीतात्मक और गीतात्मक की प्रधानता होती है। लोकपाठ्य की प्रस्तुति हेतु विभिन्न प्रांत अपने-अपने लोक वाद्य प्रयुक्त करते है। इसमें कथानक प्राचीन कथाओं और समाज में हुए वीर पुरुषों व महापुरुषों के चरित्र पर आधारित होती है विभिन्न प्रांतो में लोकनाट्य के अनेक रूप प्रचलित है। लोकपाठ्य की परंपरा में रामलीला अत्यधिक प्रचलित है। रामलीला का आयोजन, अयोध्या, बनारस, मथुरा, वाराणसी व आगरा इत्यादि इसके साथ बिहार के मधुबनी व उत्तराखंड के अल्मोड़ा इत्यादि स्थानों पर रामलीला प्रमुख है। भारत के अतिरिक्त विदेश में भी रामलीला रंगमंच बड़ी धूमधाम से नाटक प्रस्तुति किया जाता है। इसका मंचन श्रीलंका, म्यांमार, मलेशिया, न्यूजीलैण्ड, इंग्लैंड तथा थाईलैण्ड इत्यादि देशों में भी प्रचलित है। थाईलैण्ड में रामलीला को राम कीर्ति नाम से भी जाना जाता है। रामलीला न केवल हिन्दू जन तक सीमित थी बल्कि मुस्लिम लोग भी रामलीला की नाटक प्रस्तुति करते है। उदाहरण स्वरूप मलेशिया में अधिकांश मुस्लिम आबादी है। मुस्लिम समुदाय विवाह के अवसर पर रामायण की कथाओं को नाटक रूप में प्रस्तुत करने की परम्परा है। इसी प्रकार इण्डोनेशिया के मुस्लिम जन राम को अपना पूर्वज मानकर रामलीला का कार्यक्रम आयोजन करते है। अतः कह सकते है, कि रामलीला जाति विशेष समुदाय तक सीमित नहीं है। अधिकांश देशों

में रामलीला का मौखिक आयोजन होता है, किन्तु ग्वालियर व प्रयागराज में वाणीहीन रामलीला का कार्यक्रम होता है। जिसमे कलाकार अपने हाव-भाव के माध्यम से प्रस्तुत करते है।[3]

रामलीला लोकपाठ्य की ऐतिहासिकता एवं प्रस्तुतीकरण - विश्व भर में हर स्थल पर दशहरा से पहले रामलीला का आयोजन किया जाता है। राम कथा रंगमंच पर प्रस्तुतीकरण आज से ही नहीं अपितु सैकड़ों वर्षों से होता आ रहा है। राम कथा पर आधारित शास्त्रीय नृत्य कथकली, यक्षगान, कथक, भरतनाट्यम इत्यादि बहुत समय से प्रचलित है। रामलीला एक पुरानी धार्मिक और सांस्कृतिक परम्परा है। यह उत्तर भारत में परम्परागत रूप से हर वर्ष मनाया जाता है। जिसमें राम के पूरे जीवन की रंगमंच पर नाटक प्रस्तुति है। रामलीला जिसका शाब्दिक अर्थ राम का नाटक है। रामलीला रामायण महाकाव्य का एक लोकपाठ्य प्रदर्शन है। जिसमें दृश्यों की श्रृंखला में गीत, कथन, गायन संवाद सम्मिलित होते है। उत्तर भारत में हर वर्ष नवरात्रि के दौरान रामलीला का मंचन दस दिनों के लिए होता है। अंतिम दिन दशहरे पर रावण दहन करके रामलीला का अंतिम दिन मनाया जाता है। वाराणसी में सबसे बड़ी रामलीला एक माह तक कार्यक्रम आयोजन होता है। इसी प्रकार प्रत्येक प्रान्त की समय व अवधि भिन्न-भिन्न है। वाल्मीकि रचित रामायण में संक्षिप्त विवरण दिया है, जो कि संस्कृत भाषा में लिखा गया था, जिसे केवल संस्कृत ज्ञानी ही जान सकता था। जनसामान्य में लोकप्रियता तुलसीदास कृत ''रामचरितमानस'' से मिली। रामचरितमानस अवधी भाषा में रचित है। अतः रामलीला का मूल आधार रामचरितमानस है। वर्तमान में उड़ीसा, कन्नड़, तमिल, तेलगू, बंग्ला, मराठी विभिन्न भाषाओं में राम कथा आधारित महाकाव्य उपलब्ध है। रामलीला मंचन के प्रवर्तक के विषय में मतभेद है, किन्तु अधिकांश विद्वान इसके प्रवर्तक को मेघा भक्त तुलसीदास शिष्य को माना ऐसा उल्लेखित है। सन् 1625 में वाराणसी के रामनगर में पहली बार मंचन रामचरितमानस पर आधारित काशी के तुलसी घाट पर हुआ था। मंचन की दृष्टि से रामलीला के तीन भेद उल्लेख मिलते है। अचल लीला, सचल लीला, स्टेज लीला। काशी में चार स्थानों पर अचल लीलाएं होती है।[4] एक ही स्थान पर मनोहर व स्वाभाविकता की दृष्टि से अयोध्या, जनकपुर, चित्रकूट, लंका आदि अलग-अलग स्थान बना दिए जाते है। भरत मिलाप के लिए गोपीगंज (भदौरी जिले में एक नगर) विमान पर निकलते है।

इसी प्रकार उत्तराखण्ड के कुमायूं में रामलीला 18वीं शताब्दी में विकसित हो चुकी थी। सर्वप्रथम अल्मोड़ा नगर के बद्रेश्वर मंदिर में रामलीला नाटक का मंचन किया गया था।

रामलीला को मुख्यतः दो रूपों में विभाजित किया गया है- मुखौटा रामलीला और छाया रामलीला। 1767 ई॰ में वर्मा (म्यांमार) के राजा ने स्याम (थाईलैण्ड) पर आक्रमण किया था। वर्मा (म्यांमार) जिसमें स्याम (थाईलैण्ड) पराजित हो गया। वर्मा (म्यांमार) अपने साथ थाईलैण्ड की बहुमूल्य वस्तुओं के साथ रामलीला कलाकारों को भी ले गया। इस प्रकार वर्मा में मुखौटा रामलीला थाईलैण्ड की देन है। वर्मा की रामलीला में नाटक आरम्भ होने से पूर्व हास्य परिहास और नृत्य प्रदर्शन होता था। इसमें संगीत की तीनों विधाओं (गायन, वादन ,नृत्य) की प्रबलता होती है। इस रामलीला में दानव ,बंदर व भालू की भूमिका अदा करने वाला पत्र मुखौटा धारण करते हैं, अन्य प्रमुख पात्र (राम, सीता, लक्ष्मण, रावण, जनक, हनुमान इत्यादि) नहीं।

मुखौटा रामलीला के अन्तर्गत वर्मा, मलेशिया, इण्डोनेशिया इत्यादि प्रमुख स्थल है।

छाया रामलीला - छाया रामलीला विविधता और विचित्रता के कारण अनोखी है। जापान में छाया का ''वेयांग'' कहते है। सर्वप्रथम छाया रामलीला का प्रदर्शन तिब्बत व मंगोलिया में होता था। वेयांग का

मतलब चमड़े की पुतलियां है। छाया रामलीला में पर्दे को प्रकाशित किया जाता है, और उसके सामने चमड़े की पुतलियों को इस प्रकार नचाया जाता है, कि उसका प्रतिबिम्ब पर्दे पर पड़े। सन् 1940 में नृत्य सम्राट पण्डित उदय शंकर द्वारा रामलीला में छाया अभिनय के माध्यम से नवीनतम प्रयास किया गया था। अल्मोड़ा नगर की रामलीला अन्य स्थानों से भिन्न प्रस्तुति है। इस प्रान्त की रामलीला में छाया चित्रों के माध्यम से अभिनय उत्कृष्ट संगीत नृत्य की छाप प्रमुख विशेषता है। विश्व प्रसिद्ध रामलीला स्थल निम्न है, जिन्हें देखने दूर दूर से लोग आते है। वह इस प्रकार है- वाराणसी में सर्वप्रथम 1830 ईस्वी में काशी के महाराज उदित नारायण सिंह के नेतृत्व में रामलीला का मंचन हुआ था यहां रामलीला की समय अवधि 31 दिन तक चलती है। यहां रामलीला का प्रारम्भ मुकुट पूजन के पश्चात् होता है।[5]

अयोध्या की रामलीला - अयोध्या में श्री राम की जन्म भूमि है। यहां रामलीला देखने लाखों दर्शकों की भीड़ आती है। रामलीला कमेटी में अभिनय पत्र की भूमिका फिल्मी अभिनेता तथा संसद के जन बढ़-चढ़कर भाग लेते है।

लखनऊ की रामलीला लखनऊ में रामलीला करने का प्रारम्भ अवध के नवाब ने किया था। यहां पर रामलीला का आयोजन रामलीला मैदान ऐशबाग में किया जाता है। जिसका निर्माण मुगल सम्राट आसिफ दौलत के द्वारा निर्मित करवाया गया था।

दिल्ली में वर्ष 1979 में रामलीला नाटक की स्थापना की गई थी। लव-कुश रामलीला दिल्ली में ही नहीं वरुन विदेश में भी सजीव प्रसारण दूरदर्शन, यूट्यूब के माध्यम से किया जाता है। जिससे सभी आयु वर्ग के प्रशंसकों को रामलीला का आनंद ले पाते है।

लव-कुश रामलीला दिल्ली की सबसे बड़ी रामलीला है। जिसका आयोजन लाल किला के सामने होता है। यहां की रामलीला में मुख्यमंत्री व राष्ट्रपति इत्यादि सम्मिलित होते है।

चांदनी चौक दिल्ली में रामलीला की शुरुआत बहादुरशाह जफ़र के शासनकाल में हुई थी। यह लगभग 180 वर्ष से भी ज्यादा समय से रामलीला का प्रयोजन अजमेरी गेट तक होता है।[6]

रामलीला लोकपाठ्य का सांगीतिक एवं साहित्यिक पक्ष - भारत विविधता में एकता का प्रतीक है। इसी प्रकार रामलीला लोकनाट्य विविधता पूर्ण संस्कृति, सामाजिक और जातीय तत्वों को अपनाते हुए हैं। रामलीला के विविध रूप है भिन्न-भिन्न प्रांतों में विविध प्रकार से रामलीला का मंचन होता है। कहीं तो रामलीला के संवाद मालकौंस, खमाज, बिहाग, देश, जैजवन्ती आदि शास्त्रीय रागों पर आधारित होती है। और कही उर्दू अल्फ़ाज के माध्यम से रामलीला के पात्र संवाद करते हैं। इस प्रकार रामलीला हिन्दू व मुस्लिम की एकता का प्रतीक है। सीता के स्वयंवर पर जनक द्वारा कहे शब्दों के उत्तर पर लक्ष्मण का जवाब- ''महाराज जनक अपनी जुबान को संभालो और ऐसे बेहूदा अल्फ़ाज अपने मुंह से ना निकालो घर पर बुलाकर किसी की बेइज्जती करना कहां की अकलमंदी है। बल्कि आलादजे की खुद पसंदी है''।

लक्ष्मण को समझाते हुए श्री राम के उर्दू अल्फाज - मौत का तालिब हूं मैं, मेरी लबों पे जान है, दो घड़ी का यह मुसाफिर आपका मेहमान है। यह पीछे से फिक्र करना मुझे बदला दिलाने की कोई तजवीज कर पहले तू अपनी जां की..।। ऐ मेरे बहादुर भाई ये तुम्हारा महज ख्याल है, वरना तुम्हें बुजदिल कहने की भला किसे मजाल है।[7]

इस प्रकार रामलीला पाठ्य दो भाषा और संस्कृतियों का संगम है। ऐसा उल्लेखित है सन 1902 में सैफ अली खान के पूर्वज मुटटन मियां ने गुड़गांव में दिन की रामलीला का प्रारंभ करवाया था।

रामलीला संगीतात्मक तथा गेयात्मक होती है। रामचरितमानस के दोहों को हारमोनियम, तबला, बांसुरी आदि वाद्य यंत्रों के सहयोग से दोहों का गायन किया जाता है। सभागार में उपस्थित जन का हृदय संगीतमय और हर्ष उल्लास से आत्मविभोर हो जाता है। रामलीला की अपनी कलात्मकता, मौलिकता और संगीत की राग रागिनियों में निबद्ध होने के कारण देशभर में अपनी अलग पहचान है। बिना धुन, ताल, लय और सुरसंवादों के रामलीला नाटक मंचन अधूरी प्रतीत होती है। अतः कह सकते है। संगीत रामलीला लोकपाठ्य का अभिन्न अंग है। बिना संगीतमय वातावरण दर्शकों के हृदय में हर्ष उल्लास उत्पन्न नहीं होता है। प्रत्येक प्रान्त अपने-अपने लोकपाठ्य में लोक वाद्य सम्मिलित करते है। लोक वाद्य के साथ उनके गेय संवादों की अनुपम रोचकता और सरसता वातावरण को मधुरमय व श्रृंगारमय बना देती है। देशकाल परिवेश के अनुसार पोशाक व आवश्यक उपकरणों का प्रयोग किया जाता है। लोकपाठ्य में मंजीरा, हारमोनियम, ढोलक, चिमटा व घड़ा इत्यादि वाद्यो का प्रयोग किया जाता है।

उपसंहार - रामलीला अत्यधिक प्रचलित रंगमंचीय नाटक है। जिसमें विभिन्न आयु वर्ग के दर्शक बढ़-चढ़कर प्रतिभा लेते है। रामलीला को इतना जनप्रिय रूप रामचरितमानस ने प्रदान किया है। निष्क्रियता के दौर में जनरूचि में संस्कार को परिष्कार करने व जन मन में रस संचार करती है। रामलीला कथा मानवीय मनोभावों की इतनी संप्रेषणीय सशक्त और मर्मस्पर्शी संवेदनात्मक प्रस्तुति है। रामलीला लोकपाठ्य लोक जीवन में सतत् प्रवाहित है। कथा गायन अभिनय आदि परम्पराएं लोक में निरन्तर जीवित है। रामलीला नाटक बिना संगीतमय वातावरण और वाद्ययंत्रों के अधूरा प्रतीत होता है।रामलीला का प्रमुख उद्देश्य समाज में मर्यादा, अनुशासन, नैतिकता एवं संस्कृति आदि मूल्यों की चेतना देना रहा है। रामलीला बुराई पर अच्छाई का द्योतक है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :

1. सिंह, आशा, (2022) संस्कृति अंकउल के नाट्यशास्त्र में नाट्यकला का महत्व, बी. आधार जर्नल, पृष्ठ-83
2. गौड़, डॉ॰ रामशरण (2016), ब्रज लोक साहित्य और लोक संस्कृति पृष्ठ-150-155
3. https://hi.m.wikipedia.com
4. त्रिपाठी, डॉ॰ वशिष्ठनारायण (2001), भारतीय लोकनाट्य, पृष्ठ-90
5. https://www.hindikiduniya.com
6. https://www.dharmyatra.in
7. https://hindinews18.com/ramleela in urdu language

भारतीय लघुचित्रों में श्रीकृष्ण लीला का अंकन एवं उसका सौन्दर्य

राज कुमार सिंह
असिस्टेंट प्रोफेसर स्कूल ऑफ क्रिएटिव एंड परफार्मिंग आर्ट्स
छत्रपति शाहू जी महाराज विश्वविद्यालय, कानपुर

प्राचीन काल से लेकर आज तक राम एवं कृष्ण का चरित्र भारतीय जनमानस में आदर्श रूप में लोकप्रिय रहा है। कृष्ण भक्ति का मुख्य स्त्रोत 'भागवत पुराण' है। भक्तिकाल व रीतिकाल में वैष्णव धर्म की जो अनवरत धारा बही उसके प्रभाव में भक्ति से लेकर श्रृंगार और विलास तक कलाकारों ने भगवान कृष्ण के चित्रों का अंकन किया इसमें कृष्ण कलाकारों के प्रिय नायक थे। इसके अलावा सूरदास, केशवदास तथा बिहारी की रचनाओं के आधार पर अनेक चित्रों का चित्रण हुआ। किशनगढ़, जयपुर, बूंदी, कोटा, बीकानेर में लघुचित्रों का निर्माण हुआ। हजारों की संख्या में बने इन चित्रों में विषय-वस्तु की विविधता के साथ कलात्मक रुचि एवं श्रेष्ठता के दर्शन होते हैं। ये तमाम शैलियां राजस्थान की अलग-अलग रियासतों में पनपकर पूर्णता को प्राप्त हुई जिनका न केवल भारतीय चित्रकला के इतिहास में वरन विश्वकला के इतिहास में विशेष स्थान हैं। तत्कालीन कवियों व चित्रकारों ने श्रीकृष्ण की कल्पना व अभिव्यंजना एक सबल प्रेमी, बलशाली नायक तथा प्रतिभाशाली नीतिज्ञ के रूप में की थी। प्राचीन भक्त कवियों में विल्वमंगल विद्यापति आदि ऐसे कवि थे जिन्होंने श्रीकृष्ण के प्रेमरूप को संयोग और वियोग दोनों रंगों में रंग कर अपनी रचनाओं में उपस्थित किया, यही कारण रहा कि प्रत्येक काव्य तथा चित्रकृति के प्रमुख नायक श्री कृष्ण माने गए। कलाकारों ने अपने चित्रों में कल्पना द्वारा राधाकृष्ण की युगल लीला के अनेक चित्र बनाए। इस सुन्दर धरा पर उनका सम्पूर्ण जीवन जिसमें बाल्यकाल, किशोरावस्था, युवावस्था व अनन्तकाल समस्त मानव समुदाय हेतु प्रेरणादायी सिद्ध हुआ तथा श्री कृष्ण जीवन कि विभिन्न अवस्थाओं में अलग-अलग रूप में प्रस्तुत हुए जिससे आज के कलाकारों, साहित्यकारों व कवियों ने प्रेरणा प्राप्त की।

राजस्थान लघु चित्रकला में 'श्रीकृष्ण' का स्वरूपः

जिस प्रकार यूनान में वीनस व रोम में अफ्रौदीती को महत्व दिया गया है उसी प्रकार भारतीय पारम्परिक लघु चित्रों के रचयिताओं ने अपने चित्रांकन में जितना अंकन श्रीकृष्ण और उनकी लीलाओं का किया है उतना अन्य किसी विषय का नहीं। श्री कृष्ण व उनके रूपों का अंकन उनके लिए सदैव प्रेरणादायी रहा है। शुंग, कुषाण, गुप्तकाल से लेकर उत्तर मध्यकाल में अपभ्रंश शैली के उद्भव के साथ ही इनकी विभिन्न लीलाओं को कलाकारों ने अपनी तूलिका का विषय बनाया। गुप्तकाल के प्रस्तर एवं मिट्टी के फलकों पर भी कृष्णलीला चित्रण देखने को मिलता है। उत्तर मध्यकाल में (15वीं शती के लगभग) अपभ्रंश शैली के उद्भव के साथ ही श्री कृष्ण की विविध लीलाओं यथा माखनचोरी, गोप-क्रीडा, गोवर्धन धारण आदि को कलाकारों ने सुन्दर ढंग से तूलिकाबद्ध किया।

मूल रूप से चित्रों की विषयवस्तु तीन भावनाओं से प्रभावित रही। भक्ति श्रृंगार एवं संगीत इसके अलावा चित्रकारों ने दरबारी वैभव तथा शौर्य के चित्रण में भी रुचि ली। ज्यादातर राजपूत राजाओं ने अपने तथा आस-पास बिखरे विषयों में ही अपनी दृष्टि को केन्द्रित किया तथा चित्रकला को प्रोत्साहन दिया, परन्तु समय के अनुसार चित्रकारों ने परम्परागत परिपाटी को तोड़कर यथार्थ की तरफ कदम बढ़ाने का प्रयास किया। कलाकारों ने राग-रागनियों, ऋतु चित्रण तथा श्रृंगार सम्बन्धी अनेक चित्रों का अंकन किया। राधा कृष्ण के माध्यम से प्रेम माधुरी की ऐसी वर्षा की कि जिससे साहित्य तथा कला का क्षेत्र भी प्रेमानुराग से सराबोर हो गया और यही विकास मुगल शैली राजस्थानी शैली तथा मध्यभारत की अन्य शैलियों तक विस्तृत हुआ।

राजस्थानी लघु चित्रशैलियों में 'श्रीकृष्ण' चित्रण:

15वीं शती के लगभग राजस्थानी लघुचित्र शैली का प्रथम उत्थान माना जाता। यह वही काल था जब श्रीकृष्ण के चरित्र से जन-जन का परिचय कराने वाली ब्रजभाषा की उन्नति और वल्लभ सम्प्रदाय की पुष्टि मार्गीय शाखा का अभ्युदय हुआ बृज भाषा और वल्लभ सम्प्रदाय दोनों ही श्री कृष्ण के आदर्श चरित्र के प्रचार प्रसार में सहभागी बने। श्री कृष्ण की लीलाओं से सम्बद्ध चित्र हमें दो विभिन्न वर्गों में देखने मिलता है, एक वर्ग वह है जिसमें श्रीकृष्ण की शिशु अवस्था तथा बाल-लीलाओं का अंकन हुआ है। दूसरा वर्ग वह जिसमें उन्हें श्रृंगार और अभिसार का प्रतीक मानकर गोपियों, राधा या अन्य नायिका के साथ छेड़छाड़ या प्रेम प्रसंग में संलग्न दिखाया गया है। प्रथम वर्ग में श्रीकृष्ण की माखन चोरी, यशोदा मैया द्वारा उन्हें दण्डित किया जाना। उनकी नजर उतारना तथा बाल्यावस्था में राक्षसों के संहार से संबंधित चित्र भी इन शैलियों में देखने को मिलते हैं। श्रीकृष्ण लीला का अन्य पक्ष उनके श्रृंगारी स्वरूप का है। ये श्रृंगार के आलम्बन स्वरूप के प्रतीक बने संयोग व वियोग श्रृंगार की प्रत्येक कलाकृति उनकी लीलाओं से ओतप्रोत होने लगी! जयदेव कृत 'गीतगोविन्द' काव्य की जितनी भी प्रतियाँ मिलती है उनमें श्री कृष्ण के श्रृंगारी स्वरूप को ही विशेष रूप से उजागर किया गया है। श्री कृष्ण का श्रृंगार-स्वरूप हमें श्रीमद्भागवत के दराभ स्कन्ध तथा 'रास पंचाध्यायी' ग्रन्थ में भी मिलता है। मेवाड़ क्षेत्र जहां से राजस्थानी लघु चित्रों का आरम्भ माना जाता है। कृष्ण जीवन लीलाओं व कृष्ण से सम्बन्धित अनेक चित्रों व ग्रन्थों का चित्रण इस क्षेत्र में हुआ इसी समय महाराजा कुम्भा के स्वरचित ग्रंथ 'संगीतराज' में नाट्यशालाओं के चित्रों का उल्लेख है इन्होंने गीतगोविन्द, बालगोपाल स्तुति आदि कई सुन्दर ग्रन्थों की रचना करवाई। आनंद कुमार स्वामी के कैटलॉग ऑफ इण्डियन कलेक्शन के मुख्य पृष्ठ के चित्र ''कृष्ण राधा की प्रतीक्षा करते हुए'' का जिक्र हुआ है। मेवाड़ में ही 'रागनी चित्रमाला' जो ''श्री गोपीकृष्ण कनेरिया संग्रह कोलकाता'' में सुरक्षित है चावण्ड में चित्रित की गई थी। मेवाड में ही भागवतपुराण, नायिका भेद, गीतगोविन्द, सूरसागर रसिक प्रिया बिहारी सतसई आदि ग्रन्थ चित्रित हैं। वैष्णव धर्म के प्रभाव के कारण इन चित्रों में नायक नायिका साधारण पुरुष या स्त्री न होकर कृष्ण और राधा जैसे आदर्श प्रेमी हैं। सूर कृत सूरसागर के आधार पर बने कुछ सचित्र पृष्ठ श्री गोपी कृष्ण कनेरिया संग्रह में सुरक्षित है। प्रारंभ में आनंद कुमार स्वामी ने 1926 ई. में मेवाड़शैली को श्रीनाथजी व उनसे सम्बन्धित चित्रों तक सीमित बताया। ये चित्र नाथद्वारा में वैष्णव सम्प्रदाय के यात्रियों और श्रीवल्लभाचार्य के अनुयायियों को धर्म प्रचार हेतु बांटे जाते हैं। मेवाड़ में ही नाथद्वारा शैली का उद्भव व विकास श्रीनाथजी के स्वरूप की स्थापना 10 फरवरी 1672 ई. के बाद में आंका जाता है। श्री नाथजी की प्रतिमा के साथ अनेक भक्त चित्रकार मथुरा व वृंदावन में अपने हाथों से श्रीनाथजी के विग्रह चित्र बनाए। श्रीनाथ जी के स्वरूप के पीछे सज्जायुक्त बडे आकार के कपडे पर जो पर्दे बनाए जाते हैं उन्हें 'पिछवाई' कहते हैं जो नाथद्वारा शैली की मौलिक देन है। कृष्णलीलाओं के चित्रों को चित्रित करने की प्रथा नाथद्वारा में आज भी है इनमें

कृष्ण, जन्म, ब्रज की बाललीला, गोचारण, कालिया नाग मर्दन एवं चीरहरण आदि विषयों के अनुरूप चित्रों का निर्माण हो रहा है। मारवाड़ शैली के चित्रों में श्री कृष्ण बलराम द्वारा कंस के भेजे गए मुष्टिक और चाण्डूर जैसे मल्लों का वध किया जाना अपने उत्कृष्ट रूप में चित्रित किया गया है। एक चित्र में ''श्री कृष्ण द्वारा कंस के शरीर के बाल पकडकर घसीटते हुए'' दिखाया गया है। मारवाड़ शैली में बिहारी सतसई की टीका, रागसार, कृष्ण विलास, राग विलास, संयोग श्रृंगार का दोहा इत्यादि की रचना की महाराजा मानसिंह व तख्तसिंह के समय श्रृंगारपूर्ण चित्रों में कृष्णचरित्र के आधार पर चित्रण हुआ है। अजीतसिंह के समय रसिक प्रिया, गीतगोविन्द आदि श्रृंगाररस के काव्यों पर चित्रण हुआ। मारवाड़ में प्रयुक्त यात्रा में धार्मिक ग्रन्थ एवं प्रेमाख्यान लिखे गए जिन्हें चित्रित भी किया गया। प्रहलाद चरित्र, भागवत, रामायण, कृष्ण लीला इत्यादि। किशनगढ शैली में कृष्ण के श्रृंगारपूर्ण चित्रों का मनोरम चित्रांकन हुआ है।

महाराजा रूपसिंह स्वयं वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित व कृष्णभक्त थे। इन्होंने कृष्ण के बाल, किशोर एवं युवा सभी रूपों की प्रेम लीलाओं का चित्रण करवाया। महाराजा सावन्तसिंह (1699-1764 ई.) का समय कृष्ण लीला व प्रेम आख्यानों से सम्बन्धी चित्रण का स्वर्णकाल रहा है इन्होंने शीघ्र ही अपने आपको राधा कृष्ण की माधुर्य भक्ति में लीन कर लिया। इस समय गीतगोविन्द, भागवत पुराण तथा बिहारी चन्द्रिका पर आधारित चित्रण हुआ। सावन्तसिंह के समय इनको कृष्ण के रूप में तथा इनकी प्रेमिका को राधा के रूप में नागरीदास ने बणी-ठणी नामक चित्र के रूप में चित्रित कर इस शैली को सदा के लिए अमर कर दिया। इस प्रकार वल्लभ सम्प्रदाय के प्रसार के कारण कलाकारों ने राधा कृष्ण की अनेक लीलाओं को लघुचित्रों के रूप में साकार करने पर बल दिया। 'भगवान श्रीकृष्ण गोवर्धन पर्वत को धारण किए हुए' निहालचंद किशनगढ़ शैली 1755 ई. का प्रसिद्ध चित्र है। कृष्ण के प्रेम लीला के दृश्यों में कहीं की अश्लीलता का पुट नहीं है। गोपियों के कान में ज्यों ही बंशी की धुन की आवाज आती है वे लोक लाज त्यागकर तुरन्त ही कृष्ण के पास पहुंच जाती है। कृष्ण ने गोपियों के साथ पूर्ण चन्द्रमा की रात्रि में रास रचाया, जिस पर कलाकरों ने अनेक चित्र अंकित किए। राधा कृष्ण के इन मनोरम चित्रों में ''सांझी लीला'', ''कृष्णराधा का दुपट्टा पकडते'' तथा ''कृष्ण गोपियों के साथ नृत्य करते हुए'' आदि सुन्दर उदाहरण हैं। बीकानेर शैली के कतिपय चित्रों में भी चित्रकारों ने श्री कृष्ण के पराक्रम को दर्शाने वाले अनेक सफल चित्र प्रस्तुत किए। महाराजा अनूपसिंह (1669-1698 ई.) के काल में रसिकप्रिया, बारहमासा, भागवत पुराण से सम्बन्धित जो चित्र प्राप्त हुए उनमें बीकानेर शैली के दर्शन होते हैं। भागवत कथा सम्बन्धी चित्र जिनमें कृष्ण चरित्र के आधार पर चित्रण हुआ है जो विषयवस्तु की दृष्टि से बीकानेर शैली के सुन्दर चित्रों में है। नाथद्वारा की तरह कोटा भी पुष्टिमार्गीय वैष्णव सम्प्रदाय का केन्द्र रहा है। कृष्ण बाल लीलाएं, गोचारण, माखन लीला इत्यादि प्रमुख हैं। भगवान श्रीकृष्ण राधाजी के लिए बांसुरी बजाते हुए, 18वीं शताब्दी, बीकानेर शैली का प्रसिद्ध चित्र है। राधाकृष्ण का एक चित्र हैं जिसमें वीणाधारी कृष्ण राधा के पास आए हैं। राधा बैठी है कृष्ण व बलराम पेड़ के नीचे खड़े हैं, सामने एक ग्वाला, गाये व बछड़े हैं। बन्दर, मोर व पक्षी भी हैं। यह चित्र सन् 1700 ई. के आसपास का है। कोटा शैली में प्रारम्भ में कृष्ण लीला से सम्बन्धित चित्र कलाकारों के प्रिय विषय रहे हैं। बूंदी शैली में एक चित्र 'राधा और कृष्ण का मिलन' (18वीं शताब्दी) जो देसाई संग्रह बम्बई में है जो भावात्मक सौंदर्य के कारण उत्तम है। 'भागवत पुराण' पर आधारित कृष्ण लीला के चित्र बनाने की परम्परा भी यहां विद्यमान रही है। वसन्त रागिनी, राजपूत रागमाला, बूंदी 1660 ई. का प्रमुख चित्र है। बूंदी शैली का एक सम्पूर्ण बारहमासा है जिसमे चैत्र से लेकर फाल्गुन मास तक का चित्रण है इन चित्रों का प्रमुख नायक कृष्ण हैं। एक अन्य चित्र 'कृष्ण के बंशीवादन' का है, जो सन् 1775 ई. का है। कृष्ण यमुना पार है, गोपियां गोकुल में अपने घरों से झांक रही हैं। गायें व गोप वापिस लौट रहे हैं, प्रमुख हैं। जयपुर शैली में एक

चित्र में श्री कृष्ण को गोवर्धन धारण किए हुए अंकित किया गया है। इस चित्र में उनके शरीर में कोमलता का आभास होता है। कृष्ण के चारों ओर गाये, गोपियां तथा ग्वालबाल जो गोवर्धन पर्वत के नीचे खड़े हैं, ऊपर आकाश में बादलों के मध्य स्वर्ग के देवता दिखाए हैं। आकाश में एरावत पर सवार स्वयं इन्द्र श्री कृष्ण की पूजा करने जा रहे हैं। अन्य चित्र 'रास मण्डल' जिसके मध्य में मानव आत्मा और परमात्मा का प्रतीक भगवान श्री कृष्ण और राधिका का युगल है इस युगल के चारों तरफ गोपियां कई मण्डलाकारों में नृत्य कर रही हैं। राजा जयसिंह (1621-67) के दरबारी कवि 'बिहारी' द्वारा रचित बिहारी सतसई ने अनेक चित्रकारों को चित्रण हेतु प्रोत्साहित किया। 'रसिकप्रिया' और 'कृष्ण रूक्मणिबेलि' नामक ग्रन्थ राजा ने अपनी रानी हेतु 1639 ई. में बनवाए थे। कलाकार साहब्दीन ने '' कृष्ण का नृत्य'' चित्रित किया व कृष्ण लीला सम्बन्धी पाण्डुलिपियों पर क्रमबद्ध चित्रण किया।

श्री कृष्ण लीला पर आधारित प्रमुख चित्रों का उल्लेख :

चित्र सं. 1- निहाल चन्द द्वारा 18 वीं शताब्दी में चित्रित राजस्थानी शैली का चित्र

प्रस्तुत चित्र का निर्माण किशनगढ़ शैली के प्रसिद्ध चित्रकार निहालचंद ने किया है। राधा कृष्ण वाटिका में बैठे है और गोपिकाएं उन पर पुष्प फेंक रही हैं। इसमे विषय के अनुरूप मनोहारी रंगों का प्रयोग किया गया है। पृष्ठभूमि में सुंदर पेड़ पौधों का अंकन है जो चित्र को और भी सजीवता प्रदान कर रहा है।

चित्र सं. 2 - प्रस्तुत चित्र का निर्माण 16वीं शताब्दी में नाथद्वारा शैली में हुआ है इसे पिछवाई कला के नाम से भी जाना जाता है क्योंकि यह चित्र श्री नाथ जी की मूर्ति के पीछे पूजन के समय लगाया जाता है इसमें श्री कृष्ण को चित्र के केंद्र में रखा जाता है और चरों ओर उनसे सम्बंधित चीजों को अंकित किया जाता है। चित्र में मूल रूप से नीले और पीले रंगों का बड़ी ही सुन्दरता से प्रयोग किया गया है।

चित्र सं 3 - प्रस्तुत चित्र गीत गोविन्द पर आधारित है जिसमे राधा अपनी सखी के साथ बैठकर श्री कृष्ण जी की बांसुरी सुन रही हैं। श्री कृष्ण को बांसुरी बजाते हुए निर्मित किया गया है। चारों ओर हरे भरे कुञ्ज को बड़े ही आकर्षक रूप में चित्रित किया गया है। यह चित्र पहाड़ी शैली में सन 1825 में निर्मित किया गया है।

निष्कर्ष :

इस प्रकार श्री कृष्ण का व्यक्ति-चित्रांकन इन चित्रों में प्रायः एक सा है। कहीं-कहीं थोडा परिवर्तन है किन्तु मूल आत्मा वही है जैसे कृष्ण के शरीर को नीले रंग से चित्रित किया जाना, होंठो पर मुरली, सिर पर मोरपंख या मुकुट, हाथ में वीणा, पीताम्बर परिधान, पांवों में खड़ाऊ आदि दिखाना इनका प्रमुख लक्षण हैं। श्रृंगार पक्ष की सूक्ष्म संवेदना इन चित्रों में परिलक्षित होती है। श्री कृष्ण के विविध रूपों के साथ पृष्ठभूमि में ब्रज के दृश्य, वृक्ष लताएं, पहाड़, बादल, भवन नदी आदि का अंकन तथा इन्हें गायें व ग्वाल-बालों से घिरा दिखाया जाना इन चित्रों में मुख्य रूप से मुखरित हुआ है। नायिकाओं के जितने चित्रों में उन्हें संयोग सुख में रत दिखाया है, चित्रकारों के समक्ष श्रीकृष्ण का मनोहारी स्वरूप ही रहा है। इस दृष्टि से भारत की प्रत्येक लघुचित्र शैली पूर्ण समृद्ध रही है। 39 इस प्रकार श्री कृष्ण लघुचित्र शैलियों में प्रमुख नायक के रूप में विख्यात हुए हैं जिससे राजस्थानी लघुचित्र शैलियों में प्रेम, श्रृंगारिका व विभिन्न दृश्यों को एक प्रधान माध्यम प्राप्त हुआ।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :

1. शची रानी गुर्टूः कला दर्शन, दिल्ली, 1953.
2. श्यामलालदासः वीर विनोद, मेवाड़ राज्य का इतिहास, 1984.
3. सतीश चन्द्र कालाः भारतीय चित्रकला, इलाहाबाद, 1936.
4. सोम प्रकाश वर्माः मुगल चित्र शैली, जयपुर, 1991.
5. संध्या पाण्डेय एवं आर.पी. पाण्डेयः भारतीय कला पुनर्जागरण एवं चित्रकला, म.प्र.हि.ग्र.अ., भोपाल, 1997.
6. सुरेन्द्र सिंह चौहानः राजस्थानी चित्रकला, दिल्ली, 1994.
7. आर.ए. अग्रवालः कला विलास-भारतीय चित्रकला का विकास, लायल बुक डिपो, मेरठ, 1984.
8. गिर्राज किशोर अग्रवालः कला और कलम, अशोक प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़, 1980.
9. शचिरानी गुर्टूः कला के प्रणेता, बनारसीदास प्रकाशन, दिल्ली, 1965.
10. आर.बी. गौतम, शैलेन्द्र भटनागरः राजस्थान की महिला चित्रकला, प्रोग्रेसिव आर्टिस्ट्स ग्रुप, राजस्थान एवं ललित कला अकादमी, नई दिल्ली, 1991.
11. ममता चतुर्वेदीः भारतीय समकालीन कला, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2007.

ब्रज की रासलीला का संगीत पक्ष एवं प्रयोग

डॉ॰ श्रेया श्रीवास्तव
अतिथि प्रवक्ता, संगीत विभाग,
इलाहाबाद डिग्री कॉलेज, प्रयागराज

ब्रज शब्द संस्कृत धातु 'ब्रज' से निर्मित हुई है, जिसका अर्थ महर्षि पाणिनि के अनुसार गतिशीलता से है और इसका प्रयोग वैदिक काल से ही हमें प्राप्त होता है। ऋग्वेद में 'ब्रज' शब्द गौशाला अथवा गायों के रहने युक्त स्थान के लिए प्रयुक्त हुआ। कुछ विद्वान इसे गाय, ग्वालों की बस्ती के अर्थ में प्रयुक्त युक्त किये, वेदों से लेकर पुराणों तक ब्रज का संबंध गायों से ही वर्णित किया गया है। चाहे वह गायों को बांधने का स्थान हो या गौशाला हो या चाहे गोचर भूमि हो।

पौराणिक काल से लेकर वैष्णव संप्रदायों के आविर्भाव कल तक जैसे-जैसे कृष्ण लीला का विस्तार हुआ वैसे-वैसे श्री कृष्ण जी के लीला स्थलों के गौरव की भी वृद्धि हुई, इसी काल में यहां गो-पालन की की प्रचुरता थी। श्री कृष्ण के जन्म स्थान मथुरा और उनकी लीलाओं से संबंधित मथुरा के आस-पास का समस्त प्रदेश ही ब्रज कहा जाने लगा। यह क्षेत्र ऋषि मुनियों की तपोभूमि कहा गया, इस वन को मधुबन कहा गया, वृंदावन, बैकुंठ, मधुबन, कृष्ण गंगा इत्यादि ऐसे स्थल हैं जो ब्रज धाम कहे जाते हैं।

ब्रजभूमि मोहनी में जानी
मोहन कुंज मोहन वृंदावन मोहन जमुना पानी।
मोहन नारी सकल गोकुल की, बोलत अमृतवाणी।।
श्री भट्ट के प्रभुमोहन मोहिनी राधा रानी।

रास का अर्थ है चिल्लाहट। प्राचीन काल से ही मनुष्य अपनी खुशी को चिल्लाहट के साथ व्यक्त करता आया है या कोलाहल प्रसन्नता का सूचक होता है, जिसे संगीत के माध्यम से गा-बजाकर नृत्य के साथ प्रस्तुत करते हैं, यही रास कहलाता है।

रास को मुलतः नृत्त माना गया है जो नृत्य लय ताल पर आश्रित होता है अर्थात अभिनय एवं भावश्रय होने के कारण यह नृत्त से नृत्य बन जाता है। गीता में कहा गया है कि श्री कृष्णा स्वयं रस स्वरूप हैं। श्री वल्लभाचार्य जी ने कहा है कि रस की अभिव्यक्ति जिससे हो वह रास है।

किशोरी प्रसाद जी ने कहा है -

''रसकदम्बमयः कश्चिद्विलक्षणों ब्रजलीला विशेषः।
यद्वा रसा मुख्यरसः शुद्ध प्रेमा स एवंरासः''॥

रासलीला में श्री कृष्ण, श्री राधा एवं गोपियों का उल्लेख मिलता है। श्री कृष्ण आनंदमय पूर्णब्रह्म परमतत्व हैं और श्री राधा श्रीकृष्ण के रासलीला की संचालिका है। वे आद्याशक्ति, मूलप्रकृति, कृष्णामयी हैं। गोपियां रासलीला के संपादन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं, यह गोपियां श्री कृष्ण की इंद्रियां हैं। रासलीला में गोपियां श्री कृष्ण प्रेम का दूसरा नाम है। यह ब्रज की भूमि गोपियों और सखियों के प्रेम से प्रेममय है। इनके अभाव में श्रीकृष्ण लीला असंभव है।

उत्तर प्रदेश के लोकनाट्यों में रासलीला का प्रमुख स्थान है। भागवत पुराण के अनुसार श्री कृष्ण ने यमुना के तट पर वृंदावन में गोपियों के साथ रास नृत्य किया था और जब गोपियों को श्री कृष्ण के साथ नृत्य करने पर अभिमान हुआ तो श्री कृष्ण अंतर्ध्यान हो गए। उनकी विरह में पीड़ित गोपियों ने श्री कृष्ण से संबंधित लीलाओं का अनुकरण किया और यही लीला कालांतर में रासलीला कहलाया।

आज भी रासलीला में पहले श्री कृष्ण व गोपियों का नृत्य होता है, जिसे 'नृत्यरास' कहते हैं। उसके पश्चात् श्री कृष्ण कथा से संबंधित विभिन्न प्रकार के प्रसंग का अभिनय जैसे माखन चोरी, कालिया दमन लीला, कंस वध आदि प्रस्तुत की जाती है।

रालीला का संगीत पक्ष एवं प्रयोग :

रासलीला में संगीत का पक्ष अत्यंत ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। रास शब्द सुनते ही एक विशेष प्रकार संगीत की अनुभूति होने लगती है। रासलीला में जहां कहीं भी गद्य के माध्यम से संवाद किया जाता है वहां भी इसके प्रस्तुतीकरण में संगीत की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। गद्य को संगीत के माध्यम से पढ़ा या गाया-बजाया जाता है, जो रास में चार चांद लगा देता है और संपूर्ण वातावरण संगीत में हो जाता है। लीला का कथा भाग हो या पात्र विशेष का चरित्र-चित्रण, नृत्य की किसी स्वरावली का प्रस्तुतीकरण हो अथवा झांकी की अवतारणा सभी में संगीतात्मकता पूर्णतः परिव्याप्त होता है।

16वीं शती से मथुरा में रास के वर्तमान रूप का प्रारंभ हुआ। सर्वप्रथम यहां वल्लभाचार्य जी ने स्वामी हरदेव के सहयोग से विश्राम घाट पर रासलीला किया। रासलीला ब्रज की अनोखी देन है, जिसमें संगीत के गीत लय ताल व नृत्य का समिश्रण है। अष्टछाप के कवियों के समय ब्रज में संगीत की मधुर धारा प्रवाहित हुई। रासलीला लोकनाट्य का प्रमुख अंग है। भक्तिकाल में इसमें राधा कृष्ण की प्रेम क्रीड़ाओं का प्रदर्शन होता था, जिसमें आध्यात्मिकता की प्रधानता रहती थी। इसका मूलाधार भक्त कवि सूरदास अष्टछाप के कवियों के पद और भजन होते थे। उनमें संगीत और काव्य का रस तथा आनंद दोनों ही होता था। रासलीला का रंगमंच साधारण होता है जो प्रायः मंदिरों की मणि पर, ऊंचे चबूतरो पर, बासों और कपड़ों से बनाया जाता है, जिसमें एक पर्दा रहता है और पात्र परदे के पीछे से आते रहते हैं। रंगभूमि में गायक और वादक बैठे होते हैं। सामने प्रेक्षकों के लिए खुले आकाश का प्रेक्षागृह होता है। रासलीला प्रारंभ होने से पूर्व आई हुई जनता के लिए रंगभूमि में भजन, गान, ढोलक, मंजीरा, हारमोनियम तथा सितार के साथ होता रहता है। तत्पश्चात् पुरोहित व्यवस्थापक श्री राधा कृष्ण की दिखलाई जाने वाली लीला का निर्देश करता है, उसके बाद पर्दा उठता है और राधा कृष्ण जी की युगल छवि की आरती बड़े ही भावपूर्ण से गायक आदि सभी लोग मिलकर करते हैं। तत्पश्चात् रासलीला का कार्यक्रम प्रारंभ हो जाता है। पात्रों में राधा कृष्ण और गोपियों एवं अन्य किरदार रहते हैं जो रासलीला में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। राधा कृष्ण की प्रेम क्रीड़ायें होती हैं, जिसमें सूरदास आदि कृष्ण भक्त कवियों के भजन गाए जाते हैं, और पद प्रधान संवाद, सौंदर्य, नृत्य, गीत, वेणुध्वनि, लय, ताल, रस की अबाध धारा बहती है, जिसमें सभी लोग आनंदमग्न हो जाते हैं।

रस के विभिन्न पद्य के पदों को हमारे शास्त्रीय संगीत में ख्याल, ठुमरी, धमार के रूप में स्वरलिपि बद्ध किया गया है जैसे एक पद राग मालगुंजी में है-

स्थाई - मुरली की धुन सुनी सखीरी आज
सुझत नांही कछु काम काज आज।
अंतरा - जात रही थी जमुना जल भरन
भरन लगी डूब गई गगरी मोरी
कार्य करूं कछु सुध नहीं तन की
चोर लियो चित बंसी धरन आज

अर्थात् राधा जी अपने सखियों से कहती हैं कि हे सखी मुरली की धुन सुनकर मुझे कोई भी काम भाता नहीं है श्री कृष्ण की मुरली ने मेरे मन को मोहित कर लिया है।

राग देशकार में एक बंदिश है-

स्थाई - तुम पर वारी कृष्ण मुरारी
विनती हमारी सुनो बनवारी

अंतरा - लेकर चीर कदम पर बैठे
हम जलमाझ उछाड़ी

अर्थात् हे कृष्ण हमारी विनती सुन लो हमारे कपड़े लेकर तुम कदम के पेड़ पर बैठे हो और हम जल में बिना वस्त्र के हैं, कृपया हमारे कपड़े लौटा दो का वर्णन है इस बंदिश में।

राग मारूबिहाग :

आज कुंजन में रास रच्यो।

सखियन के संग मधुबन में रास रच्यो कुंवर कन्हाई गोपियों के संग।

इसके अतिरिक्त कृष्ण भक्त कवियों जैसे सूरदास, कुंभन दास जैसे अष्टछाप कवियों ने कृष्ण की रासलीलाओं के ऊपर अनेकों पद लिखे हैं, जो कृष्ण की विभिन्न लिलाओं में संगीतात्मक ढंग से प्रयोग कयि जाते हैं।

श्री कृष्ण की रासलीला अत्यंत ही मनमोहक है, इसमें गायन की एक समृद्ध परंपरा रही है। रासलीला में श्रीराधा लीला कथा की धूरी हैं एवं श्री कृष्ण कथा सूत्र के धारक होते हैं। ब्रज की रस-रसिकों में भगत्प्रेम का यह सर्वोत्तम उदाहरण है इसलिए इस लीला को हमारे भारतीय संस्कृति में अत्यंत ही महत्वपूर्ण उपलब्धि मानी गई है।

राजा रवि वर्मा के कृतियों में रंगमंच की दुनिया

विनीता देवी
शोध छात्रा, चित्रकला विभाग
दृश्य कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

भारतीय आधुनिक चित्रकार राजा रवि वर्मा ने अपनी एक नयी शैली का जन्म दिया जिसमे यूरोपीय यथार्थवाद व भारतीय विषयों को एक साथ जोड़ा। रवि वर्मा को बचपन से चित्र बनाने का बेहद शौक था। एक दिन उनके चाचा राजा राज वर्मा भगवान विष्णु का चित्र बनाकर उसमें रंग भर रहे थे, तभी बीच में उठकर वे काम से बाहर चले गये। बालक रवि वर्मा अकस्मात् वहाँ आ पहुँचे, और अधूरा चित्र पड़ा देखा तो तुरन्त उत्सुकतावश उसे पूरा करने बैठ गये, साथ ही चित्र में विष्णु के साथ गरुड़ को भी अंकित कर दिया। उनके चाचा चुपचाप यह सब दूर से देख रहे थे। रवि वर्मा की इस तन्मयता से वे अभिभूत हो उठे। उन्होंने खुश होकर आशीर्वाद दिया। 'बेटा तुम आगे चलकर एक बड़े चित्रकार बनोगे।'[2] इनकी सबसे पौराणिक चित्र 'दुष्यन्त को पत्र लिखती शकुन्तला' जो कालिदास द्वारा लिखित अभिज्ञानशाकुंतलम् पर आधारित है। तथा यह विलियम द्वारा अभिज्ञान-शाकुंतलम् के अंग्रेजी अनुवाद ग्रंथ के मुखपृष्ठ पर प्रकासित हुआ। 'उन्होंने अपने चित्र विषय के लिए परिचित चेहरा 'सुगन्धी' का महाकाव्यों में देवी और पौराणिक चरित्रों के लिए इस्तेमाल किया।'[3] चित्र 'सीता का वनवास' महाराज गायकवाड ने सन् 1887 ई॰ स्वर्णपदक से सम्मानित किया। राजा रवि वर्मा को एक बार बड़ौदा के राजा सयाजी राव ने अपने उत्सव में आमंत्रित किया, वहाँ उन्होंने राज-परिवार से आए अतिथियों का सबीह चित्र बनाए। जिसे देखकर राजा सयाजी राव ने उनको 14 पौराणिक दृश्य बनाने का कार्य दिया। रवि वर्मा ने रामायण और महाभारत विषय के चौदह चित्रों के निर्माण लिए दो वर्ष वाराणसी, इलाहाबाद, दिल्ली और आगरा आदि शहरों का भ्रमण किया तथा उन्होंने चित्रों के पात्रों के लिए, उन्होंने भारतीय वेश-भूषा, आकृति और वातावरण का भी अध्ययन किया व भारतीय संस्कृति के अध्ययन के लिए रामायण, पुराण, महाभारत व अन्य धर्म-ग्रन्थ तथा संस्कृत में लिखे नाटकों को वह पढ़े, तब जाकर सन् 1888 ई॰ में उनके पात्रों के अनुसार चित्रों की रचना प्रारम्भ किया। वे अपने चित्रों के निर्माण के समय यह अवश्य देखते थे कि चित्रों में रंगों का ही प्रयोग मात्र न हो अपितु चित्रों द्वारा कथा का वर्णन भी दर्शकों को समझ में आये।

राजा रवि वर्मा के कृतियों में रंगमंच-सम्बन्धित प्रमुख प्रसंगों का उल्लेख निम्नलिखित है :

1. राधा और माधव :

इस चित्र के विषय का आधार गीतगोविन्द की निम्न पंक्तियाँ है :

'गतवति सखिवृन्देऽमंदत्रपाभरनिर्भिर-
स्मरशरवशाकूतस्फीतस्मितस्नपिताधराम।
सरसमनसंदृष्ट्वा राधां मुहुर्नवपल्लव-
प्रसवशयने निक्षिप्ताक्षीमुवाच हरिः प्रियाम् ॥'[4]

अर्थात-राधा के संकेत को पाकर जब उसकी सखियाँ उसे माधव के संग अकेला छोड़कर लतामंडप से बाहर चली गयी, उस एकांत में राधा अपने प्रियतम के मोहक रूप-सौदर्य रस को जी भरकर पान करने के मोह खुद को नहीं रोक सकी।

यह चित्र राजा रवि वर्मा ने कैनवास पर तैलरंग में कुशलतापूर्वक निर्मित किया है। चित्र में वृक्ष के झुरमुट के नीचे व यमुना नदी के तट पर एकांत में माधव एवं राधा चित्रित हैं। यमुना किनारे वृक्षों उपवन में राधा-माधव के प्रेम-मिलन को बहुत ही खूबसुरती के साथ चित्रित किया गया है। राधा चट्टानों पर बैठी है और पृष्ठभूमि में झिलमिलाती चांदनी नदी बहती है जो कृष्ण की प्रतीक्षा कर रही हैं कृष्ण जी चुपके से आकर राधा के कन्धे पर अपना हाथ रखते हैं तथा माधव को देखकर लग रहा हैं। राधा के सौन्दर्य को देखकर अभिभूत हो रहे हैं। राधा सकुचाती, लजाती अपने दोनों हाथों से माधव को बाहों में भरने के लिए पीछे लपकते हुए, माधव को तिरछी नजरों से प्रेम पूर्वक देख रही हैं। उनका सौंदर्य देवलोक की देवी की तरह दिव्य है। वहीं माधव अपने रूप व सौंदर्य की पराकाष्ठा की प्रस्तुति कर रहे हैं।

चित्र में राधा ने पारंपरिक लाल भारतीय साड़ी और आभूषण पहने हुए दिखाया गया है और उन्हें बहुत सुंदरता और कामुकता के साथ चित्रित किया गया है। यह चित्र रचना राजा रवि वर्मा की विशिष्टं शैली है। चांदनी रात के प्रभाव को दिखाने के लिए प्रकाश और छाया का उपयोग इस चित्र में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। जिसमें चांदनी रात में राधा व माधव के चेहरे, उनके कपड़ों और उनके गहनों पर एक नरम चमक बिखेरती है साथ ही यह दृश्य रहस्य और रोमांस की भाव पैदा करती है एवं चित्र का वातावरण प्रेम के मधुर रस से परिपूर्ण है, तथा पूरे वातावरण में चाँदनी रात का नाटकीय छाया-प्रकाश का मनमोहक दृश्य हैं। (चित्र स. 01)

चित्र सं.-01
राजा रवि वर्मा, राधा और माधव, कैनवास पर तैलरंग,1890, महाराजा फतेह सिंह संग्रहालय, लक्ष्मी विलास प्लेस, वड़ोदरा, गुजरात

2. द्रौपदी वस्त्रहरण :

यह चित्र भारतीय महाकाव्य महाभारत कथानक पर आधारित है। जिसमें वर्णित द्रौपदी के वस्त्रहरण का वृत्तान्त चित्रित किया गया है।

इस कथा के अनुसार - हस्तिनापुर के राजदरबार में दुर्योधन, दुःसाशन व अन्य कौरव भाइयों के द्वारा युधिष्ठिर आदि पांडव भाइयों को छल से युद्ध क्रीड़ा में हरा दिया गया। युधिष्ठिर ने अपना समस्त राज-पाट, अपने भाइयों और द्रौपदी को भी दांव में लगा कर उन्हें भी हार गये। द्रौपदी को जीत जाने के बाद दुर्योधन-दुःसाशन को आदेश देता है कि, द्रौपदी को भरी सभा में ले आये। दुःसाशन ने अपने भाई का आज्ञा मानकर द्रौपदी का जबरदस्ती केश पकड़ कर भरी सभा में घसीटता हुआ लाया। तब दुर्योधन ने दुःशासन को निर्वस्त्र करने का आदेश दिया। दुःसाशन ने जैसे ही आगे बढ़ा द्रौपदी भगवान श्रीकृष्ण का स्मरण कर उनसे सहायता के लिए प्रार्थना करती है।

राजा रवि वर्मा ने इस चित्र का कथा के अनुसार सुन्दर प्रस्तुतिकरण किया है। चित्र में महाराज धृतराष्ट्र सिंहासन पर विराजमान है। उनके बायीं तरफ दुर्योधन व दुःसाशन आदि कौरवों को चित्रित किया गया है। चित्र के मध्य में दुःसाशन द्रौपदी का वस्त्रहरण करता हुआ चित्रित है। उसके मुख पर घमंड व अहंकार के भावों का कुशल चित्रण किया गया है। वहीं द्रौपदी चित्र के मध्य में निस्सहाय खड़ी अपने दोनों हाथों से साड़ी पकड़ी है। चित्र में द्रौपदी के चीरहरण के प्रसंग का सुन्दर, अद्‌भुत व सजीव अंकन किया गया है।

यह चित्र तैलरंग में निर्मित है। चित्र में द्रोपदी ने चमकती लाल रंग की साड़ी पहनी है तथा साड़ियों में सोने के आभूषण और बॉर्डर उभर कर सामने आ रहे हैं, जबकि दुर्योधन, दुःसाशन ने राजपुरोहित जैसे सोने से जड़ित परिधान धारित किया है। सभा के सभी लोगों का शरीर संतुलित और गतिशील है। चित्र में पीला, लाल, भूरा व रंगयोजना के अनुसार हरा व स्वणिम् रंगों का भी प्रयोग है। रेखाओं की सुन्दरता देखते ही बनती है। चित्र में संयोजन का भी बहुत ध्यान रखा गया है, जिससे चित्र और भी अधिक आकर्षक बन पड़ी है। (चित्र सं. 02)

चित्र सं.-02
राजा रवि वर्मा, द्रौपदी वस्त्रहरण, कैनवास पर तैलरंग,1890, महाराजा फतेह सिंह संग्रहालय, लक्ष्मी विलास प्लेस, वड़ोदरा, गुजरात

3. कालिया दमन :

प्रस्तुत कथा का विस्तृत वर्णन हमें लीला पुरुषोत्तम भगवान श्रीकृष्ण, भागवत पुराण पुस्तकों में मिलता है। हैं। जिसमे कालिया दमन आख्यानों पर आधारित चित्रित है।

कथा के अनुसार वृन्दावन के निकट यमुना नदी के जल से सभी बृजवासी व अन्य स्थानों के लोग गायें व अन्य पशु-पक्षी अपनी प्यास बुझाते थे परन्तु उस नदी में कालिया विषैले नाग के विष के कारण यमुना नदी का जल दूषित होने लगा। एक दिन उस नाग का दमन करने के लिए श्रीकृष्ण यमुना नदी में कूद गए। कालिया नाग से उनका भयंकर युद्ध हुआ और अंत में कालिया नाग को श्रीकृष्ण ने परास्त कर दिया। कलिया नाग की पत्नियों ने जब श्रीकृष्ण की स्तुति व प्रार्थना की कि वे उनके पति कालिया नाग को छोड़ दें, तो श्रीकृष्ण ने उसे छोड़ दिया और उसके फनों पर नृत्य करते हुए नदी से बाहर आ गये। इस प्रकार श्री कृष्ण ने कालिया नाग का दमन कर यमुना के जल को पुनः स्वच्छ बनाया।

राजा रवि वर्मा द्वारा निर्मित यह चित्र तैलरंग में निर्मित है। जिसमें बाल कृष्ण ने कालिया नाग का दमन कर उसके सहस्त्र फनों पर नृत्य करते हुए चित्रित है। यह चित्र स्वयं में बहुत ही अद्भुत है। दृश्य के सम्पूर्ण धरातल में यमुना के जल का वृहद सुन्दर स्वरुप चित्रित है। कृष्ण के सिर पर मोर पंख, माथे पर चन्दन का लेप है। वही कलिया नाग के सहस्त्र फनों व जल के प्रवाह को बहुत ही कुशलता के साथ निर्मित है। राजा रवि वर्मा का यह चित्र उनकी अद्भुत कल्पना व कार्यकुशलता का परिचायक है। तथा उनके सधे हुए हाथों ने इस चित्र कथा को जीवित कर दिया है। (चित्र स. 03)

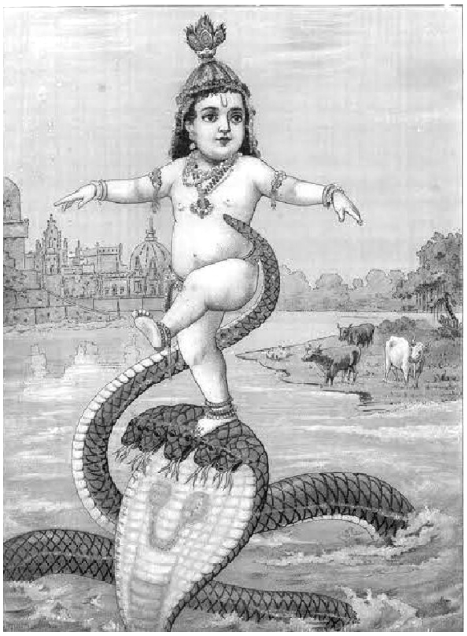

चित्र सं.-03

राजा रवि वर्मा, मुंबई, कालिया दमन, ओलियोग्राफ, वर्ष 1870, साभार- P. I. A, O. U. P., New Delhi

4. लालायिल शिव :

यह प्रसंग श्रीमद्भागवतपुराण के अष्टम स्कन्द पर आधारित हैं। जिसमे मोहिनी रूप को देखकर उस पर मोहित शिव की आख्यानों पर चित्रित है।

पुराण के अनुसार जब समुद्र मन्थन से अमृत की प्राप्ति हुई, उसे दैत्यों ने छीन लिया और समुद्रस्थल से भाग गये। प्रत्येक असुर अमृत जैसी अद्भुत वस्तु प्राप्त करना चाहते थे तभी एक अनुपम रूप लावण्य से युक्त सुन्दरी खड़ी दिखायी दी, उसे देखकर सभी शान्त हो गये। भगवान् श्रीहरिः ने अमृत-कलश दैत्यों से लेकर बड़ी ही निपुणता से उसे देवताओं को पिलाया। जब शंकर जी को यह ज्ञात हुआ कि श्रीहरिः ने अमृत को असुरों से प्राप्त करने के लिए यह रूप ग्रहण किया था तो शिव ने विष्णु से उस रूप के दर्शन का आग्रह किया। भगवान् शिव के प्रार्थना पर श्रीहरिः अन्तर्धान हो उन्हे फिर से अपने मनमोहक मोहित रूप का दर्शन कराये।

'श्लथद् दुकूलं कबरीं च विच्युतां
सन्नह्यतीं वामकरेण वल्गुना।
विनिघ्नतीमन्यकरेण कन्दुकं
विमोह्यन्ती जगदात्ममायया॥'[5]

(श्रीमद्भा.. महापुराण, अष्टम स्कन्द,श्लो. 21)

राजा रवि वर्मा ने चित्र में गतिशील भावना पैदा करने के लिए आकृतियों का ध्यान बखूबी दिये हैं। दृश्य में शिव जी लालायित भाव से बैठ कर मोहिनी रूप को देखने के लिए मचल रहे, तथा मोहिनी शिव के पीछे सुन्दर स्त्रीरूप क्रीड़ा करते हुए, शिव के सामने प्रकट हैं। उसके बालों और कमर पर मोरपंख बधा हैं, तथा सुन्दर साड़ी पहने हुई, पायलों की झंकार के साथ शिव को अपनी माया से मोहित कर रही हैं। चित्र में शिव के चार हाथ हैं, जिनमे एक हाथ में कमंडल, दुसरे हाथ से हिरण, तीसरे हाथ में लाल वस्त्र, चौथे हाथ में दंडी हैं, तथा पूरे पृष्ठभूमी में प्रकृतिक सुन्दर उपवन का संकेत है। जिसमे लाल, हरा, नीले रंग कि प्रधानता हैं। राजा रवि वर्मा ने इस चित्र में अपनी कल्पना शक्ति से इतना सुन्दर, मनमोहक दृश्य संयोजित किया हैं दर्शक मगनमुग्ध हो जाता हैं। (चित्र स. 04)

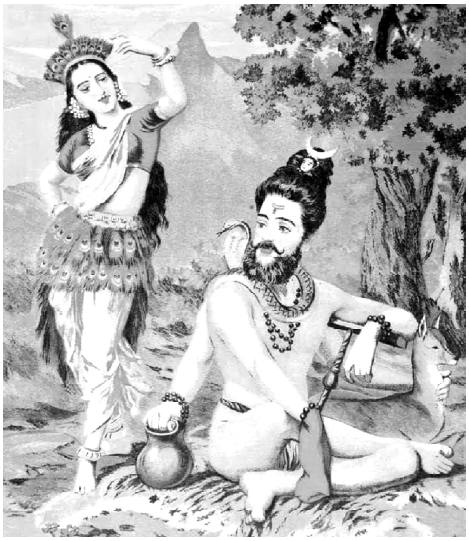

चित्र सं.-04

राजा रवि वर्मा, मुंबई लालायिल शिव, ओलियोग्राफ, वर्ष 1900, छापाकार - अनन्त शिवाजी देसाई, साभार- P. I. A, O. U. P., New Delhi

5. लंकादहन :

यह प्रसंग रामायण के 'सुन्दरकाण्ड' से सम्बन्धित है। यह उस घटना को दर्शाता है- हनुमान द्वारा लंकादहन

प्रसंग के अनुसार - जब हनुमान ने समुद्र पार करके लंका से अशोक वाटिका में सीता से भेंट करने के पश्चात् भूख लगने के कारण माता सीता की आज्ञा से अशोक वाटिका के फलों को खाने लगे, वहाँ पर प्रहरी द्वारा मार भागने पर वृक्षों और फलों को नष्ट करने लगे। जब खबर लंकापति रावण को हुआ तो उन्होंने अपने छोटे पुत्र अक्षयकुमार को भेजा हनुमान ने उन्हे भी मार दिया अंत में रावण का ज्येष्ठ पुत्र मेघनाथ ने 'ब्रह्मास्त्र' द्वारा हनुमान को बन्दी बना लिया। रावण की आज्ञा से राक्षसों ने हनुमान के पूंछ में कपड़े लपेट कर घी-तेल लगाकर आग लगा दीया तत्पश्चात् हनुमान ने अपना आकार बड़ा कर लिया और अपनी जलती पूँछ से उछल-उछल कर सारी लंका को आग लगा दीया।

'सुग्रीवं च महावीर्यं दुग्ध्वा लंकामशेषतः।
निर्भर्त्स्य रावणं दुष्टं पुनः सम्भाष्य जानकीम्॥'[6]

(श्रीनर. पु. 51/46)

राजा रवि वर्मा द्वारा चित्रित इस चित्र में हनुमान द्वारा लंका दहन हो चुका हैं। चित्र में हनुमान आसमान में उड़ते हुए समुंद के जल से आग बुझाने के लिए कूद रहे हैं चित्र के नीचे लंका जल के राख हो गयी। चित्र में पीला, मटमैला पीला, लाल, भूरा व रंगयोजना के अनुसार नीला, हरा व अन्य रंगों का भी प्रयोग है। रेखाओं की सुन्दरता देखते ही बनती है। (चित्र स. 05)

चित्र सं.-05

राजा रवि वर्मा, मुंबई लंकादहन, ओलियोग्राफ, वर्ष 1920, छापाकार - अनन्त शिवाजी देसाई, साभार- P. I. A, O. U. P., New Delhi

6. शकुन्तला का जन्म :

यह चित्र रचना महाभारत के आदिपर्व कथानक पर आधारित हैं, जिसमे शकुन्तला के जन्म की गाथा चित्रित है।

इस प्रसंग में वर्णन है कि शकुन्तला के जन्म के पश्चात् इन्द्र धरती पर आते हैं और मेनका से कहते हैं कि तुम्हें पुनः स्वर्ग वापस चलना होगा। देवराज इन्द्र की आज्ञा स्वीकार करना अप्सराओं का कर्त्तव्य था इसलिए मेनका को अपनी संतान शकुन्तला को पृथ्वीलोक पर छोड़कर जाना पड़ा।

चित्र के अनुसार राजा रवि वर्मा ने विश्वामित्र और मेनका के साथ शिशुरूप में शकुन्तला का अंकन किया है। दृश्य में मेनका विश्वामित्र को शकुन्तला सौंपते दिख रही हैं। विश्वामित्र शिशु शकुन्तला को अपना आश्रय देने से इन्कार कर रहे हैं। चित्र में राजा रवि वर्मा उस क्षण की भावना को पूरी तरह पकड़ते है। मेनका की साड़ी की सिलवटों से लेकर उसके

आभूषणों तक चमकती सफेद साड़ी स्वर्णिम आभा युक्त बॉर्डर उभर कर सामने आ रहे हैं। जबकि विश्वामित्र इंकार मुद्रा में अपने हाथों से चेहरे को छुपा रहे हैं। पृष्ठभूमी में जंगल के फर्श पर हरे भरे घास है। चित्र के बायी तरफ एक पेड़ हैं ऊपर लताएँ लगी हैं। चित्र आकृतियों के पीछे एक सुन्दर तालाब है। जिसमे बतख और कमल के फूलों से पूरा तालाब भरा हैं। चित्र में गतिशीलता का भावना परिलक्षित होता हैं।

इस चित्र को राजा रवि वर्मा कैनवास पर तैलरंग तकनीक में निर्मित किया है। चित्र में रंग संयोजन का उत्तम उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। इसमें हरा, सफेद, भूरे रंग की प्रमुखता है। विषय को काव्यनुमा प्रस्तुत किया गया है। आकृतियों का सजीव चित्रण इस चित्र की विशेषता है। रंगों का गुण बहुत ही सुन्दर प्रयोग चित्र में देखा जा सकता है। जिससे चित्र की उत्कृष्टता देखते ही बनती है। (चित्र स. 06)

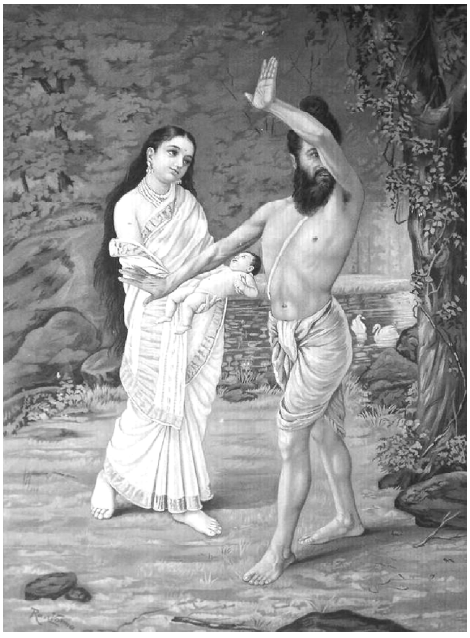

चित्र सं.-06

राजा रवि वर्मा, शकुन्तला का जन्म, ओलियोग्राफ, वर्ष 1890, संग्रह- Kawdir Palace T. K., साभार- R. R. V. T. D. R. R. V. O.U. P., New Delhi

निष्कर्ष :

इनके चित्रों के विषय रामायण, महाभारत के अतिरिक्त अभिज्ञानशाकुंतलम्, नल-दमयन्ती, कृष्णलीला आदि जैसे रसिक प्रसंग भी रहे है। राजा रवि वर्मा ने अपने चित्रों के विषयों को निर्धारित करने में एक बड़ी और निर्णायक भूमिका अदा किया। उन्होंने संस्कृत नाटकों गीत-गोविन्द एवं रसमंजरी भारतीय पुराण कथाओं और देवी-देवताओं का चित्रण किया। भारत में कई बार देश भ्रमण किया व देश की संस्कृति को जाना तथा उनकी कला शैलियों, चित्रों और मूर्तियों को गहराई से देखा और उनके विशेषता को जाना परखा तथा उन्हें अपने चित्रों में उतारने का प्रयत्न किया। जिनमें नाटकीयता, रंगमंच का प्रभाव दिग्दर्शीत होता हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :

1. जोशी ज्योतिष समकालीन कला, सम्पादक ललित कला अकादमी नई दिल्ली, जुलाई-अक्टूबर 2010; नवम्बर 2010-फरवरी 2011, अंक- 42-43, पृ. स.-19
2. शची रानी गुर्टू, कला के प्रणेता, पृ. सं.-17
3. डॉ. नैन भटनागर, डॉ. जगदीश चन्द्रकेश, बंगाल शैली की चित्रकला, पृ. सं.-32
4. डॉ. (श्रीमती) कपिला वात्स्यायन, गीतगोविन्द, लोकभारतीय प्रकाशन, इलाहाबाद, 2015, पृ. स.-130
5. श्रीमद्भागवत महापुराण, अष्टम स्कन्द, कोड.-26, गीताप्रेस गोरखपुर, पृ. स. -811
6. श्रीनरसिंहपुराण, इक्यावनवाँ अध्याय, कोड-1113, गिताप्रेस गोरखपुर, पृ. स. -216

लोक नाट्य में संगीत की भूमिका : 'करियाला' के विशेष सन्दर्भ में

यशवन्त
पी.एच.डी., शोधार्थी
परफॉर्मिंग आर्ट्स ऑफ म्यूज़िक
लवली प्रोफेशनल युनिवर्सिटी फगवाड़ा, पंजाब

शोध-प्रविधि : ''लोकनाट्य में संगीत की भूमिका 'करियाला' के विशेष सन्दर्भ में'' विषय से संबंधित समस्त कार्य वर्णनात्मक विधि से किया गया है। समस्त दत्त सामग्री को प्राथमिक और गौण स्त्रोतों के माध्यम से एकत्र किया गया है।

साहित्य की समीक्षा : लोक नाट्य करियाला विषय पर कई शोध-कार्य लिए गए हैं। लोकनाट्य करियाला से संबंधित कई पत्र-पत्रिकाएं, शोध-प्रबंध पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, ये सभी हमें लोकनाट्य करियाला व करियाला में प्रयुक्त होने वाले संगीत के संबंध में महत्वपूर्ण जानकारी प्रदान करते हैं।

परिचय : भारत में नाट्य की परंपरा अत्यंत प्राचीन काल से चली आ रही है। माना जाता है कि आदि मानवों ने अपने भावों को अभिव्यक्त करने के लिए विभिन्न कलाओं को जन्म दिया होगा, जिसमें नाट्य कला प्रमुख है। भारत में पंचम वेद के उदय से पूर्व लोक नाट्य, लोक धर्मी नाट्य परम्पराएं अपना रूप ग्रहण कर चुकी थी। नाट्य कला का आरम्भ लोकनाट्य तथा भारतीय नाट्य का आरम्भ जन-नाटकों से हुआ है। भारतवर्ष के विभिन्न राज्यों में भिन्न प्रकार के लोकनाट्य प्रचलित हैं।

हिमाचल प्रदेश उत्तर भारत का एक छोटा राज्य है। इस राज्य में लोक नाट्य की विभिन्न कलाएं प्रचलित हैं। हिमाचल प्रदेश को लोक साहित्य का रत्नाकर भी कहा जाता है। हिमाचल प्रदेश की विभिन्न नाटय कलाओं में करियाला नाटय कला श्रेष्ठ है। करियाला नाट्य कला जिला सोलन, शिमला व सिरमौर में प्रचलित है इसे देवी-देवताओं की अराधना का ढंग भी माना जाता है। लोकनाट्य करियाला का प्रारम्भ दीपावली के बाद आने वाली बूढ़ी दीवाली से होता है, जब इस क्षेत्र के सभी लोग सभी कार्यों से मुक्त हो जाते हैं। करियाला नृत्य का संबंध सोलन क्षेत्र के दयोट नामक स्थान पर स्थित बृजेश्वर देवता के मंदिर से है। करियाला करने के लिए बृजेश्वर देवता की ही मन्नत की जाती हैं। करियाला लोक नाट्य को कई मांगलिक कार्यों, विवाह, उत्सव व मेलों आदि पर करवाया जाता है। करियाला शब्द की उत्पत्ति 'कुरेल' शब्द से हुई है 'करेल' शब्द मन्नत के लिए प्रयुक्त होता है। मन्नत पूरी होने पर ही व्यक्ति करियाला करवाता है। करियाला लोकनाट्य में सभी रिश्तेदारों को बुलाने की भी प्रथा प्रचलित है। यह लोकनाट्य देव बृजेश्वर ही धार्मिक अनुष्ठानिक मान्यता पर खेला जाता है, इसके दो पहलू धार्मिक व मनोरंजन है। देव संस्कृति से प्रभावित जनपदों में ईष्टकुल को प्रसन्न करने के लिए लोक नाट्य करियाला का जन्म हुआ है। करियाला लोकनाट्य का मंच खुला होता है। जिसे अखाड़ा कहते हैं। अखाड़े के साथ ही करियाला में आग जलाई जाती है और वहीं करियाला के संगीतकार बैठते हैं। करियाला लोकनाट्य रात्रि

10:00 बजे से प्रातःकाल तक चलता है। लोकनाट्य करियाला लोक संगीत की तीनों कलाओं का प्रतिनिधित्व करता है। ऐतिहासिक, पारम्परिक एवं सामाजिक, सांस्कृतिक कथानकों पर आधारित, लोक नाट्कों के गद्य के बीच-बीच में नृत्य गीत व संगीत रखा जाता है। करियाला में संगीत का विशेष स्थान है करियाला का कोई भी कार्य बिना गायन, वादन व नृत्य के पूर्ण नहीं होता। करियाला लोक नाट्य के प्रारम्भ में जंग ताल का वादन किया जाता है। जंगताल का सम्बंध देव अराधना से है, इसके वादन के पश्चात् ही करियाल ताल का वादन कलाकारों द्वारा किया जाता हैं। जंग ताल का करियाला में अपना विशेष महत्व है, यह 16 मात्रा की ताल है जिसका वादन लोक वाद्यों पर किया जाता है।

जंग ताल - मात्रा 16 :

मात्रा :	1	2	3	4	5	6	7	8
चिन्ह :	x				०			
बोल :	झांऽ	ऽता	धिंऽ	ताऽ	त्रिकड़	धिना	ऽधि	ना
	9	10	11	12	13	14	15	16
	2				०			
	झांऽ	ऽता	धिंऽ	ताऽ	त्रिकड़	धिना	ऽधि	ना

करियाला ताल - मात्रा 14 :

मात्रा :	1	2	3	4	5	6	7
चिन्ह :	x		2		०	3	
बोल :	तांऽनिग	तांऽनिग	धींऽक्ड़	धीऽझां	तिरकिड़झां	धिंऽतां	
	झांऽतिरकिड़						
	8	9	10	11	12	13	14
		4		०		5	
	झांऽधिना	झांऽतिरकिड़		झांनांऽ	नत्रझांऽ	धिऽनाऽ	ताऽधि
	निगकिट						

यह करियाला ताल 14 मात्राओं का ताल है जिसका वादन करियाला में विशेष स्थान हैं। इस ताल का वादन ढोल पर किया जाता है साथ ही नगारे में डंगा लगाया जाता है।

करियाला लोकनाट्य के वादन में बजाई जाने वाली तालों में पारम्परिक बाद्य ढोल, नगाड़ा, रणसिघां, चिमटा, ढोलकी, खंजरी, मंजीरा, बांसुरी, घुंघरू आदि का प्रयोग किया जाता है। इन वाद्यों का वादन करियाला लोकनाट्य में विशेष महत्व रखता है। करियाला में नाट्य में गीत-संगीत, कला की अभिव्यक्ति कथा निर्वाह में मुख्य वादक होते हैं। करियाला संगीत जन समूह को मंत्रमुग्ध करता है। चन्द्रावली नृत्य करियाला मंचन का प्रतीक है। पारम्परिक लोक काद्यों के साथ कलाकार करियाला नाट्य में अपनी कला को प्रदर्शित करते हैं। जब चन्द्रौली करियाला ताल पर नृत्य करती है उसके पश्चात् सभी कलाकार अखाड़े में आकर गणेश वन्दना, माता की भेंट, भजन, कीर्तन आदि करते हैं। गायन की कला का करियाला में अपना महत्व है। कलाकारों द्वारा करियाला नाट्य में गणेश वन्दना तथा करियाला के सभी गीतों की गायन किया जाता हैं। गायन, वादन से करियाला लोक नाट्य और अधिक मनोरंजक हो जाता है। लोक नाट्य करियाला में सबसे पहले गायन में गणेश के धार्मिक श्लोक गाए जाते है जाता है।

धार्मिक गीत :

पहले गनपत पूजिये, पाछैं कीजे काम,
सभा बगानी बैठ के जोपत राखे भगवान।

आद भवानी दाहिनी गौरी पुत्र गणेश,
पांच देव रक्षा करे, ब्रम्हा, विष्णु, महेश॥

राम नारायण तुम बड़े तुमसे बड़ा न कोए,
भक्ति करो सीयाराम की, जो पार उतारा होय॥।

यह गीत अभिबद्ध रूप से गाया जाता है इसमें राग देस की छाया दिखाई देती है। गणेश स्तुति के पश्चात् ज्वाला माता की भेंट, देश भक्ति गीत, स्वांग, साधु के स्वांग तथा मनोरंजक गीतों का गायन क्रमानुसार करियाला नाट्य में किया जाता है। संगीत करियाला का अभिन्न अंग है, इसके अभाव से करियाला लोकनाट्य अधूरा है। करियाला में धार्मिक व मनोरंजक दोनों ही प्रकार के गीतों का गायन करते हैं।

स्वांग गीत : जब गुरु शिष्य को पानी लेने भेजता है तो निम्नलिखित भजन का गायन किया जाता हैः-

स्थाई : हम नादान जन्मों के
हमें पानी को क्यों भेजा

अंतरा : अटोबा उस जंगल में
वहां शेरों का वासा है-2
हम नादान - - -1

लोक गीत :

स्थई : हाय-हाय जवानां सिंधिया -2

अंतरा : सिंधिया जवाना बोलौ तेरै नैना रै लेबी
जवाना सिंधिया, हाय-हाय - - -

लोक मनोरंजन के लिए इस गीत का गायन की अत्याधिक किया जाता है। करियाला में गाए जाने वाले गीत अधिकतर लोक संगीत आधारित हैं। इन लोक गीतों, धार्मिक गीतों में रागों की छाया भी पाई जाती है। करियाला लोकनाट्य में दादरा, खेमटा, कहरवा, दीपचन्दी, तीनताल, नाटी ताल का वादेन भी किया जाता है।

निष्कर्ष : हिमाचल प्रदेश में अतीत से ही लोग कला व संस्कृति के प्रेमी रहे हैं। प्राचीन समय से ही मानव गायन, वादन एवं नृत्य मेले उत्सवों द्वारा अपना मनोरजन करता आया है। देव भूमि हिमाचल प्रदेश की लोक धर्मी पहाड़ी नाट्य कला का आज भी ग्रामीन समुदाय में मनोरंजन का प्रमुख साधन है। लोक नाट्य करियाला हिमाचल प्रदेश का सर्वश्रेष्ठ नाट्य है जिसका आयोजन मन्नत पूरी होने पर व प्रत्येक खुशी के अवसर पर जिला सोलन, शिमला तथा सिरमौर में किया जाता है। करियाला नाट्य में संगीत का भूमिका विशेष है क्योंकि करियाला का कोई भी प्रदर्शन बिना संगीत, गायन-वादन के नही होता। यह संगीत के बिना अधुरा प्रतीत होता है। करियाला लोकनाट्य में धार्मिक व मनोरंजक गीतों का गायन करियाला कलाकारों द्वारा किया जाता है। करियाला में विभिन्न तालों के वादन में लोक वाद्यों का विशेष महत्व है।

सन्दर्भ सूचि :

- https:/Wikipedia.org/wiki/भारतीय लोकनाट्य
- डॉ. भानुदेव राय, भारतेन्दु युगीन हिन्दी साहित्य नाटक, पृष्ठ-5
- प्रेम लाल, राम स्वरूप शांडिल्य, हिमाचली लोकनाट्य करियाला का साहित्यिक एवं सांगीतिक पक्ष, 2006
- जगदीश नेगी, तबला वादक, लाल बहादुर शास्त्री कालेज़, सरस्वती नगर, से किए गए साक्षात्कार
- https:/Wikipedia.org/wiki/लोकनाट्य
- डॉ. ज्ञान सिंह मान, हिन्दी नाटकों में नाटकीयता का स्थान, पृष्ठ-1
- देवी लाल सागर, भारतीय ललित कलाएं, पृष्ठ-63

भारतीय नाट्य (नौटंकी) का उदय और उत्कर्ष

प्रज्ञा सिंह
शोध छात्रा
महिला महाविद्यालय, काशी हिंदू विश्वविद्यालय,
वाराणसी, उत्तर प्रदेश

डॉ॰ शोभित कुमार नाहर
असिस्टेंट प्रोफेसर, वाद्य विभाग
महिला महाविद्यालय, काशी हिंदू विश्वविद्यालय,
वाराणसी, उत्तर प्रदेश

वेशभूषा : किसी भी नाटक या नौटंकी को सामने लाने वाले चरित्रों को करने के लिए उनकी वेशभूषा का होना बहुत आवश्यक है, नाटक की वेशभूषा में मुखौटा, अलग-अलग पत्रों का श्रृंगार, स्त्री एवं पुरुषों का श्रृंगार अलग-अलग होता है।

भाव : नाटक या नौटंकी में अभिनेता या नायिका द्वारा भावों का महत्वपूर्ण योगदान होता है भावों में विभिन्न रसों का जैसे श्रृंगार, करुण, हास्य इत्यादि रसों का संगीत के माध्यम से प्रयोग किया जाता है रस भाव की परिभाषा सर्वप्रथम नाट्यशास्त्र के छठे और सातवें अध्याय में स्पष्ट रूप से परिभाषित किया गया है। की स्वाग या नौटंकी प्रदर्शन की स्क्रिप्ट को संगीत की रूप में जाना जाता है जिसका अर्थ है 'संगीत', 'संगीत नाटक'। नौटंकी में दोहे और चौपाई जैसे हिंदी काव्य और शेर, कव्वाली और गजल, के उर्दुगघ डाय का उपयोग किया जाता हैं, जो दादरा, ठुमरी, सावन, मांड और लावणी जैसी शैली के साथ संयुक्त होती है। संगीत बात हुई यंत्रों से जुड़े तीन की धुन में मीटर चक्र और लयबद्ध विभक्तियों के माध्यम से एक औरत दिक्षित राग संरचना का आयोजन होता है एक विशिष्ट नौटंकी प्रदर्शन गाए छंदो और वाघयंत्र खंडो के बीच वैकल्पिक होता है जो नागा (केटलडम); शहनाई का प्रयोग होता है, हारमोनियम का भी उपयोग करते हैं। प्रदर्शन की शुरुआत एक प्रार्थना से होती है, जो दर्शकों के लिए ओपन मंच के सभी प्रतिभागियों पर अपने शिष्यों द्वारा दोहरीता की जाती है इसके बाद एक सूत्रधार विषय का परिचय देता है। नाटक के बीच-बीच में एक जोकर हास्य कला द्वारा भी शामिल किया जाता है।

भारतीय नाटय (नौटंकी) का उदय और उत्कर्ष :

नौटंकी प्रदर्शनों को अक्सर शाही संरक्षण प्राप्त होता था, विशेष रूप से लखनऊ के अंतिम नवाब वाजिद अली शाह (जन्म 1847-56) से। उनके शासनकाल में स्थानीय रंगमंच में कथानक, वेशभूषा, भाषण, संगीत रचना और मंच डिजाइन में इस्लामी विषयों के उपयोग में वृद्धि देखी गईः इसका श्रेय आम तौर पर आगा हसन अमानत द्वारा लिखित नाटक इंदरसभा की लोकप्रियता को दिया जाता है। उर्दू शब्द भी अधिक बार दिखाई देने लगे और स्याहपोश, बेनजीर बद्रेमुनिर और लैला मजनूं जैसी कहानियाँ को नाटकों में रूपांतरित किया जाने लगा। कानपुर में लालमन नंबरदार और श्री कृष्ण पहलवान के अखाड़े महत्वपूर्ण केंद्र बनकर उभरे। 1857 के भारतीय विद्रोह द्वारा लाई गई सामाजिक अशांति के बाद, नवाब से शाही संरक्षण समाप्त हो गया और व्यक्तियों और मंडलों के प्रयासों से नौटंकी का विकास शुरू हुआ।

'नाट्य के आरंभ की बात की जाए तो इसका आरंभ हम मनुष्य जाति के आरंभ की साथ ही माना जा सकता है, आज भी अनेक आदिवासी जनजाति में जन्म मरण, मैथुन, विवाह, आहार संग्रह, शिकार, युद्ध, शत्रुओं पर विजय आदि के समय तथा देवी देवता, आदिशक्तियों की पूजा के अवसर पर इस तरह के अनुष्ठान होते हैं, उसने नाटक की तत्व स्पष्ट देखें जा सकते हैं इसी संकट को टालने लिए, या भावी सफलता की कामना में काल्पनिक स्थितियों, अनुष्ठानमूलक लयबद्ध गतियो या नित्यो, ध्वनियो, मंत्र पाठ, गीत बाध्य द्वारा किया जाता है, इसीलिए ऐसी कल्पना की जाती है कि विभिन्न कबीलो और जनजाति समुदायों के अनुष्ठान के ऐसे तत्व अवश्य रहे होंगे ।

'15वीं शताब्दी में शुभंकर ने अपने ग्रंथ-संगीत दामोदर में जिस 'संगीतक' को परिभाषित किया है वह लोकधर्मी होते हुए शास्त्रीय विन्यास में शामिल है भले ही उसका ध्येय पक्ष लोक रहा हो पर शास्त्रीयता उसमें परंपरा से चली आई है। 'शुभकर' का श्लोक है -

'तालवाद्यानुगं गीतं नटीभियर्त्र गीयते।
नित्यस्यानुगतं रंगं तत् संगीतकमुच्यते॥'

अर्थात जिस प्रदर्शन में ताल वाद्यो के अनुसार नटियाँ गाती हैं और रंगशाला में नित्य प्रस्तुत करती है, उसे 'संगीतक' कहां जाता है जिसमें गीत, बाध्य, नित्य, रंग साला एवं नट-नटी। कहना ना होगा कि इन तत्वो के आधार पर 'संगीतक' को पारंपरिक नाट्य मानते हुए भी शास्त्रीय विन्यास से अलग देखना उसके साथ ज्यादती होगा और अपनी समझ के मूर्खता का प्रमाण देना होगा, इसमें कोई दो राय नहीं कि 'नौटंकी' बहुत बाद में दिया हुआ नाम है, पर संगीतक रुप से यह शैली बहुत पुरानी है जिसे हम देखते आ रहे हैं, इसमें गेय संवादो मे मुख्य रुप से दोहा, चोपाई, छंद, का प्रयोग इसी प्राचीनता का प्रमाण है इसमें ठुमरी, लावणी, सोरठा जैसे कई पारंपरिक छंद शामिल हुए हैं, छंदों के प्रयोग की दृष्टि से भी इसकी प्राचीनता पर कोई संदेह नहीं रहता, इसी प्रकार भारतीय पारंपरिक वाध्य के रूप में नक्कारा (नगाड़ा) का इसमें प्रभावी इस्तमाल देखा गया है मध्यकाल में भी इसका स्पष्ट रुप देखने में आया है।[2]

नौटंकी ख्याल के प्रचलन के संबंध में लोग जीवन में कई बातें प्रचलित रही हैं यहां पर कुछ का उल्लेख देना समुचित होगा -

1. पंजाब की बादशाह की की बेटी रूपवती बहुत ही नाजुक और कोमललागी थी जो प्रतिदिन केवल नौटंका भर आहार ग्रहण करती और फूलों से तुलती थी। नौटंका आहार लेने के कारण लोक जीवन मैं वहां शहजादी नौटंकी के नाम से लोकप्रिय हुई। एक बार की बात है कि पंजाबी युवक को उसकी भाभी ने ताना मारा की 'बड़े हुकम और हाजरी चाहने वाले बनते हो तो नौटंकी ब्याह कर क्यों नहीं ले आते।' इस पर युवक को भाभी की बात चुबसी गई, एक दिन बाद जानना वेश धारण कर किसी हिकमत से नौटंकी के पास पहुंच गया। अपने समान भाव और रूप रंग पाकर नौटंकी ने उसे अपनी सहेली के रूप में रख लिया। रात जब नौटंकी को काम ने आ सताया तो उसने उससे कहा कि यदि इस समय कोई पुरुष होता तो कितना अच्छा रहता। नौटंकी के ऐसा कहने पर युवक ने अपना जनाना वेशभूषा त्याग पुरुष वेश में आ गया। उसे रात दोनों एक ही सेज पर सोए। प्रतिदिन की भांति प्रातः होते ही मालिन आई और नौटंकी को फूलों से तोला तो उसे दिन उसका वजन बढ़ा हुआ पाया। बादशाह को जब यह बात ज्ञात हुआ तो वह अत्याधिक क्रोधित एवं बड़ा ही आग बबूला हुए। उसने तत्काल ही नौटंकी को बुलवाया और वजन बढ़ाने का प्रयोजन पूछा। नौटंकी ने अपने पिता को सारी बातें सच-सच बता दी। बादशाह ने उस युवक को सूली पर चढ़ाने का हुक्म दे

दिया। नौटंकी अत्याधिक घबरा गई। वह मर्दाना वेश धारण कर वध-स्थल पर पहुंची। जल्लादो को ज्योंही बादशाह ने कत्ल का हुक्म दिया, नौटंकी अपना मर्दाना वेश उतार कर अपने असली रूप में आखरी हुई और तख्त से जल्लादो को नीचे गिरा अपने पिता से कहने लगी या तो आप इसे क्षमा कर दीजिए या फिर इसके साथ मुझे भी फाँसी हुक्म दीजिए। पिता ने अपनी बेटी की बात मान युवक को क्षमा दान दिया एवं तत्काल ही नौटंकी की शादी उस युवक से करा दी।

2. कुछ लोग कहते हैं कि प्रारंभ में इन ख्याल में नौ प्रकार के वाद्य बजाए जाते थे। इस कारण यह ख्याल नौटंकी ख्याल कहलाए।

3. एक मत और भी प्राप्त होता है जिसमें नौ प्रकार के वाद्य नहीं बाजा बजाये जाकर इन खयालों में नौ नक्काड़े-नक्काड़ियों का प्रयोग किया जाता था। नक्काड़ों के साथ-साथ ढोलक, डफली सारंगी तथा चिकारा जैसे वाद्य भी बजाए जाते थे इसके बजने वाले कल नौ साजिन्दें रहते थे। साजिन्दों में तीन नक्काड़े बजने वाले दो ढोलक बजाने वाले दो डफली बजाने वाले तथा एक-एक सारंगी तथा चिकारा बजने वाले होते थे इसीलिए कालांतर में यह ख्याल नौटंकी ख्याल के रूप में प्रचलित हुआ।

उपर्युक्त सभी बातें नौटंकी के उद्भव एवं विकास के कई पक्षो को उदघाटित करती है। पंजाब की नौटंकी की प्रेमाख्यान विषयक तथा लोक जीवन में इतनी लोकप्रिय हो गई की क्या बाल, क्या वृद्धि, क्या युवा, प्रत्येक के कल कंठों पर गीत, गाथा, कथा आख्यान के रूप में सुनाई दी जाने लगी। इस कथा का आधार लेकर कई ख्याल भी प्रचलित हुई। इन खयालों का इतना जबर्दस्त प्रचार हुआ कि ख्याल लेखकों ने लोकजीवन में प्रचलित अन्य कथा आख्यानों के आधार पर कई ख्यालों की रचना कर उन्हें भी इस शिल्प-शैली में प्रदर्शित करना प्रारंभ कर दिया। इसका परिमाण यह प्राप्त हुआ कि नौटंकी के ख्यालों के साथ वे सभी ख्याल भी समानधर्मी मंच, अभिनय, शिल्प-सज्जा और तंत्र में प्रस्तुत होने के कारण नौटंकी ख्याल के रूप में समादृत हुए।

सिनेमा के आगमन ने नौटंकी को काफी प्रभावित किया, जिसके परिणामस्वरूप इस रूप में दर्शकों की रुचि कम हो गई। आज यह उत्तर प्रदेश के हाथरस, मथुरा, उन्नाव और बीघापुर के ग्रामीण इलाकों में कायम है। भारत के महानगरीय शहरों और प्रवासी भारतीयों के बीच भी नौटंकी में रुचि धीरे-धीरे बढ़ रही है, मुख्यधारा का थिएटर भी इस शैली को अपना रहा है। नौटंकी का लोकप्रिय संगीत पर भी महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा है, हिज मास्टर वॉयस (एचएमवी) जैसे लेबल ने 1969 में गुलाब जान द्वारा गाए गए नौटंकी संगीत के रिकॉर्ड जारी किए थे। नौटंकी नाटकों के लिए रचित गीतों का उपयोग प्रसिद्ध हिंदी सिनेमा गीतों में भी किया गया है। इस फॉर्म को 2001 में आंध्र प्रदेश संगीत नाटक अकादमी द्वारा आयोजित थिएटर फेस्टिवल और 2004 में दिल्ली हिंदी अकादमी नौटंकी उत्सव में भी प्रदर्शित किया गया था, जहां कृष्णा कुमारी माथुर एंड कंपनी ने अमर सिंह राठौड़ का प्रदर्शन किया था। ग्रेट गुलाब थिएटर कंपनी कभी-कभी अनुरोध पर नाटक भी प्रस्तुत करती है, जैसे 2010 में इंडिया हैबिटेट सेंटर, नई दिल्ली में सुल्ताना डाकू का प्रदर्शन। पंडित राम दयाल शर्मा और देवेन्द्र शर्मा जैसे अभ्यासकर्ताओं और हबीब तनवीर, सर्वेश दयाल सक्सेना, अतुल यदुवंशी और उर्मिल कुमार थपलियाल जैसे निर्देशकों ने अपने काम में नौटंकी तकनीकों का उपयोग किया है। नौटंकी कलाकार श्रीकृष्ण पहलवान और गुलाब बाई को क्रमशः 1968 और 1990 में संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार मिला। आज, सरकारी और गैर-सरकारी एजेंसियों द्वारा सामाजिक जागरूकता फैलाने के लिए नौटंकी को एक लोकप्रिय रूप के रूप में उपयोग किया जाता है। नौटंकी का प्रदर्शन सांस्कृतिक उत्सवों, पर्यटक स्थलों जैसे कि हरियाणा के फ़रीदाबाद में आयोजित होने वाले वार्षिक सूरजकुंड

अंतर्राष्ट्रीय शिल्प मेले में होता है और कॉलेजिएट थिएटर प्रस्तुतियों में शामिल किया जाता है।

भारत के प्रसिद्ध पारंपरिक नाट्य (नौटंकी) या लोकनाट्य की, भारत के विभिन्न सामाजिक और धार्मिक अवसरों के दौरान बृहद पारंपरिक नाट्य या लोक नौटंकी का मंचन किया जाता है जिसे गांव का रंग मंच भी बोला जाता है यह पारंपरिक नाटय नौटंकी भारत की सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण को धारण किए हुये हैं, भारत के प्रसिद्ध पारंपरिक नाटक या लोकनाट्य (नौटंकी) -

1. **जात्रा -** यह पूर्वी भारत का धार्मिक लोकनाट्य है इस लोकनाट्य की उत्पत्ति के आंतरिक रूप में श्री चैतन्य महाप्रभु के भक्ति आंदोलन के उदय का श्रेय दिया जाता है इस नाट्य में रुक्मणी हरण को नाटक के रूप में प्रस्तुत किया जाता है ओडिशा में जात्रा लोकनाट्य (नौटंकी) संगीत के साथ प्रस्तुत किया जाता है।
2. **रामलीला -** इस लोकनाट्य की शुरुआत मुगल काल में तुलसीदास जी ने काशी में की थी। इस नाटक का विषय रामायण की कहानी है, जो दशहरा के समय खेला जाता है। इस कथा का मंचन देखने के लिए लोग दूर-दूर से आते हैं, आज भी काशी में (रामनगर) इस लीला का अद्भुत मंचन देखा जा सकता है, जो नवरात्र के दिन से प्रारंभ होता है भरतमिलाप पर इसकी समाप्ति होती है।

   रामायण का मंचन इंडोनेशिया, अमेरिका, कैलिफोर्निया इत्यादि विदेशी देश में मंचन होता है।
3. **रासलीला -** इस लोकनाट्य (नौटंकी) में युवा और बालक कृष्ण नाटक के रूप में प्रस्तुत किया गया है इसे जन्माष्टमी अवसर पर भगवान श्री कृष्ण के द्वारा रचाई गई विभिन्न रस को अठखेलियो, मख्खन चोरी, बाल लीला, मथुरा वृंदावन में किए गए अनेको लीलाओ का एवं वेशभूषा राधा कृष्ण प्रेम इत्यादि का चित्रण किया जाता है।
4. **स्वांग -** यह पंजाब हरियाणा ओड़ीसा राजस्थान उत्तर प्रदेश उत्तराखंड एवं बंगाल के ग्रामीण क्षेत्र में बहुत प्रसिद्ध है भावनाओं की नर्मता संवाद के लक्षण और विशिष्ट चित्र इस विषय की कुछ विशेषताएं हैं स्वांग के दो महत्वपूर्ण शैली स्वरूप है -

   क) लाहौर शैली मे हरियाणवी (बांगरू) भाषा प्रयोग।

   ख) संस्कृत शैली में ब्रज भाषा का प्रयोग होता है।
5. नौटंकी यह उत्तर भारत का एक प्रसिद्ध पारंपरिक लोकनाट्य है इस शैली को भगत के रूप में विकसित किया गया था जो लगभग और 400 वर्ष पुरानी है जबकि नौटंकी शब्द केवल 19वीं शताब्दी में सामने आया है।
6. **दशावतार -** यह कोणार्क एवं गोवा क्षेत्र आज सबसे विकसित और प्रसिद्ध लोकनाट्य है। प्रस्तोता ने सृष्टि के देवता भगवान विष्णु के 10 अवतारों का नाट्य (कूर्म, वाराह, नारायण, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, (बलराम) बुद्ध को प्रस्तुत किया है इस नाट्य में सभी अवतार साज सिंगार से परे होते हैं।
7. **करियालआ -** हिमांचल प्रदेश का सबसे दिलचस्प लोकप्रिय लोकनाट्य है विशेष रुप से सोलन और सिमोर में नाट्य श्रृंखला मेले और उत्सव की अवसर के दौरान प्रसिद्ध किया जाता है।
8. **प्रार्थना (ख्याल) -** यह एक हिंदुस्तानी लोक नृत्य नाटक और राजस्थानी लोक नाट्य में से एक है यह विशेष रुप से पुरुषों द्वारा किया जाता है इसमें लय खण्ड और मेकेनिकल मशीनरी का प्रदर्शन किया जाता है, इसमें पेशेवर नतर्कियो को 'भवानी' की नाम से जाना जाता है। यह सामाजिक, धार्मिक, ऐतिहासिक और धार्मिक

नृत्य, नाट्य है।

9. **तमाशा -** यह भारत का लोकनाट्य सांस्कृतिक रूप, जो पश्चिमी भारत के महाराष्ट्र राज्य में 16वीं शताब्दी में शुरु हुआ था अन्य सभी भारतीय लोकनाट्य में मुख्य भूमिका में पुरुष होते हैं, लेकिन तमाशा में मुख्य भूमिका महिलाएं निभाती हैं मुर्की के नाम से जाना जाता है। 20वीं शताब्दी में तमाशा व्यावसायिक रूप में बहुत सफल हुआ तमाशा महाराष्ट्र में प्रचलित नृत्यो लोक कलाओं को नए आयाम देता है। यह उनकी विशिष्ठ संगीत परंपरा है।

10. **ओट्टन थुल्लाल -** यह केरल का डरते नृत्य और काव्य संयोजन वाला लोकप्रिय लोकनाट्य है, जिसे 18वीं शताब्दी में कुचन नांबियार (तीन प्रसिद्ध मलयालम भाषा के बर्तनों में से एक) द्वारा शुरु किया गया था सिंगिंग, स्टाइलिज्ड, मेकअप और आकर्षक चेहरा इस थीम की कुछ विशेषताएं हैं।

11. **तेरुक्कुट्टी -** यह तमिलनाडु का लोकप्रिय नाट्य है यह वर्षा की देवी मरीअम्मा को प्रसन्न करने के लिए यह लोकनाट्य किया जाता है। यहां मनोरंजन अनुष्ठान एवं सामाजिक निर्देशों का माध्यम हैं।

आधुनिक नौटंकी के निर्माताओं में पं. दीपचंद एक विद्वान शास्त्री प्रणेता थे। इसके साथ ही पं. लखमीचंद, तीरमोहन, राधेश्याम कथावाचक, लकड़हारा, पं. नाथाराम और अन्य का कार्य उल्लेखनीय है।

निष्कर्ष : लोकनाट्य परंपरा मैं इसका संक्षिप्त वर्णन से पूर्णः स्पष्ट हो जाता है कि भारत में लोकनाटय (नौटंकी) परंपरा अत्यंत समृद्ध एवं भावनात्मक रसोयुक्त है, कथा वस्तु संगीत नृत्य सभी संगीत नाट्य रूप एवं परंपरा से युक्त मिलते हैं, इस नाटकों का महत्व यह है सभी जनता समाज एवं समाज में रहने वाले सभी व्यक्ति ऊँच-नीच का परित्याग करके प्रेम भाव से संगठित होकर रहे।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1. नौटंकी/रंगमंच/कला का एक विशेषकोश।
2. नौटंकी लोक परंपरा और संघर्ष लेखक ज्योतिष जोशी पृष्ठ संख्या 13
3. भारतीय लोकनाट्य लेखक डॉक्टर महेंद्र भानावत पृष्ठ संख्या 91,92
4. वही पृष्ठ संख्या 92,94
5. https://www.jagranjosh.com

रामलीला की संगीत परम्परा तथा प्रयोग

आलोक कुमार
शोधार्थी, गायन संकाय
यू.जी.सी. नेट परीक्षा उत्तीर्ण
भातखंडे संस्कृति विश्वविद्यालय, लखनऊ

भूमिका : संगीत परम्परा आदि-अनादि काल से अनवरत चली आ रही है। समय के साथ उसके स्वरुप एवं शैली में परिवर्तन अवश्य आया है, परन्तु संगीत की परिभाषा प्राचीन समय से लेकर आज तक वही है जैसा कि शारंगदेव द्वारा लिखित ग्रन्थ संगीत रत्नाकर में कहा गया है- 'गीत वाद्य तथा नृत्यं त्र्यं संगीत मुच्यते' अर्थात गायन, वादन तथा नृत्य इन तीनों कलाओं के संकलन को ही संगीत कहा जाता है। इसी संगीत परम्परा का निर्वाहन अनेकानेक नाटकों एवं कहानियों में किया गया है। इसी का एक प्रतिरूप है रामलीला की संगीत परम्परा।

रामलीला की परम्परा रामलीला का शाब्दिक अर्थ है, 'राम की लीला' या 'राम का नाटक' त्रेता युग में अयोध्या में जन्मे राम के जीवन चरित्र एवं उनकी लीला को भला कौन नहीं जानता। रामलीला का आदि प्रवर्तक कौन है, इसकी शुरुआत कबसे हुई, इसकी जानकारी जुटा पाना बहुत ही दुर्लभ है, परन्तु एक किवदंती है कि श्री रामचन्द्र के वन गमन के उपरान्त अयोध्यावासियों ने चौदह वर्ष की वियोगावधि राम की बाल लीलाओं का अभिनय कर बितायी थी। तभी से यह परम्परा प्रचार में आई जिसमें दृश्यों की एक श्रृंखला है साथ ही गीत, गायन, कथन और संवाद शामिल है।

रामलीला की संगीत परम्परा रामलीला का मंचन पूरे भारत और अन्य देशों में दशहरे के पर्व में तो किया जाता ही है साथ ही अन्य सुअवसरों पर भी रामलीला खेली जाती है। रामलीला में मुख्य रूप से श्रीराम की बाललीला, ताड़का वध, राम विवाह, वनवास, माता सीता हरण, लंका विजय तथा अयोध्या वापसी आदि लीलाओं का मंचन किया जाता है जिसमें गीत और संगीत की विशेष भूमिका रहती है, क्योंकि जितनी तीव्रता से भावों को अभिव्यक्त करने की शक्ति संगीत में है शायद ही और किसी विधा में हो जैसा की सभी को पता है कि सात' शुद्ध और पाँच विकृत स्वर कुल बारह स्वरों में भावों को व्यक्त करने की असीम शक्ति है। इन्हीं स्वरों के प्रयोग से श्रृंगार, वियोग, वीर, भयानक, हास्य इत्यादि रसों की निष्पत्ति की जा सकती है। इसी प्रकार रामलीला में भी स्वरों के समायोजन से भावों को व्यक्त करने की कला को भी संगीत के माध्यम से प्रदर्शित किया जाता है।

कुछ लोगों के मतानुसार रामलीला की अभिनय परम्परा के प्रतिष्ठापक गोस्वामी तुलसीदास जी हैं, जिन्होंने हिंदी में जन मनोरंजनकारी नाटकों का अभाव पाकर रामलीला की शुरुआत की। इनकी प्रेरणा से अयोध्या और काशी के तुलसीघाट पर पहली बार रामलीला संपन्न हुई थी। रामलीला का मंचन रामचरितमानस पर आधारित है, जो देश के उत्तर में सबसे लोकप्रिय कथा मानी जाती है। मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम की महिमा के लिए समर्पित इस

पवित्र पाठ की रचना गोस्वामी तुलसीदास द्वारा सोलहवीं शताब्दी में हिंदी के एक रूप में की गयी थी।

वर्तमान समय में रामलीला प्रस्तुति के नए-नए आयाम प्रतिस्थापित हुए हैं जिसमे संगीत के समायोजन से गायन, वादन और नृत्य तीनों का समागम देखने और सुनने को मिलता है। रामजन्म भूमि अयोध्या जो कि भारत वर्ष में उत्तर प्रदेश राज्य के फैजाबाद जिले का एक विशिष्ट स्थान है। आज श्रीराम की लीला का मंचन केवल भारत के कलाकार ही नहीं अपितु अन्य देशों के कलाकार भी विशेष ऊर्जा के साथ करते हैं। जिसमें मुख्य रूप से रूस, इंडोनेशिया, नेपाल, श्रीलंका, फिजी, थाईलैंड और त्रिनिदाद आदि देश बीराम की लीलाओं का मंचन करते हैं। यह समस्त भारतवासी के लिए गौरव की बात है की भारत की आत्मा अयोध्या में जन्मे श्रीराम की महिमा का मंचन करने में विश्व के अन्य देश भी अपनी सहभागिता देते हैं, जिसका प्रमुख कारण उनके मन में निहित श्रीराम की आस्था है। मर्यादा में रहकर अपने कर्तव्यों का पालन करने वाले राम को इसीलिए मर्यादापुरुषोत्तम राम कहा जाता है। उनका आचरण, त्याग, कर्तव्यनिष्ठा और उनके वचनों को ही रामलीला के मंचन में केन्द्रित किया जाता है।

"Harmonizing Tradition and Innovation : Loknatya Kathputli's Musical Journey Through Time"

Akshay Kumar
Research Scholar, Univ. Deptt. of Music and Drama
Lalit Narayan Mithila University, Darbhanga

Loknatya Kathputli, a traditional form of puppetry and theater, has been an integral part of India's rich cultural heritage. This art form is known not only for its colorful puppets but also for its vibrant music. The music in Kathputli plays a significant role in conveying stories, emotions and cultural traditions to the audience. In this article, we will delve into the sangeet (music) prampara (tradition) of Loknatya Kathputli, exploring its historical roots, evolution and contemporary applications.

Historical Roots of Loknatya Kathputli:

Loknatya Kathputli, which translates to "folk puppetry," is a form of traditional storytelling that dates back several centuries. Its roots can be traced to the rural regions of Rajasthan, particularly in the area of Bhat, Nat, and Bhopa communities. These communities are considered the custodians of this art form and have been passing it down through generations. The primary purpose of Loknatya Kathputli has been to entertain and educate the masses, often focusing on stories that depict mythological, historical and societal themes.[1]

Kathputli puppets, typically made from wood and cloth, serve as the characters in these performances. The puppets are manipulated using strings or rods and they interact with each other in a theatrical manner. However, what distinguishes Loknatya Kathputli from other forms of puppetry is its strong connection to music.

Sangeet Prampara in Loknatya Kathputli :

Traditional Musical Instruments: The music in Loknatya Kathputli is traditionally performed using a variety of musical instruments. These instruments include the dholak (a double-headed drum), the harmonium (a keyboard instrument), the sarangi (a bowed string instrument), and the manjeera (small cymbals). These instruments provide the rhythmic and melodic foundation for the performance.

Vocal Elements : The vocal component of the music is equally important. The puppeteers, known as "Bhats," sing along with the puppets, providing the characters with voices. They narrate the story, sing

songs, and engage in dialogues, often accompanied by the musical instruments.

Folk Songs and Lyrics : The songs and lyrics in Loknatya Kathputli are steeped in tradition. They often incorporate folk songs, which are reflective of the region's culture and history. These songs are not only entertaining but also carry historical and cultural significance. They help to educate the audience about the traditions, legends, and beliefs of the community.

Rhythmic Patterns : The rhythmic patterns in the music are carefully crafted to enhance the dramatic elements of the performance. The dholak and manjeera create a lively rhythm that complements the actions of the puppets, making the storytelling more engaging.

Emotions and Storytelling : The music in Loknatya Kathputli is used to convey a wide range of emotions, from joy and celebration to sorrow and conflict. It adds depth and authenticity to the characters and the storyline, making the audience connect more deeply with the perfor-mance.[2]

Evolution of Loknatya Kathputli's Music Tradition :

Over the years, the sangeet prampara in Loknatya Kathputli has evolved while maintaining its traditional essence. This evolution can be attributed to various factors, including changing audience preferences, technological advancements, and the need to adapt to a contemporary context.

Urban Migration : The rapid urbanization and migration of people from rural to urban areas have affected the traditional puppetry art forms. As the traditional audience dwindles in rural regions, the puppeteers have had to adapt their performances to cater to urban audiences. This shift has led to changes in music styles and themes to make them more relatable to urban sensibilities.

Incorporation of Modern Elements: While traditional musical instruments continue to play a vital role in Loknatya Kathputli, there has been a growing trend of incorporating modern musical elements. Electric instruments, synthesizers and recorded music tracks are sometimes used alongside traditional instruments to create a fusion of traditional and contemporary sounds.

Contemporary Themes : The stories depicted in Loknatya Kathputli have also evolved to address contemporary issues and themes. These themes include environmental conservation, gender equality, and social awareness. The music has adapted to support these themes, often incorporating modern genres and rhythms.

Documentation and Preservation: Efforts have been made to document and preserve the music tradition of Loknatya Kathputli. Organizations, scholars, and artists have worked together to record the songs, lyrics and instrumental compositions to ensure that this rich musical heritage is not lost to future generations.[3]

Contemporary Applications of Loknatya Kathputli Music :

In addition to its traditional roots, Loknatya Kathputli's music has found contemporary applications that extend beyond traditional performances in rural settings. These applications showcase the adaptability and relevance of this art form in the modern world.

Cultural Festivals : Loknatya Kathputli is often featured in cultural festivals and events across India and even

internationally. The colorful puppets and vibrant music make it a popular attraction, introducing audiences from diverse backgrounds to this traditional art form.

Educational Programs : Educational institutions and NGOs have recognized the educational value of Loknatya Kathputli. It is used as a tool to teach students about traditional Indian culture, history, and storytelling. The music plays a crucial role in conveying these lessons.

Theatrical Productions : Loknatya Kathputli's music tradition has been adapted for use in theatrical productions. Theater directors and artists incorporate elements of Kathputli's music to create immersive and engaging experiences for the audience.

Modern Folk Fusion : Some contemporary musicians and artists have experimented with Loknatya Kathputli's music, blending it with other genres and styles to create a fusion of folk and modern sounds. This fusion attracts a younger, more diverse audience and helps keep the tradition alive.

Documentaries and Research : Documentaries and research projects focused on Loknatya Kathputli's music have gained prominence. These projects aim to preserve the history and music tradition while providing insights into its cultural significance.[4]

Conclusion :

Loknatya Kathputli's sangeet prampara is a vibrant and evolving tradition that continues to capture the imagination of audiences, both in India and around the world. The synergy between puppetry and music in this art form is a testament to the rich cultural heritage of India. While Loknatya Kathputli has faced challenges in adapting to changing times, it remains a powerful medium for storytelling, cultural preservation, and education. As we explore and appreciate the music tradition of Loknatya Kathputli, we contribute to the preservation of this unique form of art and its rich musical legacy.[5]

References :

1. Jain, A. (2007). Kathputli: The World of Rajasthani Puppeteers. Penguin Books India.
2. Kothari, S. (2003). Kathputli: A Glimpse into the Art of Traditional Rajasthani Puppetry. Seagull Books.
3. Chakravarty, M. (2012). Puppetry in India: Traditions and Challenges. Abhinav Publications.
4. Sharma, N. S. (2018). Puppetry and Modernity: A Cultural Construct. Intach.
5. Karlekar, M. (2003). Indian Puppetry and Puppet Stories. National Book Trust, India.

कलाओं का परिचयात्मक विवरण

अमिता नाईक
शोधार्थी पीएच.डी, संस्कृत विभाग
सांची बौद्ध भारतीय ज्ञान अध्ययन विश्वविद्यालय,सांची, मध्य प्रदेश

प्रस्तावना :

'कलाओं का उद्गम - कलाओं का अस्तित्व भारतीय सभ्यता के साथ ही रहा हैं इसमें दो मुख्य कलाएँ है जो अधिक प्राचीन है' गायन और नृत्य। कलाओं का उद्गम कैसे हुआ ये 64 कलाएं अस्तित्व में कैसे आईं इसका विवरण कलिका पुराण में दिया गया हैं। सृष्टि रचयिता ब्रह्मा ने सर्वप्रथम प्रजापति और मानस ऋषियों का सृजन किया। इसके पश्चात उन्होने प्रेम की देवी संध्या और मन्नधा का सृजन किया। उन्हे ब्रह्मा जी ने आशीर्वाद दिया कि संपूर्ण ब्रह्माण्ड में विष्णु तथा शिव को मिलकार उनके बाणों का सामना कोई नहीं कर पाएगा।

इसलिए उन्होने प्रेम सृजन के कार्य में उनकी सहायता करने के लिए कहा- जिसमें पुरुष तथा स्त्री में प्रेम उत्पन्न करने को कहा। प्रजापतियों और ऋषियों ने उसको वचन दिया कि उसका विवाह दक्ष की सुपुत्री से होगा। इसलिए के ब्रह्मा वरदान को सार्थक करने के लिए अपने बाणों को ब्रह्मा, प्रजापतियों, ऋषियों और संध्या पर प्रक्षेपित किया जिससे उनमें एक दूसरे के प्रति प्रेम उत्पन्न हो गया। ब्रह्मा तथा संध्या में एक दूसरे के प्रेम की भावनाएँ अनुभव होने से ब्रह्मा 49 के भावों का जन्म हुआ! तथा संध्या की 64 कलाओं का जन्म हुआ।

'उदीरितेन्द्रियो धाता वीक्षाञ्चके यदाथ ताम्।
तदैव धूनपञ्चाशद्भावा जाताः शरीरतः।
विल्बोकाद्या स्तथाहावा चतुष्षष्टिकला स्तथा।
कन्टप्रेशर विहायाः सन्ध्याया अभवन्डिजाः।।

कलाओं का उद्देश्य मनुष्य की सेवा के लिए है. प्राकृतिक रूप से 'अपरा विद्या' का एक हिस्सा है। किन्तु 64 कला ब्रह्म विद्या है। वर्गीकरण इन चौंसठ कलाओं को पाँच वर्गों में विभाजित किया गया है

- चारु ललित कला के अन्तर्गत- नृत्य, गीत, वाद्य, चित्रकला, प्रसाधन आदि कलाएँ आती हैं।
- कारू (उपयोगी कलाएँ) कारू कला के अन्तर्गत व्यंजन बनाने की कला, कढ़ाई, बुनाई, सिलाई तथा कुर्सी, चटाई आदि बुनने की कलाएँ आती हैं।
- औपनिषदिक कलाएँ के अन्तर्गत वाजीकरण, वशीकरण, मारण, मोहन, उच्चाटन यन्त्र, मन्त्रों एवं तन्त्रों के प्रयोग, जादू-टोना आदि से सम्बन्धित कलाओं की परिगणना की जाती हैं।
- बुद्धि वैचक्षण्य कलाएँ इसके अन्तर्गत पहेली बुझाना अन्त्याक्षरी, समस्यापूर्ति, क्लिष्ट काव्य रचना, शास्त्र- ज्ञान, भाषाज्ञान, वाक्पटुता, भाषण कला, भेड़-मुर्गा- तीतर – बटेर आदि को लड़ाने की कला, तोता मैना आदि पक्षियों की बोली सिखाने की कला आदि का समावेश होता हैं।

- क्रीड़ा – कौतुक शतरंज, क्रीड़ा कौतुक के अन्तर्गत द्यूतक्रीड़ा व्यायाम, नाट्यकला, जलक्रीडा, आकर्षण क्रीडा आदि से सम्बन्धित कलाओं की परिगणना की जा सकती है।

कला का परिचय :

संस्कृत वाड्मय भारतीय इतिहास, संस्कृति और कला का अद्भुत पृष्ठभूमि रहा है। यह अधिकांशतः भाषा से वंचित और शिक्षा, धर्म, विज्ञान और फिलॉसोफी के क्षेत्र में एक प्रमुख साधन रहा है। संस्कृत वाडमय का युग प्राचीन भारतीय इतिहास में गोल्डन एज के रूप में जाना जाता है, जो कला, संस्कृति, शिक्षा और समृद्धि की उच्चतम परिप्रेक्ष्य में विकसित हुआ। कला और साहित्य ने हमारे समाज को रूपांतरित करने और समृद्धि का मार्ग दिखाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। यह न केवल हमारे पूर्वजों की संस्कृति को संजीवित करता है, बल्कि आज भी इन कलाओं का आनंद लेकर हम अपने जीवन को समृद्ध बना सकते हैं। इसलिए, हम कला और साहित्य के प्रति सम्मान से देखते हैं कि कला और साहित्य का प्रभाव विश्व भर में रहा है। भारत के साथ-साथ विदेशों में भी कला के प्रेमी मौजूद हैं, और वे इसे अपने जीवन का अटूट हिस्सा मानते हैं। विदेशों में कला और साहित्य के अध्ययन के केंद्र स्थापित किए जाने से संस्कृति के एक महत्वपूर्ण पहलू का संरक्षण हो रहा है।

उपसंहार :

वाड्मय में वर्णित कलाओं का एक परिचयात्मक विवरण देखने के लिए हमारे पास विशाल संस्कृति, कला और साहित्य की समृद्ध धरोहर है। इसे भारतीय सभ्यता के मूलभूत अंग के रूप में साक्षात्कार किया जा सकता है और इसमें भव्य विकास, उदारता, और समृद्धि की झलक मिलती है। संस्कृत वाडमय में वर्णित कलाएं संस्कृति के विविध रूपों को प्रस्तुत करती हैं, जो उसके अनूठे और समृद्ध धरोहर को दर्शाती हैं।

इस लेख में संस्कृत वाडमय में वर्णित कलाओं के विभिन्न पहलुओं पर विस्तृत जानकारी प्रस्तुत की है। इसमें चित्रकला, संगीत, कविता, और नृत्यकला के महत्वपूर्ण आयामों को समीक्षा की है जिनसे हमें संस्कृत वाडमय की विविधता और समृद्धि का अनुभव होता है। यहां उपस्थित कलाएं, भाषा, रंग, संगीत, और नृत्य के माध्यम से लोगों के मन और आत्मा को स्पर्श करती हैं और उन्हें अद्भुत सांस्कृतिक अनुभव प्रदान करती हैं।

इस लेख के माध्यम से इस उत्कृष्ट संस्कृति के अंतर्गत सभी कलाओं के प्रति विशेष रूचि जगाने और उनके महत्व को समझाने का प्रयास किया गया है। यहां संस्कृत वाडमय में कला के विभिन्न आयामों के बारे में जानकारी दी है और उनके विकास में नाना प्रकार के कलाकारों का योगदान है। इससे हम इस संस्कृति की अमूल्य धरोहर का सम्मान करते हैं और इसकी रंगीन भव्यता में खो जाते हैं।

इस संस्कृत वाडमय में वर्णित कलाओं का परिचयात्मक विवरण एक अद्भुत और प्रेरक अनुभव प्रदान करता है जो हमें भारतीय सभ्यता और धरोहर के प्रति गर्व महसूस कराता है। इस संस्कृत वाडमय की कलाएं अपने आकर्षक और रोमांचक भावों के साथ हमारे मन को प्रभावित करती हैं और हमें अद्भुत अनुभव प्रदान करती हैं। हम सभी को आमंत्रित करते हैं कि इस संस्कृत वाडमय के अद्भुत सौंदर्य और समृद्धि का अनुभव करें और इसे संस्कृति और समृद्धि का प्रतीक बनाएं

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1. 'भारतीय चित्रकला का इतिहास' - अंजूम चौधरी
2. 'भारतीय संगीतः एक परिचय' - अरुणा कोरले

3. 'संस्कृति का मंगलमयी दृश्यः संस्कृत वाङ्मय में रूपकला' - रविन्द्र कुमार
4. 'संस्कृत वाङ्मय में कविता कला' - राजेन्द्र यादव
5 'संस्कृत वाङ्मय में नृत्य कला' - दिव्या श्रीवास्तव
6. 'भारतीय कला के मूलसूत्र' - सुमित्रानंदन पंत
7. 'संस्कृत वाङ्मय में शिल्पकला' - नीरजा कुलश्रेष्ठा
8. 'भारतीय कला के स्वर्णिम पन्ने' - प्रदीप जैन
9. 'संस्कृत साहित्य में कला और संस्कृति' - महेन्द्र शर्मा
10. 'संस्कृत नाट्यशास्त्रः संस्कृति की भावयुक्ति' - राजेश्वरी पाठक

रामलीला की संगीत परंपरा तथा प्रयोग

ओशिन धारे

हिन्दुस्तान कला एवं धर्म के जगत में उत्कृष्ट कोटि का देश रहा है। विभिन्न धर्मों ने यहाँ जन्म लिया एवं विभिन्न कला प्रकार यहाँ जन्म लेकर विश्व विख्यात हुई। धर्म की दुनियाँ मे भगवान श्री राम का नाम संपूर्ण विश्व मे प्रसिद्ध है एवं उनके जीवन से सभी जन भली भाँति अवगत है। संगीत एवं काव्य के विभिन्न सितारे भारत भूमि पर जन्मे। गोस्वामी तुलसीदास ने प्रभु श्री राम के संपूर्ण जीवन को बंद युक्त काव्य मे संग्रहित कर तुलसी रामायण का निर्माण किया जिसका मंचन नाट्य रूप मे पूरे भारत मे होता है एवं विभिन्न कलाओं का इसमे समावेश होता है। इन कलाओ मे से एक प्रमुख एवं अभिन्न कला संगीत है। गेय काव्य होने से संगीत की भूमिका और भी महत्त्वपूर्ण हो जाती है। आज इस शोध पत्र मे हम हमारे प्रांत छिन्दवाड़ा की रामलीला एवं उसके संगीत संबंधी पक्ष का वर्णन करेगें। छिन्दवाड़ा, मध्य प्रदेश मे बसा एक शहर है एवं प्रकृति से घिरा हुआ स्थल है। यहाँ प्रतिवर्ष नवरात्रि से कुछ दिवस पूर्व एवं कुछ दिवसों बाद त क रामलीला का मंचन होता है एवं संगीत का रूप यहाँ की रामलीला मे एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। छिन्दवाड़ा मे करीब 127 वर्षो से रामलीला का मंचन हो रहा है। यहाँ की रामलीला भी स्थानीय जीवन से वंचित नही रही। यहाँ के लोक गीत, भजन, जस आदि गीत प्रकारों का समाविष्ट रूप छिन्दवाड़ा मे होती वाली रामलीला मे पाया जाता है। इस शोध पत्र मे हम एक विशेषध दृष्टि रामायण के सभी कान्ड मे हो रहे संगीत के प्राचीन एवं नवीन उपयोगो पर डालेगें। क्योंकि छिन्दवाड़ा मे रामलीला का इतिहास अत्यंत प्राचीन है, जो कि कुछ 127 वर्ष पुराना ज्ञात होता है, अतः इतने लंबे काल मे विभिन्न कान्डो के विभिन्न रसो को दर्शने हेतु धुनों एवं स्वरों के उपयोग के चयन में भी अंतर आ गया है जिस पर एक प्रकाश डालेगें। तुलसीकृत रामायण में वर्णित सात काण्ड का सांगितिक पक्ष पर प्रकाश इस प्रकार है :-

1. **बाल काण्ड :** बाल काण्ड का संबंध राजा दशरथ के घर अयोध्या मे उनके चारों पुत्रों के जन्म से है। इस काण्ड के वर्णन हेतू छिन्दवाड़ा रामलीला मे प्रयोग होने वाले संगीत पक्षों पर दृष्टि डालेगें।

- **प्राचीन गायन अंदाज एवं स्वर :** छिन्दवाड़ा मे बुन्देलखण्डी अवधि और स्थानीय गोंडी धुनो पर आधारित शैली में गायन किया जाता रहा है जिसमे' नौटंकी की तर्ज प्रमुख रही है एवं कभी कभी अल्हा गायन शैली का भी उपयोग किया जाता रहा है।
- **ताल का प्रकार :** मुख्य रूप से ताल मे उपयोग होने वाले बंद दीपचन्दी से मिलता है। उसमे यहाँ के लोक धुन पर तर्ज स्थापित की जाती रही है। जब भी उत्साह. से संबंधित रूप दर्शाया जाता तब गोड़ी एवं लोक वाद्यों जैसे मटका वाले वायों का उपयोग कर कहरवा का उपयोग पाया जाता रहा है। टिम्की, झांझ आदि

का प्रयोग होते हुए ढोलक, मंजीरा, हारमोनियम आदि वाद्यो का उपयोग होता है।

- स्वरों का धुनो मे प्रयोग ध
- **महोत्सव हेतु :** सभी शुद्ध स्वरों का प्रयोग एवं गति मे धुने
- **स्वर क्षेत्र :** निसा रेगमप के बीच धुन व्यवस्था- समम म म प गगगग सारे - ग - मरे सा
- **राग समानता :** गौड़ मल्हार के सा से म क्षेत्र की समानता 'मरेप' का उपयोग छोड़कर।
- **आधुनिक गान :** रामानंद सागर जी की रामायण की धुनों का उपयोग एवं आधुनिक कार्यो का उपयोग जैसे की बोर्ड, ओक्टापेड आदि।

2. **अयोध्या काण्ड :** इस काण्ड मे करुण रस की मुख्यता है। दशरथ निधन, राम जी का वनवास, भरत मिलन आदि प्रसंग का वर्णन इस काण्ड मे प्राप्त होता है। छिन्दवाड़ा मे मंचन होती आ रही रामलीला के अयोध्या काण्ड मे वर्णित स्वर संगितियाँ कुछ इस प्रकार है।

   प्राचीन गायन अंदाज एवं स्वर : मुख्य प्रसंगों की धुनें

   दशरथ निधन : दुखद स्वरों का चयन : सानि धनि सा रे (म) गनिसा (राग पीलूका अंग)

   राम जी के वनवास हेतु स्थाविय स्थानीय धुन :

   ग प ध प गरे, ग ग सा निसा

ताल :

दीपचंदी अंग - राग पीलू

भरत मिलाप :

गगग मग रेसानि ग रे सा निसा रेग गया।
ताल : कहरवा

3. **अरण्य काण्ड :**

   इस काण्ड मे विभिन्न ऋषियों से वन में मुलाकात विभिन्न राक्षसों के अत्याचारों को देखकर, राक्षसों के विनाश की भूमिका बनना एवं खरदूशण वध, सूर्पनखा की नाक काटने का प्रसंग व सीता हरण इस ही काण्ड मे है। एवं इस काण्ड की मुख्य धुनो के स्वरः- इस काण्ड मे करुण व वीर रस की प्रमुख एवं कुछ मुख्य युनों का वर्णन इस प्रकार है।

   धुन 1 - आल्हा धुन प्रमुख हैं

   सारेरे, सारेगग गरेरे, गरे सासा पप पथङ, पंप, पम, समग, गरे रेसा राग अंगः- शिवरंजनी

   ताल- गोड़ी अंग कहरवा।

   धुन (2):-- सासा रे र ग, ग रे ग रे सा

4. **किष्किंधा कांड :** इस कोड मे हनुमान जी से राम जी का मिलन, राम-सुग्रिव मित्रता बाली एवं वानर सेना का निर्माण।

   इस काण्ड मे मुख्य वीर एवं कभी-कभी करुण रस की धुने मिलती है। जोश युक्त संगीत का आरंभ भी पाया जाता है।

   धुन 1:- नि सा गग रे सा, सा निसा

   राग अंगः- भीमपलासी के अंग से

   तालः- कहरवा अंग

   धुन 2:- सारेग व ब पगरेसा का अंग एवं प्रकार

   राग अंगः- किरवानी के अंग से

   ताल अंगः- कहरवा का एवं दादरा का द्रुत अंग

5. **सुंदर काण्ड :** इस काण्ड मे हनुमान जी की भूमिका मुख्य है जिसमे वे समुद्र लांघ कर लंका पहुन्च कर लंका दहन कर सीता जी खोज कर उनसे मिलकर, रावण को समझाकर वापस राम जी के पास आते है । इस काण्ड की धुने वीर रस एवं जब हनुमान जी सीता जो से मिलते है तो प्रेम एवं ममता भरी धुनों से युक्त है ।

   इस काण्ड की धुनों का अन्य काण्डों के वीर रसों की धुनों जैसा रूप है परन्तु मध्य एवं तार सप्तक में अधिक सुनने मिलती है।

6. **लंका काण्ड :** इस काण्ड का संबंध लंका में हुए संग्राम से है। इस काण्ड मे विभिन्न रसों का उपयोग है जैसे वीर करुण, भयानक आदि। इस काण्ड का समापन विभिषण राज्य अभिषेक से होता है एवं अंततः राम जी का अयोध्या आगमन एवं उनके राज्य अभिषेक की समाप्ति होती है इस काण्ड से होता है।

   इस काण्ड मे युद्ध का मंचन दिखाने हेतु ताल वाद्यों का उपयोग अत्यधिक होता है । तबले क डग्गे पर विभिन्न नगाड़े संबंधित ध्वनियाँ उपयोग की जाती है। युद्ध मे घायल होने के दृश्य दिखाने हेतु विभिन्न चीखो की आवाज़े उत्पन्न की जाती है एवं राज्य अभिषेक का मंचन हेतु श्रृंगारिक व उत्साह व उत्सव की धुनों जैसी मंगल धुन गाई बजाई जाती है। इस काण्ड की कुछ मांगलिक धुने हैं:-

   धुन 1:- सा निसा, रे म पग् सानिसा

   राग - पीलू

   ताल- दीपचंदी एवं कहरवा

7. **उत्तर काण्ड :** इस काण्ड का मंचन छिन्दवाड़ा रामलीला मे नही होता।

उपसंहार : लोक कला एवं संस्कृति हर व हिस्से में पाई जाती है एवं विभिन्न रंगों को लिए होती होती है। रामलीला भी इस संस्कृति और कला के प्रभाव से वंचित नही है। छिन्दवाड़ा (म प्र) के जीवन एवं यहाँ के संगीत और लोक संगीत, लोक वाद्य एवं लोक तालों का रामलीला के नाट्य मंचन पर अन्य प्रभाव व वाद्य, ताल एवं उपयोग होनी वाली धुनों का अध्ययन इस क्षेत्र के मंचन से अध्ययन करने प्राप्त हुता। इन धुनों का विस्तार किन रागों का निर्माण करती है एवं प्राचीन व आधुनिक मंचन मे उपयोगी धुनों का भी अध्ययन हुआ।

लोकनाट्य कठपुतली की संगीत परम्परा एवं प्रयोग

संगीता
(शोध छात्रा), संगीत (गायन)
डॉ॰ भीमराव आंबेडकर विश्वविद्यालय, आगरा

डॉ॰ निष्ठा शर्मा
असिस्टेंट प्रोफेसर (संगीत गायन)
महात्मा गाँधी बालिका विद्यालय (पी॰जी॰) कॉलेज, फिरोजाबाद

भारतीय संस्कृति में लोक कलाओं का विकास अपने उद्‌भव काल से ही चला आ रहा है। जिसका प्रतिबिंब लोककलाओं में स्पष्ट नजर आता है। यदि भारतीय लोक कलाओं की बात की जाये तो रामायण, महाभारत एवं पौराणिक गाथाओं का लोकमंचन नाट्यपूर्ण प्राचीन परम्परा के रूप में होता रहा है और इन लोकनाट्य कलाओं का प्रदर्शन करने में कठपुतली की अहम भूमिका रही है। कठपुतली लोकनाट्य का प्राचीन रूप है। जिसका उल्लेख ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में पाणिनि के अष्टध्यायी नटसूत्र में किया गया है। जिसे अंग्रेजी भाषा में चनचचमज कहा जाता है, लेकिन लेटिन भाषा में इसे प्यूपा के नाम से जाना जाता है जिसका शाब्दिक अर्थ है, गुड़िया। किन्तु आसाम में इसे पुतेला और संस्कृत भाषा में इसे पुत्तलिका के नाम से जाना जाता है। यह कला नाट्‌कीय अभिव्यक्ति का रूप मानी गई है, जिन्हें विशेष कठपुतलियों द्वारा रंगमंचों पर प्रसारित किया जाता रहा है। कठपुतलियाँ निर्जीव होती है लेकिन इस खेल में अहम भूमिका उस नायक की होती है जो इन पुतलियों को निर्जीव से सजीव बनाने का कार्य करता है। कठपुतलियों का खेल तब अधिक मनोहित हो जाता है जब यह लोकनाट्य रूप प्रस्तुत करती है। पर्दे के पीछे बैठा नायक अपने हाथों से पुतली में लगी डोरियों को नियंत्रित करता हुआ ढ़ोलक व सरगम की तान पर उन कठपुतलियों को संगीत के साथ नचाने का कार्य करता है। पुतलियों की इस गतिविधि को लोकनाट्य के रूप में जाना जाता है।

लोकनाट्य कठपुतली का ऐतिहासिक स्वरूप :

सूत्रधार की संकल्पना लोकनाट्य से परिपूर्ण कठपुतली का इतिहास अति प्राचीन माना गया है। यहां अनेक ग्रन्थों यथा- महाभारत, रामायण, पंचतंत्र, कथा सरित्सागर, नैषधीय चरित्र, ज्ञानेश्वरी आदि में कठपुतली सम्बन्धी कला का विवरण मिलता है। महाभारत के एक श्लोक में बताया गया है:-

परप्रयुक्तः पुरूषो विचेष्टते।
सूत्रप्राता दासमयीव योषा।[1]

जिसका अर्थ है, कि जिस तरह कठपुतली सूत्रधार की इच्छानुसार कार्य करती है, ठीक उसी प्रकार मनुष्य ईश्वर की इच्छानुसार कार्य करता है। पंचतंत्र ग्रन्थ में भी काष्ठचित्रक्रीड़न शब्द का उल्लेख मिलता है, जिसका अर्थ है काष्ठ यानी लकड़ी और क्रीड़न यानी खेल जिसका शाब्दिक अर्थ है लकड़ी के चित्रों का खेल। इसी प्रकार अन्य ग्रन्थों में भी कठपुतली का उल्लेख मिलता है। जैसेः- यन्त्रपुत्रकलीला जहां लीला का अर्थ है, खेल और खेल के सम्बन्ध में नैषधीय चरित्र में बताया गया है, कि कठपुतली का खेल राजा नल के दरबार में हुआ करता था। लेकिन कथासरित्सागर में उल्लेख किया गया है, कि वहां के राजकुमार जब भी किसी दूसरे राजकुमार से मिलने जाते तो अपने साथ चार कठपुतलियां अवश्य लेकर जाते। कुछ विद्वानों का ऐसा भी कहना है, कि मराठी नाट्यकार स्व॰ विष्णुदास भावे पहले कठपुतलियों का खेल प्रस्तुत करते थे। लेकिन बाद में इन्हें महाराष्ट्र

के प्रथम नाट्यकार के रूप में सम्मान प्राप्त हुआ।[2]

अनेक प्राचीन साक्ष्यों से ज्ञात होता है, कि कठपुतली का इतिहास मध्य काल से लोकप्रिय हुआ और तभी से यह कला देश के विभिन्न प्रान्तों में मनोरंजन का साधन बन गई। लेकिन प्रारम्भ में मनोरंजन की अपेक्षा कठपुतली का धर्म से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। जहां जुलूसों के माध्यम से देवी देवताओ की चल आकृतियों का प्रदर्शन किया गया। यह मिश्र की प्राचीन प्रथा के रूप में प्रचलित थी। कठपुतली की यह प्राचीन प्रथा धीरे-धीरे धार्मिक अनुष्ठानों की परिधि से बाहर आने लगी और इसने प्रदर्शन कलाओं के बीच अपना स्थान बना लिया। तत्पश्चात कठपुतली विश्व के विभिन्न देशों में वहां की संस्कृति का अभिन्न अंग बन गई।

कठपुतली की उत्पत्ति एवं विकास :

विद्वानों के मतानुसार कठपुतली की उत्पत्ति चीन में हुई जहां लोगों को छाया नाट्य से रूबरू कराया गया। लेकिन अधिकांश विद्वानों का कहना है, कि कठपुतली कला का जन्म भारत में हुआ तथा भारत से ही यह कला अन्य एशियाई देशों में गई। भारत के व्यापारी इंडोचीन और मलेशिया में व्यापार करने गये। विदेशों में व्यापार करते समय उन्होंने जाना कि एशियाई देशों में भी छाया कठपुतली का प्रदर्शन होता है वो भी भारत के प्रमुख ग्रन्थ रामायण एवं महाभारत पर आधारित होती है। इसलिए कठपुतली को भारतीय नाट्क की जननी के रूप में जाना जाता है और भारत में नाट्क की उत्पत्ति भी कठपुतली से मानी गई है।

हमारे उत्तर भारत के लोकनाट्य में कठपुतली का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। प्रसिद्व लोकगीतकार नवीन चन्द्र शर्मा ने लोकनाट्य का सबसे पुराना रूप कठपुतली को बताया है।[3] सामाजिक लोकनाट्य में कठपुतली मनोरंजन का महत्वपूर्ण साधन रही है जो व्यवहारिक रूप से विश्व के हर प्रान्त में पाई जाती है। जहां कठपुतली के पुतली शब्द के अनेक रूप देखने को मिलते है। अंग्रेजी भाषा में पुतली शब्द को चनचचमज के नाम से जाना जाता है। वहीं फ्रेंच में पॉपी, लैटिन भाषा में प्यूपा जिसका अर्थ है गुड़िया तथा संस्कृत भाषा में पुत्रका, पत्रिका व पुटटलिका आदि नामों से जाना जाता है।

यह कठपुतलियाँ लकड़ी, पेरिस प्लास्टर तथा कागज की लुग्दी से निर्मित की जाती है तथा डोर के सहारे यह पुतली अपना प्रदर्शन कार्य करती हैं। कठपुतली नाट्य को प्रस्तुत करने के लिए नाट्य में पुतलियों के विभिन्न रूपों का प्रयोग किया जाता है। मुख्य रूप से कठपुतलियाँ चार प्रकार की मानी गई है :[4]

1. धागे से बनी कठपुतली या डोर कठपुतली।
2. दस्ताने से बनी कठपुतली।
3. छड़ी से निर्मित कठपुतली।
4. छाया कठपुतली।

1. धागे से बनी कठपुतली या डोर कठपुतली:

धागा कठपुतली की यह परम्परा एक लम्बी परम्परा है। विशेष रूप से इस कला का प्रयोग धार्मिक एवं मनोरंजन के क्षेत्र से किया जाता है। धागा कठपुतली को कहीं-कहीं डोर कठपुतली के नाम से भी पुकारा जाता है। इस कठपुतली का मुख्य रूप से प्रचलन राजस्थान, उड़ीसा, तमिलनाडु तथा कर्नाटक आदि देशों में देखने को मिलता है। धागे से बनी यह कठपुतली अधिक लचकदार एवं सुन्दरता से परिपूर्ण होती है। सामान्य कठपुतलियों में अधिकांषतः तीन तार होते है। लेकिन नाट्य कठपुतलियाँ जो विशेषकर लोकनाट्य प्रस्तुत किया करती है, उन कठपुतलियों में लगभग 8 से 10 तार होते है। इसे बनाने के लिए अधिकांश लोग कगज, कपड़ा, लकड़ी, बुरादा एवं कपड़े के कतरन का प्रयोग किया जाता है। लेकिन इसकी भुजाओं, घुटनों एवं पैरों में जोड़ रहते हैं। जिसके विभिन्न अंगों को धागे से जोड़ दिया जाता है और कलाकार पर्दे के पीछे बैठकर कठपुतली के प्रत्येक अंग से बँधे धागे को अपने हस्तकौशल नियंत्रण से कठपुतलियों को नचाता है। धागे से बनी

राजस्थानी कठपुतली का प्रदर्शन देश में ही नहीं वरन पूरे विश्व में प्रचलित है। वर्तमान समय में कलाकार आज भी इस कला का प्रदर्शन कर रहे हैं।

कर्नाटक के सुप्रसिद्ध कठपुतलीकार कोग्गा कामथ धागे की बनी कठपुतलियों के माध्यम से यक्षगान शैली को प्रस्तुत करते हैं। इन कठपुतलियों की रचना यक्षगान के पात्रों के रूप में की जाती है। जिसकी ऊँचाई डेढ़ से दो फुट तथा लगभग 4 से 10 डोरी बँधी होती है।[5]

राजस्थान की कठपुतलियों के समान महाराष्ट्र के पिंगुली गाँव में एक परम्परागत समूह है जो डोर कठपुतलियों के खेल को प्रसारित करने का कार्य करता है। यह राजस्थान की कठपुतलियों से अधिक मिलता है। क्योंकि यहां रामायण तथा महाभारत की कथाओं के स्वरूप को डोर से निर्मित कठपुतलियों के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है।

2. दस्ताना कठपुतली :

राधा कृष्ण एवं रामायण की कहानियों के आधार पर प्रस्तुत की जाने वाली दस्ताना कठपुतली मुख्यतः केरल, उड़ीसा व तमिलनाडु में देखी जाती है। इसे बाँह कठपुतली, हथेली कठपुतली या हस्त हथेली कठपुतली के नाम से जाना जाता है। इस कठपुतली को बड़ी सरलता के साथ बनाया जा सकता है। जैसा, कि इसके नाम से ज्ञात होता है, कि ऐसी कठपुतली जिसका प्रदर्शन हाथ के माध्यम से होता है उसे हस्त कठपुतली के नाम से जाना जाता है। दस्ताना कठपुतली का प्रदर्शन करने के लिए एक हस्त दस्ताना बनाया जाता है जिसके मस्तक को बनाने के लिए पेपर मेष (कुटटी) तथा कपड़े की आवश्यकता होती है। किसी-किसी दस्ताने में लकड़ी का प्रयोग भी कर लिया जाता है। इन वस्तुओं की सहायता से पुतली के सहायक अंग सिर, मुँह, नाक, आँख आदि को उसके रोल के मुताबिक रूप तैयार किया जाता है। फिर प्रदर्शनकर्ता कथा के रूप में कहानी प्रस्तुत करता है। इस प्रकार सिर्फ दो अँगुलियों की सहायता से कठपुतली निर्जीव से सजीव हो जाती हैं। यहां प्रत्येक प्रान्त की कठपुतली अपनी-अपनी संस्कृति के आधार पर प्रदर्शन करती है।

केरल की दस्ताना कठपुतली : इस देश की कठपुतली अधिक श्रंगारिकता से परिपूर्ण होती है। जिसका पहनावा अलंकारिक रंग युक्त होता है जो कथकली कलाकारों का अनुकरण करती है।[6]

उड़ीसा प्रान्त की कठपुतली : इस प्रान्त में दस्ताना कठपुतली को कुंड़हाई नृत्य के नाम से पुकारा जाता है। जिसका प्रदर्शन यहां की सांस्कृतिक कला के आधार पर किया जाता है।

3. छड़ी से निर्मित कठपुतली :

मुख्य रूप से यह कठपुतली दस्ताना कठपुतली का दूसरा रूप है लेकिन यह आकार में बड़ी तथा लोहे की छड़ के द्वारा इसे संचालित किया जाता है। कुछ प्रान्तों में इसे दंड़ कठपुतली के नाम से पुकारा जाता है। जो बाँस के डंडों पर स्थिर होती है तथा इसके निर्माण कार्य में कागज तथा लोहे की छड़ का प्रयोग किया जाता है। इसे जापान तथा यूरोपीय देशों में अधिक प्रसारित किया जाता है। बंगाल में इसे पुतुलनाच पारम्परिक दंड़ कठपुतली, बिहार में यमपुरी तथा उड़ीसा में इसे कथी कुंडेई कठपुतली के नाम से जाना जाता है।

4. छाया कठपुतली :

इस प्रकार की कठपुतलियों के प्रदर्शन के समय रंगमंच पर पुतलियों की छाया प्रदर्शित की जाती है। इन कलाकृतियों का रूप श्वेत-श्याम रंग का होता है। जो चमड़े से निर्मित तथा आकार में सपाट होती है। प्रदर्शन के समय इसे किसी पारदर्शी सतह पर चिपका दिया जाता है और पीछे से प्रकाश की किरणों को प्रभाहित किया जाता है। इस प्रकार छाया कठपुतली दर्शक को स्क्रीन दृश्य का एहसास कराते हुए उन्हें नाटकीय रूप प्रदान करती है। इन कठपुतलियों का प्रदर्शन मुख्य रूप से केरल, महाराष्ट्र, आंध्रप्रदेश, तमिलनाडु, कर्नाटक तथा उड़ीसा में देखने को मिलता है।

निष्कर्ष :

कठपुतली की यह परम्परा विश्व के लगभग सभी देशों में अपना वर्चस्व स्थापित किये हुए है। भारतीय संस्कृति में कठपुतली कला को अद्वितीय स्थान प्राप्त है। इस कला में भारत की पारम्परिक गाथाओं की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। लेकिन आधुनिक सभ्यता के कारण अब यह कला कहीं खो सी गई है। नित नए-नए मनोरंजन के साधन आ जाने के कारण इस कला का प्रचलन कम होता जा रहा है, होती नजर आ रही है। पहले कठपुतली का यह खेल कही भी देखने को मिल जाता था लेकिन अब यह सिर्फ बड़े-बड़े मंचों तक ही सीमित रह गया है। लेकिन यह आवश्यक है, कि भारत की यह सांस्कृतिक कला जीवित रहेगी और निरंतर भारत के सांस्कृतिक परिदृश्य में दिखाई देती रहेगी।

सन्दर्भ ग्रन्थ सुची :

1. नाईक मीना अनुवाद पांडे राजेन्द्र ''कठपुतली मार्गदर्शिका'' पृष्ठ संख्या-7

   https://arvidguptatoys.com/arvindguota/kathputli-nbt.pdf

2. नाईक मीना अनुवाद पांडे राजेन्द्र ''कठपुतली मार्गदर्शिका'' पृष्ठ संख्या-7

   https://arvidguptatoys.com/arvindguota/kathputli-nbt.pdf

3 सैकिया गीताली '2018' ''लोकनाटक के रूप में कठपुतली'' अध्याय-2

   https://www.wisdomlib.org/hinduism/essay/puppetry-in-assam/d/doc1085315.html

4. डॉ॰ पाण्डेय अन्जू '2018' ''पारम्परिक लोक संचार के माध्यम एवं उनकी विषेषताऐं'' पृष्ठ संख्या-2

5. https://www.keralatourism. यक्षगान कठपुतली, केरल कलाकृति।

6. https://niso.ac.in

   परम्परागत माध्यमों के प्रकार 26 पृष्ठ संख्या-17

ब्रज की रासलीला का संगीत पक्ष एवं प्रयोग

प्रेरणा अग्रवाल
रिसर्च स्कॉलर (कथक)
श्री श्री यूनिवर्सिटी, कटक, उड़ीसा

डॉ॰ नन्दकिशोर कपोटे
डायरेक्टर एण्ड डीन
डॉ॰ डी.वाई. पाटिल स्कूल ऑफ लिबरल आर्ट्स पुणे

भारतीय जन मानस में कृष्ण भक्त आचार्य ने अपने आराध्य की लीला कथाओं को प्रचारित करने के लिए जिस नृत्य-नाट्य विधि को अविष्कृत किया, उसे ब्रज की रासलीला के नाम से जाना जाता है। भारतीय साहि त्य मेंप्रासष् शब्द अत्यंत प्राचीन काल से प्रयुक्त हो रहा है।

''रास'' शब्द की व्युत्पत्ति रास धातु में ''ध'' प्रत्यय के योग से हुई है। ''रासलीला'' शब्द ''रास'' व ''लीला'' इन दो शब्दों से मिलकर बना है, जो इसके प्रदर्शात्मक स्वरूप का बोध कराते हैं।

रास का अर्थ है- ''समूह नृत्य'' शास्त्रों में इसके तीन भेदों का उल्लेख मिलता है। ताल रासक, दण्ड रासक, मंडल रासक। रासलीला की उत्पत्ति मुख्यतः पश्चिमी उत्तर प्रदेश ब्रज प्रदेश में हुई एवं यही रास का मुख्यतः विकास स्थान था। रासलीला में नृत्य जो कि मूल स्वांग का एक विस्तृत रूप है, वर्तमान परंपरागत नृत्य के साथ आसानी सेमिश्रित है। रासलीला मुख्यतः चार तत्वों पर आधारित है- श्री कृष्ण, राधा, सखियां एवं वृंदावन तथा रासलीला में इन्हीं चार तत्वों पर आधारित रसात्मक लीलाओ, जैसे- पनघट लीला, दान-लीला, माखन-चोरी, अनुराग-लीला, ग्वाल-लीला आदि का चित्रण मधुर संगीत के माध्यम से किया जाता है।

प्राचीन संस्कृति में प्रेम की उदात्त अभिव्यक्ति होती थी और कृष्ण की रासलीला उसका प्रतीक है। मूलतः यह एक नृत्य है, जिसमें कृष्ण की मुरली की धुन पर गोपियां उनके चारों ओर गोलाकार घेरा बनाकर नाचती हैं।

वैष्णवों ने रासलीला विषयक सामग्री का आधार स्तंभ 'श्रीमद् भागवत पुराण' नामक ग्रंथ का दशम स्कंध तथा जयदेव कृत 'गीत गोविदं' नामक गीति काव्य को बनाया। भागवत की मुख्य विशेषता यही है कि इसमें श्री कृष्ण को ब्रह्म स्वरूप माना है, तदैव उनकी संपूर्ण लीलाएं माधुर्य भाव से ओत-प्रोत हैं। इन सभी रासलीलाओ में गायन, वादन और नृत्य का समावेश है।

इसके अतिरिक्त कवि राज गोस्वामी कृत गोविदं लीलामतृ नामक ग्रंथ रास परंपरा के संदर्भ में एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है, जिसमें संगीत के सूक्ष्म ज्ञान का परिचय मिलता है, जैसे कि- वन-भ्रमण में प्रकृति को लक्ष्य बनाते हुए श्री कृष्ण द्वारा स्वर, ताल, ग्राम, मूर्च्छना सहित गाए हुए पद को सखियां भी दोहराती हैं। इसके अतिरिक्त रागों के अंतर्गत, नट, वसंत, केदार, भैरव, मालव आदि रागों के साथ ही साथ अनेक वाद्यों जैसे- मुरली, वंशी, करताल, मृदंग, वीणा, झांझ आदि का भी वर्णन है। इसके साथ ही हमें अनेक तालों के रूप भी दृष्टिगत होते हैं, जैसे- चंचपुट, गजलीला, रूपक, कंधार, त्रिभंगी, एकताल, निप्सारी, त्रिपुट, पार्वतीलोचन आदि।

रास में आध्यात्मिकता भी है, जिसमें गोपियों का कृष्ण के प्रति अनुराग व्यक्त होता है। आज रास के दो रूप विद्यमान हैं, महारास तथा नित्यरास-

भागवत की ''रास पंचाध्यायी'' में शरद रात्रि में श्री कृष्ण द्वारा महारास किए जाने का वर्णन प्राप्त होता है। रासलीला में श्री कृष्ण की किसी भी लीला के प्रदर्शन से पूर्व नित्य रास अवश्य ही किया जाता है। नित्य रास के अंतर्गत मधुर स्वर लहरियों से युक्त पद गायन के साथ-साथ नृत्य की कुछ आकर्षक भाव भंगिमाओ का भी पर्याप्त समावेश होता है।

शास्त्रीय संगीत की विशिष्ट गेय विधा ध्रुपद-धमार शैली का रासलीला में विशेष स्थान है। वैष्णवाचार्यों ने रासलीला में श्री राधा कृष्ण की विभिन्न प्रेममयी केलिक्रीड़ाओं में भावप्रद हो सहज रूप से अलौकिक आनंद प्राप्त करने के लिए शास्त्रीय संगीत की श्रेष्ठ व गंभीर प्रकृति की गायन शैली ध्रुवपद अथवा धमार को अपनाया। ध्रुपद की प्रकृति के अनुकूल ही विभिन्न रागों में पद गायन किया जाता है, जैसे- भूपाली, यमन, विभास, बसंत, भैरव, मालव, मल्हार, नट आदि।

रसिया, मांझ, कवित्त, सवैया तथा दोहे आदि लोक संगीत के प्रकारों का भी रासलीला में विशेष स्थान है। गायन के साथ संगत वाद्यों के अंतर्गत मुरली, डमरू, मृदंग, करताल, सारंगी, वीणा, झांझ, मंजीरा तथा स्वरमंडल आदि अनेक वाद्यों का यथा समय प्रयोग किया जाता है।

रास की नृत्य मुद्राओं के अंतर्गत हस्तमुद्रा, अंग-उपांग, सुलप, अंगहार, ताल-लय, उरप-तिरप, लाग-डॉट आदि मुद्राओं के साथ ही साथ, चालन, चितवन, ग्रीवा-लटकन, मुस्कुराहट, चलने का ढंग, नेत्रों की आकर्षक चपलता, ग्रीवा को अवसर अनुसार हिलाना आदि नृत्य मुद्राओं का सफलतापूर्वक प्रयोग किया जाता है।

रासलीला उत्तर प्रदेश के लोकनाट्य का एक प्रमुख अंग है। भक्ति काल में इसमें राधा-कृष्ण की प्रेम-क्रीड़ाओं का प्रदर्शन होता था, जिनमें आध्यात्मिकता की प्रधानता रहती थी। इनका मूलाधार सूरदास तथा अष्टछाप के अन्य कवियों के पद, महाकवि जयदेव की पदावली, निबांर्क संप्रदाय के श्री हरि व्यास देव जी की अष्टछाप की पदावली और भजन होते थे। उनमें संगीत और काव्य का रस तथा आनंद दोनों रहता है। 19वीं शताब्दी में रीति कालीन कविता के प्रभाव से रासलीलाओं की धार्मिकता, रस और संगीत को धक्का लगा। अतः उनमें ना तो रस का प्रवाह रहा और ना ही संगीत की शास्त्रीयता। उनमें केवल नृत्य, वागविलास, उक्तिवैचित्य की प्रधानता हो गई। रासलीला में सूरदास आदि कृष्ण भक्त कवियों द्वारा लिखे हुए भजनों के साथ नृत्य, गीत, वेणुध्वनि, ताल, रस एवं लय की अबाध धारा बहती है। कृष्ण धीरललित नायक के रूप में दर्शाए जाते हैं। राधा उनकी अनुरंजक शक्ति के रूप में दिखाई जाती हैं। वर्तमान में कई रास साहित्य रचयिताओं ने प्राचीन कवियों की पदावली को रसिया में ढाल कर रास के संगीत का सरलीकरण कर उसके शास्त्रीय संगीत को लोक रूप देकर रासधारियों का काम हल्का कर दिया है।

यहां सूरदास के पद नृत्य की गति और स्वर लहरी का अनुसरण करते हैं। सूरदास जी के सूरसागर में रासलीला के अनेक पद हैं। रास नृत्य मंडलाकार होता है। मंडलाकार नर्तक-नर्तकी के समूह के केंद्र में राधा और कृष्ण होते हैं। सूरसागर के रासलीला संबंधी पद नृत्य की सुसंगति में रचे गए थे; ये पद सिर्फ गाने के लिए नहीं होते थे, नृत्य के बीच गाने के लिए होते थे। ''नृत्यत श्याम नाना रंग'' या फिर ''विराजत मोहन मंडल रास'' जैसे पदों को इसी संदर्भ में पढ़ा जा सकता है।

ब्रज की रासलीला का संगीत :

16वीं सदी से रास के वर्तमान रूप का प्रारंभ हुआ। सबसे पहले वल्लभाचार्य जी ने स्वामी हरिदेव के सहयोग से मथुरा के विश्रांत घाट पर रास किया। रास ब्रज की अनोखी देन है, जिसमें संगीत के तीनों अंगों गीत, वाद्य तथा नृत्य का सम्मिश्रण है। ब्रज के साहित्य के सांस्कृतिक एवं कलात्मक जीवन को रास बड़ी सुंदरता से अभिव्यक्त करता है। अष्टछाप के कवियों (सूरदास, नंददास, कृष्ण दास, नाभादास, परमानंद दास) के समय में संगीत की मधुर धारा

प्रवाहित हुई। ये सभी कवि स्वयं गायक थे एवं इन्होंने अपनी रचनाओं में विविध प्रकार के गीतों का अपार भंडार भर दिया। रासलीला जो कि पारंपरिक लोकनाट्य शैली है, इसका मुख्य उद्देश्य सांसारिक लोगों को भक्ति रस की उपलब्धि कराना है। ब्रज रासलीला का केंद्र था, यहीं से मध्यकाल में रासलीला को लोकप्रियता मिली, किन्तु इसका अस्तित्व वैदिक काल की नृत्य कलाओं से ही परिलक्षित होता है। भक्ति कालीन कवियों के काव्य में गेयता का जो तत्व विशेष रूप से दृष्टिगोचर होता है, उसके मूल में रासलीला की प्रेरणा ही निहित है। बांसुरी, ब्रज का प्रमुख वाद्य यंत्र है। भगवान कृष्ण की बांसुरी से कोई अपरिचित नहीं है। भारतीय संगीत में ब्रज की अमिट छाप दिखाई देती है। यदि यह कहा जाए कि भारतीय संगीत ब्रज संस्कृति का एक मुख्य एवं अविभाज्य अंग है तो कोई अतिश्योक्ति नहीं है। शास्त्रीय संगीत के पद, ख्याल, ध्रुपद आदि ब्रजभाषा में ही रचे जाते हैं।

रासलीला में संगीत की प्रयोग विधि :

प्राचीन काल से ही पारंपरिक रंगमंच में गीत-संगीत, भाव द्वारा प्रकट करने का मुख्य साधन रहे हैं। गद्य संवादों के साथ ही साथ गीतों की प्रधानता भी होती है। रंगमंच के ज्यादातर संगीत राग में बंधे होते हैं।

संगीत के लिए रंगमंच पर ढोलक, झांझ, मंजीरे, करताल, बांसुरी, हारमोनियम, सितार, सारंगी आदि वाद्य बजाए जाते हैं, जिससे एक उत्सव जैसा वातावरण उत्पन्न होता है, जो दर्शकों को बांधे रखता है। पारंपरिक रंगमंच में नृत्य का भी एक महत्वपूर्ण स्थान है।

रासलीला में नृत्य काफी प्रभावशाली एवं आकर्षक होता है। रासलीला में किसी निर्दिष्ट प्रधान लय का विचार न करके पदों में आराध्य हेतु रस व भाव के अनुसार ही लय योजना की गई है। यद्यपि रासलीला में विलंबित, मध्य तथा द्रुत तीनों लयों का समावेश है और पदों की रचना विशिष्ट गायन शैली की प्रमुख लय को ध्यान में रखकर की गई है, तदपि पदगान के लिए लय योजना में समाजी (रास का निर्देशक तथा व्यवस्थापक) अधिक बंधे हुए नहीं है। वे मंच पर लीला प्रसंग के अनुसार ही लय को नियंत्रित करते हैं।

जैसा कि पूर्व में वर्णित है, रास का प्रदर्शन दो भागों में होता है- नित्य रास तथा रासलीला। रास का प्रारंभ नित्य रास से ही किया जाता है। नित्य रास में भगवान श्री कृष्ण, श्री राधा के साथ सिहांसन पर विराजमान होते हैं एवं उनके आस-पास सखियां भी होती हैं। पर्दा उठने के बाद रास का समाजी, श्री राधा कृष्ण के चरण स्पर्श कर उनको दंडवत प्रणाम करता है, तत्पश्चात वह सारंगी, हारमोनियम की संगति व अन्य वाद्यों के सहयोग एवं अन्य सहयोगियों के साथ वंदना के भक्तिपूर्ण पदों का गायन करता है। इसके पश्चात ब्रजंगनाओ की गुरु वंदना तथा श्री वृंदावन की वंदना की जाती है, फिर ध्रपुद धमार शैली में पद गायन करते हुए रास का प्रारंभ करते हैं। उसके बाद श्री राधा अपनी सखियों को रास करने का आदेश देती हैं।

''ललिते रास विलास कौ,

करहु प्रबंध नवीन।

संदुर रास समाज कौ,

बांधहु ठाट नवीन।''

अब रासमंच पर रास नृत्य का क्रम प्रारंभ हो जाता है। श्री कृष्ण, श्री राधा के गलबाही दे, बंसी वादन करते हुए रास मंच के मध्य में खड़े हो जाते हैं और सखियां उनके चारों ओर गोलाकार घेरा बनाकर विभिन्न पद संचालन तथा आकर्षक हस्त मुद्राओं के साथ मधुर गायन व नृत्य करती हैं। इस समय समाजी ब्रज की प्राचीन रास गायकी के अनुसार विलंबित लय में धमार शैली में पद गायन करते हैं।

एक उदाहरण दृष्टव्य है -

धमार (परंपरागत धुन)

1 2 3 4 5 6 7

8 9 10 ना च s त

रा s s s s s s

स s s में s s s

गो पा s s s s s

ल s s ....

शनैः शनैः लय द्रुत में परिवर्तित जाती है। सभी पैरों की लय, ताल के अनुसार बढ़ाकर फेरी लेना आरंभ कर देते हैं। कुछ चक्कर लेने के पश्चात सब घुटनों के बल बैठ जाते हैं और गान के अनुसार नृत्य मुद्राओं का प्रदर्शन करते हैं। फिर एक पंक्ति में खड़े होकर भिन्न-भिन्न नृत्य भंगिमाओं का प्रदर्शन करते हैं और कृष्ण अपने नृत्य में कत्थक से मिलते जुलते टुकड़ों इत्यादि का प्रदर्शन करते हैं।

एक उदाहरण दृष्टव्य है :

धमार ताल

1 । 2 । 3

सां_सां । सां सां सां सां । सां_ _

ता ss धि । लांग तक । ता ss

। 4 । 5

सां । सां सां सां सां । नि नि ।

धि । लांग तक । तो म दी म।

6 । 7 । 8

नि नि । नि नि । नि नि ।

तो म दी म। दे त्रां । दे त्रां ।

9 । 10

नि_नि नि । नि नि म_ ।

त्रा_म त्रा । s म दा ।

11 ।12 ।13 ।14 ।

_म । ध ध । सां सां ।_सां ।

_दा । तत । थै ई । s ता।

नित्य रास में श्री कृष्ण द्वारा मयूर नृत्य, दंडवादन नृत्य तथा झूमर नृत्य आदि का प्रदर्शन उनकी नृत्य परायणता का परिचायक है। नृत्य के पश्चात समाजी भक्ति विषयक पदों का गान करते हैं। नित्य रास के पश्चात रासलीला आरंभ होती है, जिसमें भगवान श्री कृष्ण के जीवन से संबंधित कोई घटना मंच पर प्रस्तुत की जाती है, जैसे- गोकुल गमन, कंस वध, श्री कृष्ण जन्म लीला, कालिया दमन लीला, चीर हरण लीला, नरसिहं जी का मायरा इत्यादि। मध्यकालीन रासलीला गायकों में सूरदास, नंददास, चतर्भुज दास आदि अष्टछाप के भक्त कवि, हित हरिवंश जी तथा संगीताचार्य हरिदास जी आदि प्रमुख हैं। संगीत की दृष्टि से स्वामी हरिदास जी रचित 'केलि माल' के पद रासलीला के मंचीय प्रदर्शन के लिए अत्यंत उपयुक्त हैं। ये सभी पद ध्रपुद शैली में है। निबांर्क संप्रदाय के श्री भट्ट जी द्वारा रचित 'यगुल शतक' और हरी व्यास देव जी लिखित 'महावाणी' में भी श्री राधा कृष्ण की लीला जैसे दान लीला, मान लीला, वंशी चोरी आदि का रास में विशेष स्थान है।

कथक और रास का संबंध :

रासलीला मुख्यतः ब्रजभाषा में लिखे गए भक्ति साहित्य पर आधारित है, जिसमें कृष्ण के जीवन की लगभग हर महत्वपूर्ण घटना को लीला द्वारा प्रदर्शित किया जाता है, जिसमें नृत्य की केंद्रीय भूमि का होती है, क्योंकि कृष्ण की पौराणिक कथाओं में भी इसका वर्णन हमें दिखाई देता है। रासलीला मंचन में नृत्य भाग वास्तविक नाटकीय भाग से अधिक लंबा होता है। इसकी नृत्य तकनीक कथक नृत्य पर आधारित है। कत्थक से प्राप्त गतिशील पद चाप, सुंदर हस्त संचालन, ठाट और मुद्राएं इसमें चहुं ओर बिखरी हैं। वर्तमान रास नृत्य कत्थक से प्रभावित कहे जा सकते हैं। इस नृत्य की अनेक मुद्राएं कथक नृत्य से मिलती हुई ज्ञात होती हैं।

वर्तमान में रास में संगीत की स्थिति :

रासलीला में प्रमुख रूप से चार वाद्यों का होना अनिवार्य समझा जाता है- सारंगी, मृदंग, झांझ, तानपुरा। आज सारंगी का स्थान हारमोनियम ने तथा मृदंग का स्थान तबले ने ले लिया है। पुराने रासधारी प्राचीन पदों को ही रास में आधार बनाते थे, किंतु

आजकल प्राचीन रचनाओं के स्थान पर आधुनिक रचनाएं गाई जाती हैं एवं उन्होंने अपभ्रंश रूप ले लिया है। गैर अनुभवी लोगों ने नई-नई रास मंडलियां स्थापित कर ली हैं एवं लोकप्रियता की चाह में लोकरंजक धुनों का सहारा लेकर, बिना किसी शास्त्रीयता को ध्यान में रखकर रासलीला में सरल संगीत का प्रयोग किया जा रहा है।

गायन, वादन एवं नृत्य का सूक्ष्म शिक्षण लिए बगैर ही रस में अभिनय करने एवं भाग लेने के लिए नए-नए लोग आ रहे हैं। आज आवश्यकता है कि रासलीला एवं रासधारियों को सरकार एवं समाजसेवी संस्थाओं की ओर से पर्याप्त संरक्षण प्राप्त हो तभी भविष्य में आगे आने वाली पीढ़ियां रासलीला की प्राचीनता तथा परंपरागत रचनाओं को सुनकर परम आनंद की प्राप्ति कर सकेंगे एवं पूर्ण आनंद में अभिभूत हो सकेंगे।

संदर्भ-सूची :

पुस्तकें, ग्रंथ, जर्नल्स, पत्र-पत्रिकाएं, वेबसाइट्स एवम अन्य ऑनलाइन मोड

1. ब्रज का प्राचीन संगीत-भारतकोश, m.bharatdiscovery.org/india
2. Raslila,A Devotional Dance_Opera_Asian Tradition, https;//raslila _a_devotional_ dance_opera (2018-23-5)
3. रासलीला की दंतकथा एवम प्रदर्शन- https;//saraswatisangeet sadhana.in/ raasleela-in-hindi (By-Sonali Agarwal,07-05-2023)
4. Brij.Braj kala Env Sanskriti-Ras ki Manchiye Parampara Aur Uska Vartaman Swarup https;//ignca.gov.in/coilnet/brij624.htm
5. रासलीला_hi_krishnakosh.org
6. रंगमंच के रूप_CCRT https;//ccrtindia.gov.in/theatre _forms_hi/
7. लोकनाट्य परंपरा की प्रासंगिकता_सरबजीत कौर https://www.shodhpatrika.in/curernt/ JTTKC3J7bQuebpB.pdf (Volume 4, ISSUE 2 (April-june 2016) (ISSN:2348-2605)
8. बलवंत गार्गी_रंगमंच
9. हित चौरासीः हित हरिवंश (रंगमंच; नया परिदृश्य, रीता रानी पालीवाल)
10. उत्तर प्रदेश की नाट्यकला; भाग_3, रासलीला और नौटंकी https://batenupki.com
11. https://jankriti.com/bhaktikal_natak/ भक्ति कालीन हिंदी रंगमंच में परंपरागत नाट्य शैलियों का योगदानः दीपा (feb.24,2021)
12. कपिला वात्सायनय पारंपरि क भारतीय रंगमंच
13. साहित्य का नया सौंदर्य शास्त्रय देवेंद्र चौबे, ISBN _81_89859_110, first addition, 2006, किताब घर प्रकाशन (पेज 337)
14. कथक नृत्य और रास (राग परिचय_हिंदुस्तानी एवं कर्नाटक संगीत) https://raag.raagparichay.in
15. वीथिका; संगीत परंपरा में राधा और कृष्ण, कृतिका पांडे Volume 2, Jan_march 2016
16. आधुनिक भारतीय संगीत का इतिहास_डॉक्टर अशोक कुमार 'यमन', कल्पना प्रकाशन दिल्ली (p. 230)
17. https://epgp.inflibnet.ac.in.pdf
18. रासलीला है संसार का सबसे पहला खुला रंगमंच, आत्माराव यादव April 26, 2020 विश्ववार्ता https://www.pravakta.com/raasleela-is_ the_world_first_open theater
19. पारंपरिक रंगमंच का उद्भव और विकास (हिंदी का पारंपरिक रंगमंच_शुक्रवार 30, जून 2023)
20. Folk Theatre_ https://www_insightsonindia
21. ब्रज के देवालयों में संगीत परंपरा_डॉ॰ राकेश वाला सक्सेना, ISBN-81-87057-65-6, संगीत कार्यालय हाथरस
22. कथक नृत्य शिक्षा_भाग-2, डॉक्टर पुरु दाधीचि, बिदुं प्रकाशन, इंदौर
23. नृत्य निबंध- डॉ॰ पुरु दाधीच, डॉक्टर विभा दाधीची, बिदुं प्रकाशन, इंदौर
24. सावित्री सिन्हा (शोध ग्रंथ : ब्रजभाषा के कृष्ण भक्ति काव्य में अभिव्यंजना शिल्प)